अग्निचयन

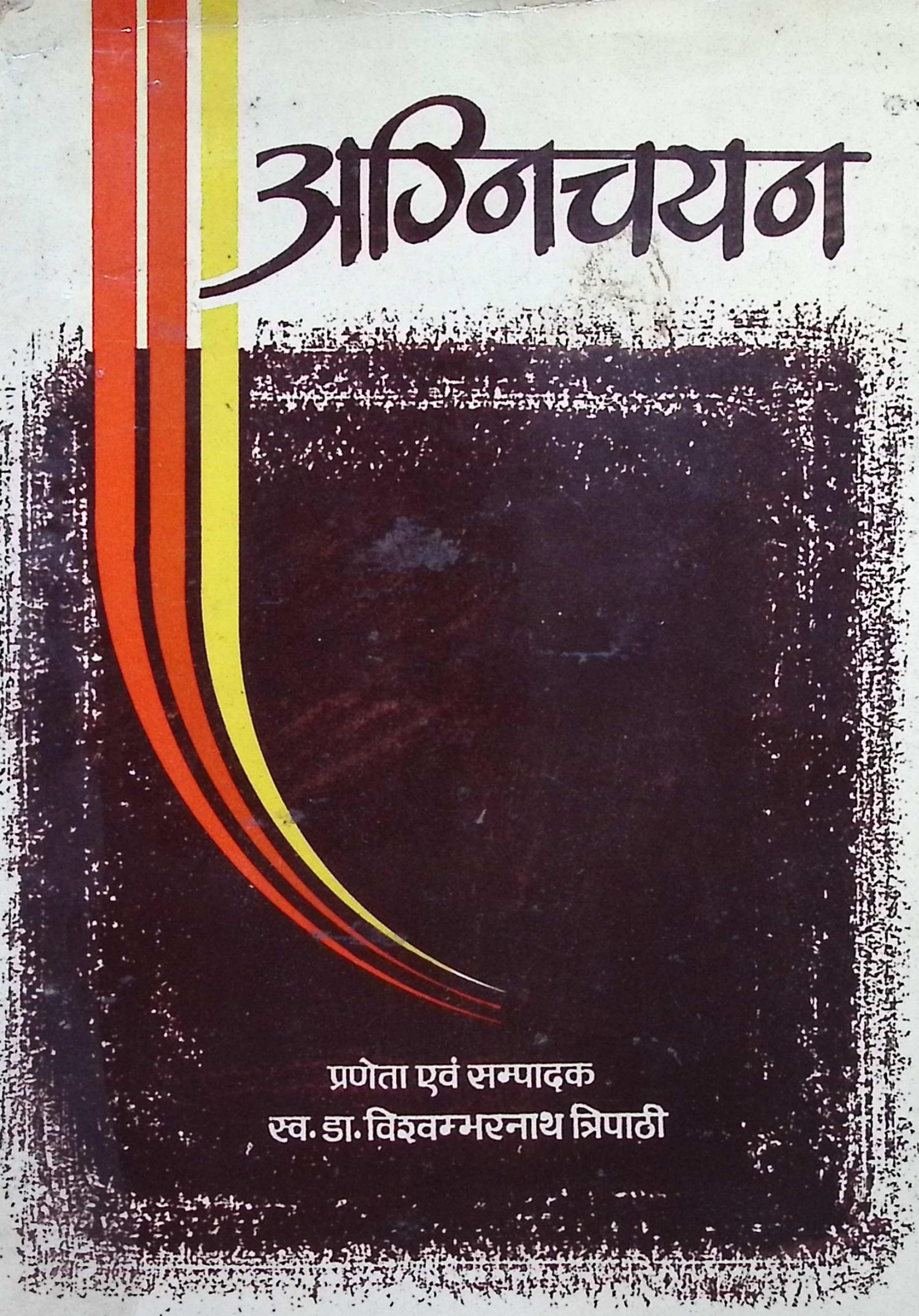

प्रणेता एवं सम्पादक
स्व. डा. विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[दशम पुष्प]

अग्निचयन

प्रणेता एवं सम्पादक

डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

पूर्व आचार्य, संस्कृत-विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

वाराणसी

२०४७ वैक्रमाब्द १९१२ शकाब्द १९९० खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी ।

□

प्रकाशक—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी - २२१ ००२

□

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी - २२१ ००२

□

प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ
मूल्य : १४०.०० रूपये

□

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स,
बी २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी - २२१ ०१०

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 10]

AGNICAYANA

BY

Dr. Viśvambharanātha Tripāthi
Ex-Professor
Sanskrit Department
Gorakhapur University
Gorakhapur

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

VARANASI

1990

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnananda Sanskrit University
Varanasi.

◆

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221 002.

◆

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221 002.

◆

First Edition : 1000 Copies
Price : Rs. 140.00

◆

Printed by—
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamaccha,
Varanasi - 221 010.

पूर्व-नमोवाक्

क्षेत्रेशचन्द्रशर्माणं वेदविद्याबृहस्पतिम् ।
श्रुतिप्रज्ञाप्रमातारं वन्दे तं गुरुमुत्तमम् ॥

श्रीविद्यानिवासं नौमि विद्यावासितमानसम् ।
निबन्धे ललिते यस्य भारती ललितायते ॥

अतुलचन्द्रो यो वन्द्योपाध्यायः सूरिभिर्नुतः ।
अनुसन्धानं तं ध्यायं ध्यायं ध्येयं मया कृतम् ॥

विद्यते यदुपादेयं गुरोरेव न मामकम् ।
यद्धेयं मत्कृतमेव घोषयामि नतो मुदा ॥

तं भूपेन्द्रपतिं वन्दे पदवाक्यविचक्षणम् ।
गुरुं गुणगणातीतं भावनाभावभूषितम् ॥

शीतलाप्रसादं नौमि नगेन्द्रं भ्रातरं मुदा ।
यद्धिया धारितं धृत्या प्रसन्धानं मया कृतम् ॥

अलसश्च निरुद्योगो विमतिः कथमन्यथा ।
विश्वम्भराभिधानोऽयं वाचो महोदधिं तरेत् ॥

लक्ष्मीनारायणं देवं पितरं च वियद्गुरुम् ।
स्मारं स्मारं सदा स्तुत्या कतमोऽपि तमो जयेत् ॥

सुपर्णः सप्तचित्योऽयं सप्ताध्यायश्चितो धिया ।
गौरी सरस्वती तेन सुपर्णी प्रीयतां सदा ॥

—: ० :—

भूमिका

स्व० डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी मेरे अनुजकल्प थे। वे पढ़ने में और नयी नयी पुस्तकें पढ़ने में अधिक विश्वास करते थे, लिखने में कम। इसी चक्कर में उनका शोधकार्य पिछड़ता गया। वह पूरा हुआ भी, तो प्रकाशन-कार्य के लिए भी वे संशोधन पर संशोधन के चक्कर में रहे। ग्रन्थ का अधिकांश भाग उनके जीवनकाल में छपा, पर पूरा ग्रन्थ उनके महाप्रयाण के बाद प्रकाश में आ रहा है। इस पर एक ओर सन्तोष होता है कि पूरे जीवन की साधना आलोकित हुई, दूसरी ओर मन में कसक भी होती है कि वे इस ग्रन्थ को प्रकाशित रूप में नहीं देख पाये।

अग्निचयन वैदिक-यज्ञसंस्था का शिखर है। यहीं आकर यज्ञसंस्था अपने उस लक्ष्य की परिपूर्ति पाती है, जो और कुछ नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि के बिखरे अंशों को जोड़ जोड़ कर नयी सम्पूर्णता की अपूर्व सिद्धि है। **अग्निचयन** ही कर्मकाण्ड के मण्डप से अध्यात्म के गर्भगृह में प्रवेश का द्वार है। वही मृत्यु के नकार और अमृतत्व की प्राप्ति का सोपान है।

इसके रहस्य पर ऊपरी विवरण तो बहुत मिलते हैं; पर स्व० त्रिपाठी ने पहली बार इतना विशद विवरण और उसका तत्त्वान्वेषण लोकभाषा में प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि समस्त वैदिक स्रोतों में इधर उधर बिखरी हुई सामग्री को न केवल संकलित किया गया है, पर उन्हें एकवाक्यता दी गयी है। यह अपने आप में महान् वाचिक **अग्निचयन** है। जहाँ कहीं वैदिक वाणी के परोक्ष के अनुसन्धान में स्व० विश्वम्भर जी गये हैं, वहीं उनकी तलस्पर्शिनी विद्वत्ता का उन्मेष दिखलायी पड़ता है। उनका यह निष्कर्ष कि अतएव स्पष्टरूप से मानव जीवन और समाज अपने सातत्य तथा साधारण, सम्पूर्ण प्रयोजन के अनुबोध और विचार तथा आद्य सिद्धान्त के लिए एक अनिर्वचनीय आवश्यकता में प्रतिष्ठित होकर इस अवाच्य का केवल विचार कर सकता है, यद्यपि यह विचार भी अन्ततः अनुभवातीत रहेगा। अनुष्ठान एतदतिरिक्त कुछ भी नहीं करता। मानव प्रयत्न की ससीमता का जहाँ ज्ञान कराता है, वहीं मानव प्रयत्न की सर्जनात्मक अनन्तता का भी आभास कराता है।

प्रतीक-संरचना की जहाँ स्व० विश्वम्भर जी ने व्याख्या को है, वहाँ वे स्व० आनन्दकुमार स्वामी की अर्धोद्भासित ज्ञान-सरणि कों सर्वसाधारणजनसुलभ विशद प्रकाश देते दिखायी पड़ते हैं और उनका चिन्तन हिन्दी-भाषा के लिए गौरव बनता दिखता है। इस प्रतीक-रचना की व्याख्या में हम भारत की तान्त्रिक विश्वदृष्टि का समानान्तर रूप पाते हैं और यह अध्ययन उकसाव देता है कि वैदिक अनुष्ठान और तान्त्रिक अनुष्ठान को एक साथ रखकर यदि देखा जाय, तो पूर्णतर अर्थ मिलेगा,

समग्र भारतीय विश्वदृष्टि का जो दृश्य-अदृश्य, देह-आतम, स्थूल-सूक्ष्म और आभ्यन्तर-बाह्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पाती है, इसीलिए वह कहीं विरोध नहीं देखती। सर्वत्र एक चाव देखती है, एक दूसरे के लिए सार्थक और उपकारक होने के लिए।

मुझे पूरा विश्वास है कि इन उपलब्धियों के कारण विश्वम्भर जी का **अग्निचयन** वैदिक अध्ययन का नया अध्याय बनेगा और आगे के समानान्तर अध्ययनों को प्रेरणा देगा।

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

वाराणसी
पौषकृष्ण दशमी
वि० सं० २०४७

कीर्तिर्यस्य स जीवति

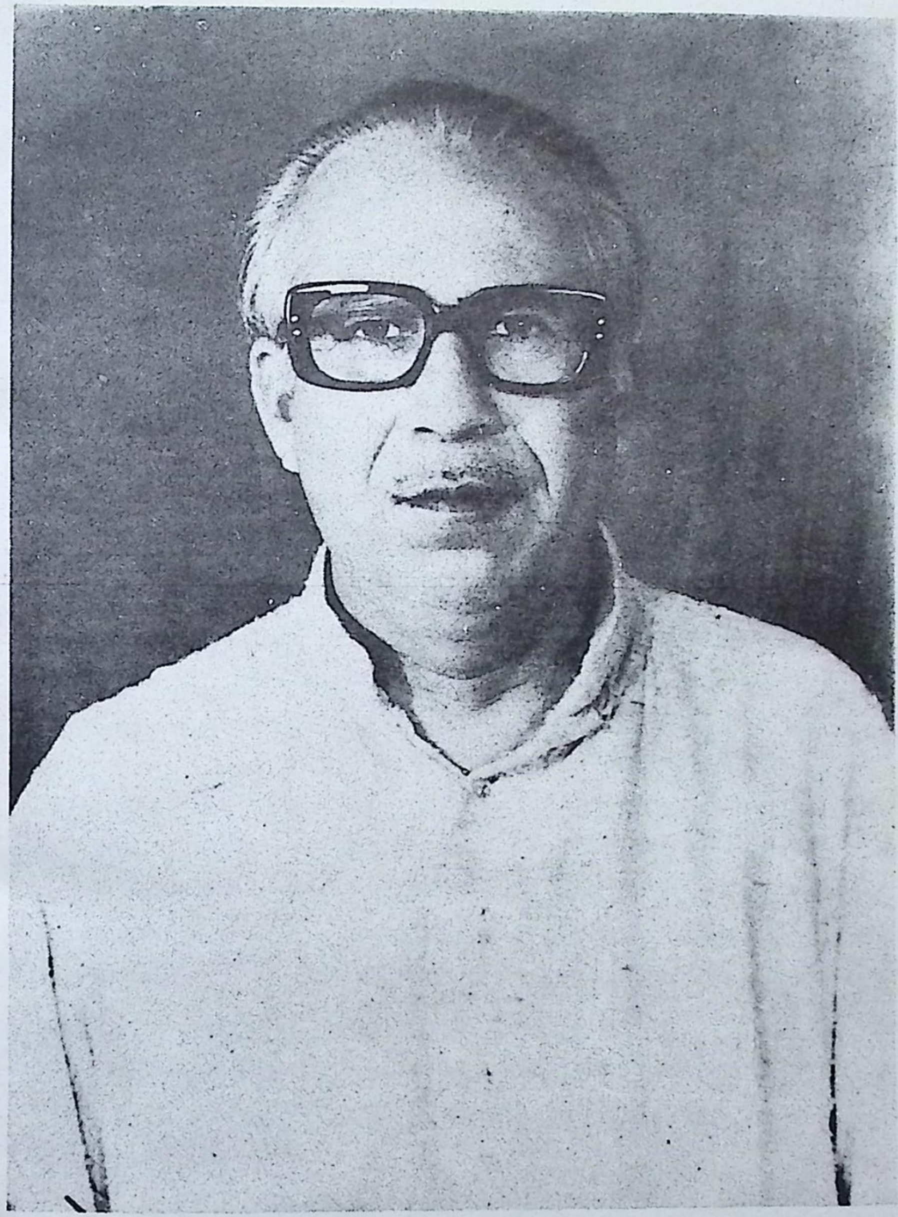

ग्रन्थ-प्रणेता

स्व० प्रो० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

उत्तर-नमोवाक्

इस ग्रन्थ को बहुत पहले लिखा जाना चाहिए था; परन्तु मेरी अल्पमति एवं अनेक ग्रन्थों की अनुपलब्धि से ऐसा सम्भव नहीं हो सका। परमभागवत स्वर्गीय पूज्य पिता से बाल्यावस्था में ही वेद-मन्त्रों की सीख पाकर एवं संस्कृत-भाषा के अध्येताओं के कुल में जन्म लेने के कारण भगवती श्रुति के प्रति नैष्ठिकी श्रद्धा का सहज उद्भव स्वाभाविक था। कालान्तर में यही श्रद्धा मेरे अध्ययन की प्रेरणा-उत्स बनी। अध्ययन के क्रम में एक ओर भारतीय दृष्टि थी, जिसमें वेद परमसत्ता के निश्वासों से उद्भूत[1] मन्त्र एवं ब्राह्मण थे[2], दूसरी ओर पाश्चात्त्य दृष्टि थी, जिसके अनुसार वेद आदिम बर्बर जनों के गीत थे और जो चार भागों, मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् में विभक्त थे। इतिहास में आज तक लड़कपन से ही भारतीय बालकों को इस पाश्चात्त्य दृष्टि के द्वारा ही अनुप्राणित किया जाता है। इन दोनों दृष्टियों के मध्य किसी भी वेद के अध्येता की मति संशयों से आकुल हो सकती है। मुझे भी संशय की दोला में झूलना पड़ा। यह बात सदैव मस्तिष्क में उभरती रही कि हमारे पूर्वज पथिकृत् सभी ऋषि एवं तदनुवर्ती आचार्य क्या मिथ्या सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे? क्या इस धरती के गन्ध से आमोदित इस देश के अग्रपुरुषों की प्रज्ञा अपने तन-मन में रचे-बसे वेद को ठीक से समझ ही नहीं सकी? यदि यह स्थिति थी, तो उन्हें अनूचान (पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंशानुक्रम से वेद का अध्ययन करने वाले) क्यों कहा गया? पाश्चात्त्य विद्वानों के पास वह कौन सी दूरबीन थी, जिससे उन्होंने सृष्टि के आरम्भ में स्वतःस्फूर्त वेद के अर्थ को अच्छी तरह से देख लिया, समझ लिया? इस स्थिति में पड़ा हुआ मैं उभयविध अध्ययन की पद्धतियों से वेद का अध्ययन करने में लगा रहा। सत्य की खोज भी कठिन होती है और तज्जन्य निष्कर्ष पर पहुँचना भी। ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में दीर्घसूत्रता का यह भी एक प्रबल कारण था।

---

१. श० ब्रा० १४.५.४.१०; बृ० उ० २.४.१०—अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि; तु० गो० पू० २.१—एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सरहस्याः सब्राह्मणाः।

२. कात्यायनप्रतिज्ञा परिशिष्ट-सूत्र, १.१—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्; तु० आप० श्रौ० २४.१.३१; स० श्रौ० १.१.७; बौधायनगृह्यसूत्र–२.६.३; बौधायनधर्मसूत्र–२.९.७; कौशिकसूत्र–१.३; जैमिनिसूत्र–२.१.३३; शबरस्वामी–तदेव; तन्त्रवार्तिक–१.३.१०; मेधातिथि, मनुस्मृति–२.६; मस्करि, तै० सं० १.१; सायण–तदेव; सुरेश्वराचार्य, बृ० उ० भाष्यवार्तिक–२.४; द्र० सत्यव्रत सामश्रमी, वेदत्रयी परिचय, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला २३६, वि० सं० २०३१।

फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर ने एक निश्चित योजना के अनुसार वैदिक धर्म को प्रकृतिवादी सिद्ध किया और देववाद को एकैकाधिदेववादी (हैनोथीज्म)। यद्यपि ये दोनों अवधारणाएँ स्वयं उसकी न थीं। उसने अन्य विद्वानों की विचार-सरणि को अपना कहकर प्रचारित किया[1]। खेद की बात तो यह है कि इस ओर वैदिक अध्येताओं ने ध्यान नहीं दिया। प्रसिद्ध फ्रेंच समाजविज्ञानी इमाइल दुर्खीम् ने १९१२ ई० में ही मैक्सम्यूलर के उपरिलिखित मतवाद का खण्डन कर दिया था; परन्तु क्या विदेशी और क्या देशी, सभी वेदज्ञों ने मैक्सम्यूलर एवं उसके शिष्य मैकदोनेल तथा मैकदोनेल के शिष्य कीथ द्वारा निर्मित पथ पर चलना ही श्रेयष्कर समझा। स्वतन्त्र भारत में भी उनकी प्रकाशनातीत पुस्तकों के प्रकाशन तथा मूर्धन्य विद्वानों द्वारा उनके हिन्दी-भाषान्तर सोत्साह किये गये। निश्चय ही इस प्रकार की प्रक्रिया के पीछे हमारी गुलामी मनोवृत्ति काम कर रही थी। अन्यथा भारतीय सिद्धान्तों से मेल खाने वाली एबेल बर्गेन्य तथा आनन्द केण्टिश कुमारस्वामी की पुस्तकों की ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं गया? सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में आज भी मैक्सम्यूलरी अवधारणाओं को ही क्यों प्रश्रय दिया जा रहा है?

अंग्रेजों की दृष्टि में भारत में न तो कोई राष्ट्रीयता रही और न ही एकता। भारत में राष्ट्रीयता थी एवं भारत में एकता भी थी, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये भारतीय विद्वानों को अनुसन्धान कर ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी[2]। जब इस देश में एकता ही नहीं थी, तब यहाँ एकेश्वरवाद भी नहीं हो सकता और बर्बर भारत के आदिम मनुष्य के पास उदात्त स्वर भी नहीं हो सकता। अंग्रेजों को सुविधापूर्वक शासन चलाने के लिये यह आवश्यक था कि भारत के धर्म एवं इतिहास में अनेकता के तथ्यों को ही येन-केन-प्रकारेण दरसाया जाये। मैक्सम्यूलर की दृष्टि राज्यनिष्ठा के तम से आवृत थी। वह भी "जनता में भेद डालो एवं शासन करो" की नीति के अनुसार वेद की व्याख्या में प्रवृत्त हुआ। इतिहासविदों ने आर्यों को विदेशी एवं आक्रान्ता प्रमाणित किया। फलस्वरूप आर्य-जाति एवं आर्य-भाषा की कल्पना भी की गयी। ध्यातव्य है कि तथाकथित आर्य-भाषाओं की किसी भी भाषा में आज तक इस प्रमाण की खोज नहीं की जा सकी कि आर्यशब्द कब और कहाँ जाति एवं भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ? सिन्धु-सभ्यता को द्रविड़-संस्कृति सिद्ध कर तथाकथित आर्यों एवं द्रविड़ों में फूट के जो बीज बोये गये, वे आज भी पुष्पित, पल्लवित तथा फलित होने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार की अध्ययन की पद्धति का खामियाजा स्वतन्त्र भारत को भरना पड़ रहा है और देश के राजनेताओं तथा विद्वानों को राष्ट्रीयता एवं एकता के बारे में बार-बार देश को स्मरण

---

१. द्र० यही प्रबन्ध, पृ० ३२० आदि; द्र० खोंदा, दि सवयज्ञज़, पृ० २८७।

२. द्र० राधाकुमुद मुकर्जी, दि फण्डामेण्टल् यूनिटी आफ़ इण्डिया, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५४; वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत की मौलिक एकता, भारती भण्डार, इलाहाबाद, वि० सं० २०११।

दिलाना पड़ रहा है। कुछ दिन पूर्व सिन्धुलिपि के विशेषज्ञ शिकारीपुर रंगनाथ राव ने सिन्धुलिपि का अध्ययन कर यह सिद्ध कर दिया है कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता आर्य थे, न कि द्रविड़। राव ने भी अंग्रेजों की उस दुरभिसन्धि का उल्लेख किया है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है[१]। के० डी० सेठना के अनुसार भी हरप्पा-सभ्यता के पूर्व यहाँ आर्यों की उपस्थिति के प्रमाण उपलब्ध हैं[२]। इसका समर्थन पी० बी० भट्टाचार्य भी करते हैं[३]। पिछले महीने पुरातत्त्व की अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस में आर० एस० विष्ट ने भी एक अनुसन्धान-पत्र में उपरितन कथ्य को प्रमाणित किया है[४]।

राव के अतिरिक्त फतहसिंह ने भी सिन्धु-लिपि के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है[५]। सिंह ने ब्राह्मणों और उपनिषदों के अनेक प्रतीकों को सिन्धुघाटी में खोज निकाला है, जिनमें इन्द्र, वृत्र तथा अश्वत्थ वृक्ष आदि प्रमुख हैं[६]। सिन्धुघाटी से प्राप्त मुहरों में अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठे हुए पशुपति का सम्बन्ध स्पष्टतया अग्निचयन के अग्निरुद्र से है[७]। उस शृंगी के पास बैठे हुए पशु निश्चय ही पुरुष, अग्नि एवं रुद्र से जुड़े हुए पाँच पशुवों की प्रतिच्छाया हैं[८]। अतएव सैन्धव-संस्कृति को वैदिकेतर कहना उचित नहीं है।

पाश्चात्त्य-दृष्टि के पुरोधा प्रो० जी० आर० शर्मा ने कौशाम्बी (इलाहाबाद) में १९५७-५९ में उत्खनन किया था। इससे सम्बन्धित उनका ग्रन्थ १९६० में मुद्रित हुआ। प्रो० शर्मा ने इसके दूसरे खण्ड में वैदिक-साहित्य के सन्दर्भों से आपूरित

---

१. शिकारीपुर रंगनाथ राव, लोथुलू ऐण्ड दि इण्डस् सिविलाइज़ेशन्, एसिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९७३।

२. के० डी० सेठना, दि प्राब्लम् आफ़ आर्यन् ओरीजिन, एस० ए० एस० पब्लिशर्स कलकत्ता, १९८०।

३. पी० बी० भट्टाचार्य, दि इण्डस् सिविलाइज़शन्—ऐन् आर्यन् कल्चर ?, पुरातत्त्व अंक ११, १९७९-८०, पृ० १४०-१४४।

४. आर० एस० बिष्ट, दि हरप्पन ऐण्ड दि आर्यन्स्, २५-२७ अक्टूबर, १९८२ को आयोजित भारतीय पुरातत्त्व परिषद् के अन्तरराष्ट्रीय सेमिनार में पठित एवं व्यक्तिगत स्तर पर प्राप्त।

५. फतहसिंह, सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान), १९६९।

६. तदेव, पृ० १२-१३; ३५, ३८ आदि।

७. तदेव, फलक, ५१।

८. ऋ० सं० १०.९०.१०; अ० सं० १९.६.१२; वा० सं० ३१.८; तै० आ० ३.१२.५; वा० सं० १२.४१-४५; तै० सं० ४.२.१०; का० सं० १६.१७; मै० सं० २.७.१७; श० ब्रा० ६.२.१.२; तै० सं० ब्रा० ५.२.९; ५.७.१०; का० सं० ब्रा० २०.८; मै० सं० ब्रा० ३.७.८।

तथाकथित श्येनचिति एवं पुरुषमेध का विवरण प्रस्तुत किया है। यह विवरण भाषा एवं उसकी शैली के अज्ञान से भरा पड़ा है। नीदरलैण्ड्स के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् एफ०डी०के० बाश् का कथन है कि पुरातत्त्व के अध्येता में पुरातत्त्व-सामग्री की व्याख्या का सामर्थ्य होना आवश्यक है[१]। अन्यथा वह अर्थ का अनर्थ कर देता है। "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" उक्ति ऐसे विद्वानों के सम्बन्ध में चरितार्थ होने लगती है। इस प्रबन्ध में प्रो० शर्मा की अनेक भूलों के सम्बन्ध में पाद-टिप्पणियों में विचार किया गया है। प्रोफेसर साहब की त्रुटियों पर समग्ररूप से विचार करने के लिये एक अलग अनुसन्धान की आवश्यकता है।

कौशाम्बी के उत्खनन की उपलब्धियों के सम्बन्ध में अनेक पुरातत्त्वविदों ने प्रश्नचिह्न लगाया है। एस० एस० सरकार का कथन है कि प्रो० शर्मा जिसे श्येनचिति बता रहे हैं[२], वह ईंटों का ढेर किसी दीवाल के पतन के फलस्वरूप बन गया है[३]। प्रो० शर्मा ने त्रिकोण, पंचकोण एवं षट्कोण की ईंटों का तो उल्लेख किया है[४]; परन्तु उनमें किसी का रेखाचित्र या फोटो देने में असफल रहे हैं[५]। सरकार की यह शंका उचित प्रतीत होती है कि उनका प्रयोग कृत्रिमरूप में किसी विशेष संरचना को दृष्टि में रखकर किया गया है। वहाँ मिली अस्थियों के सम्बन्ध में सरकार का मन्तव्य है कि वे किसी आक्रमण अथवा युद्ध की सूचक हैं। श्येनचिति को सिद्ध करने के लिए पुरातत्त्वीय प्रमाणों का नितान्त अभाव है। उत्खनन में प्राप्त शर-शीर्ष एवं भाले किसी संग्राम की ही सूचना देते हैं[६]।

सरकार के उपरितन मत के अतिरिक्त अन्य कई प्रश्न हैं, जिनका उत्तर प्रो० शर्मा के ग्रन्थ में नहीं मिलता। प्रो० शर्मा के अनुसार श्येनचिति की ईंटों का प्रथम प्रस्तार सुरक्षित तथा यथावर्णित उपलब्ध हुआ है[७]; परन्तु वैदिक-ग्रन्थों में वर्णित अग्नि के ईंटों के इस प्रथम प्रस्तार में उपधेय सोने का रुक्म एवं सोने की पुरुष-प्रतिमा[८] का उल्लेख ए० कौ० ग्रन्थ में कहीं नहीं है। सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त दोनों वस्तुएँ कहाँ गयीं? इस जिज्ञासा का समाधान भी सहज अनुमेय है कि या तो यह श्येनचिति है ही नहीं अथवा उन स्वर्ण-पदार्थों का गोपन कर दिया

---

१. एफ० डी० के० बाश, भूमिका, गोल्डेन जर्म, स्-ग्रावेनहागे, १९६०।

२. जी० आर० शर्मा, ए० कौ०, फलक १२।

३. एस० एस० सरकार, ह्यूमन रिमेन्स् फ्राम् कौशाम्बी, ऋतम्, जिल्द १, अंक १, पृ० १३३।

४. जी० आर० शर्मा, तदेव, पृ० ८८।

५. एस० एस० सरकार, तदेव।

६. तदेव।

७. जी० आर० शर्मा, ए० कौ०, पृ० ९२-९४।

८. श० ब्रा० ७.४.१.१०,१५; तै० सं० ब्रा० ५.२.७; का० सं० ब्रा० २०.५; मै० सं० ब्रा० ३.२.६।

गया। ईंटों के प्रथम प्रस्तार में प्रो० शर्मा को उखा मिल गयी, अषाढा ईंट मिल गई, द्वियजुष् नामक ईंट भी मिल गयी; पर रुक्म एवं हिरण्मय पुरुष नहीं मिला, जिसका अग्निचयन में सर्वातिशायी महत्त्व है और जो प्रतीकीय अर्थवत्ता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। ध्यातव्य है कि रुक्म में स्थित हिरण्मय पुरुष अग्निचयन की आधारशिला है। इस आधारशिला के अभाव में कौशाम्बी में अग्निचयन की श्येनचिति का अन्वेषण आकाशप्रसून के समान है।

प्रो० शर्मा जिस हाँड़ी को उखा के नाम से पहचानते हैं[१], वह वैदिक-ग्रन्थों में वर्णित उखा के लक्षणों से रहित है[२]। उसमें न तो मेखला दृष्टिगत होती है और न ही उसमें स्तनों के चिह्न ही हैं। मेखला एवं स्तनों के मध्य में, मध्यभाग से मुखभाग तक बनी हुई चारों दिशाओं में चार मृत्-वर्तिकाएँ भी नहीं गोचर होतीं। प्रो० शर्मा ने अपने ग्रन्थ में उखा का जो छाया-चित्र दिया है, उसे देखने से ज्ञात होता है कि उसका मुखभाग किसी अन्य हाँडी का है तथा उसका अधोभाग किसी अन्य हाँड़ी का। दो भिन्न पात्रों के दो अवयवों को जोड़कर उखा की पहचान नहीं की जा सकती। वैदिक-ग्रन्थों के उद्धरणों का आश्रय लेने वाले प्रो० शर्मा उखा से सम्बन्धित वैदिक लक्षणों की, जान-बूझ कर उपेक्षा करते हैं।

प्रो० शर्मा के अनुसार अग्नि-चिति दक्षिण-पूर्वाभिमुखी है और वह प्राकार के चरणदेश में वर्तमान है[३]। अग्निचयन अथवा किसी भी यज्ञ की महावेदि पूर्वाभिमुख होती है। यज्ञ नगर के बाहर विस्तृत भूमि में ही सम्पन्न किये जाते थे। महावेदि तथा महावेदि के पश्चिम में प्राचीनवंश (शाला) के लिये पर्याप्त भूमि की आवश्यकता पड़ती थी। जिस स्थिति में प्रो० शर्मा अग्निचयन की अवस्थिति बताते हैं, उसमें अग्निचयन का होना सर्वथा असम्भव है। प्रो० शर्मा को वहीं एक लौहसंरचित सर्प भी मिला है[४]। केवल तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण में सर्प के सिर का आधान प्रथम चिति में बताया गया है[५]। अन्यत्र सर्वत्र सर्प-मन्त्रों के द्वारा केवल उपस्थान का उल्लेख मिलता है[६]। लौह-सर्प के उपधान का कोई साक्ष्य वैदिक-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

प्रो० शर्मा की स्थापना है कि कौशाम्बी में पुरुषमेध यज्ञ किया गया था और उसी में श्येनचिति की संरचना की गयी थी[७]। शुक्लयजुर्वेदीय शाखा में सुपर्णचिति

---

[१] जी० आर० शर्मा, ए० कौ० फलक ३२ ए।

[२] द्र० इस ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय।

[३] जी० आर० शर्मा, तदेव, पृ० ८७।

[४] तदेव, आकृति १८,४।

[५] तै० सं० ब्रा० ५.२.९.५—सर्पशीर्षमुपदधाति।

[६] श० ब्रा० ७.४.१.५—सर्पनामैरुपतिष्ठते; तु० का० सं० ब्रा० तदेव; मै० सं० ब्रा० तदेव।

[७] जी० आर० शर्मा, ए० कौ० अध्याय ८।

के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की चितियों का निषेध किया गया है[१]। श्येनचिति, स्वर्ग की कामना में, कृष्णयजुर्वेदीय शाखा में ही विहित मानी गयी है[२]। इस सम्बन्ध में एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कृष्णयजुर्वेद की उपलब्ध किसी भी संहिता में न तो पुरुषसूक्त मिलता है और न ही पुरुषमेध का विधान ? फिर यह कैसे हो सकता है कि कोई व्यक्ति कोई यज्ञ एक शाखा के अनुसार करे और उसी यज्ञ में एक अन्य यज्ञ दूसरी शाखा के अनुसार करे ? दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि प्रो० शर्मा के पास कौन सा ऐसा साक्ष्य है ? जिससे यह प्रमाणित किया जा सकता हो कि पुरुषमेध में अग्निचयन विहित है। वैदिक-ग्रन्थों में इस प्रकार का साक्ष्य अनुपलब्ध है।

वैदिक साक्ष्यों के अनुसार पुरुष का यज्ञ में पशुरूप में प्रयोग सर्वप्रथम प्रजापति ने किया था। अग्निचयन में इसके अन्तिम प्रयोक्ता याज्ञवल्क्य के पूर्ववर्ती श्यापर्ण सायकायन थे[३]। चरक अध्वर्युवों ने अग्निचयन में विहित पांच पशुओं के स्थान पर केवल प्राजापत्य अज अथवा वायव्य अज का विधान कर दिया था[४] और इस मत का समर्थन सभी वैदिक-ग्रन्थों में मिलता है[५]। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस समस्या पर विचार किया गया है[६]। शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान में पुरुषमेध का विधान अवश्य मिलता है; परन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि पुरुषमेध में पुरुष को पशु के रूप में संज्ञप्त नहीं किया जाता[७]। पर्यग्निकरण के अनन्तर उन्हें मुक्त कर देने का विधान है। इस सम्बन्ध में इतिहास (मिथ्) इस प्रकार है। पुरुषयेध यज्ञ का सर्वप्रथम विधान करने वाले नारायण ने जब पुरुष का संज्ञपन करना चाहा, तब अदृश्य वाक् ने कहा कि यदि तुम पुरुष-पशु के द्वारा यज्ञ पूरा करोगे, तो भविष्य में ऐसा होगा कि मनुष्य ही मनुष्य को खाने लगेगा। यह सुनकर नारायण ने उन पर्यग्निकृत पुरुषों को मुक्त कर दिया[८]। इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में पुरुषसंज्ञपन

---

[१] श० ब्रा० ६.७.२.८; द्र० इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय।

[२] तै० सं० ब्रा० ५.४.११.१—श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः; तु० का० सं० ब्रा० २१.४; मै० सं० ब्रा० ३.४.७।

[३] श० ब्रा० ६.२.१.३९।

[४] तदेव–६.३.१.१।

[५] तदेव–६.३.१.१५; तै० सं० ब्रा० ५.५.१; का० सं० ब्रा० १९.८; मै० सं० ब्रा० ३.१.१०।

[६] द्र०; पृ० २० आदि।

[७] श० ब्रा० १३.६.२.१२—पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः; द्र०, एग्‌लिंग, से० बु० ई० ४४, पृ० ४१०, पा० टि० २; लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १५१।

[८] तदेव १३.६.२.१२-१३—पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः, अथ हैनं वागभ्युवाद, पुरुष मा सन्तिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि, पुरुष एव पुरुषमत्स्यसीति तान् पर्यग्निकृतानेवो-

याज्ञवल्क्य के बहुत पहले निषिद्ध हो चुका था। अतएव कौशाम्बी में पुरुषमेध एवं उसमें श्येनचिति का विधान होना सर्वतोभावेन असम्भव एवं अशक्य है।

तथाकथित श्येनचिति प्राकार के पाद-प्रदेश में स्थित है, अतएव एस० एस० सरकार का यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि वहाँ कोई युद्ध हुआ होगा[१]। यह भी हो सकता है कि वह स्थान श्मशान रहा हो। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि वहाँ श्येनचिति नहीं है। इसके समर्थक अन्य अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं तथा प्रो० शर्मा की स्थापना के सम्बन्ध में भी प्रश्नचिह्न लगाये जा सकते हैं; परन्तु यहाँ विस्तृतरूप में सब कुछ कहा नहीं जा सकता, अतएव कतिपय स्थूल विचार ही किया गया है।

कौशाम्बी के उत्खनन से उपलब्ध प्रो० शर्मा के पुरातत्त्वीय निष्कर्षों के सम्बन्ध में भी अनेक पुरातत्त्वविज्ञानियों ने अपना वैमत्य प्रकट किया है। इन पुरातत्त्वविज्ञानियों में प्रमुख हैं—बी० बी० लाल[२], के० वी० सौन्दरराजन्[३], के० एन० दीक्षित[४]। इसी प्रकार एस० पी० गुप्त ने प्रो० शर्मा द्वारा प्राप्त बेलन की सामग्री के सम्बन्ध में भी प्रश्नचिह्न लगाया है[५]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० शर्मा सत्य-

---

दसृजत; द्र०, एग्लिंग, तदेव, पृ० ४११, पा० टि० १-२; लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तदेव, पृ० १५२। ध्यातव्य है कि पुरुषमेध यज्ञ के द्वारा नारायण सर्वभूतातीत तथा सर्वात्मक बनता है। यह यज्ञ "पञ्चरात्र" है और इसमें पुरुषसूक्त की सोलह ऋचाओं के द्वारा षोडशकला से युक्त सर्वात्मकता को प्राप्त करने का विधान है—श० ब्रा० १३.६.१.१—पुरुषो ह नारायणोऽकामयत, अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् तमाहरत् तेनायजत; १३.६.२.१२—षोडशकेन षोडशकलं वा इदं सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै। यहीं सर्वप्रथम पुरुष को नारायण अभिधान मिला, जिससे शुक्लयजुर्वेद में पुरुषसूक्त को नारायण आख्या मिली, तदेव–नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति। इस प्रकार स्पष्ट है कि पञ्चरात्र नारायणीय धर्म का मूल पुरुषमेध यज्ञ में ही निहित है। अतएव पुरुषमेध में पुरुष-संज्ञपन की बात करना अज्ञानमूलक है।

[१] एस० एस० सरकार, ह्यूमन रिमेन्स फ्राम् कौशाम्बी, ऋतम्, जिल्द १, अंक १, पृ० १३३।

[२] बी० बी० लाल, आर दि डिफेन्सेस् आफ् कौशाम्बी रियली ऐज् ओल्ड् ऐज् १०२५ बी० सी० ? पुरातत्त्व ११, १९७९-८०, पृ० ८८-९५।

[३] के० वी० सौन्दरराजन्, दि यूज़ आफ़ आर्क इन् दि कुषान् पैलेस ऐट् कौशाम्बी, पुरातत्त्व, तदेव, पृ० ९६-१०२।

[४] के० एन० दीक्षित, इज् दि अर्ली पॉटरी फ्राम् कौशाम्बी हरप्पन् ?, पुरातत्त्व, तदेव, पृ० १०३-१०६।

[५] एस० पी० गुप्ता, दि एलेज्ड् अपर पैलिओलिथिक् बोन मदर् गाडेस् फ्राम् बैलेन, पुरातत्त्व, तदेव, पृ० ११६-११७।

असत्य का विवेचन न कर तथा सत्याभास के मार्ग पर चलकर कुछ नवीन स्थापनाएँ करने के अनुरागी हैं। निश्चय ही यह "पिल्टडाउनी" मनोवृत्ति ज्ञान की अग्रगति की अवरोधक ही बनती है।

इस ग्रन्थ में आधुनिक विश्व में प्रथित विभिन्न अनुशासनों की, यज्ञ से सम्बन्धित, अवधारणाओं की समीक्षा कर भारतीय यज्ञ-अवधारणा को परिनिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दृष्टि से ही अग्निचयन की प्रतीक-अभिव्यन्जना की यथोचित व्याख्या की गयी है। आधुनिक अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मानवीय क्रिया है। अतएव कर्म की अवधारणा का अध्ययन किया गया। विश्व के सारे उदात्त सिद्धान्त मनुष्य के कार्य को नियमित, व्यवस्थित एवं अनुशासित करने के लिए उद्भूत हुए हैं। अतएव आधुनिक क्रिया के सिद्धान्त (थियरी आफ़ ऐक्शन्) को भी जाँचा-परखा गया है। कर्म होने के कारण यज्ञ की भी, क्रिया-सिद्धान्त की दृष्टि से विवेचना की गयी है।

भारतीय दृष्टि को परिनिष्ठित करने में स्वर्गीय आनन्दकुमार स्वामी, रेने गेनो, खौंदा तथा मर्सिया इलियाड के ग्रन्थ तथा अनुसन्धान-पत्र मेरे लिए पथिकृत् रहे। इन सबके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। भारतीय दृष्टि में सब कुछ वेद से सिद्ध होता है—सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति। वेद किसी एक देश, काल अथवा व्यक्ति का नहीं है। वह सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वभौम है। इसी दृष्टि से आनन्दकुमार स्वामी का कथन है कि वेदों का और कोई मूल्य हो या न हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि वे वैयक्तिकता से ऊपर हैं[1]। अपनी इस निर्वैयक्तिकता के कारण ही वे सार्वजनीन उदात्त जीवन-दृष्टि के संवाहक हैं। वेद अपने को तोड़कर सबसे जोड़ने की बात करते हैं। इन्द्र-वृत्र का संघर्ष इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। यह संघर्ष सततप्रवाही है। अतएव याज्ञवल्क्य का कथन है कि इतिहास (मिथ्) में जिस दैवासुर संघर्ष का सर्वत्र वर्णन किया जाता है, वस्तुतः वह कभी घटित नहीं हुआ[2]। आज भी यह संघर्ष चल रहा है। यज्ञ की अवधारणा को अपने जीवन में चरितार्थ करके ही मनुष्यता की, समता की तथा वैश्विक एकात्मकता की जय-यात्रा हो सकती है। अतएव सभी प्राचीन समाजों में इस महागाथा को यज्ञों में विधिकृत किया जाता रहा है। भाषा दूसरी हो सकती है, पर जीवन को उदात्त बनाने का विचार तो सर्वत्र समान है। इसी दृष्टि से यज्ञों का अध्ययन किया जाना चाहिए। यही भारतीय दृष्टि है।

---

१. आनन्दकुमार स्वामी, ए न्यू एप्रोच टू दि वेदज़्, भूमिका, पृ० ९, लुज़ाक ऐण्ड कम्पनी, लण्डन, १९३२।

२. श० ब्रा० ११.१.६.१०—

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहंन् न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्यशत्रुन्ननु पुरा युयुत्से ॥

इस ग्रन्थ में अंग्रेजी के "मिथ्" शब्द के लिये इतिहास-शब्द का प्रयोग किया गया है। भारतीय परम्परा में इतिहास-शब्द का प्रयोग देव-कथाओं के लिये किया गया है। महामति कृष्णद्वैपायन ने जब यह कहा था कि इतिहास-पुराण के द्वारा वेद के विस्तृत अर्थ का ज्ञान करना चाहिए,[1] तब उनका अभिप्राय इतिहास के इसी अर्थ से था, जिस अर्थ में उसका प्रयोग यहाँ किया गया है। याज्ञवल्क्य देवासुर-युद्ध को एक ऐसा युद्ध बताते हैं, जिसका वर्णन अन्वाख्यान एवं इतिहास में किया जाता है; परन्तु जो कभी हुआ नहीं था[2]। इस कथन से स्पष्ट है कि इतिहास मिथ् के अर्थ में प्रयुक्त होता था। शतपथब्राह्मण में ही अन्यत्र विद्या की परिगणना में इतिहास एवं पुराण का अलग-अलग उल्लेख मिलता है[3]। सायण भी इसी अर्थ में ऋक्संहिता के भाष्य में इतिहास-शब्द का प्रयोग करते हैं[4]। शतपथब्राह्मण के भाष्य में सायण सृष्टिगाथा के प्रतिपादक ब्राह्मण को इतिहास बताते हैं, तथा उर्वशी-पुरूरवा आख्यान को पुराण[5]। शङ्कर ने इसके विपरीत सृष्टि-प्रतिपादिका कथा को पुराण माना है, तथा उर्वशी-पुरूरवा जैसे आख्यानों को इतिहास[6]। इसका समर्थन वासुदेव ब्रह्म भी अपनी वासुदेवप्रकाशिका में करते हैं[7]। षड्गुरुशिष्य भी देवकथाओं के लिये इतिहास-शब्द के प्रयोग को उचित मानते हैं[8]। इसी अर्थ में द्याद्विवेद ने भी इतिहास-शब्द का प्रयोग किया है[9]। वस्तुतः मिथ् के लिये इतिहास-शब्द का प्रयोग सर्वथा

---

[1] महाभारत, आदि-पर्व, १.२६७—इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

[2] श० ब्रा० ११.१.६.९—नैतदस्ति यद् दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासे त्वत्, तु०, १३.४.३.१२—इतिहासो वेदः सोऽयमिति केचिदितिहासमाचक्षीत।

[3] श० ब्रा० ११.५.६.८; ११.५.७.९; १४.५.४.१०; १४.६.१०.६; तु०, तै० आ० २.९.१; २.१०.१; २.११.१; शा० आ० ८.११।

[4] सायण, ऋ० सं० २.१२.१, अवतरणिका—अत्रेतिहासो बृहद्देवतायामुक्तः; ५.२.१, शाट्यायनब्राह्मणोक्त इतिहास इहोच्यते।

[5] सायण, श० ब्रा० ११.५.६.८—"आपो ह वा इदमग्रे सलिलमास" इत्यादिकं सृष्टिप्रतिपादकं ब्राह्मणमितिहासः। "उर्वशी हाप्सराः पुरूरवससमैडं चकमे" इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादकानि पुराणम्।

[6] शंकर, बृ० उ० २.४.१०—इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसो संवादादिः, 'उर्वशी हाप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम्, "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि।

[7] वासुदेवब्रह्म, तदेव।

[8] षड्गुरुशिष्य, वेदार्थदीपिका, कात्यायन्स् सर्वानुक्रमणी, सं० मैकदोनेल, आक्सफोर्ड, १८८६, पृ० ८४—अत्रेतिहासः श्रुत्युक्तः सम्यगेव प्रवर्ण्यते; पृ० १०२—अपरे वर्णयन्तीतिहासम्; पृ० १४२—इतिहासश्चायम्; वृत्ति, ऐ० ब्रा० १, पृ० ५४२—अत्रेतिहासं कथयन्ति।

[9] द्याद्विवेद, नीतिमञ्जरी, हरिहरमण्डल, वाराणसी, वि० सं० १९९०, पृ० ४१—सरमासम्बन्धीतिहासो बृहद्देवतायामेवं वर्णितोऽस्ति।

समुचित है। इस औचित्य को देखकर ही आनन्द केण्टिश् कुमारस्वामी ने इतिहास का अर्थ 'मिथ्' किया है[1]। सर्वविदित इतिहास-शब्द से अलग इतिहास-शब्द का प्रयोग करने के कारण सर्वत्र कोष्ठक में "मिथ्" शब्द दिया गया है। अन्यथा प्रचलित अर्थ में इतिहास तथा मिथर्थक इतिहास-शब्द में सन्देह हो सकता था।

इस ग्रन्थ में आर्कीटाइप् शब्द के अर्थ में अग्रप्रतिमान शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्यातव्य है कि इस आर्कीटाइप् शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध मनोविज्ञानी कार्ल गुस्ताव युंग के आर्कीटाइप् से भिन्न अर्थ में किया गया है। धर्म-इतिहास के मनीषी मर्सिया इलियाड ने जिस अर्थ में आर्कीटाइप् का प्रयोग किया है, उसी अर्थ में इस प्रबन्ध में उसका प्रयोग हुआ है[2]।

मेरे गुरु **डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी** ने उन अनेक जर्मनभाषीय सन्दर्भों का ज्ञान कराया, जिनका उपयोग इस प्रबन्ध में किया गया है। एतदर्थ उनके इस कार्य के लिये अपनी चिरकृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मेरे शिष्य **डॉ० असहाब अली** ने फ्रेंच भाषा के सन्दर्भों को जुटाकर मेरे अनुसन्धान-कार्य को अवदात बनाने में अत्यधिक श्रम किया है। मैं उन्हें केवल सहज स्नेह से लुलित अपना आशीर्वाद देता हूँ।

यहाँ सर्वप्रथम मैं **डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय**, राष्ट्रीय प्रोफेसर, इलाहाबाद **तथा डॉ० विद्यानिवास मिश्र**, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी के प्रति अपनी श्रद्धासम्पृक्त प्रणति निवेदित करता हूँ। उन्होंने ही मुझे इस अनुसन्धान तथा ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त किया था और जब भी मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त होता था, वे इसे शीघ्र पूरा करने के लिये निर्देश देते रहे।

अपने निर्देशक गुरु डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी के चरणों में प्रणाम करने के अतिरिक्त और कुछ भी निवेदन करना मेरी ढिठाई कही जायेगी। उनके स्नेहापूरित दण्ड-भय से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इसमें जो कुछ नया तथा निर्दोष है, वह सब उनकी सहज प्रज्ञा का अवदान है। अन्यथा मुझ जैसा अल्पमति इस महा-समुद्र के आर-पार का ही अता-पता न पाता। एकाध परिवर्तन के साथ तुलसीदास के शब्दों में इतना ही कथ्य है—

श्री गुरुपद नख मनिगन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
उघरहिं विमल विलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख "मति" रजनी के॥

---

[1] आनन्दकुमार स्वामी, हिन्दुइज्म् ऐण्ड बुद्धिज्म्, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, १९७५, पृ० ६।

[2] मर्सिया इलियाड, कास्मास् ऐण्ड हिस्ट्री; दि मिथ् आफ् इटर्नल् रिटर्न, हार्पर् ऐण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५९, भूमिका, पृ० ८-९।

मेरे भाई साहब **डॉ० शीतलाप्रसाद नगेन्द्र**, प्रति-कुलपति, अध्यक्ष, कला-संकाय तथा आचार्य एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय की सहायता एवं आशीर्वाद से यह अनुसन्धान-प्रबन्ध इस रूप में आ सका है। उनकी अप्रतिम प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन मुझ जैसे आलसी व्यक्ति से भी कार्य कराने में समर्थ हो सकी। एतदर्थ मैं विनयपूर्वक उनके चरणों में शिरसा नत हो रहा हूँ। इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय के लिखने में उनकी पुस्तक **"दि कॉन्सेप्ट् आफ़ रिचुअल् इन् माडर्न सोशिआलाजिकल् थियरी"** से मुझे अत्यधिक सहायता उपलब्ध हुई है। एतदर्थ मैं पुनः उनके प्रति श्रद्धावनत होता हूँ।

इस अवसर पर **डॉ० विश्वम्भर शरण पाठक**, आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डॉ० पाठक ने मेरे अनुसन्धान में सदैव अभिरुचि प्रकट की तथा मुझे शीघ्र कार्य करने के लिये उत्प्रेरित किया।

अपने परम बन्धु **डॉ० हेमचन्द्र जोशी**, उपाचार्य, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति नमन उपहृत न करना एक साहस का कार्य होगा। उनकी प्रेरणा ने सदैव मुझे आगे बढ़ने में मार्गदर्शन दिया है।

डॉ० प्रताप सिंह, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, ने न केवल इस अनुसन्धान-कार्य में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की; अपितु वे बराबर अपने बहुमूल्य समय की विना चिन्ता किये इसकी प्रगति का लेखा-जोखा करने के लिये कष्ट उठाते रहे। उनके इस सहज स्नेह के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी, प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय मेरे प्रणम्य पुरातन हैं; क्योंकि वे हमारे वैष्णव-परिवार के आचार्यकुल के जातक हैं। डॉ० चतुर्वेदी ने मुझे ग्रन्थों की सहायता तथा अनेक सुझावों से अनुशासित किया है। उनका अनुशासन मेरे लिये सहज ही था। उन्हें मैं अपने अनेक विनीत प्रणाम समर्पित करता हूँ।

डॉ० दयानाथ त्रिपाठी, उपाचार्य, प्राचीन इतिहास विभाग को मेरे अनेक आशीर्वाद; क्योंकि मेरे वे नाती हैं। डॉ० त्रिपाठी ने मेरे लिये अनेक सन्दर्भों को खोजने का कष्ट उठाया, अतएव वे और भी आशीराशि के अधिकारी बन जाते हैं।

डॉ० योगेन्द्रनाथ चतुर्वेदी, रीडर, रसायन-विज्ञान, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। डॉ० चतुर्वेदी सहजभाव से, स्नेह एवं अनुराग से अनुसन्धान की प्रगति की बराबर खोज करते रहे और मुझे प्रणोदित भी करते रहे।

अपने परम सुहृद् **श्री रामसूरत**, कुलसचिव, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर को धन्यवाद देकर मुक्त नहीं होना चाहूँगा। उनसे मेरा केवल निवेदन यह है कि अब वे मुझे उलाहना देने का कष्ट न करें। मैंने उन्हें दिये गये वचन को पूरा कर दिया।

यदि अपनी अन्नपूर्णा भाभी **श्रीमती रमा बनर्जी** के चरणों में अपना माथा न झुकाऊँ, तो इसके लिये भी उनकी डाट-फटकार सहनी पड़ेगी। अनुसन्धान-कार्य पूरा करने के लिये वे सदैव मुझे डांटती ही रही हैं। मुझे खेद केवल इस बात का है कि अब तो अनुसन्धान का कार्य मैंने पूरा कर लिया है, फिर वे किस बात के लिये डांटेगीं ? उनकी फटकार सुने विना मेरा तो सुख-चैन हो छिन जायेगा। उनसे मेरी केवल यही प्रार्थना है कि वे अपने चरणों की धूल मेरे माथे पर सदा चन्दन बनाकर निखारती रहें।

इस अवसर पर मैं अपनी स्नेहशीला दूसरी भाभी **श्रीमती चम्पादेवी पाठक** के अरुणिम चरणों में अपनो अनेक प्रणतियाँ बिखेरता हूँ। उनके स्नेहभरे मादक उलाहनों से ही मेरा यह कार्य सम्पन्न हो सका है। अतएव मैं बारम्बार उनके प्रति शिरसा नत होता हूँ।

अपने शिष्य और सहयोगी **डॉ० रविनाथ मिश्र, डॉ० रामव्यास पाण्डेय** तथा **डॉ० असहाब अली** को अनेकानेक आशीर्वाद देता हूँ। इन लोगों ने इस अनुसन्धान में अनेकविध सहायता की और मनोयोग से अनुसन्धान से सम्बन्धित सामग्री के आकलन के कार्य में परिश्रम किया।

अपने अनन्य सहयोगी **डॉ० कपिलदेव शुक्ल** को भी अग्रज होने के नाते आशीर्वाद देता हूँ। डॉ० शुक्ल ने मुझे अनुसन्धान की पाण्डुलिपि तैयार करने में अत्यधिक सहायता दी है।

श्री हरिवंश मिश्र, अनुसन्धाता, अंग्रेजी विभाग ने अनेक अंग्रेजी ग्रन्थों से सन्दर्भ जुटाने में मुझे सहायता प्रदान की। एतदर्थ मैं उनके अभ्युदय की कामना करता हूँ। **डॉ० देवनाथ पाठक** एवं **डॉ० कालीप्रसाद दुबे** ने बाहर से कई पुस्तकों को लाकर मुझे जो सहायता दी है, उसके लिये मैं उन्हें भी आशीर्वाद देता हूँ।

टंकित प्रबन्ध की अशुद्धियों को शुद्ध करने तथा सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची बनाने आदि अनेक कार्यों में **चि० रामदरस पाण्डेय** ने भूरि परिश्रम किया है। इसके लिये उन्हें मेरे अनेक आशीर्वाद। मैं उनके अभ्युदय तथा मंगल की कामना करता हूँ। चि० रामदरस के कार्यों में मेरे शिष्य **अवधराज मिश्र** ने भी बहुत सहायता की है। उनके परिश्रम के लिये मेरे अनेक आशीर्वाद।

अपनी समसुखदु:खभागिनी सहचारिणी पत्नी **श्रीमती बिन्दु त्रिपाठी** का उल्लेख करना यद्यपि अपना ही उल्लेख करना होगा; तथापि उनकी साधना का ऋण

कभी चुकाया नहीं जा सकता। मेरी ज्येष्ठ पुत्री कुमारी **सुधा विश्वबिन्दु** निरन्तर मुझसे अनुसन्धान पूरा करने के लिये झगड़ती रही है। अतएव उसे इस अलौकिक कार्य के लिये ढेर सारी स्नेहराशि। मेरी छह वर्ष की छोटी बिटिया कुमारी **रम्या विश्वबिन्दु** इन दिनों निरन्तर मेरे लेखन में प्रवृत्त रहने के कारण खोयी-सी रही है। कारण यह था कि उसके काका (मैं) उसका मनोरञ्जन नहीं कर पा रहे थे। अस्तु, उसे अनन्तानन्त स्नेह।

मैं उन गुरुजनों की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने इस अनुसन्धान में सदैव अभिरुचि प्रदर्शित की तथा इसे पूरा करने के लिये बराबर अभिप्रेरित करते रहे। उनमें प्रमुख हैं—**आचार्य बदरीनाथ शुक्ल**, पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, मेरे विद्यागुरु **आचार्य भूपेन्द्रपति त्रिपाठी**, पूर्व-प्रोफेसर, व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, **डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल**, पूर्व-प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा पूर्व-प्रोफेसर **लक्ष्मीकान्त दीक्षित**, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

अपने अग्रज एवं परममित्र **डॉ० कालिकाप्रसाद शुक्ल**, पूर्व-प्रोफेसर व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति मैं अपनी विनीत प्रणति अर्पित करता हूँ। डॉ० शुक्ल ने अनेक सुझावों से मुझे उपकृत किया है।

परम शुभैषी स्व० **डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी**, पूर्व-प्रोफेसर, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ तथा स्व० **डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री**, पूर्व मयूरभंज प्रोफेसर, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का पावन स्मरण करना मेरा कर्तव्य है। मेरा दुर्भाग्य कि आज वे इस धरती पर नहीं हैं। ये दोनों मनीषी मेरे इस अनुसन्धान की पूर्ति के विशेष अभिलाषी थे। उनके सामने मैं अपना अनुसन्धान पूरा नहीं कर सका। इसका दुःख मुझे जीवन भर सालता रहेगा।

अपने मित्र **श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी**, पुस्तकाध्यक्ष, सरस्वतीभवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना केवल औपचारिकता होगी। उन्होंने अनेक पुस्तकों को सुलभ कराने में बराबर सहायता दी। उनके द्वारा उपहृत लेखनी से ही इस अनुसन्धान का सारा लेखन हुआ है। अतएव उन्हें प्रणाम करना मेरा धर्म है।

श्री हरिहरनाथ पाण्डेय ने जिस परिश्रम एवं तत्परता से इस दुरूह अनुसन्धान-प्रबन्ध को मनोयोगपूर्वक टंकित किया है, उसके लिये उन्हें मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

उन सभी स्वजनों को मैं धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे इस ग्रन्थ को लिखने में शुभ प्रेरणा दी है। सभी के नामों का उल्लेख न कर सकने की मेरी अपनी विवशता है।

उन गुरुजनों से मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ, जिनके विचारों से सहमति नहीं प्रकट कर सका। जिन विद्वानों के मतों का इस ग्रन्थ में खण्डन किया गया है, वे मेरी विवशता को समझ कर क्षमा करेंगे। इसका हेतु **सिद्धसेन दिवाकर** की वक्ष्यमाण पंक्तियों में देखा जा सकता है—

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥

तथा

अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।

कार्तिक प्रबोधिनी
२०४६ वैक्रमाब्द

विद्वज्जनकृपाभाजन
विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

सङ्केतिका

अ० को० = अमरकोश
अ० प० = अथर्ववेदपरिशिष्ट
अग्नि० प० = अग्निष्टोमपद्धति
अ० सं० = अथर्ववेदसंहिता
आ० इ० ओ० का० = आल् इण्डिया ओरिएण्टल् कांग्रेस
आ० ग्र० = आनन्दाश्रमग्रन्थावली
आ० सो० = जर्नल् आफ् आन्थापालाजिकल् सोसाइटी
आ० श्रौ० = आश्वलायनश्रौतसूत्र
आप० शु० = आपस्तम्बशुल्बसूत्र
आप० श्रौ० = आपस्तम्बश्रौतसूत्र
इं० लि० हि० = हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिट्रेचर
इं० क० = इण्डियन् कल्चर्
उ० वृ० = उणादिवृत्ति
ऋ० वि० = ऋग्विधान
ऋ० सं० = ऋग्वेदसंहिता
ए० इ० रा० का० = एनशिएण्ट् इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन्
ए० कौ० = एक्सकवेशन् ऐट् कौशाम्बी
ए० भा० ओ० रि० इ० = एनल्स् ऑफ् भाण्डारकर ओरिएण्टल् रिसर्च इंस्टीटयूट
ऐ० आ० = ऐतरेय-आरण्यक
ऐ० ब्रा० = ऐतरेयब्राह्मण
क० उ० = कठ-उपनिषद्
क० सं० = कपिष्ठल-कठसंहिता
क० सं० ब्रा० = कपिष्ठलकठसंहितान्तर्गतब्राह्मण
का० शु० = कात्यायनशुल्बसूत्र
का० सं० = काठकसंहिता
का० रि० मा० सौ० = दि कान्सेप्ट ऑफ् रिचुअल् इन माडर्न सोशिआलाजिकल् थियरी
का० सं० ब्रा० = काठकसंहितान्तर्गतब्राह्मण
का० श्रौ० = कात्यायनश्रौतसूत्र

क्षी० त० = क्षीरतरङ्गिणी
कृ० य० = कृष्णयजुर्वेद
कौ० उ० = कौषीतकि-उपनिषद्
कौ० ब्रा० = कौषीतकि-ब्राह्मण
गो० उ० = गोपथब्राह्मण उत्तर
गो० पू० = गोपथब्राह्मण पूर्व
चौ० प्रा० वि० = चौखम्बा प्राच्य विद्याभारती
चौ० सं० सी० = चौखम्बा संस्कृत सीरीज़
छा० उ० = छान्दोग्य-उपनिषद्
ज० अ० ओ० सो० = जर्नल् ऑफ् अमेरिकन् ओरिएण्टल् सोसाइटी
ज० इ० बु० = जर्नल् ऑफ् इण्डियन् एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज़
ज० ए० स्ट० = जर्नल् ऑफ् एसियाटिक् स्टडीज़
ज० ओ० इं० ब० = जर्नल् ऑफ् ओरिएण्टल् इंस्टीटयूट, बरोदा
ज० बा० यू० = जर्नल् ऑफ् दि यूनिवर्सिटी ऑफ् बाम्बे
जै० उ० = जैमिनीय-उपनिषद् ब्राह्मण
जै० ब्रा० = जैमिनीय ब्राह्मण
टि० = टिप्पणी
ता० ब्रा० = ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तै० आ० = तैत्तिरीय-आरण्यक
तै० उ० = तैत्तिरीय-उपनिषद्
तै० ब्रा० = तैत्तिरीयब्राह्मण
तै० सं० = तैत्तिरीयसंहिता
तै० सं० ब्रा० = तैत्तिरीयसंहितान्तर्गतब्राह्मण
तै० वै० प० = तैत्तिरीयसंहिता, वैयाकरणपदसूची
द० उ० = दशपाद्युणादिवृत्ति
द० पू० प्र० = दर्शपूर्णमासप्रकाश
दै० ब्रा० = दैवब्राह्मण
नृ० उ० = नृसिंह उत्तरतापनीय उपनिषद्
नृ० पू० = नृसिंहपूर्वतापनीय उपनिषद्
पा० टि० = पादटिप्पणी
पू० मी० सू० = पूर्वमीमांसासूत्र
प्र० च० = प्रयोगचन्द्रिका
फी० स्पी० फी० था० = ए फीगर ऑफ् स्पीच् आर् ए फीगर ऑफ् थाट
बृ० दे० = बृहद्देवता
बृ० उ० = बृहदारण्यक उपनिषद्
बौ० श्रौ० = बौधायनश्रौतसूत्र

बौ० शु० = बौधायनशुल्बसूत्र
भ० ज० = भवन्स् जर्नल्
भा० श्रौ० = भारद्वाजश्रौतसूत्र
मा० श्रौ० = मानवश्रौतसूत्र
मा० धा० वृ० = माधवीया धातुवृत्ति
मी० को० = मीमांसाकोश
मी० सू० = मीमांसासूत्र
मे० को० नी० अ० वे० = मेडेडलिन्गोन डेर कोनिन्कतियके नीडरलाण्डेस् अकाडेमी फान वेटेनशाप्पेन
मै० आ० = मैत्रायणी आरण्यक
मै० उ० = मैत्रायणी उपनिषद्
मै० सं० = मैत्रायणीसंहिता
मै० सं० ब्रा० = मैत्रायणीसंहितान्तर्गतब्राह्मण
य० त० प्र० = यज्ञतत्त्वप्रकाश
री० क० रि० = रीडर् इन् कम्परेटिव रिलीजन्
रू० = रूट्स्, वर्बफ़ार्मस् एण्ड प्राइमरी डेरीवेटिव्स्
वा० श्रौ० = वाराहश्रौतसूत्र
वा० सं० = वाजसनेयिसंहिता
वि० इ० ज० = विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल् जर्नल्
वी० टो० ला० फो० = वीयड्रागेन टोट-डे-टाल्, लाण्ड-एन् फोल्केन कुण्डे
वे० लि० = वेदिक् लिट्रेचर
वै० मा० = वैदिक मॉइथालॉजी
वै० को० = वैदिककोश
वै० शु० = वैखानसशुल्बसूत्र
वै० सं० वि० = वैदिक-संस्कृति का विकास
वै० श्रौ० = वैखानसश्रौतसूत्र
श० क० = शब्दकल्पद्रुम
श० ब्रा० = शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिन)
शा० श्रौ० = शांखायनश्रौतसूत्र
शु० य० = शुक्लयजुर्वेद
श्रीवे० यू० ओ० ज० = श्रीवेङ्कटेश यूनिवर्सिटी ओरिएण्टल् जर्नल्
ष० वि० = षड्विंशब्राह्मण
स० भ० ग्र० = सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला
स० शु० = सत्याषाढशुल्बसूत्र
स० श्रौ० = सत्याषाढश्रौतसूत्र
सा० भा० = सायणभाष्य

सा० सं० = सामवेदसंहिता
से० बु० ई० = सेक्रेड् बुक्स् ऑफ् ईस्ट
से० पे० = सेलेक्टेड पेपर्स
श्रौ० प० नि० = श्रौतपदार्थनिर्वचन
सं० वा० वि० इ० = संस्कृतवाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास
सं० लि० हि० = हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिट्रेचर
हा० ओ० सी० = हार्वर्ड् ओरिएण्टल् सीरीज़्
हि० इ० लि० = हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् लिट्रेचर
हि० ध० = हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्राज़्
हि० क्वा० = इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
हि० सं० लि० = हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिट्रेचर

सूक्तवाक्

न॑मो॒ वा॒चे॑, न॑मो॒ वा॒च॑स्प॑त॒ये᳚,
या॑ चो॑दि᳚ता॒ या॑ च॑ नो॒दि॒ता॑
त॑स्यै॒ वा॒चे॑ न॒मो॒;
न॑मो॒ ऋ॑षि॒भ्यो म॒न्त्र॒कृ॑द्भ्यो म॒न्त्रविद्भ्यो म॒न्त्र॑प॑ति॒भ्यो॒
मा॑ मा॒मृष॒यो॑ म॒न्त्र॒कृ॑तो॒ मन्त्र॒वि॑दः॒ प्रादुः,
दै॒वीं᳚ वा॑च॒म्, उ॑द्या॒सं, जु॑ष्टां॒ दे॒वेभ्य॒ः,
स्व॒धा॑व॒रीं पि॒तृ॑भ्यो॒ऽनुम॒तां मनु॒ष्येभ्य॒ः,
त॑न्मा॒ दे॒वा॑ अ॒वन्तु॒ शो॑भा॒यि, पि॒त॑रो॑ऽनुमदन्तु ॥
—मै० सं० ४.९.२

नमो वाक् को,
वाचस्पति को नमस्कार।
जो गयी कही, अनकही रही जो,
उस गौरी को नमस्कार।
मन्त्रकृतों को, मन्त्रविदों को,
मन्त्रों के पति को नमस्कार।
ऋषियों ने,
मन्त्रकृतों ने,
मन्त्रविदों ने,
दैवी वाणी को दिया मुझे, मुझे दिया,
जो प्रीतिपगी देवों-हित,
जो स्वधासनी पितरों-हित,
जो सभी मनुष्यों को अनुमत,
आज उसे मैं बोल रहा हूँ।
अवन करें अतएव देव सब शोभाशाली,
अनुमदित हमारे पितर बनें।

विषयानुक्रमणी

पृष्ठ-संख्या

पूर्व-नमोवाक् ३
उत्तर-नमोवाक् ५-१८
सङ्केतिका १९-२२
सूक्तवाक् २३

प्रथम अध्याय : अग्निचयन : सुपर्णचिति [पुरश्चरण] प्रथमखण्ड— ३-७८

- अग्निचयन का अर्थ ३-४
- अग्निचयन का महत्त्व ४-५
- अग्निचयन की प्रकृति सुपर्णचिति ५-१२
- यज्ञों में अग्निचयन की विधेयता १२-१४

इष्टकापशु : १५

- इष्टकापशु का अर्थ १५-१६
- इष्टकापशु द्वारा यजन का काल १६-१७
- संज्ञपनीय पशु १७-२२
- पशुयाग २२-२३
- पञ्च पशुयाग २३-२४
- प्राजापत्य अज-याग २५
- वायव्य अज-याग २५-२६
- पशुसिरों का आदान तथा आरक्षण २६-२८

उखा-संभरण : २९

- उखा-संभरण का अर्थ २९
- उखा-संभरण का समय २९

मृदाहरण :

- सावित्र आहुति ३०-३१
- अभ्रि ३१-३३
- वल्मीकवपा तथा अनद्धापुरुष ३३-३४
- अश्व-पद-होम ३४-३५
- मृत्तिका का आदान तथा आहरण ३६
- मृत्पिण्ड का परिलेखन ३६

मृत्तिका-खनन ३६
खोदी गयी मृत्तिका को उठाना तथा बांधना ३६-४१
ईंटो के निर्माण के लिये मिट्टी को तैयार करने की विधि ४१-४३
अषाढा का निर्माण ४३-४४

द्वितीय खण्ड :

उखा-निर्माण ४४-५०
उखा का परिमाण ५१-५२
उखा की संख्या ५२
विश्वज्योति ईंटों की संरचना ५२
ऋषभ तथा मण्डलनामक ईंटों की रचना ५३
उपशया ५३
उखा-धूपन ५३-५४
उखा आदि का पकाना ५५-५६
उखा-सेचन ५७
दीक्षणीय-इष्टि ५७-५८
दीक्षणीय इष्टि की हवि ५८-५९
औदग्रभण होम ५९
दीक्षा की कालावधि ५९-६१
उखा-प्रवृञ्जन ६१-६२
उखा में समिधाओं का आधान ६२-६५
विष्णुक्रम ६५
रुक्म ६५-६६
आसन्दी ६६-६८
वात्सप्र ६८-६९
दीक्षाकालपर्यन्त करणीय विधि ६९
यजमानव्रत ६९-७०
वनीवाहन ७०-७३
भस्मापोभ्यवहरण ७३-७४
अग्निचयन में उपधेय ईंटों की संरचना तथा संख्या ७४-७७

प्रायश्चित्ति : ७७

उखा के टूट जाने पर प्रायश्चित्त-विधान ७७-७८
उख्य अग्नि के बुझ जाने पर प्रायश्चित्त-विधान ७८
आहवनीय, गार्हपत्य तथा आग्नीध्रीय
अग्नि के बुझ जाने पर प्रायश्चित्त-विधान ७८

द्वितीय अध्याय : अग्निचयन : सुपर्णचिति [पुरश्चरण]— ७९-१५१
- वेदिमान ७९
- अग्निक्षेत्र-मान ७९-८०
- गार्हपत्य-चयन ८०-८४
- नैर्ऋत अग्निचयन ८४-८६
- वेदिसंस्कार : अग्निक्षेत्रकर्षण ८६-८८
- दर्भस्तम्ब ८८-८९
- उदचमस-निनयन ८९
- औषधि-वपन ८९-९०
- परिश्रयण ९०-९१
- लोगेष्टका-चयन ९१-९२
- उत्तरवेदि, सिकता-निवपन ९२-९३
- अग्नि-प्रणयन ९३-९४
- प्रथम चिति की संरचना ९४-१११
- द्वितीय चिति की संरचना १११-११४
- तृतीय चिति की संरचना ११४-११८
- चतुर्थ चिति की संरचना ११९-१२१
- पञ्चम चिति की संरचना १२१-१३३
- शतरुद्रिय होम १३३-१३५
- अग्नि-परिषेक और इष्टका-धेनूकरण १३५-१३६
- अग्नि-परिकर्षण, सामगान, उक्थ्यशंसन १३७-१३८
- अग्नि-आरोहण, स्वयमातृण्णा-व्याधारण, अग्नि-प्रोक्षण १३८-१३९
- प्रवर्ग्य-उत्सादन, होम, समिदाधान १३९-१४०
- अग्नि-प्रणयन, अश्मापृश्नि और अग्नि का आधान १४०-१४३
- वैश्वानर, मारुत पुरोडाश होम १४३-१४४
- वसोर्धारा, पार्थ और वाजसप्रवीय होम, यजमान अभिषेक १४४-१४५
- राष्ट्रभृत्, रथशीर्ष, वातहोम तथा अन्य आहुतियाँ १४६-१४७
- एक सहस्र स्वर्ण-खण्डों द्वारा अग्नि-प्रोक्षण १४७
- सर्पाहुति १४७
- गन्धर्वाहुति १४७
- चिति-आहुति १४७
- अधिपत्नी-आहुति १४७
- अन्वारोह-होम १४८
- धिष्ण्य-चयन १४८-१५१

तृतीय अध्याय : कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय-शाखा में वर्णित लघु अग्निचयन— १५२-१८३

सावित्र-चयन १५२-१६२
नाचिकेत-चयन १६३-१६७
चातुर्होत्र-चयन १६७-१७०
दिवःश्येनी इष्टि-समूह १७०-१७१
अपाद्या इष्टि-समूह १७१-१७२
वैश्वसृज्-चयन १७२-१७४
आरुणकेतुक-अग्निचयन १७४-१७५
आरुणकेतुक में प्रयुक्त ईंटों का विवरण १७६-१८३

चतुर्थं अध्याय : यज्ञ की अवधारणा, प्रतीक एवं कार्य का सिद्धान्त तथा इतिहास (मिथ्) का विधिकरण— १८४-२४४

यज्ञ की अवधारणा : मानवविज्ञानी दृष्टि १८४-१८५
हेनरीबर्गसाँ, इमैनुअल काण्ट, इमाइल दुर्खीम् : आचरण एवं अनुष्ठान के समीकरण का सिद्धान्त १८५-१८६
जेम्स जार्ज फ्रेजर : अनुष्ठान अवधारणा १८६-१८९
समाजविज्ञानी इमाइल दुर्खीम् : अनुष्ठान अवधारणा १८९-१९१
समाजविज्ञानी मैक्सवेबर : अनुष्ठान अवधारणा १९२-१९४
नृतत्त्वविज्ञानी ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की : अनुष्ठान अवधारणा १९४-१९६
नृतत्त्वविज्ञानी अल्फ्रेड रेगीनाल्ड रैडक्लिफ ब्राउन : अनुष्ठान अवधारणा १९६-१९८
मनोविज्ञानी सिगमुण्ड् फ्रायड् : अनुष्ठान अवधारणा १९८-२०३
कार्ल गुस्ताव युंग : अनुष्ठान अवधारणा २०३-२०८
गोचरवादी अर्न्स्ट कसारिर् : अनुष्ठान अवधारणा २०८-२१२
धर्म-इतिहासविद् मर्सिया इलियाड् : अनुष्ठान अवधारणा २१२-२१३
भारतीय यज्ञ-अवधारणा २१३-२१४
अनुष्ठान का अर्थ २१४-२१६
चरण का अर्थ २१६-२१७
यज्ञ का अर्थ २१७-२२०
प्रतीक-सिद्धान्त एवं प्रतीक का अर्थविज्ञान २२०-२२७
क्रिया का सिद्धान्त : यज्ञ एक प्रतीकात्मक क्रिया २२७-२३३
इतिहास (मिथ्) : इतिहास (मिथ्) का विधिकरण यज्ञ २३३-२३७
वैदिक-यज्ञों का अग्रप्रतिमान इतिहास (मिथ्) २३७-२४४

पञ्चम अध्याय : सुपर्णचिति की प्रतीक-संरचना [पूर्वभाग]— २४५-३०८

फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर का वैदिक-धर्म का सिद्धान्त २४५-२४६
फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर का देववाद का सिद्धान्त २४६-२५१
सुपर्णचिति का प्रथम अग्रप्रातिमानिक इतिहास (आर्कीटाइपल् मिथ्) २५१-२५६
सुपर्णचिति का द्वितीय अग्रप्रतिमानीय इतिहास (आर्कीटाइपल् मिथ्) २५७-२६७
अग्निचयन का प्रतीक अर्थ २६७
इष्टका पशु-याग का प्रतीक अर्थ २६७-२७४
सावित्र होम का प्रतीक अर्थ २७४-२७५
अग्निचयन में ब्रह्माण्ड-संरचना २७५-२७६
गार्हपत्य चिति : पृथिवीलोक २७७-२७८
आग्नीध्रीय चिति : अन्तरिक्षलोक २७८
आहवनीय चिति : द्युलोक २७९
प्रथम चिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में पृथिवीलोक की संरचना २७९-२८९
तृतीय चिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में अन्तरिक्ष-लोक की संरचना २८९-२९०
पञ्चमी चिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में द्युलोक की संरचना २९१-३०३
द्वितीय चिति का प्रतीक अर्थ : पृथिवी के ऊपर तथा अन्तरिक्ष के अन्त.श्लेष की संरचना : प्रतीक अर्थ ३०३-३०५
चतुर्थी चिति का प्रतीक अर्थ : अन्तरिक्ष के ऊपर तथा द्युलोक के नीचे अन्तःश्लेष की संरचना ३०५-३०८

षष्ठ अध्याय : सुपर्णचिति की प्रतीक-संरचना [उत्तरभाग]— ३०९-३८८

उखा का प्रतीक अर्थ ३०९-३२४
अग्नि-प्रजापति की संरचना : प्रतीक अर्थ ३२४
सुपर्ण-प्रजापति ३२४-३३०
षोडशकल-प्रजापति ३३०-३३३
मर्त्य तथा अमर्त्य प्रजापति ३३४-३३७
संवत्सर-प्रजापति ३३७-३४१
लोकविध-प्रजापति ३४१-३४३
यज्ञविध-प्रजापति ३४३-३४५

छान्दोविध-प्रजापति ३४५-३४८
त्रयीविध-प्रजापति ३४८-३५२
सप्तविध-प्रजापति ३५२-३५३
एकशतविध-प्रजापति ३५३-३५६
सप्तविध तथा एकशतविध-प्रजापति की अभिन्नता ३५६
मण्डलविध प्रजापति ३५७-३६०
शतरुद्रिय का प्रतीक अर्थं ३६०-३६२
अग्नि-परिषेक का प्रतीक अर्थ ३६२-३६३
अग्नि-विकर्षण का प्रतीक अर्थ ३६३-३६५
साम-परिगान : प्रतीक अर्थ ३६६-३६८
स्वयमातृण्णा-व्याधारण : प्रतीक अर्थ ३६८
दधि, मधु एवं घृत से अग्नि का समुक्षण : प्रतोक अर्थं ३६९
अश्मापृश्नि : प्रतीक अर्थ ३६९-३७०
अग्नि-आधान : प्रतीक अर्थ ३७०
वैश्वानर पुरोडाश : प्रतीक अर्थ ३७०-३७२
मारुत पुरोडाश : प्रतीक अर्थ ३७२-३७४
इष्टका धेनूकरण : प्रतीक अर्थ ३७४-३७७
वसोर्धारा : प्रतीक अर्थ ३७७-३७९
वाजप्रसवीय : प्रतीक अर्थ ३७९-३८०
यजमान-अभिषेक : प्रतीक अर्थ ३८०-३८१
राष्ट्रभृत् : प्रतीक अर्थ ३८१-३८२
रथशीर्ष-होम : प्रतीक अर्थ ३८२
वात-होम : प्रतीक अर्थ ३८२-३८३
रुङ्मती-आहुति : प्रतीक अर्थ ३८३
वारुणी आहुति : प्रतीक अर्थ ३८३
सन्तति होम : प्रतीक अर्थ ३८३-३८४
अग्निचयन : वृत्रवध ३८४
नैर्ऋत्यचयन : प्रतीक अर्थ ३८४-३८६
विश्वकर्मा आहुति : प्रतीक अर्थ ३८६
अप्रतिरथ-जप : प्रतीक अर्थ ३८६-३८८

सप्तम अध्याय : तैत्तिरीयशाखीय लघुचितियों की प्रतीक-संरचना तथा उपसंहार— ३८९-४४७

सावित्र अग्नि : प्रतीक अर्थ ३८९-३९७
नाचिकेत अग्नि : प्रतीक-संरचना ३९७-४०२
चातुर्होम-अग्नि : प्रतीक-संरचना ४०२-४०८

दिवःश्येनी : प्रतीक अर्थ ४०८-४११
अपाद्या : प्रतीक-संरचना ४११-४१३
वैश्वसृज अग्नि : प्रतीक-संरचना ४१३-४१५
आरुणकेतुक अग्नि : प्रतीक-संरचना ४१६-४२८

उपसंहार : ४२९

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अग्निचयन ४२९-४३२
अग्निचयन औपनिषद् अवधारणा का उत्स ४३२-४३४
शैवधर्म का मूल अग्निचयन ४३४-४३७
पाञ्चरात्र भागवत तथा वैष्णवधर्म का मूल अग्निचयन ४३७-४३९
शाक्तधर्म का मूल अग्निचयन ४३९-४४२
भारतीय कला के परिप्रेक्ष्य में अग्निचयन ४४२-४४६
फलश्रुति ४४६-४४७
ग्रन्थ में उद्धृत पुस्तकें, पाण्डुलिपियाँ एवं अनुसन्धान-पत्रिकाएँ ४४९-४७२

प्रथम अध्याय

अग्निचयन : सुपर्णचिति

पुरश्चरण

प्रथम खण्ड

परिप्रेक्ष्य में सायण के अनुसार चिति शब्द √चिती से व्युत्पन्न होगा।[१] आधुनिक विद्वान् भी पूर्व कथ्य का समर्थन करते हैं।[२] ध्यातव्य है कि अग्निचयन, अग्निचिति और अग्नि शब्द अग्निचयन के[३] ही बोधक हैं।

अग्निचयन का महत्त्व—

वैदिक यज्ञों की विभिन्न विधाओं में अग्निचयन की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है, परन्तु अपनी महत्ता के कारण यजुर्वेदीय संहिताओं में इसका विवरण एक स्वतन्त्र यज्ञ की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया गया है। याजुष संहिताओं एवम् ब्राह्मणों का अधिकांश भाग अग्निचयन की विधि और व्याख्या से भरा पड़ा है।[४] औपमन्यव महाशाल जाबाल, श्वेतकेतु आरुणेय, प्रियव्रत रौहिणायन, श्यापर्ण सायकायन, श्रौमत्य आलिगव, शाट्यायनि, चैलक शाण्डिल्यायन, प्राचीनयोग्य अरुण औपवेशि, अश्वपति कैकेय, सत्ययज्ञ पौलुषि, वैयाघ्रपद्य बुडिल आश्वतराश्वि, वैयाघ्रपद्य इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, सावयस जन शार्कराक्ष्य और भारद्वाज जैसे महान् आचार्यों ने इसकी महनीयता से आकृष्ट होकर न केवल इसके ज्ञान को हृदयङ्गम करने का कठोर प्रयास किया, अपितु इसकी व्याख्या भी की।[५] 'स्वयंभु' ब्रह्म एवम् प्रजापति द्वारा प्रवर्तित तथा प्रवर्धित अग्नि-रहस्य के ज्ञान की उदात्तता को जानकर ही तुर कावषेय, यज्ञवचा राजस्तम्बायन, कुश्रि वाजश्रवस गौतम, शाण्डिल्य, वात्स्य, वामकक्षायण, माहित्थि, कौत्स, माण्डव्य, माण्डूकायनि और सांजीविपुत्र ने इसे प्राप्त किया।[६] अतएव शाण्डिल्य ने इस महती ज्ञानराशि को विश्वजनीन बनाया[७]।

---

१. सा॰ भा॰, श॰ ब्रा॰, ६.२.३.९—√चिती संज्ञाने क्तिनि धातुतकारलोपे कृते रूपम्। क्षी॰ त॰, मा॰ धा॰ वृ॰—१.३४। ध्यातव्य है कि क्षीरस्वामी ने संज्ञान का अर्थ संवित्ति एवम् सायण ने चैतन्य किया है। श्री रामस्वामी प्रायश्चित्त का अर्थ बताते हुए √चिती का अर्थ संधान करते हैं—प्रायो विनाशः, चित्तं संधानम्, उद्धृत, मा॰ धा॰ वृ॰—पृ॰ ६६.

२. ह्विट्ने, रू॰—पृ॰ ४७; मो॰ वि॰, सं॰ ई॰ डि॰—पृ॰ ३९५. २-३.

३. श्री॰ दा॰ खाडिलकर, का॰ शु॰, परिशिष्ट—'ई', पृ॰ ११३.

४. वा॰ सं॰—११-१८; तै॰ सं॰—४-५.४-१०, ६.१-२, ७.२-४, ६, ८-९; का॰ सं॰—१६-१७, १८.१५-१८, ३८.१३-१४, ३९-४०; मै॰ सं॰ २-७-१३; क॰ सं॰—२५.२९.६; श॰ ब्रा॰—६-१०, तै॰ सं॰ ब्रा॰—५.१-५.१.१०, ६.२-१०, ७.१-६, ८-१०; का॰ सं॰ ब्रा॰—१९-२०.१-१३, २१.१-१२; मै॰ सं॰ ब्रा॰—३.१-५; क॰ सं॰ ब्रा॰—२९.७-८, ३०-३५, १-५; तै॰ ब्रा॰—३.१०-१२; तै॰ आ॰—१.१-६.

५. श॰ ब्रा॰ १०.३.३.१, ६.१.६, ३.४.१, ३.५.१४, ४.१.१०, ४.५.१-३, ६.१.१-२, ५, ७-९, ३.१.१९.

६. तदेव—१०.६.५.९.

७. वेबर, हि॰ इं॰ लि॰—पृ॰ १२० आदि; एग्लिंग्—से॰ बु॰ ई॰, १२.३१ एवम् आगे ४३.१८ एवम् आगे; विण्टरनित्ज—इं॰ लि॰ हि॰ (वे॰ लि॰), पृ॰ १६८-१६९; मैकदोनेल—

वस्तुतः अग्निचयन में अग्नि-प्रजापति-पुरुष की संरचना की जाती है। वह सकल वैश्विक पदार्थों का, ब्रह्माण्ड का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित सभी अस्तित्वों के नामरूपात्मक संघात का प्रतिरूप है। सकल भूत (बींग्) और भाव्य (बिकमिंग्) भाव अग्निचयन में संनिहित हैं। इसी दृष्टि से अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी अग्निचयन के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। ओल्डेनबुर्ग के अनुसार अग्निचयन अमृतत्व का विधायक है[१]। एग्‌लिंग् के अनुसार सृष्टिविद्या एवं ब्रह्मविद्या के सारे सिद्धान्त इसी से निःसृत हुए हैं[२]। लक्ष्मणशास्त्री जोशी का अभिमत है कि उपनिषदों का पूर्ण बोध अग्निचयन के ज्ञान के बिना असंभव है। शैव तथा वैष्णव धर्मों का उदय अग्निचयन से हुआ। मंदिर-संस्था एवं वास्तुविद्या के सिद्धान्तों का जनक भी अग्निचयन है[३]। तोशिओ काज़मा अग्निचयन को जीवन की पूर्णता का निदर्शक मानते हैं[४]।

अग्निचयन की प्रकृति सुपर्णचिति—

यजुर्वेदीय साहित्य में अग्निचयन[५] की अनेक विधाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें केवल आकारगत भेद ही है। कुछ विधाओं को छोड़कर सभी अग्निचयन मिट्टी की ईटों द्वारा संरचित होते हैं। कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में विभिन्न काम्य चयनों का विवरण मिलता है :—

हि० सं० लि०–पृ० १८०; चि० वि० वैद्य, सं० लि० हि० (अनुभाग–२, ब्राह्मणज्, पृ० ११-१३; वे० इं०, पृ० ३७१; वैं० को० पृ० ५१३; श्रीधरशर्मा वारे—श० ब्रा० उपोद्घात, पृ० २४; सूर्यकान्त, सं० वा० वि० इ०—पृ० ५५; पाण्डुरङ्ग वामन काणे, हि० ध०, भाग २, खण्ड २, पृ० १२४७।

[१] एच्० ओल्डेनबुर्ग, वेडिशे उण्टरज़ूखुनगेन, नख़रिख्टेन फॉन डेर गेज़ेलशाफ़्ट डेर विसेनशाफ़्टेन त्सु गोर्यटिंगेन, १७.१।

[२] से० बु० ई०, भाग ४३, पृ० ७३।

[३] वै० सं० वि०—पृ० ५४-५७; द्र० श्री० दा० खाडिलकर, का० शु० सू०, परिशिष्ट 'ई', पृ० ११३।

[४] तोशिओ काज़मा, ज० इं० बु०, ११ (१), जनवरी ६३, पृ० ३१५-३१९—परफैक्शन् आफ़् लाइफ़ इन् दि ब्राह्मणज़्—दि थॉट आफ़् अग्निचयन।

[५] तै० सं० ब्रा०, ५.४.११–छन्दश्चितं चिन्वीत पशुकामः····श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः···· कङ्कचितं चिन्वीत यः कामयेत शीषण्वानमुष्मिंल्लोके अलजचितं चिन्वीत चतुःसीतं प्रतिष्ठाकामः····प्रउगचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवान्····उभयतःप्रउगचितं चिन्वीत यः कामयेत प्रजातान् भ्रातृव्यान् नुदेय····रथचक्रं चिन्वीत भ्रातृव्यान्···द्रोणचितं चिन्वीतान्नकामो····समूह्यं चिन्वीत पशुकामः····परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामो····श्मशानचितं चिन्वीत यः कामयेत पितृलोक ऋध्नुयाम्।

कामना	चयन का नाम
१. पशु	छन्दश्चिति
२. स्वर्ग	श्येनचिति
३. उन्नति	कंकचिति
४. प्रतिष्ठा	अलजचिति
५-६. शत्रुनाश	प्रउगचिति अथवा रथचक्रचिति
७. प्रजातशत्रुनाश (पारिवारिक शत्रु)	उभयतः प्रउगचिति
८. शत्रुनाश	रथचक्रचिति
९. अन्न	द्रोणचिति
१०. ग्राम	परिचाय्यचिति
११. पितृलोक में समृद्धि	श्मशानचिति

काठकसंहिता-ब्राह्मण में अलजचिति, कंकचिति और उभयतः प्रउगचिति के अतिरिक्त तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण में उल्लिखित सभी चितियों को मान्यता प्राप्त है[1]। यद्यपि यहाँ छन्दश्चिति का नाम से उल्लेख नहीं किया गया है; तथापि ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जिनके साक्ष्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि इसे काठक-प्रस्थान में भी स्वीकृति मिली है। काठक के अनुसार जानुदघ्न (घुटनों की ऊँचाई तक) गायत्रचित्, नाभिदघ्न (नाभि की ऊँचाई के बराबर) त्रिष्टुप्चित् और पुरुषमात्र (पुरुष की ऊँचाई के समान) जगच्चित् अग्नि की संरचना करनी चाहिए[2]। निश्चय ही ये सभी चयन छन्दश्चित् ही हैं। यहाँ केवल छन्दों की दृष्टि से विशेषता प्रदर्शित की गयी है। मैत्रायणीसंहिता-ब्राह्मण में अलजचित्, कंकचित् एवं उभयतः प्रउगचित् का उल्लेख नहीं है। अन्य सभी चयन-विधाएँ तैत्तिरीय संहिता-ब्राह्मण की अनुगामिनी हैं[3]। कापिष्ठल प्रस्थान में तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण में वर्णित सभी चयन-विधाओं का उल्लेख मिलता है और छन्दश्चिति में काठक-वर्णित विशेषता का अनुकरण दृष्टिगत होता है[4]। इन महाचितियों के अतिरिक्त कतिपय 'क्षुद्र' चितियों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। ध्यातव्य है कि इन 'क्षुद्र' चितियों की संरचना में ईंटों के स्थान पर सुवर्ण, कंकड़ आदि अन्य पदार्थ एवं जल का प्रयोग किया जाता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में सावित्र, नाचिकेत, चातुर्होत्र तथा वैश्वसृज

---

१. का० सं० ब्रा०—२१.४।

२. तदेव—यो जानुदघ्नः, स गायत्रचिद्, यौ नाभिदघ्नः, स त्रिष्टुप्चिद्, यः पुरुषमात्रः स जगच्चित्।

३. मै० सं० ब्रा०—३.४.७, ध्यातव्य है कि जी० आर० शर्मा का यह कथन (ए० कौ०, पृ० १३२) कि मै० सं० ब्रा० में समान विवरण हैं, ठीक नहीं है; क्योंकि तै० सं० ब्रा० में उल्लिखित तीन चितियों का उल्लेख इस सन्दर्भ में ही नहीं, अन्यत्र भी नहीं है ।

४. क० सं० ब्रा०—३१.९।

नामक अग्नियों के चयन की विधि वर्णित है[१]। तैत्तिरीय-आरण्यक में आरुणकेतुक अग्नि के चयन का विवरण है[२]। कृष्णयजुर्वेदीय कतिपय श्रौतसूत्रों में, ब्राह्मणों में वर्णित चितियों की विधि सुलभ है[३]। बौधायनश्रौतसूत्र में कूर्मचिति का भी उल्लेख है[४]; परन्तु इसका वर्णन आज उपलब्ध वैदिक साहित्य में कहीं नहीं है। संभवतः इसी को दृष्टि में रखकर बौधायनशुल्बसूत्र के टीकाकार व्यंकटेश्वर दीक्षित ने इसे किसी अन्य वैदिक शाखा की चिति कहा है[५]। बौधायनशुल्बसूत्र, आपस्तम्बशुल्बसूत्र और सत्याषाढशुल्बसूत्र में तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण की सभी चितियों का उल्लेख है[६]। ध्यातव्य है कि आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र में एक अन्य चिति उपचाय्य भी वर्णित है[७]। तापश्चित् नामक चयन का वर्णन केवल सत्याषाढश्रौत सूत्र में मिलता है[८]।

यजुर्वेद के शुक्ल प्रस्थान में केवल सुपर्णचिति का विधान मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है—"इसके पश्चात् इस (उखा में स्थित अग्नि) को इस विकृति के द्वारा विकीर्ण करता है। यह इस सींचे गये रेत को विकीर्ण करता है। अत एव (लोक में भी) योनि में आहित वीर्य फैलाया जाता है (बिखेरा जाता है)। कुछ लोग उस (उखा में स्थित अग्नि) को इस विकृति से अभिमंत्रित कर दूसरी चिति—द्रोणचित् अथवा रथचक्रचित् अथवा कंकचित् अथवा प्रउगचित् अथवा उभयतः प्रउगचित् अथवा समूह्यपुरीषचित् का चयन करते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए (यह कार्य उसी तरह का होगा) जैसे पक्ष एवम् पूँछ से युक्त अग्नि-गर्भ को (कोई) काट दे। अतएव इस (अग्नि) का सुपर्णचित् के रूप में ही चयन करना चाहिए[९]।" इस कथन से

---

१. तै० ब्रा०—३.१०-१२,६.९; द्र० तै० आ०—१.२२.१०-११।

२. तै० आ०—१.१-३०।

३. बौ० श्रौ०—१७.२८-३०, जो० आर० शर्मा का यह कथन (ए० कौ०, तदेव) कि बौ० श्रौ० में समूह्यचिति एवं परिचाय्य चिति का उल्लेख नहीं है, भ्रान्त है, बौ० श्रौ० १७.२९ में स्पष्ट लिखा है—समूह्यं चिन्वीत पशुकाम इति विज्ञायते। परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामः। बौ० श्रौ०—१९.१-९; आप० श्रौ०—१९.११.१३, १४.१.१-२८; स० श्रौ०—१२.८.१५, २५.४.२२, २८, ३१, ३६, ४२, ४५, ४७-४८, ५२-५३, ६.१।

४. बौ० श्रौ०, १९.७; संतिष्ठते ब्रह्मचित्, १७.३०.३०.२०—कूर्मचितं चिन्वीत यः कामयेत ब्रह्मलोकमभिजयेयमिति।

५. बौ० शु०, शुल्बमीमांसा, ३.१२९—कूर्मचयनप्रतिपादकं शाखान्तरीयं ब्राह्मणमाह कूर्मचितमिति।

६. बौ० शु०—२-३; आप० शु०—४.२३; स० शु०—२५.३-६।

७. स० श्रौ०—१२.८.१४; २५.४.४७; आप० शु—पृ० २२५, ४-२३।

८. स० श्रौ०—१२.८.१६।

९. श० ब्रा०, ६.७.२.५—अथैनमती विकृत्या विकरोति, इदमेवेतद् रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद् योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते। ७.२.८—तं हैके, एतया विकृत्याभिमन्त्र्यान्यां चितिं

स्पष्ट है कि शतपथब्राह्मण अन्य चयनों का स्पष्टतया निषेध कर केवल सुपर्णं नामक चयन का ही विधान करता है[1]। आहवनीय में अग्निस्थापन के समय शतपथब्राह्मण पुनः उपरिकथ्य की पुष्टि करता है—"इस (अग्नि) को वहाँ (उखा में स्थिति के समय) वीर्यसेक के द्वारा गरुत्मान् सुपर्णं के रूप में बिखेरता है, (अतएव) उसका (इस चयन के अवसान में) गरुत्मान् सुपर्ण के रूप में चयन करता है[2]"। कात्यायनश्रौतसूत्र अन्य चितियों का निषेध तो नहीं करता; परन्तु सूत्र में 'एके' (कुछ लोग) कहकर दूसरों के मत के रूप में केवल कथन करता है[3]। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि अग्निचयन के प्रकृतिचयन का अभिधान सुपर्ण है अथवा श्येन? कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अग्नि के प्रकृतिचयन का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुसार पक्षियों की प्रतिमा के रूप में अग्नि का चयन किया जाता है[4]। इस ब्राह्मण के अनेक स्थल अग्नि के पक्षीरूप का वर्णन प्रस्तुत करते हैं[5]। अन्य संहिता-ब्राह्मणों में भी अग्नि को पक्षी कहा गया है और बहुधा उसका सांगोपांग वर्णन भी मिलता है[6]। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि काम्य चितियों के वर्णन के अवसर पर सर्वत्र सर्वप्रथम छन्दश्चित् का उल्लेख है,[7] न कि श्येनचित् का। इस स्थिति में यह कथन कि श्येनचित् ही सभी अग्नियों की प्रकृति है, संदिग्ध हो उठता है।

कृष्णयजुर्वेदीयश्रौतसूत्रों तथा शुल्बसूत्रों में भी कहीं यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि श्येन अग्नि सभी चयनों की प्रकृति है। शुल्बसूत्रों के टीकाकारों का

चिन्वन्ति द्रोणाचितं वा रथचक्रचितं वा कङ्कचितं वा प्रउगचितं वोभयतःप्रउगं वा समूह्य-पुरीषं वा, न तथा तत् कुर्याद्, यथा पक्षपुच्छवन्तं गर्भं परिवृश्चेत् तादृक् तत् तस्मादेनं सुपर्णचितमेव चिनुयात्।

[1] अतएव जी० आर० शर्मा का यह कथन (ए० कौ०, पृ० १३२) कि श० ब्रा० में सुपर्णचिति तथा उसकी विकृति-चितियों का उल्लेख है और सुपर्णचिति को निश्चय ही प्रथम स्थान दिया गया है, भ्रामक है।

[2] श० ब्रा०, ९.२.३.३४—एनमदो विकृत्या सुपर्णं गरुत्मन्तं विकरोति, तं सुपर्णं गरुत्मन्तं चिनोति।

[3] का० श्रौ०, १६.५.९—एतया विकृत्याभिमन्त्र्यैकेऽन्यचितिं चिन्वन्ति द्रोणाचिद्रथचक्र-चित्कङ्कचित्प्रउगचिदुभयतःप्रउगःसमूह्यपुरीष इति।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.५.३.२—वयसां वा एष प्रतिमया चीयते। द्र०, बौ० शु०—वयसां वा एष प्रतिमया चीयते यदग्निरिति। स० श्रौ० (स० शु०), २५.२.१, (आ० ग्र० ५३), पृ० ९२९—वयसां वा एष प्रतिमया चीयते।

[5] तदेव, ५.७.६—वयो वा अग्निः, द्र०—५.५.८; ६.४.३-४; १०; ७.६.५ आदि।

[6] का० सं० ब्रा०, २२.४—वयो वा अग्निः समिक्ष्यमेवैनं वयः करोति, वयो भूत्वा स्वर्गं लोकमेति, अग्निर्वै पक्षी भूत्वा स्वर्गलोकमुदपतत्। मै० सं० ब्रा०, ३, ४, ८—वयो वा अग्निः; ५. २ आदि। क० सं० ब्रा०, ३५. १९।

[7] तै० सं० ब्रा०—५.४.११; का० सं० ब्रा०—२१.४; मै० सं० ब्रा०—३.४.७; क० सं० ब्रा०—३१.९।

कथन है कि दूसरे शुल्बसूत्र में यह कथन मिलता है कि अग्नियों में श्येन प्रथम है। बौधायन शुल्बसूत्र के टीकाकार व्यंकटेशदीक्षित[1] का अभिमत है कि श्येन सभी की प्रकृति होने के कारण प्रथम अनुष्ठेय है। आपस्तम्बशुल्बसूत्र के टीकाकार कपर्दी स्वामी[2], करविन्द[3] और सत्याषाढश्रौतसूत्र के टीकाकार महादेव शास्त्री के अनुसार श्येन अग्नि को अन्य शुल्बसूत्रों में प्रकृति कहा गया है[4]। उपलब्ध शुल्बसूत्रों में यह कथन कहीं मिलता नहीं। यदि यह स्वीकारा भी जाये कि किसी लुप्त शुल्बसूत्र में यह कथन था, तो भी इसे मानना संभव नहीं; क्योंकि इसके लिये कोई श्रुति-प्रमाण नहीं है। आपस्तम्बशुल्बसूत्र के एक अन्य टीकाकार सुन्दरराज[5] श्येन चिति को नित्य बताकर प्रमाणरूप में 'सुपर्णोऽसि' मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं। इस मंत्र में श्येन शब्द का गन्ध भी नहीं है। संकर्ष का स्पष्ट कथन है कि[6]—अग्निचयने श्येनाकृतिः काम्यैव—अग्निचयन में श्येन की आकृति काम्य ही है। संकर्ष के वाक्य में प्रयुक्त 'एव' पद श्येन की नित्यता का बाधक ही है, साधक नहीं। संकर्ष का यह कथन कि अग्निचयन के विषय में सुपर्ण की आकृति का बोधक मंत्र[7] अर्थवाद है, श्रुतिप्रमाण का सर्वथा अनादर ही है। यह तर्क कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकता है; क्योंकि जैमिनि[8] के मतानुसार वेद के अर्थ के बोध के लिये छह प्रमाणों में श्रुति का प्रमाण ही अतिशायी है।

चिन्नस्वामी के अनुसार श्येनचिति का ही दूसरा नाम सुपर्णचिति है और वह प्रथम एवम् प्रधान भी है[9]। निश्चय ही यह कथन वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। सुपर्ण और श्येन पक्षी भिन्न-भिन्न हैं और इसे उन्होंने स्वीकारा भी है। सुपर्ण गरुड़ है और श्येन[10] बाज।

---

[1] बौ० शु०–३.१ (स० भ० १०७ पृ० ७८)—श्येनस्य प्रकृतित्वेन प्रथममनुष्ठेयत्वात्....।

[2] आप० शु०, पृ० १२९—शुल्बान्तरे चोक्तं 'श्येनचिदग्नीनां' प्रथमोऽग्निरिति।

[3] तदेव, पृ० १३१—शुल्बान्तरे च श्येनचिदग्नीनां प्रथमोऽग्निरित्युक्तम्।

[4] स० श्रौ०, २५.२, (आ० ग्र०, ५३, पृ० ९२९)—श्येनचिदेव प्रथमः। शुल्बान्तरे चोक्तं 'श्येनचिदग्नीनां प्रथमोऽग्निरिति'।

[5] आप०शु०, पृ० १३४—अनेन श्येनचितिर्नित्येति ज्ञायते। मन्त्रवर्णाश्च भवन्ति सुपर्णोऽसि....।

[6] संकर्ष, मी० को०, भाग १, पृ० ४८।

[7] मी० को० भाग १, पृ० ५४।

[8] जैमिनि, मो० सू०, ३.३.१४।

[9] य० त० प्र०, पृ० ४८—श्येनचितिरेव सुपर्णचित्यपरनामधेया प्राथम्यं प्राधान्यं चावहति। तदेव, पृ० १०४, पा० टि० १—कण्ठस्य अधस्तात् पाटलवर्णः, उपरिष्टात् श्वेतः पक्षिविशेषः सुपर्णपदवाच्यः। खगोऽयं मत्स्याशी बहुलमनूपदेशेष्वेव वसति। न धन्वसु शुष्के वा प्रदेशेषु। गरुडपदाभिधेयोऽयं भगवतौ विष्णोर्वाहनमिति मत्वा यत्र कुत्रापि दृष्ट्वैवेनं प्रणमन्ति तद्देशस्था जनाः। तद्दर्शनं च कल्याणकरं मन्वते। श्येनस्तु प्रसिद्ध एव।

[10] अ० को०, १.१.२९—गरुत्मान् गरुडः....सुपर्णः पन्नगाशनः, २.५.१४-१५-शशादनः पत्री श्येनः।

अनुवर्ती सम्पूर्ण साहित्य में उपर्युक्त कथ्य के विरुद्ध कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सुपर्ण श्येन का पर्याय है। यह कथ्य भी अनुचित होगा कि श्येन सुपर्ण-गरुड़ है; क्योंकि मन्त्र में प्रयुक्त 'गरुत्मान्'[१] शब्द गरुड़ का ही द्योतक है। अतएव अनुवर्ती साहित्य में सुपर्ण का, गरुत्मान्, पर्याय हो गया[२]। ध्यातव्य है कि जिस समय उखा के गर्भ में अग्नि को वीर्यरूप में आहित किया जाता है और जिस समय उखागर्भस्थ अग्नि को सुपर्ण के रूप में सृष्ट करने के लिये चिति-संरचना के अनन्तर आहवनीय में स्थापित किया जाता है, उस समय उपरिवर्णित 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्.....' मन्त्र का विनियोग किया जाता है। सभी संहिताओं में यह मंत्र समानरूप में उल्लिखित एवं विहित है[३]। पूर्व निर्दिष्ट जैमिनि सूत्र के अनुसार वेद के अर्थ के बोधक छह प्रमाणों में श्रुति ही श्रेष्ठतम प्रमाण[४] है। अतएव श्रुति में 'सुपर्ण' पद का श्रवण होने के कारण अग्निचयन का अभिधान 'सुपर्ण' ही उचित है, न कि श्येन।

भारतीय इतिहास (मिथ्) में सुपर्ण को ही प्रमुखता मिली[५] है। श्येन का यदि किसी इतिहास (मिथ्) में उल्लेख भी है, तो उसका महत्त्व सुपर्ण की अर्थवत्ता के कारण है। सुपर्ण प्रजापति है और वाक् सुपर्णी है[६]। अग्निचयन के अग्रप्रतिमानीय (आर्की-टाइपल्) इतिहास (मिथ्) के अनुसार सृष्टि के आदि में प्रजापति ने त्रयीरूपा वाक् के साथ जल में प्रविष्ट होने के अनन्तर सृष्टि[७] की। पूर्व वर्णित मन्त्र 'सुपर्णोऽसि' में सुपर्ण

---

१. वा० सं०-१२.४।

२. पा० टि०-२।

३. वा० सं०, १२.४, सु॒प॒र्णो॒ऽसि ग॒रुत्माँ॑स्त्रि॒वृत्ते॒ शिरो॑ गाय॒त्रं चक्षु॑र्बृहद्रथन्त॒रे प॒क्षौ। स्तोम॑ आ॒त्मा छन्दा॒ꣳस्यङ्गा॑नि॒ यजू॑ꣳषि॒ नाम॑। साम॑ ते त॒नूर्वा॑मदे॒व्यं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ पुच्छं॒ धिष्ण्याः श॒फाः। १७.७२, सु॒प॒र्णो॒ऽसि ग॒रुत्मा॑न् पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द। तै० सं०–४.१.१०, ६.५; का० सं०–१६.८, १८,४; मै० सं०–२.७.८; २.१०.६; क० सं०–२८.४। श० ब्रा० ६.७.२.६, ९.२.३.३४; तै० सं० ब्रा०–५.१.१०.६; का० सं० ब्रा०–१९.११, २१.९; मै० सं० ब्रा०–३.१.१, ३.९, क० सं०ब्रा०–३१.३।

४. पू० मी० सू०—३.३.१४––श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थ-विप्रकर्षात् द्र०, कुमारिलभट्ट-बाधिकेव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा। मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया॥ उद्धृत, अर्थसंग्रह (चौ० प्रा० वि० १०) पृ० ७६।

५. ई० अनन्ताचार्य, सुपर्ण, विजयवाड़ा, १९६२।

६. ऋ० सं०, १०.१४९.३–सु॒प॒र्णो अ॒ङ्ग स॑वि॒तुर्ग॒रुत्मा॒न् पूर्वो॑ जा॒तः; श० ब्रा० १०.२.२.४–प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मान्; ३.६.२.२—वागेव सुपर्णी।

७. श० ब्रा०, ६.१, १.८-१०—सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत; भूयानस्यां प्रजायेयेति, सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत, स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मेव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्........। वागेवास्य सासृज्यत........। सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डं समवर्तत........।

प्रजापति का जो विद्यारूप कहा गया[1] है, वह प्रजापति और वाक् के मिथुन के विना संभव ही नहीं। ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त भी 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'[2] (वह स्वधा के साथ अकेला ही विना वात के भी उच्छ्वसित हो रहा था) कह कर इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। ऋषि गृत्समद[3] तथा अपोनप्त्रीय सूक्त में कवष ऐलूश[4] 'ईंधन के विना ही धृतनिर्णिक् अग्नि जल के अन्तरतम में देदीप्यमान हो रहा था' कहकर उपरितन कथ्य की पुष्टि करते हैं।

ऋक्संहिता में अनेकत्र सुपर्ण और श्येन का उल्लेख मिलता है। गृत्समद-दृष्ट मंत्र में सुपर्ण और श्येन को अलग-अलग बताया गया है—'न तो श्येन तुम्हारा वध करे और न सुपर्ण ही'।[5] सायण के अनुसार श्येन कोई बलशाली पक्षी है और सुपर्ण गरुड़[6] है। सोम-आहरण के प्रसंग में सुपर्ण के उल्लेख के साथ-साथ श्येन का भी प्रयोग[7] है। इन संदर्भों में श्येन[8] का शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण करना उचित है। ऋक्संहिता के एक अनुवर्ती मंत्र को साक्ष्य में प्रस्तुत कर अनेक विद्वान्[4] सुपर्ण को श्येन का पुत्र मानते हैं—"श्येन (शंसनीय गति से युक्त) के पुत्र सुपर्ण ने दूर से जिसे आहृत किया।"[9] इस मंत्र में भी श्येन का अर्थ अत्यधिक गतिशील ही करना उचित प्रतीत होता है और भारतीय अवधारणा के अनुकूल भी है। अतएव सायण ने यहाँ श्येन का अर्थ ताक्ष्र्य किया[10] है, जो गरुड़ का ही एकपर्याय है[11]। ध्यातव्य है कि ऋक्संहिता में सविता को सुपर्ण[12] और प्रजापति कहा[9] गया है। चयन में जिस अग्नि की संरचना

---

[1] पा० टि०, ५. पृ० ११, ७।

[2] ऋ० सं०—१०.१२९.२।

[3] ऋ० सं०–२.३५.४, दी॒दाया॑नि॒ध्मो धृतनि॑र्णिग॒प्सु।

[4] तदेव—१०.३०.४, यो अ॒नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒॑न्तः।

[5] ऋ० सं०, २.४२.२—मा त्वा॑ श्ये॒न उद्व॑धी॒न्मा सु॑प॒र्णः।

[6] तदेव, सायण—श्येनः प्रबलः पक्षिविशेषः। सुपर्णः गरुडः पक्षी।

[7] ऋ० सं०—४.२६.४-७, २७.१,३; ९.४८.३, ८६.२४—आदि।

[8] वाचस्पत्यम्—भाग ६, पृ० ५१४८, श० क०—भाग ५, पृ० १५३; अ० को० २५ १४-१५, सुधा-श्यायते √श्यैङ् गतौ; द० उ०—५.१२; उज्ज्वलदत्त, उ० वृ०—२.४६; क्षीरस्वामी, क्षी० त०—१६८७;—आदि।

[9] ऋ० सं०, १०.१४४.४—यं सु॑प॒र्णः प॑रा॒वत॑ः श्ये॒नस्य॑ पु॒त्र आभ॑रत्। वस्तुतः 'श्येनस्य पुत्रः' की अग्नि के 'सहस्पुत्र' 'सहस्य' जैसे कथन के समान समझना चाहिए—ऋ० सं०—२.२.११, २.७.६—आदि। सहस्पुत्र अग्नि के लिये द्रष्टव्य-मैकदोनेल—वे० मा०, पृ० ९१; कीथ—हा० ओ० सी०, ३१, पृ० १५५।

[10] ऋ० सं०, तदेव, सायण—श्येनस्य ताक्ष्र्यस्य पुत्रः तनयः सुपर्णः।

[11] अ० को०, १.१.२९—गरुत्मान् गरुडस्ताक्ष्र्यो वैनतेयः खगेश्वरः।

[12] ऋ० सं०, १.३५.७—वि सु॑प॒र्णो अ॒न्तरि॑क्षाण्यख्यत्।

की जाती है, वह प्रजापति[1] ही है। चयन में अनुष्ठेय 'अग्नियोग' के मंत्र में अग्नि को महान् दिव्य सुपर्ण के अभिधान से अभिहित किया[2] गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में चयन के अवसान में चिति-अभिमर्शण के समय इसे 'सुपर्णचित्'[3] कहा गया है। वस्तुसत्य यह है कि ऋक्संहिता में ही परम सत्ता को सुपर्ण नाम से अभिहित किया गया है—"अकेला सुपर्ण समुद्र में घुसा हुआ है, वह सम्पूर्ण समुद्र में घुसा हुआ है, वह सम्पूर्ण सृष्टि को देख रहा[4] है"। उस सुपर्ण को मेधावी ऋषि अपने वचनों के द्वारा अनेक नाम-रूपों में वर्णित करते हैं[5]। ध्यातव्य है कि तैत्तिरीयसंहिता[6] में अप्सुषद् ईंटों के उपधान-यज्ञ में 'श्येनसदसि, गृध्रसदसि, सुपर्णसदसि' कह कर स्पष्टतया श्येन, गृध्र और सुपर्ण पक्षियों को अलग-अलग अभिहित किया गया है। तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण[7] के अनुसार यह पक्षी-समूह अग्नि का प्रिय धाम है। अतएव श्येन और सुपर्ण के एक पक्षी के होने की कोई संभावना नहीं है।

अतएव यह निष्कर्ष असंदिग्ध हो जाता है कि चयन की प्रकृति का अभिधान सुपर्णचित्, सुपर्णचयन या सुपर्णचिति ही उचित एवं तर्कसम्मत है। उसे श्येनचिति पद से अभिहित करना[8] श्रुतिप्रमाण, भारतीय अवधारणा तथा प्रज्ञामूलक तर्क के विरुद्ध है।

यज्ञों में अग्निचयन की विधेयता—

अग्नि चयन कोई स्वतंत्र यज्ञ नहीं है। शतपथब्राह्मण के अनेक कथनों से यह

---

१. ऋ० सं०, ४.५३.२—भुवनस्य प्रजापतिः, श० ब्रा०, १२.३.५.१—यो ह्येव सविता स प्रजापतिः। तदेव—६.१.१.५—स प्रजापतिः स योऽयमग्निश्चीयते। तु०—१०.१.३.५।

२. वा० सं०, १८.५१—अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳसुपर्णं वयसा बृहन्तम्। तु० तै० सं०—४.७.१३.१ का०सं०—१८.१५; मै०सं०—२.१२.३; क०सं०—२९.४; श० ब्रा०, ९.४.४.१, ३—अग्नि युनक्ति, स मध्यमं परिधिं संस्पृश्य, एतद्यजुर्जपत्यग्नि युनज्मि। तै० सं० ब्रा०, ५.४.१०.१—'अग्नि युनज्मि शवसा घृतेन' इत्याह, युनक्त्येवैनम्। तु०—का० सं० ब्रा०—२२.१; मै० सं० ब्रा०—३.४.४।

३. वा० सं०, २७.४५ = सुपर्णचिदसि। श० ब्रा०, ८.१.४.८—सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद।

४. ऋ० सं०—१०.११४.४—एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश, स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।

५. तदेव—१०.११४.५—सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। द्र०, आनन्दकुमार स्दामी, से० पे०, भाग २, पृ० १६६—वेदिक मोनोथीज़्म, पा० टि०—१-४।

६. तै० सं०, ४.४.७.१।

७. तै० सं० ब्रा० ५.३.११.२—श्येनसदसीत्याहैतद् वा अग्नेः प्रियं धाम।

८. जी० आर० शर्मा, ए० कौ०, पृ० १३३-१३४।

प्रमाणित होता है कि अग्निचयन सोमयाग का[1] अंग है। सोमयागों में अग्निचयन करना आवश्यक एवं नियत नहीं है। गवामयन सत्र के उपान्त्य दिवस में करणीय महाव्रत के आहवनीय में अग्नि का चयन नित्यविधि[2] है। ध्यातव्य है कि प्रथम अनुष्ठेय सोमयाग में अग्नि के चयन का निषेध किया गया[3] है। द्वितीय सोमयाग में इसका विधान किया जा सकता है। एतदतिरिक्त शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में तापश्चित् नामक सत्र में भी अग्नि के चयन करने की विधि उपलब्ध[4] है।

कृष्णयजुर्वेदसंहिताओं एवं ब्राह्मणों में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि अग्निचयन का विधान किस यज्ञ में करना चाहिए; परन्तु कतिपय ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके बल पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रस्थान भी अग्निचयन को स्वतन्त्र यज्ञ का स्थान नहीं प्रदान करता और इसे सोमयाग का अंग ही मानता है। सोमयाग में विहित दीक्षणीय इष्टि में आग्नावैष्णव (अग्नि और विष्णु देवता से सम्बन्धित) एकादशकपालक (ग्यारह कपालों पर पकाये जाने वाले) पुरोडाश का विधान[5] है। अग्नि-दीक्षा में वैश्वानर द्वादशकपालक पुरोडाश तथा आदित्य चरु के साथ आग्नावैष्णव का भी निर्वाप किया जाता है। अग्नि की औद्ग्रमण आहुति के साथ-साथ

---

१. श० ब्रा०, ६.६.१.४—उभयं ह्येतत् कर्माध्वरकर्म चाग्निकर्म च, ६.१.१३—अध्वरस्य पूर्वण्याथाग्नेः; ७.२.२.१-'प्रायणीयं निर्वपति; ३.१.४—आतिथ्यं हविर्निर्वपति एतद् व्यतिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च; २.२.२—प्रायणीयेन प्रचर्यं सीरं युनक्ति; ३.१.१—चिती गार्हपत्यो भवत्यचितो आहवनोयोऽथ राजानं क्रीणाति; ३.२.१—आतिथ्येन, प्रचर्यं, प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरति; ९.४.४.१—प्रातः प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन्नग्नि युनक्ति; ४.४.८—राजानमभिषुत्याग्नौ जुहोति; ५.१.३०—समिष्टयजूंषि जुहोति, उभयानि जुहोत्यध्वरस्य चाग्नेश्च; १०.२.५.१—अन्तरौपसदौ चिनोति। द्र०—श०ब्रा०, १०.२.५.१, सायण उपोद्घात। द्र०—का० श्रौ०—१६.१.१-२—अग्निः सीमाङ्गं तद्गुणव्यतिषङ्गाद्, इच्छतः।

२. श० ब्रा०, १०.१.२.२—तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयादग्नि महाव्रतं महदुक्थम्। का० श्रौ०, १६.१.२—समहाव्रते नियमः; द्र०—का० श्रौ० (वेबर), पृ० ८९५।

३. का० श्रौ०, १६.१.३—न प्रथमाहारे।

४. श० ब्रा०, १०.२.५.३; का० श्रौ०, १७.७.१४; द्र० एग्लिङ्ग, से० बु० ई०, ४३, पृ० ३१७, पा० टि० २।

५. श० ब्रा०, ३.१.३.१—आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति; ऐ० ब्रा०, १.१—आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्। द्र०—तै० सं० ब्रा०—५.१.९.१; का० सं० ब्रा०—१९.९; मै० सं० ब्रा० ३.१.१०। दीक्षणीय इष्टि हेतु द्र०—तै० सं० १.२.२; तै० सं० ब्रा०, ६.१.२; का० सं० ब्रा०—२३.२; मै० सं० ब्रा० ३.६.४; क० सं० ब्रा०—३५.८।

सोमयागीय औद्ग्रमण आहुति देने के लिये निर्देश दिया गया है[१]। कृष्णयजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्र चयन को सोमयाग के अंग के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। बौधायन चयन को सभी सोमयागों में करणीय मानते[२] हैं। इसके विपरीत शालीकि[३] एकाह सोमयागों में ही इसे विधेय समझते हैं और वाजपेय, राजसूय में इसका निषेध[४] करते हैं। ध्यातव्य है कि शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के समान बौधायन भी महाव्रत में चयन को आवश्यक मानते हैं[५]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र का अभिमत है कि साद्यस्क्र, वाजपेय, षोडशी और सारस्वत-सत्र के अतिरिक्त सभी सौमिक यज्ञों में अग्निचयन का अनुष्ठान किया[६] जा सकता है। वैखानसश्रौतसूत्र एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र भी इसी मत के अनुगामी[७] हैं। मानव तथा वाराह[८] श्रौतसूत्र के अनुसार सभी सौमिक प्रकृतियागों में अग्निचयन संभव है; परन्तु षोडशी में इसका विधान नहीं किया जा सकता[९]। अथर्ववेदीय वैतानश्रौतसूत्र महाव्रत में शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के समान अग्निचयन को आवश्यक बताता है[१०]। इसके अनुसार अन्य सौमिक-यज्ञों में यह ऐच्छिक है; परन्तु प्रथम बार अनुष्ठेय यज्ञों में इसे निषिद्ध माना गया है[११]।

---

१. श० ब्रा०, ६.६.१.२—आग्नावैष्णव एकादशकपालः; तदध्वरस्य दीक्षणीयम्, वैश्वानरो द्वादशकपाल आदित्यश्च चरुस्तेऽग्नेः। तदेव—तै० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, ।

२. श० ब्रा०, ३.१.४.१—सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूंष्यौद्ग्रभणानि; द्र०—तै० सं०—४.१.९; का० सं०—१६.७, मै० सं० २.७.७।

३. बौ० श्रौ०—२३.२१—इतराण्यौत्तरवैदिकानि स्युरिति बौधायनः।

४. तदेव—ऐकाहिकस्त्वेवाग्निरिति शालीकिः।

५. बौ० श्रौ०, २२.१३—चिन्वीत वाजपेयेऽग्निमिति बौधायनो न चिन्वीतेति शालीकिः, १६—चिन्वीत राजसूयेऽग्निमिति बौधायनो न चिन्वीतेति शालीकिः।

६. तदेव, २३.११—यानि समहाव्रतानि तानि साग्निचित्यानि, अथेतराण्यौत्तरवैदिकानि स्युरिति बौधायनः। तु०, स० श्रौ०, ११.१.२—रात्रिसत्रेषु समहाव्रतेषु।

७. आप० श्रौ०—४.८—उत्तरेषु क्रतुष्वग्निरन्यत्र साद्यस्क्रेभ्यो वाजपेयात् षोडशिनः सारस्वताच्च सत्रात्।

८. वै० श्रौ०, १८.१।२९.१—अग्निरुत्तरक्रत्वर्थोऽन्यत्र साद्यस्क्रेभ्यो वाजपेयात् षोडशिनः सारस्वताच्च सत्रात् प्रथमयज्ञे चेत्येके। स० श्रौ०. ११.१.२—स उत्तरक्रत्वर्थः। अन्यत्र साद्यस्क्रेभ्यो वाजपेयात् षोडशिनः सारस्वताच्च सत्रात्।

९. मा० श्रौ०, ६.१२.१—प्राकृतीषु संस्थासु षोडशिवर्जमग्निमुत्तरवेद्यां चिन्वीत। वा० श्रौ०, २.१ ; १.१—प्राकृतीषु संस्थासु षोडशिवर्जमग्निमुत्तरवेद्यां चिन्वीत।

१०. वैता० श्रौ०, ५.१.२—समहाव्रते नित्यम्।

११. तदेव, ५.१.१—काममप्रथमयज्ञेऽग्निः।

इष्टका-पशु—

यज्ञों में अग्नि का चयन वेदि के पूर्वी छोर के मध्य में बनी उत्तरवेदि[१] पर किया जाता है। सुपर्ण अथवा श्येन के उड़ते हुए रूप की संरचना में ईंटों का मुख्य योगदान है। इस संरचना में ईंटों के पाँच प्रस्तार[२] होते हैं। इन प्रस्तारों की रचना में अनेकविध एवम् अधिसंख्य ईंटों का उपयोग होता है। मिट्टी से संरचित ईंटों के अतिरिक्त विभिन्न पदार्थों को प्रस्तारों में आहित करने का विधान है। वे पदार्थ जिन तत्त्वों से बनाये जाते हैं, उन्हें भी तत्तत् तत्त्वों के अनुसार नाम मिला है और ईंट कहा गया है[३]। सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की ईंटें होती हैं। विशेष ईंटों का अलग-अलग अभिधान है। ईंटों के विना चयन अशक्य है, अतएव सर्वप्रथम ईंटों के निर्माण का ही उपक्रम किया जाता है। ईंटों की संरचना के लिये कतिपय अनुष्ठान किये जाते हैं। अग्निचयन से सम्बन्धित प्रतीक की अर्थवत्ता के बोध के लिये इन विधियों को विवृत करना आवश्यक है। इसके लिये शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में वर्णित सुपर्ण अग्नि ही अध्ययन का मुख्य स्रोत होगा। यथास्थिति को दृष्टि में रखते हुए यथास्थान कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान का भी उल्लेख किया जायेगा। जिन स्थलों में उभय प्रस्थान एकमत नहीं है, वहाँ विशेषरूप से विवेचन करने का प्रयास भी होगा।

इष्टका-पशु का अर्थ—

अग्निचयन में उपधेय ईंटों के निर्माण के लिये पशुओं द्वारा यजन इष्टका-पशु है। वस्तुतः सभी ईंटें चयनीय अग्नि की रूप हैं, अतएव यह कथन युक्तिसंगत होगा कि अग्नि की उपलब्धि के लिये ईंटों की संरचना की जाती हैं। शतपथब्राह्मण कहता है कि सृष्टि-विधान के पश्चात् विघटित प्रजापति ने देवों से कहा कि मेरा संधान करो। देवों ने अग्नि से निवेदन किया कि हम तुझमें अपने पिता की चिकित्सा करेंगे। अग्नि

---

१. श० ब्रा०—३.५.१.१२, ५.१.२३-३६; तै० सं० ब्रा०—६.२.७-८, का० सं० ब्रा०—२५,६, मै० सं० ब्रा०— ३.८.५, क० सं०—३९.३-४; श्रौ० प० नि०-पृ० ८५-८९.४७३ ४७८, ४८२-४८४; वामन, अग्नि० प० (चौ सं० सी०, ४५५), पृष्ठ—१४५; आदि।

२. श० ब्रा०, ६,१.२,१०—पञ्चैहाश्चितयः; तै० सं० ब्रा०, ५.६.१०—पञ्चचितीकश्चैतव्यः पञ्चचितयो भवन्ति; का० सं० ब्रा०, २१.४—पञ्चचितयः; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३—पञ्चचितिकः कार्यः।

३. श० ब्रा०, ६.१.२.३०—मृन्मयीष्टका तद् यत् किंचात्र मृन्मयमुपदधाति; यत् पशुशीर्षाण्युपदधाति सा पश्विष्टका; यद्रुक्मपुरुषा उपदधाति, यद्धिरण्यशकलैः प्रोक्षति, सा हिरण्येष्टका; यत् स्रुचा उपदधाति, यदुलूखलमुसले, याः समिध आदधाति, सा वानस्पत्येष्टका; यत् पुष्करपर्णमुपदधाति, यत्कूर्मं, यद्दधि, मधु, घृतम्, यत् किञ्चनान्नमुपदधाति, सैवान्नं पञ्चमीष्टका—द्र०—तदेव, २.१.२०।

ने कहा कि मैं स्वयम् इस सकल ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो रहा हूँ[१]। इस प्रकार देवों ने अग्नि में आहुतियाँ डालकर प्रजापति की चिकित्सा की। सारी आहुतियाँ पकी ईंटें बन गयीं। अतएव यजन के पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण ईंटों का अभिधान इष्टका हुआ[२]। इष्टका-अभिधान का एक अन्य हेतु भी है कि उपरितन आहुतियों को अग्नि में डालने के पश्चात् प्रजापति ने घोषणा की कि जितनी-जितनी आहुतियाँ तुम सब अग्नि में डाल रहे हो, उतना-उतना ही मुझे सुख मिल रहा है। यजन करने पर—'इष्टे'-सुख'कम्'-हुआ'अभवत्'-अतएव ईंटों का नाम[३] इष्टका है। इस प्रकार इष्टका का सम्बन्ध यजन से होने के कारण, विना इस पशुयाग का अनुष्ठान किये ईंटों की संरचना कथमपि नहीं की जा सकती।

इष्टका-पशु द्वारा यजन का काल—

शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के अनुसार पौर्णमास इष्टि करने के पश्चात् इष्टका पशु का अनुष्ठान करना चाहिए।[४] शतपथब्राह्मण के अनुसार उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा (माघ की पूर्णिमा) के दिन इष्टका-पशु द्वारा यजन[५] उचित है। कात्यायनश्रौतसूत्र भी इसका अनुसरण करता है[६]।

कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा में उखा निर्माण के पश्चात् तथा उखा-प्रवृञ्जन के पूर्व इष्टका-पशु द्वारा यजन करने का विधान है। इसके विधान का समय संहिताओं एवं ब्राह्मणों में निर्दिष्ट नहीं है। उखा-संभरण का समय श्रौतसूत्र में माघी अमावास्या, पूर्णिमा अथवा एकाष्टका को उचित बताया[७] गया है। सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार शुक्लपक्ष में पुण्य नक्षत्र से युक्त किसी दिन इष्टका-पशु[८] किया जा सकता[९] है।

---

१. श०ब्रा०,६.१.२.२१—प्रजापतिरेव विस्रस्तो देवान्....स वा अहमेतस्मिन् सर्वस्मिन्नेव विशानि।

२. तदेव, १.२.२२—तद्यदिष्टात् समभवंस्तस्मादिष्टकाः।

३. तदेव, १.२.२३—यावद् यावद् वै जुहुथ, तावत् तावत् मे कं भवतीति, तद् यदस्मा इष्टे कमभवत् तस्मादेवेष्टकाः।

४. श० ब्रा०; ६.२.२.१५-१६—एतं पशुमालभते, तं पौर्णमास्यामालभते।

५. तदेव, २.२.१७—एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत् फाल्गुनी पौर्णमासी।

६. का० श्रौ०, १६.१.५—चिकीर्षमाण उत्तरस्यां फाल्गुन्यां पौर्णमासेनेष्ट्वा पञ्च पशूनालभते।

७. तै० सं० ब्रा०—'१.१.८; का० सं० ब्रा०—१९.८; मै० सं० ब्रा० ३.१.१०; क० सं० ब्रा०—३०.६।

८. आप० श्रौ०, १६.१.१—अग्निं चेष्यमाणोऽमावास्यायां पौर्णमास्यामेकाष्टकायां वोखां सम्भरति; स० श्रौ०—११.२.१, वै० श्रौ०—१८.१।२९.१; मा० श्रौ—६.१.१.१; वा० श्रौ० २२ ३।

९ स० श्रौ०, तदेव—तं चेष्यमाणोऽमावास्यायां पौर्णमास्यामापूर्यमाणपक्षे वा पुण्ये नक्षत्रे; वै० श्रौ०, तदेव—अग्निं चेष्यमाणोऽमावास्यायां पौर्णमास्यामापूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे वैकाष्टकायाम्।

शतपथब्राह्मण अमावास्या के दिन इष्टका-पशु का निषेध करता है[१]। कात्यायन-श्रौतसूत्र भी इस मत का, अन्यजनीय कहकर, उल्लेख करता है[२]। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि पशु द्वारा यजन करने के पश्चात् ही ईंट देखी गयी थीं, अतएव इस पशु-याग के द्वारा यजन करने के अनन्तर ही ईंटों का निर्माण करना चाहिए। जो लोग यजन करने के पूर्व ही ईंट बनाते हैं, उनकी ईंटें, ईंटें नहीं होतीं; अपितु कुछ और ही होती हैं[३]।

संज्ञपनीय-पशु—

शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में संज्ञपनीय-पशु के सम्बन्ध में त्रिधा व्यवस्था उपलब्ध होती है। प्रथम पक्ष में पाँच पशुओं—पुरुष, अश्व, वृषभ, मेष और अज को संज्ञपनीय कहा गया है[४]। पशु-याग में इन पशुओं का संज्ञपन ही उचित है। इसका प्रारम्भ प्रजापति ने किया था और यह परम्परा श्यापर्ण सायकायन तक चलती रही। उपरितन निर्दिष्ट प्रजापति एवं श्यापर्ण के समय के भीतर यही व्यवस्था[५] थी; परन्तु जिस समय शतपथब्राह्मण की रचना की गयी, उस समय यह प्रथा परिवर्तित हो चुकी थी। संज्ञपनीय पाँच पशुओं की विधि की व्याख्या का समापन करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि इस समय प्राजापत्य अज अथवा वायव्य अज का ही संज्ञपन किया[६] जाता है। चरक अध्वर्यु प्राजापत्य तूपर (सींग-रहित) अज को ही संज्ञपनार्थ उचित मानते हैं[७]। प्राजापत्य अज काले रंग का चितकबरा होता है[८]। अन्य लोग वायव्य अज को संज्ञपन हेतु अर्ह मानते हैं[९]। वायुदेवताक यह अज शुक्लवर्णी, तूपर एवं लप्सुदी[१०] होता है। सायण के अनुसार लप्सुदी अज वह है, जिसका माथा श्वेत होता है। अन्य लोग दढ़ियल

---

[१] श० ब्रा०, ६.२.२.१६—अमावास्यायामालभेतेत्यु हैक आहुः। २.२.१७—तद्वै पौर्णमास्यामेव; २.२.१८—तद्वै फाल्गुन्यामेव; २.२.१९—स वा इष्ट्वैव पौर्णमासेन।

[२] का० श्रौ०, १६.१.७—अमावास्यायामेके।

[३] श० ब्रा०, ६.२.१.१०—तद् यदिष्ट्वा पशुनापश्यत् तस्मादिष्टकाः, तस्मादिष्ट्वैव पशुनेष्टकाः कुर्यादनिष्टका ह ता भवन्ति, याः पुरा पशोः कुर्वन्त्यथो ह तदन्यदेव।

[४] श० ब्रा०, ६.२.१.१५—पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति; २.१.१६—पञ्च भवन्ति; तु०, तदेव—२.१.५।

[५] तदेव, ६.२.१.३९—एतानेव पञ्च पशुनालभेत यावदस्य वशः स्यात्, तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णः सायकायनोऽन्तभः, एतानेवान्तरेणालभन्ते।

[६] तदेव—एतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च, वायव्यश्च, तयोरतो ब्राह्मणमुच्यते।

[७] श० ब्रा०, ६.२.२.१— प्राजापत्यं चरका आलभन्ते। २.२.२—तूपरो भवति।

[८] तदेव, ६.२.२.२—श्यामो भवति, द्वयानि वै श्यामस्य लोमानि शुक्लानि च कृष्णानि च।

[९] तदेव, ६.२.२.६—वायवे नियुत्वते शुक्लं तूपरमालभते, लप्सुद्यभवत् तु०—तदेव, २.२.७।

[१०] तदेव।

बकरे को लप्सुदी संज्ञा[1] देते हैं। कात्यायनश्रौतसूत्र इस विधि में शतपथब्राह्मण का पूर्णतया अनुसरण करता है[2]।

शतपथब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोग यज्ञ में पशुवध की अपेक्षा इधर-उधर से पशु-शीर्षों का प्रबन्ध कर यज्ञ संपन्न कर लेते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने इसका प्रबल शब्दों में विरोध किया है, तथापि यह तथ्य असंदिग्ध है कि कुछ लोग उस समय भी यज्ञ में पशुघात के विरुद्ध थे। शतपथब्राह्मण के अनुसार कुछ लोग अन्यत्र से मृत पशुओं के सिरों को उठा लाते थे और अग्निचयन में उन्हीं का उपधान करते थे[3]। इस प्रकार के पशु-शिरों के आधान में दो दोष होते हैं—पहला दोष तो यह होता है कि ये पशु-सिर अनाप्रीत (आप्रीमन्त्रों के द्वारा संस्कृत न) होने के कारण चयन में आधान के लिये अर्हता नहीं रखते। दूसरा दोष यह होता है कि इस प्रकार के पशु-सिरों के प्रयोग से यजमान मांसभक्षी कहा जायेगा तथा उसके शीघ्र मृत होने की संभावना भी रहती है[4]। कुछ ऋत्विजों ने आषाढि सौश्रोमतेय के अग्नि-चयन में उसी प्रकार के पशु-सिरों का आधान किया था। फलस्वरूप बेचारा आषाढि दिवंगत[5] हो गया। अतएव इतस्ततः से उपलब्ध मृत पशुओं के सिर का चयन में उपधान सर्वथा विधि-रहित है।

कुछ लोग हिरणमय पशु-सिरों के उपधान के पक्ष में थे। उनका तर्क था कि सुवर्ण अमृत है तथा सुनहरे पशु-सिर अमृत[6] ईंटें हैं। अन्य जन मिट्टी से बने पशु-सिरों को भी उपधेय मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पशु मर कर अन्ततः पृथ्वी में ही समा जाते हैं। जो कुछ भी समाप्त होता है, उसकी प्रतिष्ठा पृथिवी ही है। अतएव जहाँ पशु चले गये हैं, वहीं से संभृत कर हम मृन्मय पशु-सिरों का उपधान[7] करते हैं।

शतपथब्राह्मण में उपरिकथित मृत पशुओं के सिर, स्वर्णमय पशुशिर और मृन्मय पशुसिरों का चयन में उपहित करना सर्वथा निषेध किया गया है। संभवतः इसी परिप्रेक्ष्य में प्राजापत्य अथवा वायव्य अज को उन पाँच पशुओं का प्रतिनिधि मान लिया गया और उसे उपधान योग्य स्वीकारा गया। निश्चय ही इस व्यवस्था का आरम्भ

---

[1] सायण, तदेव, ६.२.२.७, भाग ३, पृ० ५१—लप्सुदी ललाटे शुक्लवर्णः, कर्काचार्य, का० श्रौ०, १६.१.३८—लप्सुदी कूर्चलः; विद्याधरशर्मा, तदेव—लप्सुदी कूर्चवान् छाग आलब्धव्यः।

[2] का० श्रौ०, १६.१.८—अग्निभ्यः कामाय पुरुषाश्वगोऽव्यजान्; १.३३—श्यामतूपरो प्राजापत्यः; १.३८—वायवे वा नियुत्वते श्वेतलप्सुदी।

[3] श० ब्रा०, ६.२.१.३७—तद्धैके, इत्येवैतानि पशुशीर्षाणि वित्त्वोपदधत्युभयेनैते पशवः।

[4] श० ब्रा—ते ह ते मर्त्याः कुणपाः सम्भवन्ति, अनाप्रीतानि हितानि।

[5] तदेव—तद्ध तथाषाढेः सौश्रौमतेयस्योपदधुः, स ह क्षिप्र एव ततो ममार।

[6] तदेव—६.२.१.३८—हिरण्मयान्यु हैके कुर्वन्ति, अमृतेष्टका इति वदन्तः।

[7] तदेव—६.२.१.३९—मृन्मयान्यु हैके कुर्वन्ति उत्सन्ना वा एते पशवो यद्वै किञ्चोत्सन्नमियं तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, तद्यत्रैते पशवो गतास्तत एनानधिसम्भराम इति।

चरक अध्वर्युवों ने किया। कात्यायनश्रौतसूत्र में भी इन मतों का उल्लेख मिलता है[१]; परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि कात्यायन इन परम्पराओं का विरोध करते हैं अथवा समर्थन।

अब इष्टका-पशु में संज्ञपनीय पशु के सम्बन्ध में कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान के साक्ष्यों की विवेचना की जायेगी। कृष्ण-यजुर्वेद-ब्राह्मणों में संज्ञपनीय पशुओं का बहुत स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। परन्तु अध्ययन के अनन्तर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस परम्परा का शुक्लयजुर्वेद-परम्परा से कोई मौलिक भेद नहीं है। पशुओं के सिर अग्नि को प्रथम चिति में ईंटों के रूप में स्थापित किये जाते हैं। पशुशीर्ष की उपधान-विधि से सम्बन्धित मन्त्र कृष्णयजुर्वेद-संहिताओं में उपलब्ध[२] हैं। कृष्णयजुर्वेद-ब्राह्मणों के अनुसार इष्टका-पशु में संज्ञपनीय पशुओं की संख्या पाँच है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के वह्निपशु प्रकरण में केवल पुरुष सिर का उल्लेख मिलता है[३]। पशुशीर्षों के उपधान की विधि में पुरुष, अश्व तथा वृषभ के सिरका वर्णन किया गया है[४]। काठक संहिता ब्राह्मण तैत्तिरीय-विधि का पूर्णतया अनुगमन करता है[५]। मैत्रायणीसंहिता-ब्राह्मण में केवल पुरुष सिर के उपधान का वर्णन है[६]। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सभी संहिताओं में पाँचों पशुओं के शिरों के उपधान में विनियोजनीय मन्त्र हैं, अतएव यह कथन उचित होगा कि कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान पाँच पशुओं की संज्ञपन-विधि को उचित मानता है।

श्रौत सूत्रों में कृष्णयजुर्वेद परम्परा का सर्वथा अनुसरण नहीं किया गया है। बौधायनश्रौतसूत्र तो अश्व संज्ञपन का भी उल्लेख नहीं करता। बौधायनश्रौतसूत्र[७] युद्ध में मारे गये वैश्य के सिर का आधान उचित समझता है। एतदतिरिक्त यह श्रौत सूत्र युद्धहत अश्वसिर के आहरण का भी निर्देश करता है। वृषभ, मेष एवं अज के सिरों का संभरण कैसे किया जायेगा, इस सम्बन्ध में बौधायन मौन हैं; परन्तु यज्ञ हेतु इन्हें पकाने का निर्देश होने के कारण यह स्वीकार्य हो जाता है कि इनका संज्ञपन[८] होता है।

---

[१] क० श्रौ०, १६.१.३२—अन्यानि वा, हिरण्यानि वा, मृन्मयानि वानालभ्यैतान्।

[२] तै० सं०, ४.२.८; का० सं०, १६.१७; मै० सं० २.७.१७; क० सं०, २५.८, ध्यातव्य है कि क० सं० का यह अंश खण्डित है, अतएव यहाँ सभी मन्त्र उपलब्ध नहीं है; परन्तु अन्य कृ० य० संहिताओं का साक्ष्य यह सिद्ध करता है कि लुप्त मन्त्र भी यहाँ रहे होंगे।

[३] तै० सं० ब्रा०, ५.१.८—पुरुषशीर्षमच्छैति, मेध्यं कृत्वाहरति।

[४] तदेव, ५.२.९—पशुशीर्षाण्युपदधाति, मेध्यं पुरुषशीर्षमुपदधाति, अश्वस्योपदधाति ऋषभस्य; द्र०, ५.७.१०।

[५] का० सं० ब्रा०, २०.८—पुरुषशीर्षमाहरति, मध्ये पुरुषशीर्षमुपदधाति, अश्वस्य शिर उपदधाति, ऋषभस्य। तु०, क० सं० ब्रा०, ३१.१०।

[६] मै० सं० ब्रा०, ३.२.७.८—पशुशीर्षाण्युपदध्यात्। पुरुषशीर्षमुपदधाति।

[७] बौ० श्रौ०, १०.१०—संग्रामे हतयोरश्वस्य च वैश्यस्य शिरसी।

[८] बौ० श्रौ०, तदेव दीव्यन्तमृषभं पचन्ते, वृष्णि च बस्तं च।

द्वैध सूत्र के अनुसार बौधायन मिट्टी के बने हुए कृत्रिम सिरों का भी प्रयोग[1] उचित मानते हैं। शालीकि[2] इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष पशुशीर्षों का भी उपधान युक्तिसंगत है। ध्यातव्य है कि औपमन्यव[3] सुनहरे सिरों को ही आधान के लिये उपयुक्त मानते हैं। आपस्तम्ब के अनुसार बाणहत (समरहत) या बिजली से मारे गये वैश्य अथवा क्षत्रिय का सिर आधान के लिये समीचीन है[4]। आपस्तम्ब के पुरुष-शीर्ष से सम्बन्धित इस विधान से सभी कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्र[5] सहमत हैं। ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में कहीं भी पुरुष संज्ञपन का वर्णन नहीं मिलता। यह भी देखा जा चुका है कि यही स्थिति कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मणों की भी है। पशु-संज्ञपन का विवरण न मिलना अत्यन्त विस्मयावह है।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र[6] तथा उनके अनुगामी अन्य श्रौत सूत्रों में उपरिरीति से पुरुष-शीर्ष का आहरण करने के पश्चात् अश्व, वृषभ, प्राजापत्य अज, मेष और एक सामान्य अज के संज्ञपन का विधान मिलता है। इन सभी पशुओं का मुष्कर (अण्डू) होना आवश्यक है[7]। वस्तुतः पशुओं की मुष्करता का उल्लेख तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण, काठकसंहिता-ब्राह्मण और मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण में किया गया है[8] आपस्तम्ब आदि ने इन्हीं ब्राह्मणों के साक्ष्य पर यह विधान बनाया है।

---

१. बौ० श्रौ०, २२.१—प्रत्यक्षाणि वा मार्तिकानि वा स्युरिति बौधायनः।

२. तदेव – प्रत्यक्षाण्येवेति शालीकिः।

३. तदेव—हिरण्मयानीत्यौपमन्यवः।

४. आप० श्रौ०, १६.६.२—पुरुषशिरः वैश्यस्य राजन्यस्य वेषुहतस्याशनिहतस्य।

५. स० श्रौ०, ११.१.६७—पुरुषशिरः राजन्यस्य वैश्यस्य वेषुहतस्याशनिहतस्य वा। वै० श्रौ० १८.३।२९.३—वैश्यस्य राजन्यस्य वेषुहतस्याशनिहतस्य वा। मा० श्रौ०, ६.१.२-२३ शिरश्छित्वाहरति वैश्यस्य राजन्यबन्धोर्वाशनिहतस्येषुहतस्य वा। वा० श्रौ० २.१.१.४९, वैश्यस्य राजन्यबन्धोर्वा शिर आहरतीषुहतस्याशनिहतस्य वा।

६. आप० श्रौ०, १६.७.१—प्राजापत्यमजं तूपरमुपाकृत्याश्वर्षभवृष्णिबस्तान्। स० श्रौ०, ११.२.१—अश्वमृषभं वृष्णिबस्तं प्राजापत्यमजं तूपरम्। वै० श्रौ०, १८.४।२९.४—अश्वमृषभं वृष्णि बस्तं प्राजापत्यमजं तूपरम्। मा० श्रौ० ६.१.३.१—प्राजापत्यमजम्, अश्वमृषभं वृष्णिबस्तम्; वा० श्रौ०, २.१.१.३—अश्वमृषभं वृष्णि बस्तं प्राजापत्यं तूपरम्।

७. तदेव।

८. तै० सं० ब्रा०, ५.५.१—पशवो मुष्कराः; का० सं० ब्रा० १९.८—एते पशवो ये मुष्कराः मै० सं० ब्रा०, ३.१.१०—मुष्करा भवन्ति। ध्यातव्य है कि मै० सं० ब्रा० में 'मुष्कराः' के स्थान पर 'पुष्कराः' पाठ है, जो उचित नहीं है; क्योंकि सभी कृ० य० ब्राह्मणों में 'मुष्कराः' पाठ ही है और इस सन्दर्भ में पुष्कर का कोई अर्थ बुद्धिगम्य नहीं होता।

कृष्ण यजुर्वेद प्रस्थान के अनुसार उपरितन वर्णित पाँच पशुओं के स्थान पर केवल एक पशु वायव्य अज के संज्ञपन का निर्देश मिलता है। यहाँ शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में विहित विकल्प प्राजापत्य अज के संज्ञपन का अनुल्लेख है। विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब आदि ने शुक्लयजुर्वेदीय द्वितीय विकल्प प्राजापत्य अज को मुख्य पक्ष में समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः संज्ञपन के पञ्चपाशुक पक्ष में भी इष्टका पशुयाग तो प्राजापत्य अज के द्वारा ही विधेय है। इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण[1] से ज्ञात होता है कि पाँच पशुओं के स्थान पर केवल नियुत्वान् वायु के लिये तूपर (सींग-रहित) अज का संज्ञपन किया जा सकता है। इस अज में संज्ञपनीय पाँचों पशुओं का रूप है, अतएव पाँच पशुओं के यजन से जो लाभ होगा, वह इससे भी हो जायेगा। अज का श्मश्रु पुरुष का रूप, इसकी सींग-हीनता अश्व का रूप है। अज का अन्यतोदन् (एक और दाँत होना) होना सकल बैलों के रूप को प्रख्यापित करता है। भेंड़ के समान अज के भी खुर होते हैं, अतएव यह अवि ही है। अज के रूप का तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि यह स्वयम् अज है। अतः सभी संज्ञपनीय पशुओं के प्रतिनिधि के रूप में इसका ही संज्ञपन समीचीन है। काठकसंहिता-ब्राह्मण[2] में भी यह विधान मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के समान यहाँ भी संज्ञपनीय पशुओं की प्रतिरूपता वायव्य अज में प्रदर्शित की गयी है। मैत्रायणीयसंहिता ब्राह्मण में वायव्य अज को सभी पशुओं का प्रतिरूप मानकर इसकी संज्ञपनीयता को युक्तिसंगत बताया गया है[3]। कृष्णयजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्र उपरितन ब्राह्मणों में वर्णित वायव्य अज को संज्ञपनीय पाँच पशुओं का प्रतिरूप मानते हैं और इसे स्पष्ट रूप से संज्ञपन के लिये अर्ह मानते हैं[4]।

वायव्य अज की पञ्च-पशुरूपता का विवरण शतपथब्राह्मण में भी उपलब्ध होता

---

[1] तै० सं० ब्रा०, ५.५.१—वायवे नियुत्वते तूपरमालभते, सर्वाणि वा एष रूपाणि प्रत्यालभ्यते, यच्छ्मश्रुणस्तत् पुरुषाणां रूपम्, यत् तूपरस्तदश्वानाम्, यदन्यतोदन् तद्गवाम्, यदव्या इव शफास्तदवीनाम्, यदजस्तदजानाम्।

[2] का० सं० ब्रा०, १९.८—एष वायव्यश्श्वेतस्तूपरः, सर्वान् वा एष पशून् प्रत्यालभ्यते, यत् तूपरोऽश्वं तेन, यच्छ्मश्रुणः पुरुषं तेन, यदष्टाशफोऽष्टाशफान् पशूंस्तेन।

[3] मै० सं० ब्रा०, ३.१.१०—श्वेतं वायवे नियुत्वता आलभेत, सर्वेषां वा एष पशूनां रूपाणि प्रति।

[4] बौ० श्रौ०, १०.१०—वायव्येन पशुना यजते; आप० श्रौ०, १६.८.३—अपि वा सर्वेषामेतेषां स्थाने वायवे नियुत्वते श्वेतमजं तूपरमालभते; स० श्रौ०, ११.१.१५—अपि वैतेषां सर्वेषां स्थाने कायवे नियुत्वते श्वेतमजं तूपरमालभते; वै० श्रौ०, १८.२।२९.२—वायवे नियुत्वते श्वेतमजं तूपरमालभते; मा० श्रौ० ६.१.३.१२—अजं वा श्वेतं साण्डं तूपरं वायवे नियुत्वते; वा० श्रौ०, २.१.२.१३—वायवे नियुत्वते श्वेतं तूपरमजमालभेत।

है। इस प्रसंग में उसका अनपलाप असंभव है। शतपथब्राह्मण[1] में कहा गया है कि इस वायव्य अज में सभी पशुओं का रूप विद्यमान है। अज तूपर एवं लप्सुदी होता है। पुरुष भी तूपर, लप्सुदी होता है। अतएव यह पुरुष का प्रतिरूप है। वह तूपर तथा केशयुक्त होता है। अश्व भी तूपर एवं बालों वाला होता है। अतएव अश्व इसमें प्रतिरूपायित है। अज के पास आठ खुर होते हैं, बैल भी अष्टाशफ होता है। इस दृष्टि से यह वृषभ रूपी है। अवि के समान अज के भी खुर होते हैं। अतएव इसमें अवि का रूप भी प्रतिहित है। यह स्वयं अज ही है। अतएव इसके संज्ञप्त होने पर सभी पशुओं का संज्ञप्त होना माना जायेगा।

इस विवेचना से अत्यन्त स्पष्ट है कि सुदूर अतीत में कभी पुरुष का संज्ञपन उचित रहा होगा। यजुर्वेदीय-साहित्य में श्यापर्ण सायकायन के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसे व्यक्ति का उल्लेख नहीं मिलता, जिसने पाँच पशुओं का संज्ञपन किया हो। स्वयं याज्ञवल्क्य ने इस परम्परा में श्यापर्ण को 'अन्तम' (अन्तिम)[2] कहा है। यह असंदिग्ध है कि आषाढि सौश्रौमतेय[3] याज्ञवल्क्य का पूर्ववर्ती रहा होगा, अन्यथा शतपथब्राह्मण में उसका उल्लेख होना संभव नहीं होता। उसने इधर-उधर से पशुशिरों को प्राप्त कर अग्निचयन किया था। इस प्रकार उस समय पुरुष-संज्ञपन के प्रचलन की बात[4] दुराग्रहपूर्ण तथा तर्कहीन है। इसी परिप्रेक्ष्य में बौधायन मृत्तिका निर्मित पशुशिरों का तथा औपमन्यव सुनहरे पशुशिरों का विधान करते हैं[5]। पाँच पशुओं के संज्ञपन की विधि का विरोध करना तो संभव नहीं था, क्योंकि यह एक वैदिक विधि थी, जिसका प्रारम्भ विश्वस्रष्टा प्रजापति ने किया था। रूढ़ एवं श्रद्धालु समाज में किसी भी प्रचलित विधान का विरोध करना दुःसाहस ही कहा जायेगा।

पशुयाग—

इष्टका-पशु में पशुओं के प्रयोग की इस त्रिधा व्यवस्था[6] के कारण यजन-प्रक्रिया

---

[1] श० ब्रा०, ६.२.२.१५—एतस्मिन् ह पशौ सर्वेषां पशूनां रूपम्, यत् तूपरो लप्सुदी तत् पुरुषस्य रूपम्, तूपरो हि लप्सुदी पुरुषः, यत् तूपरः केसरवान्, तदश्वस्य रूपम्, तूपरो हि केसरवानश्वः, यदष्टाशफः, तद् गोरूपम्, अष्टाशफो हि गौः, यद्स्यावेरिव शफाः, तदेव रूपम्; यदजस्तदजस्य, तद्यदेतमालभते, तेन हैवास्यैते सर्वे पशव आलब्धा भवन्ति। अज की सर्वपशुरूपता के लिए द्र०, जै० ब्रा०, पृ० २७२, ३७४।

[2] तदेव, ६.२.१.३९—प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णः सायकायनोऽन्तमः।

[3] तदेव, ६.२.१.३७।

[4] जी० आर० शर्मा, ए० कौ०—पृ० ९९-१०२, १३९-१४४। इसी प्रकार पंचपाशुकयाग में अज-याग को अतिरिक्त कर्म बताना भी भ्रान्तिजनक है—तदेव, पृ० १४३।

[5] बौ० श्रौ०, २२.१—मार्तिकानि वा स्युरिति बौधायनः। हिरण्मयानीत्यौपमन्यवः।

[6] श० ब्रा०, ६.२.२.१५—अतो यतमदस्य कर्मोपकल्पेत, एते वा पञ्च पशवः, एष वा प्राजापत्यः, एष वा नियुत्वतीयः।

में तीन प्रकार की विधि है। वस्तुतः इस पशुयाग की प्रकृति पौर्णमास इष्टि है। अतएव कतिपय विशेषों के अतिरिक्त अन्य सभी कर्म इष्टि के समान ही किये जाते हैं। अब इन विशेषों के परिप्रेक्ष्य में पशुयाग का विवेचन करना प्रासंगिक है।

पञ्च पशुयाग—

पाँच पशुओं के संज्ञपन की स्थिति में शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में केवल अज के द्वारा यजन का विधान है[1]। अन्य पशुओं के, शिर के अतिरिक्त, सभी कबन्धों को उस जल में फेंक दिया जाता है, जहाँ से जल और मिट्टी लेकर चयन में उपधेय उखा तथा ईंटों की संरचना की जाती है[2]। कात्यायनश्रौतसूत्र का कथन है कि अज के द्वारा यजन करने के पश्चात्, शिर के अतिरिक्त, उसके अवशिष्ट भाग को भी पूर्व वर्णित जल में फेंक देना उचित है[3]।

प्रकृति इष्टि में पन्द्रह सामिधेनियों[4] का विनियोजन विहित है। इस समय चौबीस सामिधेनियों का प्रयोग होगा। प्रकृत[5] सामिधेनी ऋचाओं 'समिध्यमान' एवं 'समिद्धवती' के मध्य में 'समास्त्वाग्न' आदि[6] नौ आग्निकी ऋचाओं को धाय्या[7] के रूप में आहित किया जायेगा। इसमें प्रयुक्त होनेवाली आप्री ऋचाओंकी संख्या बारह[8]

---

१. श० ब्रा०, ६.२.१.७—अजेन यज्ञं समस्थापयत्; का० श्रौ०, १६.१.२१—अजेन चरति।

२. तदेव—स शीर्षाण्येवोत्कृत्योपाधत्त, अथेतराणि कुसिन्धान्यप्सु प्राप्लावयत्। २.१.८—तद् यदेषामप्सु प्रविद्धानां प्रत्यतिष्ठत्, ता अपः समभरत्। अथ यदस्यो तां मृदम्, तदुभयं सम्भृत्य मृदं चापश्चेष्टकामकरोत्। का० श्रौ०, १६.१. १९-२०—चतुर्णामप्सु कायप्रासनम्, ततो मृदिष्टकार्थापश्च।

३. का० श्रौ०, १६.१.२२—संस्थिते तस्य शेषप्रासनम्।

४. श० ब्रा०, १.३.५.१—समिन्धे सामिधैनीभिर्होता, तस्मात् सामिधेन्यः। सायण श० ब्रा०, भाग ३, पृ० ३९—अग्निसमिन्धनसाधनभूता ऋचः सामिधेन्यः। द्र०—श्रौ० प० नि०, पृ० २२।१८५।

५. प्रकृत इष्टि में विनियुक्त सामिधेनी ऋचाओं के लिये द्रष्टव्य—श० ब्रा०, १.४.१.७, तै० सं० ब्रा०, २.५.७, ८-९; तै० ब्रा०—३.५.२ आदि।

६. वा० सं०, २७.१-९; तै० सं०, ४.१.७; का० सं०, १८.१६ मै० सं० २.१२.५; क० सं० २९.४; कृ० य० संहिताओं में कहीं-कहीं दस मन्त्र हैं; फिर भी योजनानुसार चौबीस मन्त्र ही होते हैं।

७. ऐ० ब्रा०, ३.१८—यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य छिद्रं निरजानंस्तद् धाय्याभिरपिदधुस्तद् धाय्यानां धाय्यात्वम्।

८. श०. ब्रा०, ६.२.१.२८—द्वादशाप्रियः, द्र०, तदेव—२.१.२९-३०, २.२.३१; का० श्रौ०, १६.१.१२—आप्रियो द्वादशौर्ध्वा अस्येति। आप्री मन्त्रों के लिये द्रष्टव्य—वा० सं०, २७.११-२२, तै० सं०, ४.१८; का० सं० १८.१७, मै० सं० २.१२.६। आप्री मन्त्रों से सम्बन्धित पूर्ण विवरण के लिये द्रष्टव्य—वी० ए० गाडगिल, दि आप्री हिम्स् इन् दि ऋग्वेद,

होती है। वैश्वानर देवता के लिये द्वादश कपालक पशुपुरोडाश यहाँ[1] विहित है। वैश्वानर की अनुवाक्या और याज्या में कामवती[2] आग्नेयी ऋचाओं का विधान मिलता है।

कृष्णयजुर्वेद-शाखा में चौबीस सामिधेनियों के साथ-साथ इक्कीस सामिधेनियों के विनियोग का विकल्प भी मिलता है।[3] यत्र-तत्र सामान्य भेद के अतिरिक्त अन्य किसी विधि में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। आप्री, वैश्वानर, पशुपुरोडाश, पशु की अनुवाक्या एवं याज्या में शुक्लयजुर्वेद-शाखा से मतैक्य है[4]। कृष्णयजुर्वेदीय-ब्राह्मणों में इस बात का कोई विवरण नहीं मिलता कि पशुओं का सिर लेने के पश्चात् उनके अवशिष्ट शरीर का क्या उपयोग होगा। बौधायनश्रौतसूत्र भी इस विषय में मूक बना हुआ है; परन्तु आपस्तम्ब[5] आदि श्रौतसूत्रों में शुक्लयजुर्वेद-प्रस्थान के सदृश पशु-कबन्धों को उस जल में निक्षिप्त करने का विधान है, जहाँ से जल तथा मृत्तिका का संभरण कर उखा आदि ईंटों का निर्माण किया जाता है।

ज० बा० यू०, ४ नवम्बर १९३५, के० आर० पोतदार, आप्री हिम्स् इन् दि ऋग्वेद, तदेव, १४, २, सितम्बर १९४५; वासुदेवशरण अग्रवाल, दी आप्री हिम्स्, ज० ओ० इं० ब०, १३ (२), दिसम्बर १९६३, पृ० ९३-१०१।

[1] श० ब्रा० ६.२.१.३५-३६—वैश्वानरः पशुपुरोडाशः द्वादशकपाल। का० श्रौ०, १६.१-२५-२६—वैश्वानरः पशुपुरोडाश उपांशु, पशुदेवता च।

[2] का० श्रौ०, १६.१.२७—आग्नेयो याज्यानुवाक्याः कामवत्यः।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.१.८—एकविंशतिं सामिधेनीरन्वाह, चतुर्विंशतिमन्वाह; बौ० श्रौ०, १०.११—चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्ते (यहाँ २१ साभिधेनी के विकल्प का अनुल्लेख है), आप० श्रौ०, १६.७.२; स० श्रौ०, ११.२.२; वै० श्रौ०, १८.४।२९.४; मा० श्रौ०, ६.१.३.३; वा० श्रौ०, २.१.२.६।

[4] आप्री हेतु द्रष्टव्य—बौ० श्रौ०, आप्रीणामेव मीमांसा 'ऊर्ध्वा अस्य सनिधो भवन्ति' इति द्वादश; आप० श्रौ०, १६.७.९; स० श्रौ०, ११.१.७; वै० श्रौ०, १८.५।२९.५; वैखानस के अनुसार गोत्रभेद से आप्री मन्त्र में भेद हो जाता है। अत्रि, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप, शुनक, संकृति, राजन्य, वध्रचश्व गोत्र के लिये आप्री के मंत्र समूह में 'मध्वा यज्ञं नक्षसे' (तै० सं०—४.१.८) मन्त्र का तथा एतद्भिन्न गोत्रों के लिये 'तनूनपादसुरो विश्ववेदाः' (तदेव) मन्त्र का विनियोग किया जाता है। मा० श्रौ०, ६.१.३.१३; वा० श्रौ० २.१.२.११; वैश्वानर पशु पुरोडाशके लिये द्रष्टव्य—आप० श्रौ० १६.७.१०, १६.८.६; स० श्रौ०, ११.१.१०; वै० श्रौ०—१८.५।२९.५; मा० श्रौ०, ६.१.३.९; वा० श्रौ०, २.१.२.५; अनुवाक्या, याज्या के लिये द्रष्टव्य—स० श्रौ०, ११.१.८; वै० श्रौ०, तदेव।

[5] आप० श्रौ०, १६.८.१; स० श्रौ०, ११.१.१३; मा० श्रौ०, ६.१.३.११, मानव पशु की जीभ को काटकर जल में निक्षिप्त करना बताता है; वा० श्रौ०, २.१.२.११।

प्राजापत्य अज-याग—

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राजापत्य अज के यजन में चौबीस सामिधेनियों के स्थान पर इक्कीस सामिधेनी ऋचाओं का विनियोग किया जाता है[१]। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृत पन्द्रह सामिधेनियों के मध्य में धाय्या रूप में छह आग्नि की सामिधेनी ऋचाओं का संयोजन करना आवश्यक होगा। कात्यायन में इसका विधान उपलब्ध है।[२] इसका विनियोग द्वादशकपालक पशुपुरोडाश प्रजापति[३] देवता के निमित्त होता है। कद्वती' ऋचाओं[४] का अनुवाक्या तथा याज्या में विनियोग होता है। 'हिरण्यगर्भः' ऋचा से उत्तर आघार देने का विधान है[५]। अन्य सभी कार्य पूर्ववत् किये जायेंगे।

वायव्य अज-याग—

वायव्य अज की सामिधेनी ऋचाओं की संख्या सत्रह बतायी गयी है[६]। प्राजापत्य अज-याग की तरह यहाँ भी प्राजापत्य द्वादशकपालक ही [७]पशुपुरोडाश विधेय है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वायव्य अज की वपा की अनुवाक्या तथा याज्या 'शुक्लवती'[८] ऋचाएं होती हैं एवं वायव्य अज पशु की 'नियुत्वती'[९] ऋचाएं। कात्यायन भी इसका अनुगमन करते हैं।

तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण में वायुमती तथा श्वेतमती ऋचाओं को अनुवाक्या

---

१. श० ब्रा०, ६.२.२.३—तस्यैकविंशतिः सामिधेन्यः।

२. का० श्रौ०, १६.१.३४—षड्दध्यात्; द्र० विद्याधरशर्मा, का० श्रौ०, भाग २, पृ० ८९।

३. श० ब्रा०, ६.२.२.५—प्राजापत्यः पशुपुरोडाशः द्वादशकपालः; का० श्रौ०, १६.१.३९।

४. तदेव-कद्वत्यो याज्यानुवाक्याः; का० श्रौ०, १६.१.४०; कद्वती—ऋ० सं०, १०.१२१.१ आदि; वा० सं० १३.४ आदि।

५. तदेव, हिरण्यगर्भवत्याघारमाघारयति; का० श्रौ०, १६.१.३५-३७; द्र०, सायण, श० ब्रा०, भाग ३, पृ० ४९-५०। द्र०—एग्लिग्, से० बु० ई०, ४१, पृ० १७२, पा० टि०, ३।

६. श० ब्रा०, ६.२.२.८—तस्य सप्तदश सामिधेन्यः; का० श्रौ०, १६.१.३८।

७. तदेव, ६.२.२.११-१२; का० श्रौ०, १६.१.३९।

८. तदेव, ६.२.२.१३-१४—शुक्लवत्यौ याज्यानुवाक्याः स्युः, वपाया एव शुक्लवत्यौ। का० श्रौ०, १६.४,४२, वपाया वा। शुक्लवती ऋचाएं—ऋ० सं०, ७.९०.३; ९१.३; ४१। वा० सं०, २७.२३-२४; आश्व० श्रौ०, ८.९, ३.८ के अनुसार ये ऋचाएँ क्रमशः वायव्य हविकी अनुवाक्या तथा याज्या कही गयी हैं। द्र०, सायण, ऋ० सं०, भाग ३, पृ० ४७६, ४८२।

९. तदेव, नियुतवत्यः, नियुतवत्यौ हविषः; का० श्रौ० १६.१.४१; विद्याधरशर्मा, का० श्रौ०, भाग २, पृ० ९०। नियुत्वती ऋचाएं—ऋ० सं०, ७.९२.३, ५; वा० सं० २७.२७-२८। आश्व० श्रौ०, ३.८। सायण, ऋ० सं०, भाग ३, पृ० ४८१।

तथा याज्या बताया गया है।[1] यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि इस अनुवाक्या-याज्या का प्रयोग कहाँ किया जायेगा ? बौधायनश्रौतसूत्र शुक्लयजुर्वेदीय शाखा का अनुसरण कर वपा की अनुवाक्या, याज्या में शुक्लवती ऋचाओं का विनियोगकरता है[2]। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र वायुमती श्वेतवती ऋचाओं को वपा की अनुवाक्या, याज्या में विनियोजनीय मानता है[3]। सत्याषाढ श्रौतसूत्र इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब से सहमति व्यक्त करता है[4]। वैखानस श्रौतसूत्र बौधायन के साथ मतैक्य रखता है[5]। मानव श्रौतसूत्र तथा वाराह श्रौतसूत्र इस सम्बन्ध में मौन हैं। बौधायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्रतथा सत्याषाढ श्रौतसूत्र पशु पुरोडाश की अनुवाक्या एवं याज्या में वायुमती तथा नियुत्वती ऋचाओं के विनियोग का विधान करते हैं[6]। आश्वलायन श्रौतसूत्र भी इसका समर्थन करता है।[7] अन्य सभी विधियाँ पूर्ववत् हैं।

पशुसिरों का आदान तथा आरक्षण—

शतपथ ब्राह्मण[8] के अनुसार सभी पशुओं के शिरों को सुरक्षित रख लिया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र का कथन है कि पशु-सिरों का चमड़ा और मांस आदि निकालकर उनमें घी लगा कर रखना चाहिए[9]।

तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण[10] में पुरुष शिर को मेध्य बनाने के लिये निर्देश दिया गया है। इसके अनुसार पुरुष के सिर के पास इक्कीस उड़द के दाने बिखेर कर

---

[1] तै० सं० ब्रा०, ५.५.१—वायुमती श्वेतवती याज्यानुवाक्ये भवतः; कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४४०, पा० टि० ३—ऋ० सं०, ७.४९.३ तथा ६.४९.४ ऋचाओं को वायुमती एवं श्वेतवती कहा गया है। ध्यातव्य है कि ऋ० सं० ७.४९.३ में आपोदेवी का वर्णन है। ऋ० सं०, ६.४९.४ ऋचा यद्यपि वायु से सम्बन्धित है, तथापि इसमें श्वेत या शुक्ल शब्द नहीं है। आश्व० श्रौ०, ३.८ में 'प्रयाभिर्यासि' ऋ० सं० ७.९२.३ तथा 'राये नु यं जज्ञत, ऋ० सं० ७.९०.३ ऋचाओं को क्रमशः वायुमती तथा श्वेतवती बताया गया है। सायण, द्रष्टव्य, ऋ० सं० भाग ३, पृ० ४८१, ४७६। अतएव कीथ का निष्कर्ष भ्रामक है।

[2] बौ० श्रौ०, १०.११—'पीवो' अन्नाँ, रायेऽन्तु यम्' द्वे वपायै।

[3] आप० श्रौ०, १६.८.४।

[4] स० श्रौ०, ११.२.१७।

[5] वै० श्रौ०, १८.५।२९.५।

[6] बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०; ११.२.१८।

[7] आश्व० श्रौ०, ३.८।

[8] श० ब्रा०, ६.२.१.७—स शीर्षाण्येवोत्कृत्योपाधत्त।

[9] का० श्रौ०, १६.१.३०—त्वङ्मस्तिष्कोद्धृतानि घृताक्तानि शिरांसि निदधाति।

[10] तै० सं० ब्रा०, ५.५.८—एकविंशत्या माषैः पुरुषशीर्षमच्छैति, मेध्यं कृत्वाहरति; सप्तधा वितृण्णां वल्मीकवपां प्रतिनिदधाति, यमगाथाभिः परिगायति, तिसृभिः परिगायति।

सिर का आहरण करना चाहिए। इस समय तीन यमगाथाओं[1] का गान भी आवश्यक है। पुरुष के सिर को सात छेदों वाली वल्मीकवपा के ऊपर भी रखना चाहिए।

बौधायन श्रौतसूत्र में भी उड़द के इक्कीस[2] दानों तथा यमगाथाओं के गान के द्वारा पुरुष के सिर को लेने का विधान है। ध्यातव्य है कि यहाँ सर्वसम्मत यमगाथाओं के स्थान पर तीन अन्य यमगाथाओं[3] का उल्लेख किया गया है। बौधायन[4] संदंश (संड़सी) के द्वारा पुरुष सिर को उठाकर लेने की विधि प्रस्तुत करते हैं। इस समय अनुष्ठाता अपने दाहिने हाथ में वल्मीकवपा को लिये रहता है। सभी सिरों को धोकर, आग से झौंस कर, पुनः धोकर उनमें मिट्टी का लेप कर दिया जाता है। इन पशु शिरों को उत्तरी शालाखण्ड में शिक्य (सिकहर) में रख दिया जाता है। इसी शिक्य में तांत से सर्प-शिर को भी बाँध कर रखने का निर्देश है[5]। अन्य सभी श्रौतसूत्रों[6] में भी यही विधि परिदृष्ट होती है, यत्र-तत्र साधारण वैषम्य भी है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र सात या इक्कीस, सत्याषाढ श्रौतसूत्र आपस्तम्ब-प्रतिपादित के अतिरिक्त चौबीस, वैखानस श्रौतसूत्र सात अथवा इक्कीस, और वाराह श्रौतसूत्र केवल सात

---

[1] का० सं०, ३८.१२; तै० आ०, ६.५.२; आप० श्रौ०, १६.६.४; स० श्रौ०, ११.१.६९; वै० श्रौ०, १८.३।२९.३; मा० श्रौ०, ६.१.२; वा० श्रौ०, २.१.१.५०।

[2] बौ० श्रौ०, १०.९—सप्तभिर्माषैः पुरुषशिरः परिकीर्य परिकर्षति; तदेव, १०—अपरैः सप्तभिः परिकीर्यैव परिकर्षति 'वैवस्वते'''इति अपरे, सप्तभिः परिकीर्यैव परिकर्षति 'ते राजन्निह'''इति ए० कौ०, पृ० ४१४ में प्रो० जी० आर० शर्मा का यह कथन कि बौधायन केवल सात उड़द, के दानों का विधान करता है, पूर्णतः त्रुटिपूर्ण है, वस्तुतः बौधायन ने प्रत्येक यमगाथा के गान के साथ सात-सात दानों को पुरुष-सिर के समीप बिखेरने का विधान किया है। इस प्रकार तीन यमगाथाओं के कारण उड़द के दानों की संख्या २१ हो जाती है।

[3] तै० आ०, ६.५.३, तै० सं० ब्रा०—५.७.१०.२—मृदाभिलिप्योपदधाति।

[4] बौ० श्रौ०, १०.१०—आदत्ते दक्षिणेन वल्मीकवपां सव्येन संदंशेन पुरुषशिरः, पुरुषशिरोऽभ्युक्ष्योत्कुष्य प्रक्षाल्य मृदाभिलिम्पति। अथेतराणि।

[5] बौ० श्रौ०, १०.११—एतानि पशुशीर्षाणि, उत्तरे शालाखण्डे शिक्येष्वासजति, एतत् सर्पशिरः स्पन्द्या विग्रथ्य शिक्यपाशे प्रग्रथ्नाति।

[6] वल्मीकवपा—आप० श्रौ०, १६.६.३; स० श्रौ०, ११.१.६८; वै० श्रौ० १८.३।२९.३; मा० श्रौ०, ६.१.२.२४, वा० श्रौ०, २.१.१.५१; यमगाथा-गान—आप० श्रौ०, १६.६.४-५; स० श्रौ०, ११.१.६९; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.२.२६; वा० श्रौ०, २.१.१.५०; मृत्तिका-लेप—आप० श्रौ०, १६.६.७; स० श्रौ०, १८।२९.४; स० श्रौ०, ११.१.१२; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, २.१.२.१२।

उड़द के दानों का विधान पुरुष-शिर के मेध्यीकरण में करते हैं[१]। कतिपय आचार्यों के अनुसार पशुसिरों को लाते समय यमगाथा का गान करना उचित[२] है। शालीकि उड़द के दानों को बिना बिखेरे ही यमगाथा-गान का विधान करते हैं[३]।

इस पशुयाग में [४]समिष्टयजुर्होम एवम् हृदयशूल-गोपन[५] के साथ अवमृथ का निषेध कतिपय आचार्य करते हैं। शतपथ ब्राह्मण इस निषेध का विरोध करते हुए इनका विधान उचित स्वीकारता है।[६] कतिपय आचार्य[७] इस पशुयाग को पूर्व-दीक्षा कहकर एतदनन्तर शय्या-शयन, मांस भोजन तथा मैथुन का निषेध करते हैं। याज्ञवल्क्य के मत में केवल मैथुन ही निषिद्ध है। उन्हें शय्या-शयन तथा मांस-भक्षण में कोई आपत्ति नहीं है। मैथुन भी मैत्रावरुणी पयस्या यज्ञ को करने के पश्चात् उचित कहा गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार इस पशुयाग के अनन्तर वर्ष पर्यन्त शय्या-शयन, मांस-भोजन और मैथुन का परित्याग करना चाहिए। यहाँ विकल्प में वाजसनेयक विधान को भी स्वीकारा गया है। वैखानस श्रौतसूत्र आपस्तम्ब के प्रथम मत का पूर्णतया समर्थन करता है। प्रयोग चन्द्रिका में इसका विशद विवरण दिया गया है।[८]

---

१. आप० श्रौ०, १६.५.२—सप्तैकविंशतिं वा माषानानादाय पुरुषशिरोऽच्छैति; स० श्रौ०, ११.१.६७—सप्तैकविंशतिं चतुर्विंशतिं वा माषानादाय; वै० श्रौ०, तदेव—सप्तैकविंशतिं वा माषान्; वा० श्रौ०; तदेव—सप्त माषानुपन्युप्य ए० कौ०, पृ० १४१ में प्रो० जी० आर० शर्मा का कथन है कि आप० श्रौ०, वै० श्रौ० और स० श्रौ० में उड़द के २८ दानों का उल्लेख है। निश्चय ही प्रो० शर्मा की उक्ति भ्रामक है।

२. आप० श्रौ०, १६.६.६; स० श्रौ०, ११.१.७०; वै० श्रौ०, १८।२९.३; मा०श्रौ०, तदेव।

३. बौ० श्रौ०, २२.१—अनुपकीर्यैव माषान् यमगाथाभिः परिगायेदिति शालीकिः।

४. श० ब्रा०, १.९.२.२५-२५; का० श्रौ०, ३.८.४; आप० श्रौ०, ३.४.१३.२; स० श्रौ०, २.६.१५; मा० श्रौ०, १.३.५.२१; वै० श्रौ०, ७।१८.११; वामनाचार्य, द० पू० प्र०, पृ० ३६७, श्रौ० प० नि०, पृ० ४०, ३३३।

५. श० ब्रा०, ३.८.५.८-१०; का० श्रौ०, ६.१०.३-४; वै० श्रौ०, १०।११-२१; मा० श्रौ०, १.८.६.१९-२१; वा० श्रौ०, १.६.७.३४-३६; श्रौ० प० नि०, पृ० १२१, २०, १३९, १११।

६. श० ब्रा०, ६.२;२.३८—तदाहुः, नैतस्य पशोः समिष्टयजूंषि जुहुयात, न हृदयशूलेनावभृथमभ्यवेयात्, नेद् यज्ञं संस्थापयानीति। ....तस्मात् संस्थापयेत्।

७. तदेव, ६.२.२.३९—तदाहुः, नैतेन पशुनेष्ट्वोपरि शयीत, न मांसमश्नीयात्, न मिथुनमुपेयात्, पूर्वदीक्षा वा एष पशुः। तस्मादु काममेवोपरि शयीत, अस्य सर्वेषां 'कामाशनं' यदि लभेत, मिथुनं तु नोपेयात् पुरा मैत्रावरुण्यै पयस्यायै। का० श्रौ०, १६.१.२८—मैथुनं वर्जयेदापयस्यायाः।

८. आ० श्रौ०, १६.८.९—तेनेष्ट्वा संवत्सरं न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयान्, नोपरि शयीत; ८.१०—अपि वा मांसमश्नीयादुपरि शयीत, स्त्रियं त्वेव नोपेयादिति वाजसनेयकम्। वै० श्रौ०, १८।२९.६—तेनेष्ट्वा संवत्सरं न मांसमश्नीयान्, न स्त्रियमुपेयान्, नोपरि शयीत। महादेव शास्त्री, प्र० च०, आ० ग्र० ५३, पृ० २२-२३। द्रष्टव्य, सायण, श० ब्रा०, भाग ३, पृ० ६५।

उखा-संभरण

तात्त्विक दृष्टि से इष्टकापशु इष्टि उखासंभरण का ही अंग है। इष्टका पशु तथा उखासंभरण से सम्बन्धित कर्मों के समय में कुछ दिनों का अन्तर है। अतएव इष्टकापशु को उखासंभरण कर्म के अंग रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया।

उखासंभरण का अर्थ—

उखा में अग्नि की स्थापना कर वर्ष भर भलीभांति उसका भरण करना उखासंभरण है।[१] उखासंभरण अनेक यज्ञीय अनुष्ठानों की समवेत आख्या है। इंटों की संरचना के लिये मिट्टी लाना, अषाढा, उखा, विश्वज्योति तथा अन्य इंटों की निर्मिति, उखाधूपन, उखा को पकाना, उखा में समिधाओं की आहुति देकर उसमें आहित अग्नि को प्रज्वलित करना और उख्य अग्नि को वर्ष भर यथाविधि प्रज्वलित रखना आदि सभी यज्ञकर्म उखासंभरण के अन्तर्गत हैं।[२]

उखा-संभरण का समय—

शतपथ ब्राह्मण फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को उखासंभरण को विहित मानता है।[३] कात्यायन श्रौतसूत्र भी इसका समर्थन करता है।[४] कृष्णयजुर्वेदीय शाखा में उखासंभरण के समय का उल्लेख किया जा चुका है। ध्यातव्य है कि शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान में इष्टकापशु का यजन उखासंभरण के पूर्व करने का विधान है और कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा उखासंभरण से सम्बन्धित कतिपय कर्मों को करने के पश्चात् इष्टकापशु द्वारा यजन करना उचित मानती है।

---

[१] श० ब्रा०, ६.२.१.२३, २.२.३१—उखां संभरति; १०.२.६.९—संवत्सरभृतमेव चिन्वीत; तै० सं० ब्रा०, ५.५.१.६—यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाग्निं चिनुते, यथा सामि गर्भोऽवपद्यते, तादृगेव तदार्तिमार्च्छेत्। का० सं० ब्रा०, २२.३; मै० सं० ब्रा०, ३.४.६—य एवं विद्वान् संवत्सरमग्निं बिभर्ति, संवत्सरभृत एवाग्निः।

[२] सायण, श० ब्रा०, भाग ३, पृ० ५६—अग्निधारणार्थमुखासंभरणं विधत्ते, पूर्वफाल्गुन–पौर्णमास्यां पश्वालम्भ उक्त। तस्यां बहुलाष्टम्यामुखार्थं दृढवल्मीकवपादिद्रव्यसंभरणमित्यर्थः। उखा चोपलक्षणम्। अषाढाद्यपि अनया क्रियया संभ्रियत एव।

[३] श० ब्रा०, ६.२.३ १—या प्रथमाष्टका, तस्यामुखां संभरति।

[४] का० श्रौ०, १६-२.१—उखासंभरणमष्टम्याम्। कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ८९९, फाल्गुनकृष्णाष्टम्यामुखासंभरणम्। द्र०, वैता० श्रौ०, ५.१.१८, महीधर, शु० य० सं०, पृ० १८३।

मृदाहरण

सावित्र आहुति—[१]

मृदाहरण के लिये जाने के पूर्व एक आहुति दी जाती है[२], जिसका अभिधान सावित्र है। शतपथब्राह्मण[३] ने सावित्र-अभिधान के तीन हेतु प्रस्तुत किया है। आहुति में विनियोजनीय मन्त्रों का दर्शन सविता ने किया था, इस आहुति से यजमान सविता को प्रीत करता है और इस आहुति के द्वारा यजमान सविता अग्नि का रेत के रूप में सिंचन करता है। अतः इस आहुति का नाम सावित्र है। सावित्र-आहुति को आहवनीय अग्नि में डालने के लिये स्रुव एवम् स्रुच (जुहू) दोनों का प्रयोग[४] किया जाता है। स्रुच् में आठ बार घी डालकर आहुति अविच्छिन्न रूप में देने का विधान है[५]। कृष्ण यजुर्वेदीय प्रस्थान में भी यही विधि दृष्टिगत होती है।

ध्यातव्य है कि इष्टकापशु के यजनीय पशुओं के सिर के अतिरिक्त अन्य अंग देवयजन के समीप के किसी जलाशय में इस उद्देश्य से फेंक दिये जाते हैं कि वहीं से जल और मिट्टी लाकर ईंटों का निर्माण करना विहित है। पहले ही वहाँ से मिट्टी लाकर आहवनीय अग्नि के पूर्व में एक चतुष्कोण गढ्ढा बना कर रख दी जाती है।[६] शुक्लयजुर्वेदीय[७] प्रस्थान में मिट्टी को लाने में अश्व, गर्दभ एवम् अज को प्रयुक्त किया जाता है। कृष्ण यजुर्वेदीय[८] शाखा में अज का उल्लेख नहीं मिलता है। उपर्युक्त

---

[१] सावित्र आहुति में विनियोजनीय मंत्रों के लिये द्र०—वा० सं०, ११.१-८, तै० सं०, ४.१.१; का० सं०, १५.११; मै० सं०, २.७.१। आदि।

[२] श० ब्रा०, ६.३.१.३—तां वा एताम्, एकां सतीमष्टागृहीतामष्टाभिर्यजुर्भिर्जुहोति। तै० सं० ब्रा०, चतुर्गृहीत आज्य से आहुति का विधान करता है, ४.१.१—चतुर्गृहीतेन जुहोति, यं कामयेत वसीयान् स्यादिति सर्वाणि तस्यानुद्रुत्य जुहुयात्। का० सं० ब्रा०, १८.१९; मै० सं० ब्रा०, ३.१.१; क० सं० ब्रा०, २९.७; बौ० श्रौ०, १०.३; आप० श्रौ०, १६.१.३-५; स० श्रौ०, ११.१.६-८, वै० श्रौ०, १८।२९.१; मा० श्रौ०, ६.१.१.५-७; वा० श्रौ०, २.१.३।

[३] श० ब्रा०, ६.३.१.१, ६-७—यत् सवितापश्यत तस्मात् सावित्राणि, यदेतया सवितारं प्रीणाति तस्मात् सावित्राणि, यदेतया सवितारं रेतोभूतं सिंचति तस्मात् सावित्राणि।

[४] तदेव, ६.३.१.८—सुवश्चात्र सुक् च प्रयुज्येते। कृ० य०, तदेव, पा० टि० ३।

[५] श० ब्रा०, ६.३.१०३; ६.१.५,१०—तां संततां जुहोति; कृ० य०, तदेव, पा० टि० ३। का० श्रौ०, १६.२.७—अष्टगृहीतं जुहोति सन्ततमुद्गृह्णन् युञ्जान इति।

[६] का० श्रौ०, १६.२.२—आहवनीयस्य पुरस्तान् मत्या श्वभ्रे मृतपिण्डमुपदधाति। भूसमम्, द्र०, एग्लिंग्, से० बु० इ०, भाग ४१, पृ० २०६, पा० टि० ९।

[७] श० ब्रा०. ६.३.१.२८—अश्वः, रासभः, अजः; का० श्रौ०, १६.२.४।

[८] तै० सं० ब्रा०, ५.१.२.१; का० सं० ब्रा०, १९.२; मै० सं० ब्रा०, ३.१.३; क० सं० ब्रा०, २९.८; बौ० श्रौ०, १०.१; आप० श्रौ०, १६.२.१-२; स० श्रौ०, ११.१.१२-१३; वै० श्रौ०, १८।२९.१; मा० श्रौ०, ६.१.१.९; वा० श्रौ० २.१.१.४-६।

सभी पशु तिफरी, मूँज की पंचांगी रस्सी से सजे[1] रहते हैं। इन पशुओं के साथ ब्रह्मा, अध्वर्यु और यजमान भी[2] जाते हैं। मिट्टी को खोदने में अभ्रि का प्रयोग किया जाता है।[3]

अभ्रि[4]—

शतपथ ब्राह्मण[5] के अनुसार अभ्रि वेणु की होती है। अभ्रि का सछिद्र एवम् दोनों ओर नोकीली होना आवश्यक है। विवशता में एक ओर नोकीली अभ्रि से भी कार्य[6] चल सकता है। अभ्रि की लम्बाई एक प्रादेश (बारह अंगुल) और रंग चितकबरा होना[7] चाहिए। चितकबरी अभ्रि के अभाव में भी कोई अनौचित्य नहीं है। याज्ञवल्क्य को एक अरत्नि (२४ अंगुल) लम्बी अभ्रि ही अभिमत[8] है। कात्यायनश्रौतसूत्र शतपथ मत का सर्वथा अनुसरण करता है।

तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मणों[9] में शुक्लयजुर्वेदीय मत का प्रायः समर्थन मिलता है। तैत्तिरीयक मत में दोनों और नोकीली अभ्रि को ही मान्यता मिली है। लम्बाई के सम्बन्ध में कहा गया है कि या तो अभ्रि एक व्याम की हो अथवा लम्बाई का कोई

---

[1] श० ब्रा०, ६.३.१.३६—ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्ति, ३.१.३७—त्रिवृतो भवन्ति; का० श्रौ०, १६.२.४—त्रिवृन्मुञ्जपंचांगीबद्धास्तिष्ठन्ति। कृ० य० शाखा में केवल रस्सी का उल्लेख है, द्र० पा० टि० ९। कर्क, का० श्रौ० (वेबर) ८९९—पञ्चाङ्गचो मुखरिकाः, ताभिर्बद्धाः; विद्याधर शर्मा, का० श्रो०, पृ० ९०—एका मुखे वृत्ताकारा, द्वितीया वक्षः श्रोत्रान्तरमार्गेण शिरसि उपरिस्था, तृतीया चक्षुषोरधस्तान्मुखस्याग्रे पूर्वरज्ज्वामुभयतो बद्धा, चतुर्थी पार्श्वस्था, पञ्चमी चावलम्बनरज्जुर्वला संज्ञा।

[2] का० श्रौ०, १६.२.१२—दक्षिणतश्च पशवो युगपत्, द्र० १६.२.११।

[3] श० ब्रा०, ६;३.१.५—स वा अभ्र्या खनन्‌……खनति; का० श्रौ० १६.२.२५—अभ्रचा पिण्डं खनति; तै० सं० ब्रा०, ५.१४.१; का० सं० ब्रा०, १९.४; मै० सं० ब्रा०, ३.१.४; क० सं० ब्रा०, ३०.२; बौ० श्रौ०, १०.३, आप० श्रौ०, १६.३.२; स० श्रौ०, ११.१.२७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.२२-२३; वा० श्रौ०, २.१.१.१७।

[4] अभ्रि-आदान के मन्त्र के लिये द्र०—वा० सं०, ११.९; तै० सं०, ४.१.१; का० सं०, १९.१., मै० सं०, २.७.१। अभ्रि-अभिमन्त्रण हेतु—वा० सं०, ११.१०-११।

[5] श० ब्रा०, ६.३.१.३१-३२, ३४; सा वैणवी स्यात्, सुषिरा तु स्यात्, उभयतः क्ष्णुत्त्वेव भवति; का० श्रौ०, १६.२.५।

[6] श० ब्रा, ६.३.१.३४—अन्यतःक्ष्णुत् स्यात्।

[7] तदेव, ६.३.१.३३—प्रादेशमात्री स्यात्; ३.१.३३—सा कल्माषी स्यात्, यदि कल्माषी न विन्देदप्यकल्माषी स्यात्; ३.१.३३— अरत्निमात्री त्वेव भवति; का० श्रौ०—१६.२.५।

[8] तै० सं० ब्रा०, ५.१.१.४-५—सुषिराभ्रिः, कल्माषी, उभयतःक्ष्णुः, व्याममात्रीं, अपरिमिता, वैणवी भवति।

[9] का० सं० ब्रा०, १९.१—अन्यतःक्ष्णुत्, अरत्मिमात्रीं कुर्यात्।

निश्चित परिणाम नहीं है। काठकसंहिताब्राह्मण[1] के अनुसार अभ्रि एक ओर नोकीली हो सकती है तथा उसकी लम्बाई एक अरत्नि भी संभव है। यहाँ अभ्रि की अन्य विशेषताएँ, तैत्तिरीय के समान हैं। मैत्रायणीयसंहितब्राह्मण के अनुसार अभ्रि दोनों ओर अथवा एक ओर नोकोली होनी चाहिए। लम्बाई के सम्बन्ध में यहाँ एक व्याम अथवा एक प्रादेश को उचित बताया गया है। अन्य सभी विशेषताएँ उपरितन वर्णन के अनुसार वर्णित हैं। मैत्रायणक मत में वेणु के अतिरिक्त उदुम्बर (गूलर) अथवा अत्यन्त फलशाली किसी वृक्ष की अभ्रि बनायी जा सकती है।

इस प्रसंग में बौधायन अभ्रि के स्वरूप का निरूपण नहीं करते। अन्यत्र प्रवर्ग्यसंभरण में अभ्रि का पूर्णतया विवरण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि अभ्रि का पहले लक्षण बताने के कारण ही यहाँ उखासंभरण के अवसर पर बौधायन अभ्रि को परिभाषित नहीं करते हैं। बौधायन के अनुसार वेणु और उदुम्बर के अतिरिक्त विकंकत वृक्ष की अभ्रि का प्रयोग उचित है[2]। अभ्रि दोनों और नोकीली एवम् लम्बाई में एक व्याम अथवा एक अरत्नि की होती है। आपस्तस्ब श्रौतसूत्र[3] में उपरिर्वाणत वृक्षों के अतिरिक्त खदिर, फ्लाश, अर्क, शमी और कार्ष्मर्य (खंभारी) वृक्ष की अभ्रि को भी विहित मानता है। आपस्तम्ब लम्बाई के सम्बन्ध में मुट्ठी भर, प्रादेश, आरत्नि, बाहु और व्याम को प्रस्तुत करता है। यहाँ छेदरहित अभ्रि

---

[1] मै० सं० ब्रा०, ३.१.२—उभययतःक्ष्णुत् कार्या, अन्यतःक्ष्णूत् कार्या, व्याममात्री कार्या, प्रादेशमात्री कार्या, वैणव्यभ्रिर्भवति, औदुम्बरी कार्या, य एव कश्च वृक्षः फलग्रहिस्तस्य कार्या।

[2] बौ० श्रौ०, ९.१; प्रो० जी० आर शर्मा, ए० कौ०, पृ० १४५ में कहते हैं कि बौ० श्रौ० सुनहरी अभ्रि का भी विधान करता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि बौधायन सुनहरी अभ्रि के अतिरिक्त अन्यविध अभ्रि को भी स्वीकारता है। परन्तु प्रोफेसर ने इसका उल्लेख करना उचित नहीं माना। बौ० श्रौ० की सुनहरी अभ्रि को प्रमाणित करने के लिये जिस उद्धरण को, प्रो० शर्मा ने, प्रस्तुत किया है, वे न तो उसके सन्दर्भ को समझने का कष्ट करते हैं और न तो उस वाक्य के अर्थ को ही बूझ पाते हैं। उद्धरण है—'हिरण्यमभ्रिमादाय', यहाँ 'हिरण्यम्' अभ्रि का विशेषण नहीं है, क्योंकि हिरण्य और अभ्रिमें लिंगभेद स्पष्ट है। यहाँ 'हिरण्यम्' नपुंसक लिंग है और 'अभ्रिम्' स्त्रीलिंग। अतएव किसी भी नियम से अभ्रिका विशेषण 'हिरण्यम्' हो ही नहीं सकता। वस्तुतः 'हिरण्यमभ्रिमादाय' के पूर्व 'अपोद्धृत्य' शब्द है। अब अर्थ होगा, स्वर्ण को हटाकर (और) अभ्रि को लेकर। संदर्भ यह है कि इस कर्म के पूर्व मिट्टी के ऊपर घोड़े को चढ़ाया जाता है, फिर उसे मिट्टी पर से उतार दिया जाता है। मिट्टीपर बने हुए अश्वपद में स्वर्ण रखकर उसमें आज्य की आहुति दी जाती है। इस आहुति के बाद मिट्टी पर से हिरण्य हटा लिया जाता है, द्र० बौ० श्रौ०, १०.३– दक्षिणेऽश्वान्तरशफे हिरण्यं निधाय संपरिस्तीर्याभिर्जुहोति·······अपोद्घृत्य हिरण्यम्, अभ्रिमादाय पदं परिलिखति। अतएव प्रो० शर्मा की स्थापना भ्रान्तिमूलक है।

[3] आप० श्रौ० १६.१.८।

को भी स्वीकृति दी गयी है। सत्याषाढश्रौतसूत्र[1] आपस्तम्ब का पूर्णतया अनुगामी है। परन्तु श्रौतसूत्र वृक्षों में कार्ष्मर्य का उल्लेख नहीं करता। वैखानसश्रौतसूत्र[2] में भी बौधायन के समान प्रवर्ग्यसंभरण के प्रसंग में ही अभ्रि का लक्षण बताया गया है। वैखानस खदिर, उदुम्बर, विकंकत या वेणु की अभ्रि को विहित मानता है। अभ्रि की लम्बाई एक व्याम अथवा एक अरत्नि की यहाँ कही गयी है। मानवश्रौतसूत्र[3] वेणु की, कल्माषी और दोनों ओर नोकीली अथवा एक ओर नोकीली अभ्रि को उचित स्वीकारता है। वाराहश्रौतसूत्र[4] में वैणवी, अथवा फलदार वृक्ष की सछिद्र एवम् चित्तीदार अभ्रि विहित है।

कुछ लोग सुनहरी अभ्रि को ही प्रयोज्य मानते हैं। इनका तर्क यह है कि अभ्रि-विषयक मन्त्र में ऋषि ने इसे 'हिरण्ययी' विरुद दिया है, अतएव स्वर्णमयी अभ्रि का ही प्रयोग[5] उचित है। इस मत का उल्लेख कात्यायनश्रौतसूत्र[6] में भी मिलता है। याज्ञवल्क्य[7] इस प्रकार की अभ्रि के प्रयोग का स्पष्टतया निषेध करते हैं। इनके अनुसार अभ्रि छन्दों के कारण हिरण्यमयी है, अतएव ऋषि ने मन्त्र में इसे 'हिरण्यमयी' कहा है।

वल्मीकवपा[8] तथा अनद्धा[9] पुरुष—

मिट्टी को लाने के लिये पशुओं एवं मनुष्यों की शोभायात्रा आहवनीय के दक्षिण से आरम्भ होती है[10]। शोभायात्रा में सर्वप्रथम अश्व तदनन्तर गर्दभ और अज पूर्व की ओर गड्ढे में रखी हुई मिट्टी की ओर जाते हैं[11]। इस मार्ग के मध्य में

---

१. स० श्रौ०, ११.१.११।

२. वै० श्रौ०, १३।२४.१।

३. मा० श्रौ०, ६.१.१.८।

४. वा० श्रौ०, २.१.१.४।

५. श० ब्रा० ६.३.१.४२—तां हैके हिरण्मयीं कुर्वन्ति, हिरण्ययीति वाभ्युक्तेति।

६. का० श्रौ०, १६.२.६—हिरण्यमयीमेके।

७. श० ब्रा०, तदेव—न तथा कुर्यात्, यद् वा एषा छन्दांसि तैनेषा हिरण्यमयी। मंत्र के लिये द्र०, वा० सं०, ११.११।

८. महीधर, शु० य० सं० पृ० १८८, वल्मीकस्य यौऽवयव उन्नतत्वेनाभिवृद्धः सा वल्मीकवपा; श्रौ० प० नि०, १०९,१८; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, पृ० ५०; प्र० च०, आ० ग्र० ५३, पृ० ९।

९. श० ब्रा० ६.३.१.२४—एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवानवति, न पितॄन्, न मनुष्यान्।

१०. श० ब्रा०, ६.३.१.२९—ते दक्षिणतस्तिष्ठन्ति; का० श्रौ०, १६.२.४।

११. श० ब्रा० ६.३.१.२८—ते प्रांचस्तिष्ठन्ति, अश्वः प्रथमोऽथ रासमोऽथाजः; तदेव, ६.३.२.६—एनान् प्राच उत्क्रमयति। का० श्रौ० तदेव।

वल्लमीक-वपा रखी रहती है[१]। तथा उसके पास ही अनद्धा पुरुष वैठा रहता है। शोभायात्रा में प्रसक्त अध्वर्यु इस अनद्धा पुरुष का निरीक्षण करता है[२]। अध्वर्यु वल्मीकवपा के छेदों से गर्तस्थ मृत्तिका का अवलोकन करता है[३]। तदनन्तर उसे उसी स्थान पर पुनः[४] रख देता है।

कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान[५] में मंत्र द्वारा वल्मीकपवा के उपस्थान का निर्देश दिया गया है। अन्य संहिताब्राह्मणों में केवल वल्मीकवपा के अभिमंत्रण[६] की विधि है। कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में अनद्धा पुरुष का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। संहिताब्राह्मणों के अनुसार साथ में चलने वाले किसी व्यक्ति से अग्निविषयक प्रश्नोत्तर किया जाता है[७]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार यह प्रश्नोत्तर वैश्य से होता है, जो वल्मीकवपा के दक्षिण में उसकी रक्षा करता हुआ बैठा रहता है।[८] आपस्तम्बश्रौतसूत्र और सत्याषाढश्रौतसूत्र में वैश्य का अनुल्लेख है[९]। इनके अनुसार वैश्य के साथ संवाद करने में प्रयुक्त मंत्र का प्रयोग अपने शत्रु के प्रति करना चाहिए। वैखानसश्रौतसूत्र में उपरिनिर्दिष्ट दोनों विधियों का विकल्प के रूप में स्वीकार है। मानवश्रौतसूत्र तथा वाराहश्रौतसूत्र में आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी का अनुकरण मिलता है[१०]।

अश्व-पद-होम—

पूर्ववर्णित शोभायात्रा का समापन मृत्-गर्त के दक्षिण में होता है[११]। गर्त के दक्षिण में स्थित अश्व की अभिमंत्रित कर उसके दाहिने पैर को मिट्टी पर रखवा दिया जाता है[१२]। अध्वर्यु अश्व को बिना छुए हुए उसके ऊपर अपना हाथ रखकर मंत्र का

---

१. श० ब्रा० ६.३.३.५—वल्मीकवपा सुषिरा व्यध्वे निहिता भवति; का० श्रौ०, १६.३.३।

२. श० ब्रा०, ६.३.३.५.—अनद्धापुरुषमीक्षते; का० श्रौ०, १६.२.१३।

३. श० ब्रा०, ६.३.३.५—तामन्वीक्षते; का० श्रौ०, १६.२.१४.—वल्मीकवपामादाय छिद्रेण पिण्डमीक्षते; एग्‌लिंग्, से० बु० इ०, भाग ४१, पृ० २०६, पा० टि० २।

४. का० श्रौ०, तदेव—दृष्ट्वा निदधात्येनाम्।

५. तै० सं० ब्रा०, ५.१.२.५—वल्मीकवपामुपतिष्ठते; बौ० श्रौ०, १०.२; आप० श्रौ०, १६.२.७; स० श्रौ०, ११.१.१७; वै० श्रौ०, १८।२९.१।

६. का० सं० ब्रा०, १९.२—वल्मीकवपामुद्धत्याभिमन्त्रयतें, मै० सं० ब्रा०, ३.१.३; क० सं० ब्रा०, २९८; मा श्रौ०, ६.१.१.१३।

७. तै० सं० ब्रा०, ५.१.२.५—अग्निं पुरीष्यमंगिरस्वद्भराम इत्याह येन संगच्छते; का० सं० ब्रा० तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

८. बौ० श्रौ०, तदेव—प्रदक्षिणी वैश्यं कुर्वते, वैश्यः पृच्छति……।

९. वै० श्रौ०, तदेव।

१०. मा० श्रौ०, ६.१.१.१२; वा० श्रौ०, २.१.१.८।

११. श० ब्रा०, ६.३.३.१४; ते दक्षिणतः प्रांचस्तिष्ठन्ति; का० श्रौ०, ६.२.२१।

१२. वा० सं०, ११.१८-१९; श० ब्रा०, ६.३.३.८-९—अश्वममिमन्त्रयते, एनमाक्रमयति; का० श्रौ०, १६.२.१६-१७।

पाठ करता है[1]। अब मृत् पिण्ड पर से घोड़े के खुर को हटवा दिया जाता है[2]। पुनः अश्व का अभिमंत्रण कर उसे अपने स्थान पर खड़ा करने का विधान है[3]। अध्वर्यु मृत्गर्त के समीप बैठ कर मिट्टी के ऊपर बने हुए अश्वपद में आज्य के द्वारा दो आहुतियां देता है। ये आहुतियाँ स्रुव के द्वारा दी जाती हैं[4]। कात्यायन के अनुसार इस आहुति को व्यतिषक्त रूप में देनी चाहिए। इस आहुति में दो मंत्रों का विनियोग किया जाता है। प्रथम मंत्र के पूर्वार्द्ध एवम् द्वितीय मंत्र के उत्तरार्द्ध और द्वितीय मंत्र के पूर्वार्द्ध एवम् प्रथम मंत्र के उत्तरार्द्ध का पाठ व्यतिषंग है। अतएव एवंविध नंत्रों का विनियोग कर दी गयी आहुति व्यतिषक्त[5] आहुति है।

कृष्णयजुर्वेदसंहिताब्राह्मणों[6] के अनुसार दो मंत्रों के द्वारा घोड़े के पैरों को मिट्टी पर रखवाने का विधान मिलता है। मृत्तिका पर अगले दोनों शफों की रखने वाले अश्व की पीठ पर मन्त्र द्वारा अध्वर्यु हाथ फेरता है। यजमान, अपने द्वेषी को अश्वशफ के अधोभाग में पिसते हुए, मन में सोचता है। अब दो मन्त्रों से अश्व की मिट्टी पर से पूर्व दिशा में हटाता है। एतदनन्तर अश्वपद से जल डालत्ता है और उसमें सुवर्ण भी आहित करता है। ध्यातव्य है कि मैत्रायणीयसंहिताब्राह्मण में सुवर्ण-आधान का विधान उपलब्ध नहीं है। अब इसी अश्वपद के स्थान पर दो मन्त्रों के द्वारा एक आहुति देने का निर्देश है।

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में भी प्रायः उपरिविहित विधि का अनुसरण मिलता[7] है। बौधायनश्रौतसूत्र का कथन है कि अश्व पद के स्थान में स्रुच से आहुति देनी चाहिए। यहां दो आहुतियों का उल्लेख है। मानवश्रौतसूत्र में अश्वपद के स्थान में जल छोड़ने और सुवर्ण-आधान की विधि नहीं है। वाराहश्रौतसूत्र में अश्व-पद की जगह जल छोड़ने का अनुल्लेख है।

---

१. वा० सं०, ११.२०; श० ब्रा०, ६.३.३.१२--एनमुन्मृशति; का० श्रौ०, १६.२.१८— पृष्ठस्योपरि पार्णि धारयन्ननुपस्पृशन्।

२. वा० सं०, ११.२१; श० ब्रा० ६.३.३.१३--एनमुत्क्रमयति; का० श्रौ०, १६.२.१९।

३. वा० सं०, ११.२२; श० ब्रा०, ६.३.३.१४--एनमुत्क्रान्तममिमन्त्रयते; का० श्रौ० १६.२.२०।

४. वा० सं०, ११.२३-२४; श० ब्रा०, ६.३.३.१५-१८--उपविश्य मृदमभिजुहोति, एते आहुती जुहोति, आज्येन जुहोति; स्रुवेण; का० श्रौ०, १६.२.२२।

५. कर्क, का० श्रौ० (वेबर) पु० ९००—व्यतिषंगश्च एकस्याः पूर्वार्द्धं इतरस्या उत्तरार्द्धः इतरयोरप्येवमेव; महीधर, शु० य० सं०, पृ० १००; विद्याधर शर्मा का० श्रौ०, पृ० ८८।

६. तै० सं०, ४.१.२; का० सं०, १४.२; मै० सं०, २.७.२; तै० सं० ब्रा०, ५.१.२.६, १.३.१-३, द्वाभ्यामाक्रमयति, रूपमेवास्यैतन्महिमानमाचष्टे, द्वाभ्यामुत्क्रमयति, अप उपसृजति, हिरण्यमुपास्य जुहोति. द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै, यं द्विष्यात् तमधस्पदं ध्यायेत्। का० सं० ब्रा०, १९.३; मै० सं० ब्रा० ३.१.४; क० सं० ब्रा०, ३०.१।

७. बौ० श्रौ०, १०.२; आप० श्रौ०, १६.२.९-११, ३.१; स० श्रौ०, ११.१.२०-२४, वै० श्रौ०, १८।२९.१; मा० श्रौ०, ६.१.१.१५-२०; वा० श्रौ०, २.१.१.१०-१५।

मृत्तिका का आदान तथा आहरण

मृत्पिण्ड का परिलेखन—

शतपथब्राह्मण[1] के अनुसार अभ्रि द्वारा मिट्टी पर तीन रेखाओं का निर्माण करना चाहिए। सर्वप्रथम पहली रेखा मृत्पिण्ड के दक्षिणी भाग में पश्चिम से पूर्व की ओर खींची जायेगी। तदनन्तर प्रथम रेखा के उत्तर में क्रमशः दो रेखाएँ बनायी जायेंगी। ध्यातव्य है कि सभी रेखाएं उत्तरोत्तर गहरी और लम्बी होती हैं। इस विधि में शुक्ल एवम् कृष्ण याजुष प्रस्थानों में कोई मतभेद नहीं हैं।

मृत्तिका-खनन—

परिलेखन के अन्तर मन्त्रों द्वारा मिट्टी की खोदाई की जातो है[2]। यह कार्य अभ्रि द्वारा किया जाता है। इस विधि में सभी ग्रन्थ एक मत हैं। बौधायन के अनुसार ऋचाओं का प्रयोग अर्द्धर्च-रूप में करना चाहिए। शालीकि सम्पूर्ण ऋचा का पाठ कर खोदना उचित मानते हैं[3]।

खोदी गयी मृत्तिका को उठाना तथा बाँधना—

मृत्पिण्ड के गर्त के उत्तर में कृष्णाजिन बिछा दिया जाता है। कृष्णाजिन-आस्तरण में किसी मंत्र का प्रयोग नहीं किया जाता। आस्तरण ऐसा किया जाता है कि कृष्णाजिन का रोमश भाग ऊपर की ओर तथा शिरोभाग पूर्व की ओर रहता है[4]।

---

१. वा० सं०. ११.२५-२७; तै० सं०, मै०सं०--तदेव; श० ब्रा०, ६.३.३.२३-२५—एनं त्रिष्कृत्वः परिलिखति, वर्षीयसा वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां परिलिखति, वरीयसीं करोति; का० श्रौ०, १६.२.२३, तै० सं० ब्रा०, ५.१.३.४-५—तिसृभिः परिलिखति; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.३; आप० श्रौ०, १६.३.१; स० श्रौ०, ११.१.२६; मा० श्रौ०, ६.१.१.२१; वा० श्रौ०, २.१.१.१६।

२. वा० सं०, ११.२८; तै० सं०, ४.१.३; का० सं० १६.३ मै० सं० तदेव, श० ब्रा०, ६.३.३.२६, एनमस्यां खनति; ४.१३, द्वाभ्यां खनति; तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०; क० सं ब्रा० तदेव; बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ० १६.३.२; स० श्रौ०, ११.१.२७; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.१.२३; वा० श्रौ०, २.१.१.१७।

३. बौ० श्रौ०, २२.२—अर्द्धर्चशः खनेदिति बौधायनः, ऋचेति शालीकिः।

४. श० ब्रा०, ६.४.१६—एनं कृष्णाजिने संभरति लोमशः, तूष्णीमुपस्तृणाति, प्राचीन-ग्रीवम्; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, १९.४; मै० सं० ब्रा० २.१.५; क० सं० ब्रा०, २०.२। का० श्रौ०, १६.२.२५—कृष्णाजिनमास्तीर्योत्तरतः; बौ० श्रौ० तदेव, आप० श्रौ०, १५.३.३; स० श्रौ०, १.१.१.२८; मा० श्रौ०, ६.१.१.२५; वा० श्रौ०, २.१.१.१९।

कृष्णाजिन के ऊपर पुष्करपर्ण को मन्त्र द्वारा बिछाने का विधान है[1]। पुष्करपर्ण को हाथ द्वारा मन्त्र पढ़कर निर्मल करना आवश्यक है[2]। मन्त्र के द्वारा कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण का एक साथ स्पर्श करने के अनन्तर मृतपिण्ड को भी हाथ से छूने का विधान है[3]। अध्वर्यु दाहिने हाथ में अभ्रि को लिये हुए ही दोनों हाथों से मिट्टी के लोंदे को उठाकर पुष्करपर्ण पर रखता है। ध्यातव्य है कि मिट्टी के लोंदे को मृत्गर्त के दक्षिणी भाग से उत्तरी भाग में लाकर ही पुष्करपर्ण पर रखने की विधि है[4]। इसके बाद मृत्गर्त में मन्त्रपूर्वक जल डाला जाता है[5]। हाथ से चार दिशाओं से हवा हाँक मृत्गर्त में निहित की जाती है और उसे मिट्टी से भर दिया जाता है। अध्वर्यु कृष्णाजिन एवम् पुष्करपण के चारों किनारों को उठाकर मूँज की तिफरी रस्सी से बाँध देता है, और मिट्‌टी की इस गठरी को उठाकर खड़ा हो जाता है[6]। इस समय बाहुओं

---

१. वा० सं०, ११.२९; तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६ ४.१.७,९—एनं पुष्करपर्णे संभरति, तदुत्तरं कृष्णाजिनादुपस्तृणाति; मै० सं० ब्रा०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.१.४.४; का० सं० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव:, आप० श्रौ०, स० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.२४-२५; वा० श्रौ०, २.१.१.१८-१९।

२. वा० सं०, तदेव; श० ब्रा० ६.४.१.८—अनुविमार्ष्टि; का० श्रौ०, १६.२.२६, ध्यातव्य है कि इस विधि का कृ० य० शाखा में उल्लेख नहीं है।

३. वा० सं०, ११.३०-३२; तै० सं०, का० सं०, मै सं०, तदेव; श० ब्रा० ६.४.१.१०,१२, ४.२.१—एने अभिमृशति, द्वाभ्यामभिमृशति, मृत्पिण्डमभिमृशति; तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १६.२.२७-२८; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.३.४; स० श्रौ०, ११.१.२९; वै० श्रौ० तदेव।

४. वा० सं०, ११.३२-३७; तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६.४.२.२—एने परिगृह्णाति, अभ्र्या च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतः ४.२.१०, दक्षिणत उदञ्चमाहरति; तैं० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.३.४; स० श्रौ०, ११.१.३०; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.२६; वा० श्रौ०, २.१.१.२१।

५. वा० सं०, ११.३८-३९; तै० सं०, ४.१.४; का० सं०, १६.४; मै० सं०, २.७.४; श० ब्रा०, ६.४.३, १,३,५—तत्राप उपनिनयति, एनां वायुना सन्दधाति, एना दिग्भिः सन्दधाति; बौ० श्रौ७, १०.४; आप० श्रौ०, १६.३.७; स० श्रौ०, ११.१.३३; भा० श्रौ०, ६.१.१.२०; वै० श्रौ०, तदेव।

६. वा० सं० ११.४०-४१; तै० सं०, का० सं० मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६.४.३.६, ८-९ कृष्णाजिनं च पुष्बरपर्णं च समुद्गृह्णाति एनमुपनह्यति, मौञ्जेन त्रिवृता, एनमादायोत्तिष्ठति; तै० सं० ब्रा०, ५.१.५.२-३; का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १६.३.४-६; बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ०, १६.४.७-८; स० श्रौ०, ११.१.३४-३५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.३१-३४; वा० श्रौ०, २.१.१.२५-२७—ध्यातव्य है कि वै० श्रौ०, मा० श्रौ० तथा वा० श्रौ० में अर्कवृक्ष की रज्जु का वैकल्पिक विधान है—मौञ्जैन दाम्नोपनह्यत्यर्कमयेण वा।

को फैली हुई रखना चाहिए[१]। एतदनन्तर अध्वर्यु मिट्टी की गठरी को नीचे उतार कर अपनी नाभि के ऊपर[२] धारण करता है।

उपरितन विधान से कृष्णयजुर्वदीय शाखा का भी, छिट-पुट भेदों के अतिरिक्त, प्रायः साम्य है। कृष्णयजुर्वेद को संहिताओं, ब्राह्मणों में मिट्टी को पुष्करपर्ण पर रखते समय ब्राह्मण आदि वर्णो के अनुसार छन्दों के विनियोग का निर्देश है[३]। बौधायनश्रौत सूत्र के अनुसार मृत्-संभरण में आठ मंत्रों का विनियोग होता है[४]। शालीकि[५] का मत है कि मृत्-गर्त से या तो प्रत्येक ऋचा के द्वारा आठ मिट्टी के लोंदों को लेना चाहिए अथवा आठों ऋचाओं का पाठकर केवल एक बार में मिट्टी को लेना उचित है। इसके विपरीत बौधायन के मत में मिट्टी को चार बार लेना चाहिए और हर बार सभी ऋचाओं का पाठ करना उचित है[६]। औपमन्यव[७] उपरितन दोनों मतों का निषेध कर एक भिन्न व्यवस्था देते हैं। एतदनुसार गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं का प्रयोग मिट्टी को उठाने में तथा त्रिष्टुप्-छन्दस्क ऋचाओं का विनियोग मिट्टी पुष्करपर्ण पर आहित करने में होना चाहिए। मानवश्रौतसूत्र[८] भी औपमन्यव का अनुगामी है।

अब पूर्वचर्चित शोमायात्रा पुनः देवयजन की ओर प्रत्यावर्तित होने का[९] उपक्रम करती है। इस समय पशुओं के स्थितिक्रम में परिवर्तन हो जाता है। अब सबसे आगे अज चलता है, उसके पीछे गर्दभ और सबसे पीछे अश्व का स्थान[१०] होता है।

---

१. वा० सं० ११.४२, श० ब्रा०, ६.४.३.१०—ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णाति, परोबाहु प्रगृह्णाति; का० श्रौ०, १६.३.७।

२. वा० सं०, ११.४३-४५, श० ब्रा०, तदेब—एनमुपावहरति, तमुपावहृत्योपरिनामि धारयति। का० श्रौ०, १६.३.८।

३. तै० सं० ब्रा०; ५.१.४.५—गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य, त्रिष्टुग्भी राजन्यस्य; का० सं० ब्रा०, १९.४—गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य; तु०, मै० सं० ब्रा०, ३.१.५; क० सं० ब्रा०, ३०.२। यह विधि श्रौतसूत्रों में भी है।

४. बौ० श्रो०, १०.४।

५. तदेव, २२.१—पिण्डानां हरणं सूत्रं शालीकेः, १०.२—पिण्डं पिण्डं वैवर्चा हरति, अपि वाष्टाभिरैकमेव पिण्डं हरति।

६. बौ० श्रौ०, तदेव—आह बौधायनः सर्वाभिः सर्वामिश्चतुर्हरेत्।

७. तदेव—गायत्रीभिर्हरेत् त्रिष्टुग्भिः सादयेदिति औपमन्यवः।

८. मा० श्रौ—६.१.१.२७।

९. वा० सं०, ११.४३-४७; तै० सं०, का० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.१.५; का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; श० ब्रा०, ६.४.४.१-१५; का० श्रौ०, १६.३.९-१२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.३.९-१२; स० श्रौ०, ११.१.३७-४०; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.३४-३७; वा० श्रौ०, २.१.१.२८-२९।

१०. श० ब्रा०, ६.४.४.१२—तेषामजः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाश्वः; का० श्रौ०, १६.३.११।

अग्निधारक अध्वर्यु शोभायात्रा के गतिमान् होने के पूर्व पुनः पूर्ववत् पशुओं को अभिमन्त्रित[1] करता है। अध्वर्यु मिट्टी की गठरी को पशुओं के ऊपर धारण किये रहता है। ध्यातव्य है कि मिट्टी की गठरी का स्पर्श किसी पशु से होना[2] निषिद्ध है। सर्वप्रथम मिट्टी की गठरी को अश्व के ऊपर तदनन्तर गर्दभ के ऊपर और अन्त में अज के ऊपर रखने का विधान[3] है। देवयजन पर्यन्त पहुँचने तक मिट्टी की गठरी अज के ऊपर ही रहती है[4]। मार्ग में पुनः अनद्धा पुरुष का निरीक्षण कर मंत्र-पाठ करने का विधान है।[5]

कृष्ण यजुर्वेदीय प्रस्थान में पूर्ववत् शोभायात्रा प्रत्यावर्तित होती है। इस बार भी अश्व आगे-आगे चलता है और गदर्भ उसके पीछे।[6] मिट्टी की गठरी को गर्दभ पर रखकर ही देवयजन तक पहुँचने की[7] विधि है। रासभ पर मिट्टी की गठरी को लादकर उसका उपस्थान किया[8] जाता है। दोनों पशुओं का अभिमन्त्रण पूर्ववत् होता है। मन्त्रों के द्वारा द्यावापृथिवी का समीक्षण[9] करने के पश्चात् मार्गस्थ

---

[1] श० ब्रा०, ६.४.४.१२—हस्त एव भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते; का० श्रौ०, १६.३.८—अश्वप्रभृतीनभिमन्त्रयते।

[2] तदैव, ६.४.४.६—एनमेतेषां पशुनामुपरिष्टात् प्रगृह्णाति, नोपस्पृशति; का० श्रौ०, १६.३.९।

[3] तदैव, ६.४.४.७-११—तमश्वस्योपरिष्टात् प्रगृह्णाति, रासभस्य, अथाजन्स्य, त्रिभिः संभरति; का० श्रौ०, १६.३.८-१०।

[4] तदैव, ६.४.४.१५—तमजस्योपरिष्टात् प्रगृह्णैति; का० श्रौ०, १६.२.१०।

[5] तदैव, ६ ४.४.१४—अनद्धापुरुपमीक्षते; का० श्रौ०, १६.३.१२।

[6] बौ० श्रौ०, तदैव—अश्वं पूर्व नयन्ति; आप० श्रौ०, १६.३.१२; स० श्रौ०, ११.१.३९; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.१.३६।

[7] तै० सं० ब्रा०, ५.१.५.५—गर्दभेन संभरति; का० सं० ब्रा०, १९.५, मै० सं० ब्रा०, ३.१.६—गर्दभ आदधाति; क० सं० ब्रा०, ३०.३; बौ० श्रौ०, तदेव—एवं गर्दभ आसादयति; आप० श्रौ०, १६.३.१०; स० श्रौ०, ११.१.३७; वै० श्रौ०, तदैव; मा० श्रौ०, ६.१.१.३४; वा० श्रौ०, २.१.२८।

[8] तै० सं० ब्रा०, ५.१.५.६—"शिवा भव प्रजाभ्यः" इत्याह प्रजाभ्य एवैनं शमयति, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०—तदेवः बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.३.११; स० श्रौ०, ११.३.३८।

[9] तै० सं० ब्रा०, तदेव— "मा द्यावापृथिवी....." इत्याहैभ्य एवैनं लोकेभ्य शमयति; का० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०—तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव। ध्यातव्य है कि मै० सं० ब्रा०, आप० श्रौ०, स० श्रौ०, मा० श्रौ० तथा वा० श्रौ० में यह विधि अचर्चित है।

वैश्य से पुनः पूर्ववत् संवाद होता है।[१] अभिमंत्रण एवम् द्यावापृथिवी के समीक्षण में कुछ मतभेद है। उपरितन वर्णित विधान शालीकि को अभिमत है।[२] परन्तु वौधायन[३] के अनुसार अश्व का अनुमन्त्रण नहीं करना चाहिए, अपितु मन्त्र का विनियोग केवल गर्दभ-अभिमन्त्रण में ही करना चाहिए। बौधायन[४] के अनुसार द्यावापृथिवी का समीक्षण छह बार करना उचित है। शालीकि[५] के मत में तीन बार ही समीक्षण करना युक्तिसंगत है। औपमन्वय[६] का कथन है कि द्यावापृथिवीसमीक्षण में विनियुक्त मन्त्र के द्वारा प्राची दिक्-सन्धि का ही समीक्षण विहित है। आपस्तम्ब और सत्याषाढ में वैश्य-संवाद का अनुल्लेख है। इनके मत में द्वेषी का ध्यान कर मन्त्र[७] पढ़ना चाहिए।

ध्यातव्य है कि भूमि के अग्निकोण में ही मिट्टी को उतारना चाहिए।[८] इस परिवृत का द्वार पूर्व दिशा में होता है, ऐसा कात्यायन का कथन है।[९] देवयजन में आहवनीय के उत्तर में एक परिवृत (घिरा हुआ स्थान अथवा घर) में भूमि को उद्धत, जल-अभ्युक्षित एवम् सिकताकीर्ण बना दिया जाता है। मिट्टी की गठरी को उतार कर तथा खोलकर इसी भूमि पर रखने का विधान है।[१०] इसके पश्चात् अज के रोओं को काट लिया जाता है।[११] सभी पशुओं को ईशान दिशा में ले जाकर मुक्त करने का निर्देश है।[१२]

कृष्णयजुर्वेद संहिता-ब्राह्मणों से यह स्पष्ट नहीं होता है कि मिट्टी को किस स्थान पर रखा जायेगा। भू-संस्कार का भी इनमें विशदतया उल्लेख नहीं है। परन्तु सूक्ष्म

---

१. बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

२. बा० श्रौ०, २२.१—अश्वस्यायमन इति सूत्रं शालीकेः।

३. तदैव—आह बौधायनस्तूष्णोमत्यायच्छेत् सर्व एव गर्दभमन्त्रः स्यात्।

४. तदैव—उमे षट्कृत्वः समीक्षेतेति बौधायनः।

५. तदेव—त्रिरेवैति शालीकिः।

६. तदैव—प्राच्यां दिशि सन्धिमीक्षमाण एतं मन्त्रं जपेदिति, औपमन्यवः।

७. आप० श्रौ०, १६.३.१३; स० श्रौ०, ११.१.४०।

८. श० ब्रा०, ६.४.४.१८-१९—दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति, उद्धतमवोक्षितं भवति, सिकता उपकीर्णा भवन्ति, परिश्रितं भवति; का० श्रौ०, १६.१.१३।

९. का० श्रौ०, तदैव—उत्तर आहवनीयस्योद्धतावेक्षिते सिकतोपकीर्ण प्राग्द्वारे। एग्लिग्, सं० बु० इ०, भाग ४१, पृ० २२८, पा० टि० २; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, पृ० ९४।

१०. घा० सं०, ११.४७-४८; श० ब्रा०, ६.४.४.१८, २०—द्वाभ्यामुपावहरति, एनं विष्यति, का० श्रौ०; तदैव, २.१४।

११. श० ब्रा०, ६.४.४.२२—अजलोमान्याच्छिद्य, का० श्रौ०, तदेव, अजलोमान्यादाय।

१२. श० ब्रा०, तदेव—उदीचः प्राचः पशून् प्रसृजति; का० श्रौ०, तदेव।

विचार करने से यह ज्ञात है कि मिट्टी को किसी खर में ही उतारने का नियम था[१]। श्रौतसूत्रों में स्थान और स्थान की सञ्ज्ञा का वर्णन है। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार मिट्टी को उतार तथा खोलकर रखना[२] उचित है। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और वैखानस के मत में यज्ञीय विहार के उत्तर में एक घिरा हुआ स्थान बनाकर उसमें मिट्टी रखनी चाहिए। भूमि में पुष्प, फल और ओषधियाँ बिखेरने का[३] निर्देश है। मानवश्रौतसूत्र[४] में खर का स्थान आहवनीय के दक्षिण में बताया गया है। मानवश्रौतसूत्र मिट्टी को रखने के स्थानपर कुश के आस्तरण को उचित मानता[५] है। वाराहश्रौतसूत्र भी इसी पक्ष[६] में है। ध्यातव्य है कि मिट्टी को रखने में विनियोज्य मन्त्र[७] में ओषधियों, पुष्पों एवं फलों का उल्लेख होना ही इस विधि का मूल उत्स है। बौधायन का कथन है कि पशुओं की रस्सियों को खोलकर जल में फेंक देना उचित है[८]। शालीकि के अनुसार रस्सियों को जल से भिगोकर खोल लेना चाहिए। अब घोड़े एवं गदहे को मुक्त कर दिया[९] जाता है। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार इन्हें अध्वर्यु को दे देना चाहिए[१०]।

ईंटों के निर्माण के लिए मिट्टी को तैयार करने की विधि—

ईंटों को सुदृढ़ बनाने के लिये मिट्टी में जल के अतिरिक्त अन्य कई वस्तुओं का सम्मिश्रण किया जाता है। शतपथब्राह्मण[११]के अनुसार जल में पलाश के पत्तों को डालकर मसला जाता है। पत्तों को मींजने से जल फेनिल हो उठता है। एतदनन्तर मिट्टी में अज-लोम, कंकड़, पत्थर और लोहे का चूर्ण भी मिलाने का निर्देश[१२]है। इन

---

[१] तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव।

[२] बौ० श्रौ०, तदेव।

[३] आप० श्रौ०, १६.३.१४; स० श्रौ०, ११.१.४१; वै० श्रौ०, तदेव।

[४] मा० श्रौ०, ६.१.१.३९।

[५] तदेव, ६.१.१.४०।

[६] वा० श्रौ०, २.१.१.३१।

[७] तै० सं०, ४.१.४– ओष॑धय॒ः प्रति॑मोदध्वीमेनं॒ पुष्पा॑वतीः सुपिप्प॒लाः; का० सं०, १६.४; मै० सं०—२.७.५; वा० सं०, ११.४८—ओष॑धय॒ः प्रति॑गृभ्णीत॒ पुष्प॑वतीः सुपिप्प॒लाः।

[८] बौ० श्रौ०, २२.१--अपो रशने अभ्यवहरन्ति पूर्वः कल्पः बौधायनस्य; तु० तदेव, १०.४।

[९] तदेव--अपि वा अद्भिरभ्युक्ष्य मुञ्चते; तु०, तदेव, उत्तरः शालीकेः।

[१०] मा० श्रौ०, ६.१.१.४१—अश्वगर्दभावध्वर्यवे ददाति। वा० सं०, ११.५०-५२।

[११] श० ब्रा०, ६.५.१.१-३--पर्णकषायनिष्पक्वा आपः, फेनं जनयित्वान्वदधाति; का० श्रौ०, १६.३.१५-१६।

[१२] वा० सं०, ११.५३-५४; श० ब्रा०, ६.५.१.४,६—अजलोमैः संसृजति, त्रयं पिष्टं भवति शर्कराश्मारसस्तेन संसृजति; का० श्रौ०, १६.३.१७-१८।

सभी वस्तुओं का मिश्रण कर मिट्टी को खूब गूँथा जाता है[१]।

कृष्णयजुर्वेद शाखा में नौ पदार्थों को मृत्तिका में डालने का निर्देश उपलब्ध होता है। यहाँ शुक्ल याजुष प्रस्थान के समान जल में विशेषता उत्पन्न करने के लिये कोई साक्ष्य नहीं मिलता। मिट्टी को सामान्य जल से ही सानने की विधि[२] है। तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण[३] में अर्मकपाल[४] (पुराने ठीकरे), कंकड़, अजरोम और कृष्णाजिन-लोम को मिट्टी में मिश्रण हेतु उचित माना गया है। काठकसंहिताब्राह्मण में भी इनका उल्लेख है; परन्तु यहाँ कृष्णाजिन-लोम का वर्णन नहीं मिलता। मैत्रायणीयसंहिताब्राह्मण[५] में जल के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को मिट्टी में मिलाने का उल्लेख नहीं है। कठ-कपिष्ठल-संहिता-ब्राह्मण[६] में केवल अर्मकपाल, शर्करा और अज-लोम का ही वर्णन है।

बौधायनश्रौतसूत्र[७], तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण में परिगणित संमिश्रणीय वस्तुओं के अतिरिक्त अवाञ्जनपिष्ट (कोयले का चूरा) को भी मिट्टी में मिलाने का विधान करता है। आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी उपरितन वर्णित पदार्थों के साथ-साथ वेणु-अंगार (बाँस के अंगारे) व्रीहितुष (धान की भूसी) एवं शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान का अनुकरण करते हुए पलाश-कषाय जल का भी मिट्टी में मिलाने का विधान करते हैं[८]। संभवतः अवाञ्जनपिष्ट तथा वेणु-अंगार एक ही वस्तु है। यहाँ केवल सामान्य का विशेषीकरण है। वैखानस[९] में आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ का पूर्णतया अनुकरण मिलता

---

१. वा० सं०, ११.५५-५७; श० ब्रा०, ६.५.१.९,-१२--प्रयौति--संसृष्टां वसुभिः—त्रिभिः प्रयौति; का० श्रौ०, १६.३.१९।

२. तै० सं०, ४.१.४; का०सं०, मै० सं०, तदेव। तै० सं० ब्रा०, ५.१.६.१--अप उपसृजति, तिसृभिः; का०सं०ब्रा०, मै०सं०ब्रा०, क०सं०ब्रा०, तदेव; बौ०श्रौ०, १०.५; आप०श्रौ०, १६.४.१; स० श्रौ०, ११.१.४३. वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.२.२; वा० श्रौ०, २.१.१.३३।

३. तै० सं० ब्रा०, ५.१.६.२--अर्मकपालैः संसृजति, शर्कराभिः, कृष्णाजिनस्य लोमभिः।

४. सायण, तै० सं०, भाग ४, पृ० ७१ (१८८१, कलकत्ता)—चिरकालशून्यग्रामे भूमावस्थितानि पुरातनानि, अर्मकपालानि, तेषां प्राणिभिः अनुपजीवनीयत्वात् तान्येव भगेन योजितानि भवन्ति, न तु गृहोपकरणानि भाण्डानि।

५. मै० सं० ब्रा०, तदेव।

६. का० सं० ब्रा०, ३०.३।

७. बौ० श्रौ०, १०.५—एनमर्मकपालैः शर्कराभिरवाञ्जनपिष्टाभिरजलोमैः कृष्णाजिनलोमैरिति संसृजति।

८. आप० श्रौ०, १६.४.१—अर्मकपालैः पिष्टैर्वेण्वांगारैर्व्रीहितुषैः पलाशकषायेण शर्कराभिः पिष्टाभिः कृष्णाजिनलोमभिरजलोमभिः। स० श्रौ०, ११.१.४४।

९. वै० श्रौ० तदेव।

है। मानवश्रौतसूत्र[1] आपस्तम्ब आदि द्वारा स्वीकृत पदार्थों को मान्यता देता है। साथ ही साथ यह श्रौतसूत्र मिट्टी में बालू मिलाने का भी निर्देश देता है। वाराह[2] पलाश-कषाय जल के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को मिश्रण योग्य समझता है। ध्यातव्य है कि वैखानस तथा हिरण्यकेशी ईंटों में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए किसी पदार्थ का मिट्टी में मिश्रित करना उचित[3] मानते हैं।

अषाढा का निर्माण—

इस प्रकार जब मिट्टी को भली-भाँति सान लिया जाता है, तब ईंटों का निर्माण प्रारम्भ होता है। शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान में सर्वप्रथम अषाढा नामक ईंट की रचना की जाती है[4]। इसको बनाने का अधिकार यजमान की महिषी (ज्येष्ठ पत्नी) को दिया गया है[5]। इसकी लम्बाई एवं चौड़ाई बारह अंगुल होती है[6]। इस ईंट के ऊपर त्रिपुण्ड्र अथवा अर्द्धचन्द्राकार तीन[7] रेखाएँ खींची जाती हैं। यह आषाढ़ा, 'पद्या' ईंट है।

कृष्णयजुर्वेदीय-संहिताब्राह्मणों में अषाढा के निर्माण के सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं मिलता। चिति में उपधान के समय इसके स्वरूप का संकेत प्राप्त होता है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभी ब्राह्मणों[8] का मत है कि उखा-निर्माण से अवशिष्ट मिट्टी से अषाढा की रचना करनी चाहिए। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण तथा काठकसंहिता-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि इस ईंट पर तीन रेखाएँ[9] बनायी जाती हैं। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण तथा मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण के अनुसार ये रेखाएँ 'देवलक्ष्म' हैं।[10] निर्माण के विषय में बौधायनश्रौतसूत्र भी मौन है। आधान के

---

[1] मा० श्रौ०, ६.१.२.३—……सिकताभिश्च।

[2] वा० श्रौ०, २.१.१.३४।

[3] स० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०, तदेव।

[4] श० ब्रा०, ६.५.३.१—तस्य एतस्या अषाढां पूर्वा करोति; का० श्रौ० १६.३.२०।

[5] तदेव—महिषी करोति, यैव प्रथमा वित्ता सा महिषी; का०श्रौ०, तदेव—अषाढां महिषी करोति, प्रथमसंवित्ता तदाख्या।

[6] तदेव, ६.५.३.२—पादमात्री भवति; का० श्रौ०, १६.३.२१—यजमानपादमात्रीम्।

[7] श० ब्रा०—त्र्यालिखिता; का० श्रौ०, तदेव—त्र्यालिखिताम्। सायण, श० ब्रा०, तदेव—अर्द्धचन्द्राकाराभिः, तिसृभिः रेखाभिर्युक्ता भवेतां तै० सं०, ४.२.९—त्रिपुण्डवद् रेखात्रयं सेयं त्र्यालिखिति कुतत् त्र्यालिखितत्वं दैवानां चिह्नम्।

[8] का० सं० ब्रा०, २०.६—यस्या मृद उखां करोति, तस्या एतां कुर्यात्, तु, मै० सं० ब्रा०, ३.२.७, क० सं० ब्रा०, ३१.८।

[9] तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.३—त्र्यालिखिता; का० सं० ब्रा०, तदेव—एतां त्र्यालिखिताम-पश्यन्।

[10] तै० सं० ब्रा०, तदेव—देवलक्ष्मम्, मै० सं० ब्रा०, तदेव देवलक्ष्मं वा एषा।

संदर्भ में बौधायन ने भी इसे 'त्र्यालिखिता' एवं 'उत्तरलक्ष्मा' विशेषण[1] दिया है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों के अनुसार अषाढा की रचना यजमान-पत्नी ही करती है[2]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र का कथन है कि यदि यजमान की अनेक पत्नियाँ हों तो अषाढा की रचना ज्येष्ठ पत्नी करेगी और यदि यजमान एकपत्नीव्रत है, तो अषाढा का निर्माण अध्वर्यु करेगा[3]। ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में उखा-निर्माण के पश्चात् अषाढा की रचना का विधान है।

उखा-निर्माण—

उखा तथा अन्य ईंटों की रचना यजमान करता है। सर्वप्रथम उखा के 'निधि-भाग' (अधस्तल) की संरचना की जाती है। आवश्यकता के अनुमार मिट्टी का एक लोंदा लेकर भूमि पर उसे रखने का विधान है[4]। अब उसे पाथकर परिमाण के अनुसार चौड़ा कर लिया जाता है[5]। इस निधि की लम्बाई-चौड़ाई एक प्रादेश होती है[6]। एतदनन्तर निधि के चारों किनारों को थोड़ा-थोड़ा ऊपर की ओर उठा दिया जाता है[7]। अब इस निधि के उठे हुए भाग पर मिट्टी का दूसरा लोंदा उठाकर

---

१. बौ० श्रौ०, १०.३२—अषाढा त्र्यालिखिता, उत्तरलक्ष्मा।

२. आप० श्रौ०, १६.४.५; स० श्रौ०, ११ १.४८-४९—महिष्युखां करोति बहुभार्यस्य, अध्वर्युरेकभार्यस्य, तदेव—१.५९—तस्यां एवं मृदोऽषाढामिष्टकां त्र्यालिखितां तूष्णीं चतुरस्रां करोति; द्र० महादेव शास्त्री, प्र० च०, तदेव—यः करोत्युखां स एव करोत्यषाढाम्। वै० श्रौ०, १८।२९.१—चतुर्भिश्छन्दोभिर्महिष्युखां करोति, य उखां करोत्येषां अषाढाम्। मा०श्रौ०, ६.१.२.६,१३—पत्न्युखां करोति, शेषस्य त्र्यालिखितामषाढामिष्टकां करोति।' वा० श्रौ० २.१.१.३५—ध्यातव्य है कि इस सूत्र का पाठ है—'संसृष्टासो पत्नी वा करोति'—यह पाठ भ्रष्ट है। इसे इस सूत्र के सम्पादकद्वय कैलण्ड-रघुवीर भी मानते हैं। पा० टि० १२ में उनका सुझाव है कि यह पाठ संभवतः यह होगा—'संसृष्टामिति पत्न्ये प्रयच्छति। सोखां करोति। मुरा सुझाव है कि सम्भवतः यह पाठ रहा होगा—ससृष्टोखां पत्नी करोति। पाठ कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि यह उखा-निर्माण का सन्दर्भ है, अतएव अर्थ होगा कि यजमान-पत्नी उखा बनाती है।

३. आप०श्रौ०, तदेव; स०श्रौ०, तदेव। इन स्पष्ट प्रमाणों के रहते हुए भी ए० को, पृ० १५२ पर प्रो० जी० आर० शर्मा का यह कथन कि आप० श्रौ० तथा वै० श्रौ० में उखा एवं अषाढा का कर्ता यजमान को बताया गया है, नितान्त भ्रान्तिमूलक है। पा० टि० १ में आप० श्रौ० का सन्दर्भ भी भ्रमपूर्ण है; क्योंकि वहाँ अषाढा की छाया भी नहीं है।

४. श० ब्रा०, ६.५.३.३—यजमानः करोति; का० श्रौ०, १६.३.२२, वा० सं०, ११.५७. श० ब्रा०, ६.५.२.१—मृत्पिण्डमपादत्ते, यावन्तं निधयेऽलं मन्यते; का० श्रौ०, १६.२.२२, द्र०, सायण, श० ब्रा०, भाग–३, पृ० १४३—निधिर्नामोखाया अधस्तलम्।

५. वा० सं०, ११.५८; श० ब्रा०, ६.५.२.३—तं प्रथयति; का० श्रौ०, १६.३.२५।

६. श० ब्रा०, तदेव; तां प्रादेशमात्रीम्'''''''।

७. श० ब्रा०, तदेव—अस्यै सर्वतस्तीरमुन्नयति; का० श्रौ०, १६.३.२६।

निक्षिप्त करने का निर्देश है[१]। इस प्रकार निधि के किनारों पर निक्षिप्त मृत्तिका और किनारों के सन्धिदेश को उद्धि कहा जाता है। यह पूर्व उद्धि है। निधि के किनारों पर आहित इस मृत्तिका को पुनः ऊपर की ओर बढ़ाया जाता है, जिससे वह पात्र का आकार ग्रहण कर सके। अब जितनी ऊँचाई तक उखा को बनाया जा चुका है, वहाँ तक उसे लीपकर चिकना करने का विधान शुक्ल-याजुष-प्रस्थान में उपलब्ध होता है[२]। इसी तरह उत्तर उद्धि की संरचना की जाती है[३]। अब मन्त्र द्वारा उखा को चारों ओर से समतल करने का निर्देश है। परिमाण की दृष्टि से यदि उखा छोटी या बड़ी हो गयी हो तो उसे सुधार लेना चाहिए[४]। उखा की मेखला को बनाने के लिये मिट्टी की एक पट्टी या बत्ती का बनाना आवश्यक है। यह मिट्टी की पट्टी उखा के ऊर्ध्व भाग से चार अंगुल नीचे चारों ओर पड़ी रेखा के समान चिपका दी जाती है[५]। उखा के अधोभाग से ऊपर की ओर मेखला-पर्यन्त मिट्टी की चार पट्टियाँ लगाने

---

१. वा० सं०, ११.५८; श० ब्रा०, ६.५.२.४—अथ पूर्वमुद्धिमादधाति; का० श्रौ०, तदेव—प्रथमं धातुमादधाति।

२. श० ब्रा०, तदेव—तां संलिप्य संश्लक्षण्य; का० श्रौ०, १६.३.२७—संलिप्य श्लक्ष्णां कृत्वा।

३. वा० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६.५.२.५—अथोत्तरमुद्धिमादधाति; का० श्रौ०, तदेव।

४. तदेव; श० ब्रा०, ६.५.२.६-७,९—अथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोति, तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्च करोति, सा यदि वर्षीयसी प्रादेशात् स्यात्, एतेन यजुषा ह्रसीयसीं कुर्याद् यदि ह्रसीयस्येतेन वर्षीयसीयम्; का० श्रौ०, १६.३.२८।

५. वा० सं०, ११.५९; श० ब्रा०, ६.५.२.११-१२, १७—अथ तिरश्चीं रास्नां पर्यस्यति, तामुत्तरं वितृतीयं पर्यस्यति, रास्ना सा वितृतीये भवति; का० श्रौ० वितृतीय उत्तरे वर्ति सर्वतः करोति। सायण, श० ब्रा०, भाग-३, पृ० १४९-उखां त्रिधा विभज्य तृतीयभागादप्यदूरे प्रदेशे उखाकण्ठप्रदेशे वर्ति सर्वतः कुर्यात्।

ध्यातव्य है कि ए० कौ०, पृ० १४९ पर प्रो० जी० आर० शर्मा का कथन है कि श० ब्रा०, ६.५.२.१३ में इस मेखला को वरुण के रज्जु अथवा पाश के समान कहा गया है। श० ब्रा० का कथन है—'वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यामेवेनामेतद् रास्नां कृत्वा पर्यस्यति'—इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा—'निश्चय ही यज्ञ में रज्जु वरुण से सम्बन्धित होती है। वह इस मेखला को वरुण से असम्बन्धित बना कर (उखा के) चारों ओर परिक्षिप्त करता है।' इस प्रकार स्पष्ट है कि इस मेखला से वरुण के रज्जु की समानता नहीं बतायी गयी है। इस कर्म में विनियुक्त मन्त्र में इस मेखला को 'अदित्यै रास्ना' अदिति की मेखला कहा गया है (वा० सं० तदेव)। इसी प्रकार मृदाहरण के प्रसंग में जब पुष्करपर्ण-कृष्णाजिन पर मिट्टी को रखकर उसे मूंज की तिफरी रस्सी से बाँधा जाता है, तब श० ब्रा०, ६.४.३.८ का कथन है—'वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यमेवैनदेतत् कृत्वा यथा वासः परिधापयेदेवं परिधापयति'। लगता है इस कथन पर प्रोफेसर शर्मा की दृष्टि नहीं पड़ी, अन्यथा वे यहाँ भी इसी प्रकार के अर्थ का अनुसंधान करते। इस प्रकार के कथनों से ब्राह्मण-साहित्य भरा पड़ा है। मंत्र जब अन्य देवताओं से सम्बन्धित होते हैं, तब किसी भी रज्जु या पाश का सम्बन्ध वरुण से नहीं

की विधि है[1]। ध्यातव्य है कि ये पट्टियाँ उखा के चारों ओर समानान्तर स्थिति में रहेंगी। इन चारों पट्टियों के ऊर्ध्वभाग में चार स्तन भी बनाने का विधान है[2]। वस्तुतः स्तन की रचना मिट्टी की ऊर्ध्वमुखी पट्टी एवं मेखला के सन्धि-प्रदेश में की जायेगी। अब उखा के मुख-भाग को ठीक कर उसे दोनों हाथों से पकड़ कर रख[3] दिया जाता है।

कृष्णयजुर्वेद के संहिता-ब्राह्मणों में उखा-निर्माण की प्रक्रिया स्पष्टरूप से उल्लिखित नहीं है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुसार मिट्टी को अच्छी तरह गूँथ लेने के पश्चात् उसकी पिण्डी बना ली जाती है[4]। इसके बाद पिण्डी के एक भाग को अनुमन्त्रित कर उसे उखा के रचनाकार को दिया जाता है और उससे वह उखा के निचले हिस्से को बनाता है[5]। इसी प्रकार इस क्रिया को दो बार पुनः दुहराया जाता

होता। यह सर्वमान्य तथ्य है कि वरुण का अर्थ आवरक, बाँधने वाला है और सभी बन्धन वारुण होते हैं। अतएव वैदिक-व्याख्याता अर्थ का अनर्थ न करने लगें, इस दृष्टि से जहाँ रज्जु या पाश के संदर्भ आते हैं और उनका देवता वरुण से भिन्न होता है, वहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। अतएव प्रो० शर्मा की स्थापना भ्रान्तिमूलक है और जिस प्रसंग में उसका उल्लेख है, उसके परिप्रेक्ष्य में निरर्थक भी है।

[1] श० ब्रा०, ६.५.२.१४—अथ चतस्र ऊर्ध्वाः करोति; का० श्रौ०, १६.३.३०—ऊर्ध्वास्तूष्णीं, प्रतिदिशं चतस्रोऽपरावर्ति प्रासाः। सायण, श० ब्रा०, भाग ३, पृ० १४९—कण्ठगतवर्तिपर्यन्तं प्रतिदिशः चतस्रः तूष्णीं कार्याः।'

[2] श० ब्रा०, ६.५.२.१६—तासामग्रेषु स्तनानुन्नयति; का० श्रौ०, १६.४.१. ध्यातव्य है कि ए० कौ०; पृ० १५०, पर प्रो० जी० आर० शर्मा की स्थापना है कि श० ब्रा०, ६.५.२. १८-१९ (पा० टि० २) में उखा 'स्तना' कही गयी है। परन्तु ऐसा कथन उक्त संदर्भ में कहीं दृष्टिगत नहीं होता। उपरितन संदर्भित दोनों कण्डिकाओं में स्तन से संबधित शब्द है—स्तनान् (दो बार), चतुस्तना (दो बार) (श० ब्रा० ६.५.२.१८) एवम् (श०ब्रा० ६.५.२.१९) द्विस्तना, अष्टस्तना, कनीयस्तन शब्द आये हैं। यह जानना दुष्कर है कि उपरिवर्णित शब्दों में किसका अर्थ स्तना है ? निश्चय ही प्रो० शर्मा की इस स्थापना के मूल में भी भ्रान्ति विराजमान है।

[3] वा० सं० ११.५९; श० ब्रा०, ६.५.२.२०-२१—अथास्यै बिलमभिपद्यते, तां परिगृह्य दिदधाति; का० श्रौ०, १६.४.३-४।

[4] तै० सं०; ४.१.५; का० सं०, १६.५; मै० सं०, २.७.५; तै० सं० ब्रा०, ५ १.६.३--मखस्य शिरोऽसीत्याह, यज्ञो वै मखस्तस्यैतच्छिरो यदुखा तस्मादेवमाह; द्र०, का० सं० ब्रा०, १९.६; मै० सं० ब्रा०, ३.१.७; क० सं० ब्रा०, ३.४; बौ० श्रौ० १०.५—पिण्डं करोति 'मखस्य शिरोऽसि' इति। द्र०—आप० श्रौ०, १६.४.४; स० श्रौ०, ११.१.४५, वै० श्रौ०, तदेव०; मा० श्रौ०, ६.१.२.५; वा० श्रौ०, २.१.१.३६।

[5] तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.१.६.४—प्रान्याभिर्यच्छत्यन्वन्यैर्मन्त्रयते; का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव—तृतीयं

है[१]। अन्त में मन्त्र द्वारा उखा को अच्छी तरह बनाने का निर्देश है[२]। मन्त्रपूर्वक उखा के मुख का निर्माण कर, मन्त्र द्वारा उसे रख दिया जाता[३]। यत्र-तत्र साधारण भेदों को यदि छोड़ दिया जाये तो प्रायः कृष्णयजुर्वेद के सभी ग्रन्थों में तैत्तिरीय का अनुकार उपलब्ध होता है।

कृष्णयजुर्वेदीय-ब्राह्मणग्रन्थों से उखा के आकार का परिज्ञान नहीं हो पाता। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण[४] के अनुसार उखा त्र्युद्धि, अश्रियों (कोनों) से युक्त एवं मेखलामती होती है। इसमें स्तन भी बनाये जाते हैं। तैत्तिरीयक प्रस्थान द्विस्तना, चतुःस्तना अथवा अष्टस्तना उखा का उल्लेख करता है। काठक-संहिता-ब्राह्मण[५] में तैत्तिरीय में वर्णित उखा के अतिरिक्त 'पञ्चोद्धि' उखा को भी मान्यता दी गयी है। यहाँ षट्स्तना उखा का भी उल्लेख है। मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण[६] त्र्युद्धि उखा का ही समर्थन करता है। स्तना उखा के सम्बन्ध में यह ब्राह्मण तैत्तिरीय का अनुसरण करता है। कठ-कपिष्ठल-संहिता-ब्राह्मण[७] तैत्तिरीय का अनुगमन करता हुआ षट्स्तना उखा को स्वीकार काठक-प्रस्थान का भी समर्थन करता है।

बौधायनश्रौतसूत्र[८] त्र्युद्धि और अष्टस्तना उखा को ही मान्यता देता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र[९] उद्धिमती उखा के विषय में तैत्तिरीय एवं काठक दोनों शाखाओं

मृदोऽपच्छिद्य त्रीन् पिण्डान् करोति, तेषामेकमुखाकृते प्रयच्छति, अनुमन्त्रयते; द्र०, आप० श्रौ०, १६.४.३, ६; स० श्रौ०, ११.१.४७,५०; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.२.८; वा० श्रौ०, तदेव।

[१] तै० सं०, का० सं०, मै० सं० तदेव, तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव। बौ० श्रौ०, तदेव—अतिशिष्टायै मृदाऽर्थं प्रयच्छति, अनुमन्त्रयते; आप० श्रौ०, स० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[२] तदेव।

[३] तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.१.६.४—यजुषा बिलं करोति, कृत्वाय स महीमुखामिति निदधाति; का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा० तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव—अस्यै बिलं गृह्णाति; आप० श्रौ०, १६.५.३; स० श्रौ०, ११.१.५७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.२.१०; वा० श्रौ०, २.१.१.३८!

[४] तै० सं० ब्रा० तदेव—त्र्युद्धि करोति, द्विस्तनां करोति, चतुःस्तनां करोति, अष्टास्तनां करोति, यहाँ अभिचार में 'नवाश्रि' उखा का विधान होने से सिद्ध होता है कि तै० को अश्रियुक्त उखा अभिमत है।

[५] का० सं० ब्रा०, तदेव—त्र्युद्धि करोति, पञ्चोद्धि करोति, चतुःस्तनाम्, अष्टास्तनाम्, चतुस्स्तनाम्, द्विस्तनाम्।

[६] मै० सं० ब्रा०, तदेव— त्र्युद्धिः कार्या, अष्टस्तना, चतुःस्तना, द्विस्तना कार्या।

[७] क० सं० ब्रा०, तदेव—त्र्युद्धि करोति, चतुस्स्तनाम्, अष्टास्तनाम्, षट्स्तनाम्, द्विस्तनां कुर्यात्।

[८] बौ० श्रौ०, तदेव—त्र्युद्धि करोति, अष्टौ स्तनान् करोति।

[९] आप० श्रौ०, १६.४.७—त्र्युद्धि पञ्चोद्धिमपरिमितोद्धि वा। तदेव, १६.५.२।

के मत को स्वीकारता है। एतदतिरिक्त वह एक डग आगे रख कर अपरिमित उद्धियों से युक्त उखा को भी विहित मानता है। स्तना उखा के विषय में आपस्तम्ब[१], तैत्तिरीय एवं काठक दोनों प्रस्थानों का समर्थन करता है। सत्याषाढश्रौतसूत्र[२] अपरिमित उद्धि के अतिरिक्त आपस्तम्ब-वर्णित सभी बातों को स्वीकारता है। वैखानस[३] त्र्युद्धि उखा का उल्लेख तो करता है, पर स्तनों के होने या न होने के सम्बन्ध में मौन है। मानवश्रौतसूत्र[४] मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण का पूर्णतया अनुसरण करता है। वाराहश्रौतसूत्र[५] में त्र्युद्धि एवं द्विस्तना उखा को समर्थन मिला है।

कृष्णयजुवदीय संहिताब्राह्मणों में अश्रि की रचना एवं संख्या के विषय में उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु ब्राह्मणों में आभिचारिक उखा में नौ अश्रियों की रचना का उल्लेख है,[६] अतएव यह अनुमेय होगा कि उखा अश्रिमती होती है। बौधायनश्रौतसूत्र[७] के अनुसार उखा में दिशाओं के अनुसार आठ अश्रियों की रचना का निर्देश उपलब्ध है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र में चार अश्रियों के निर्माण का विधान है[८]। आपस्तम्ब अष्टाश्रि उखा का भी उल्लेख करता है। ध्यातव्य है कि इन दोनों सूत्रों में स्तनों का अश्रियों एवं रास्ना के सन्धिदेश में बनने का निर्देश[९] है। अतः यह कथ्य समीचींन होगा कि इनके मत में उखा के स्तनों की संख्या के अनुसार ही अश्रि-संख्या होती है। वाराहश्रौतसूत्र[१०] अश्रि का उल्लेख कर उनकी संख्या के विषय में मौन है।

रास्ना के सम्बन्ध में कृष्णयजुर्वेदसंहिता-ब्राह्मणों में मेखला अनुपलब्ध है। बौधायनश्रौतसूत्र[११] के अनुसार उखा के तीन-चार अंगुल नीचे रास्ना बनायी जाती है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र[१२] के मत में ऊर्ध्वभाग के दो अंगुल नीचे मेखला की रचना की

---

१. आप० श्रौ०, १६.५.२।

२. स० श्रौ०, ११.१.५१,५६—त्र्युद्धि पञ्चोद्धि वा करोति, अश्रीणां रास्नायाश्च संधौ द्वौ चतुरः षडष्टौ वा स्तनान् करोति।

३. वै० श्रौ०, तदेव।

४. मा० श्रौ०, ६.१.२.६,११—त्र्युद्धि दिक्षु द्वौ चतुरोऽष्टौ वा स्तनान् करोति।

५. वा० श्रौ०, २.१.१.३६,३८—त्र्युद्धि, स्तनौ।

६. तै० सं० ब्रा०, तदेव, नवाश्रिमभिचरतः कुर्यात्, द्र०, का० सं० ब्रा०, १९.६, क० सं० ब्रा०, ३०.४।

७. बौ० श्रौ०, तदेव—अनुदिशमष्टावश्रीरुन्नयति।

८. आप० श्रौ०, १६.२.९; स० श्रौ०, ११.१.५२—चतस्रोऽश्रीरुन्नयति। आप० श्रौ०, १६.४.१०—अष्टाश्रि वा।

९. आप० श्रौ०, १६.५.२; स० श्रौ०, ११ १.५६।

१०. वा० श्रौ०, २.१.१.३८।

११. बौ० श्रौ०, तदेव—अस्यै त्र्यंगुले चतुरंगुले वा रास्नां पर्यस्यति।

१२. आप० श्रौ०, १६.४.११—द्वयंगुले बिलादधस्तात्।

जाती है। सत्याषाढश्रौतसूत्र[1] उखा के मध्यभाग में भी मेखला का होना उचित मानता है। रास्ना की विधि का अभाव वैखानसश्रौतसूत्र में है। मानवश्रौतसूत्र[2] के अनुसार उखा-मुख के दो अंगुल नीचे रशना बनानी चाहिए। वाराहश्रौतसूत्र[3] में उखा के ऊर्ध्व परिमाण के ऊपरवाले तिहाई भाग में रास्ना की रचना उचित है।

बौधायनश्रौतसूत्र[4] के अनुसार स्तनों की रचना रास्ना एवं अश्रि के सन्धिदेश में करनी चाहिए। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा अन्य श्रौतसूत्र इस विधि को मान्यता[5] देते हैं। उखा के आकार के विषय में बौधायन तथा वैखानस मौन हैं। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार उखा चौकोर अथवा गोली हो सकती है[6]। मानव एवं वाराह के मत में चतुरस्र उखा विहित है। ध्यातव्य है कि बौधायन, आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ के अतिरिक्त अन्य श्रौतसूत्रों में नवाश्रि आभिचारिक उखा का उल्लेख[7] नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि बौधायन के मत में इस उखा की एक अश्रि स्तनरहित होती है।

उखा की लम्बाई-चौड़ाई के सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर विचार करने के पूर्व उखा की उद्धि के विषय में कुछ विवेचन आवश्यक है। उद्धि[8] पद का शाब्दिक अर्थ है उपरि-स्थापित अथवा उपरिसृष्ट। इसी को दृष्टि में रखकर सायण ने उद्धि का अर्थ किया है 'मिट्टी के लोंदे रखने का स्थान'[9]। महादेव शास्त्री के अनुसार ऊपर अवस्थित अवयव[10] विशेष उद्धि है। इसी को स्पष्ट करते हुए सायण[11] का कथन है कि

---

[1] स० श्रौ०, ११.१.५५—मध्यदेश उपबिलं वा रास्नां करोति।

[2] मा० श्रौ०, ६.२.१.९—पत्नी द्व्यंगुलेऽधस्ताद् द्वारस्य....रास्नां करोति।

[3] वा० श्रौ०, २.१.१.३३—उत्तमे तृतीये रास्नां करोति।

[4] बौ० श्रौ०, तदेव—रास्नासंधिषु चाश्रिसंधिषु चाष्टौ स्तनान् करोति।

[5] आप० श्रौ०, १६.५.२; स० श्रौ०, ११.१.५६; वा०श्रौ० २।१।१।३८।

[6] आप० श्रौ०, १६.४.७—चतुरस्रां परिमण्डलां वा; स० श्रौ०, ११.१.५३।

[7] बौ० श्रौ०, तदेव—नवाश्रिमभिचरतः कुर्यात्। अस्तनां नवमीं करोति। आप० श्रौ०, १६.४.११; स० श्रौ०, ११.१.५४।

[8] वाचस्पत्यम्, भाग २, पृ० ११७८–उद् + √धा + कि। अ० सं०, ८.८.२२ में 'देवरथ' के प्रसंग में 'उद्धि' शब्द आया है। ह्विटने ने अनुवाद में इसका अर्थ 'आसन' (बैठने का स्थान) किया है। एगलिङ्ग भी श० ब्रा०, १२.२.२.२ में यही अर्थ स्वीकारते हैं। यह उचित नहीं प्रतीत होता। संभवतः यहाँ रथ के ऊपरी भाग को 'उद्धि' कहा गया है। मोनियर विलियम्स ने सं० इं० डि०, (पृ० १८९) पर अर्थ किया है—'उखा को रखने की मृण्मय आसन्दी'। यह अर्थ उपहासास्पद है।

[9] सायण, श० ब्रा०, भाग ३, पृ० १४५—उद्धि शब्दो मृत्पिण्डप्रदेशवाची।

[10] प्र० च०, स० श्रौ०, आ० ग्र० ५३ (५) पृ० १४—उद्धिरूर्ध्वमवस्थितोऽवयवविशेषः।

[11] सायण, तै० सं० ब्रा०, ५.१.६—यथा भाण्डस्योपरि, अन्यद्भाण्डं तस्याप्युपरि पुनरन्यद् भाण्डमिति कक्षात्रयम्, तथेयमेकैवोखा कक्षात्रया कार्या। महादेव शास्त्री, प्र०च०, स०श्रौ०,

उद्धि के स्वरूप को जानने के लिये एक भाण्ड के ऊपर रखे गये दूसरे भाण्ड और दूसरे भाण्ड पर रखे गये तीसरे भाण्ड से निर्मित भाण्डत्रय से बने हुए आकार का स्मरण करना चाहिए। मृद्-भाण्ड रचना की यह वैदिक प्रक्रिया लोक में आज भी जीवन्त है। अन्न को सुरक्षित रखने के लिये किसान के घर में 'कुठिला', 'डेहरी' अथवा 'पिहान' नामक पात्र कच्ची मिट्टी से बना हुआ होता है। इस कुठिला का निर्माण घर की बड़ी-बूढ़ियाँ करती हैं। ये कुठिले पकाये नहीं जाते, धूप में सुखा लिये जाते हैं। इसका आकार चौकोर अथवा गोला होता है। सर्वप्रथम इसका आधा भाग बनाया जाता है। जहाँ इसका निर्माण होता है, वहीं सूखने के लिये छोड़ दिया जाता है। अब इसे जितनी कक्षाओं का बनाना होता है, गोलाई या चौकोर आकार के उतने गोले बना लिये जाते हैं। मुख सहित ऊपरी भाग का भी इसी प्रकार निर्माण किया जाता है। सूख जाने पर आधेय-स्थान में अधोभाग को स्थापित कर उसके ऊपर सभी गोले क्रमशः रख दिये जाते हैं। इन गोलों पर संधियों पर हलकी-सी गीली मिट्टी लगा दी जाती है। इस भाण्ड की सारी कक्षाओं की अलग-अलग प्रतीति होती है। वस्तुतः इस भाण्ड में जो संधि-देश होता है, उसके ऊपरी भाग को उद्धि कहते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यदि त्र्युद्धि अथवा पञ्चोद्धि उखा का आकार-चिन्तन किया जाये तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि उखीय उद्धियों की अलग-अलग पहचान आवश्यक है। यदि उखा का यह स्वरूप न माना जायेगा, तो विभिन्न उद्धियों से युक्त उखाओं में कोई भेदकता नहीं होगी। बड़ा से बड़ा जानकार भी उखा को देखकर यह नहीं बता पायेगा कि यह उखा त्र्युद्धि अथवा पञ्चोद्धि है। अतएव सायण एक भाण्ड के ऊपर रखे गये अन्य भाण्ड से बने हुए स्वरूप द्वारा उद्धि को बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार पूर्व उद्धि या अन्य किसी उद्धि की पहचान भी नहीं हो पायेगी। कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता कि उद्धियों की पहचान कैसे होगी ? बौधायनश्रौतसूत्र[1] का कथन है कि उखा-निर्माता तीन बार मिट्टी का लोंदा लेता है और तीन बार उखा का लेपन करता है। इस क्रिया से उखा त्र्युद्धि हो जाती है। कृष्णयजुर्वेदीय अन्य ग्रन्थों में भी उद्धि के प्रज्ञान के लिये कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

ध्यातव्य है कि शतपथब्राह्मण[2] में द्विस्तना या अष्टस्तना उखा को निषिद्ध माना गया है। याज्ञवल्क्य के मत में इस प्रकार की उखा कुतिया, भेड़, अथवा घोड़ी को प्रतिरूपायित करती है। चतुःस्तना उखा गाय को रूपायित करती है, अतएव यही विधेय है। कात्यायन[3] ने इस प्रकार की उखा को दूसरे लोगों के मत के रूप में उल्लिखित किया है।

तदेव—यथा भाण्डस्योपर्यन्यद्भाण्डं तस्याप्युपरि। पुनरप्यन्यद्भाण्डमिति कक्ष्यात्रयम्, तथेयमेकैवोखा कक्ष्यात्रययुक्ता वा कार्या।

१. बौ० श्रौ०, तदेव—स यदेव त्रिर्हरति, त्रिरनुलिम्पति, तेन त्र्युद्धिः।

२. श० ब्रा० ६.५.२.१९—तां हैके द्विस्तनां कुर्वन्ति, अथो अष्टस्तनां, अथो ह ते न गां कुर्वते, शुनीं वाविं वा वडवां वा, तस्मात् तथा न कुर्यात्।

३. का० श्रौ०, १६.४.२—द्विस्तनामष्टस्तनामेके।

उखा का परिमाण—

शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार उखा की ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई एक प्रादेश[1] की होती है। इष्टका पशु में यजनीय पशुओं की संख्या की दृष्टि से परिमाण में अन्तर आ जाता है। उपर्युक्त परिमाण इष्टका पशु में एक पशु के यजनीय होने पर रहता है। पाँच पशुओं द्वारा इष्टका-पशु का विधान करने पर उखा की लम्बाई पाँच प्रादेश या एक बाण की लम्बाई के बराबर[2] होती है। प्रत्येक स्थिति में ऊँचाई एक प्रादेश ही रहती है[3]।

कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में उखा का परिमाण भिन्न-भिन्न है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण में परिमाण-विषयक विवरण अनुपलब्ध है। काठकसंहिता-ब्राह्मण तथा मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण में एक प्रादेश, अरत्नि या एक व्याम की उखा का उल्लेख[4] है। कठ-कपिष्ठलसंहिता-ब्राह्मण में एक व्याम की उखा का वर्णन नहीं है, साथ ही साथ यह ब्राह्मण उपरितन दोनों परिमाणों को स्वीकारते हुए मुख के बराबर परिमाणवाली उखा को भी विहित मानता है[5]। निश्चय ही ये सभी परिमाण वैकल्पिक हैं।

बौधायनश्रौतसूत्र[6] उखा की ऊँचाई के सम्बन्ध में शुक्ल-याजुष विधा को स्वीकारता है; परन्तु लम्बाई के सम्बन्ध में वह अपरिमित मान का समर्थन करता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र में उखा की ऊँचाई एक प्रादेश, लम्बाई एक अरत्नि और समन्त परिमाण एक व्याम का बताया गया[7] है। वैखानसश्रौतसूत्र परिमाण के विषय में कुछ नहीं कहता। मानवश्रौतसूत्र[8] मैत्रायणक प्रस्थान का सुविदित परिमाण स्वीकारता है। वैखानस के समान वाराहश्रौतसूत्र भी इस विषय में

---

[1] श० ब्रा० ६.५.२.८—प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वाम्, प्रादेशमात्रीमेव तिरश्चीम्; का० श्रौ०, १६.३.२३।

[2] श० ब्रा० ६.५.२.१०—स यद्येकपशुः स्यादेकप्रादेशां कुर्यात्, यदि पञ्चपशवः स्युः पञ्चप्रादेशां कुर्यात्। पञ्चप्रादेशां ह त्वेव पुरेषुर्भवति। का० श्रौ०, १६.३.२३।

[3] सायण, श० ब्रा० भाग–३, प्र० १४८—एतत् परिमाणद्वयं तिर्यगपेक्षया, ऊर्ध्वपरिमाणं त्वत्रापि एकप्रादेशमात्रीति, ऊर्ध्वं तु एकप्रादेशैव। विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, पृ० ९५—उच्चता तु प्रादेशप्रमाणैव।

[4] का० सं० ब्रा०, वही—अरत्निमात्रीम्, प्रादेशमात्रीं कुर्यात्; मै० सं० ब्रा०, वही–व्याममात्रीकार्या।

[5] क सं ब्रा०, तदेव।

[6] बौ० श्रौ०, तदेव—तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वामपरिमितां तिरश्चीं कुर्यात्।

[7] आप० श्रौ०, १६.४.७–प्रादेशमात्रीमूर्ध्वप्रमाणेनारत्निमात्रीं तिर्यक् प्रमाणेन व्याममात्रीं समन्तपरिमाणेनापरिमिता वा; स० श्रौ०, ११.१.५२।

[8] मा० श्रौ, २.१.१.७–आम्नातं प्रमाणम्।

मौन है। ध्यातव्य है कि आपस्तम्ब में वाजसनेयक मत को पंचपाशुक पक्ष में स्वीकारा गया है[1] ।

उखा की संख्या—

बौधायन कम से कम तीन उखाओं की रचना को उचित मानते हैं[2] । इस विषय में शालीकि भी बौधायन के समर्थक हैं; परन्तु शालीकि, अन्य दो उखाओं के निर्माण में मन्त्रों के प्रयोग का विरोध[3] करते हैं। वैखानस[4] के अतिरिक्त अन्य किसी को बौधायन-शालीकि का मत स्वीकार्य नहीं है। शतपथब्राह्मण[5] में उखा-त्रय के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। उखा-त्रय रचना के मतवाद के समर्थक यह विचार कर तींन उखाओं की रचना करते थे कि एक के टूटने पर दूसरे का प्रयोग किया जायेगा और इससे यज्ञ की गति अवरुद्ध नहीं होगी। उनका यह भी तर्क था कि ये तीनों उखाएँ तीन लोकों का प्रतिरूपण करती हैं; परन्तु याज्ञवल्क्य इसका विरोध करते हैं। उनका कथन है कि जहाँ तक उखा के टूटने पर पर यजन के अवरुद्ध होने का प्रश्न है, वहाँ तो प्रायश्चित का विधान है। प्रायश्चित्ति के अनन्तर यजन गतिशील ही रहेगा। त्रिलोक को प्रतिरूपायित करने वाली ये उखाएँ होंगी, यह तर्क तो अत्यन्त भ्रामक है, कारण एक ही उखा सारे दिक्काल की प्रतिरूप है। अतएव उखा-त्रय की रचना का मतवाद व्यर्थ है। बौधायन-शालीकि के उक्त मत का उल्लेख कात्यायन[6] ने भी किया है।

विश्वज्योति ईंटों की संरचना—

शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में जिस मिट्टी से अषाढ़ा एवं उखा की रचना की गयी है, उसी मिट्टी से तीन विश्वज्योति ईंटों के निर्माण का निर्देश मिलता है[7] । कात्यायन श्रौतसूत्र में भी इसका उल्लेख[8] मिलता है। कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में इन ईंटों की रचना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. आप० श्रौ०, १६.४.८—पञ्चप्रादेशामिषुमात्रीं वा यदि पञ्चपशवो भवन्तीति वाजसनेयकम् ।

२. बौ० श्रौ०, तदेव—एवमेव द्वितीयां करोत्येवं तृतीयां तूष्णीम् ।

३. तदेव, २२.१—एकमेवोखां मन्त्रेण कुर्यात् तूष्णीमितरे इति शालीकिः ।

४. वै० श्रौ०, तदेव—एवं द्वितीयां करोत्येवं तृतीयाम् ।

५. श० ब्रा०, ६.५.३.८२—ता हैके तिस्रः कुर्वन्ति त्रयो वा इमे लोका इति वदन्तोऽथोऽन्योन्यस्यै प्रायश्चित्तये यदितरा भेत्स्यतेऽथेतरस्यां भरिष्यामो यदीतराऽथेतरस्यामिति न तथा कुर्यात् । यो वा एष निधिः प्रथमोऽयं स लोको य पूर्व उद्धिरन्तरिक्षं तद् य उत्तरो द्यौः सा, यदेच्चतुर्थं यजुर्दिशो हैव···· ।

६. का० श्रौ०, १६.४.५—तिस्र एके ।

७. श० ब्रा०, ६.५.३.३—अथ विश्वज्योतिषः करोति । तदेव—५.३.५–एतस्या एव मृदः करोति ।

८. का० श्रौ०, १६.४.६—इष्टकास्तु तिस्रो विश्वज्योतिसः पृथग्लक्षणास्त्र्यालिखिताः ।

ऋषभ तथा मण्डल नामक ईंटों की रचना—

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार उख्य मृत्तिका से ही पाँच ऋषभ और तीन मण्डल नामक ईंटों का निर्माण करना[१] चाहिए। वैखानसश्रौतसूत्र[२] के अतिरिक्त अन्य कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में इन ईंटों की रचना का अनुल्लेख है। ध्यातव्य है कि इन ईंटों का वर्णन शुक्ल याजुष प्रस्थान में कहीं नहीं मिलता तथा उपधान में इनका विधान भी नहीं है।

उपशया—

उखा-रचना के पश्चात् उनके समीप में पड़ी हुई अवशिष्ट मृत्तिका का अभिधान[३] उपशया है। शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार 'उपशया' मिट्टी को प्रायश्चित्त हेतु सुरक्षित रखना चाहिए[४]। यजन के समय उखा टूट जाती है, तो उसकी पुनः संरचना में उपशय की आवश्यकता पड़ती है। कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में यह नहीं मिलती। वहाँ तो उखा टूटने की स्थिति में दो और उखाएँ प्रयोजन हेतु रहती ही हैं।

उखा-धूपन—

उखा जब सूख जाती है, तब उसे धुँआ से धूपित किया जाता है। इस अनुष्ठान में सभी ग्रन्थ एकमत हैं। उखा-धूपन[५] में अश्वशक (घोड़े की लीद) का प्रयोग किया जाता है। शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र में अश्वशकों की संख्या सात बतायी गयी है। उखा-धूपन में विनियोजनीय मन्त्रों[६] द्वारा भी यही कथ्य सिद्ध होता है। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार अश्व-शकों को दक्षिण[७] अग्नि अथवा निर्मन्थ्य में सुलगाना चाहिए। कात्यायन का यह भी मत है कि मन्त्रों के क्रम के अनुसार एक-एक[८] अश्व-शक से उखा को धुंआ दिखाना चाहिए।

---

[१] बौ० श्रौ०, तदेव—पञ्च चर्षमांस्तिस्रश्च मण्डलेष्टकाः।

[२] वै० श्रौ, तदेव—पञ्च ऋषभास्तिस्रो मण्डलेष्टकाः।

[३] श० ब्रा०, ६.५.३.७—उपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः; सायण—तदेव—उपशेत इति 'उपशया' मृदुच्यते; द्र०, तदेव, ६.६.४.८—'उपशयाम उखानिर्माणकाले प्रायश्चित्तार्थमुखासमीपे स्थापिता मृदम्। कर्क, का० श्रौ० (वेबर), ९०३—उखां क्रियमाणामुपशेत इत्युपशया, तां मृदमतिरिच्यमानां निदधाति कार्यार्थम्। विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, पृ० ९७।

[४] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १६.४.७—मृदमुपशयां निदधाति।

[५] श० ब्रा०, ६.५.६.८-११—एनां धूपयति, अश्वशकैः, सप्ताश्वशकानि भवन्ति; का० श्रौ०, १६.४.८।

[६] वा० सं०, ११.६०।

[७] का० श्रौ०, तदेव–दक्षिणाग्न्यादीप्तैः। तदेव, १६.४.१३—निर्मन्थ्येन वा धूपनश्रपणे।

[८] तदेव।

कृष्णयजुर्वेदीय-संहिता-ब्राह्मणों में शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान को उखा-धूपन में मान्यता मिली है। बौधायन के अतिरिक्त सभी कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में अश्वशकों की संख्या सात[१] विहित है। बौधायन के अनुसार अश्वशकों की संख्या इक्कीस होनी चाहिए[२]।

ध्यातव्य है कि सभी कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में उखा-धूपन में विनियोज्य यजुषों की संख्या सात[३] ही है। संभावना यह है कि बौधायन एक-एक यजुष में तीन-तीन अश्वशकों का प्रयोग उचित मानते हैं। बौधायन एवं वैखानस के अतिरिक्त सभी श्रौतसूत्र गार्हपत्य अग्नि से अश्वशकों को सुलगाना उचित[४] समझते हैं। बौधायन तथा वैखानस की दृष्टि में लीद वृषा अश्व की ही[५] होनी चाहिए। शालीकि किसी प्रकार के अश्व की लीद को विहित मानते हैं[६]। ज्ञातव्य है कि इनके अनुसार उखा-धूपन में असीमित मन्त्रों का विनियोग करना[७] उचित है; परन्तु इन अपरिमित मन्त्रों के प्रज्ञान का कोई उपाय नहीं है। बौधायनश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इसी प्रकार अवशिष्ट दो उखाओं का भी धूपन करना[८] चाहिए।

---

१. तै० सं० ब्रा०, ५.१.७.१—सप्तभिर्धूपयति, अश्वशकेन; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, ३.१.७; क० सं० ब्रा०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.५.५; स० श्रौ०, ११.१.६०; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१,२.१४, वा० श्रौ०, २.१.१.४१।

२. बौ० श्रौ०, तदेव—एकविंशतिं वृष्णोऽश्वस्य शकृत्पिण्डान्।

३. तै० सं०, ४.१:६.१; का० सं०, १६.५; मै० सं०, २.७.६।

४. आप० श्रौ०, १६.५.७; स० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

५. बौ० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव। आप० श्रौ०, १६.५.७—कृष्णोऽश्वस्य शकेनेत्येके।

६. बौ० श्रौ०, २२.१—यस्यैकस्य चाश्वस्याददीतेति शालीकिः। ध्यातव्य है कि ए० को० के पृ० १५२ में प्रो० जी० आर० शर्मा का कथन है कि उखा-धूपन में बौ० श्रौ० के अनुसार अश्व की लीद एवं भेंड़ की लेंड़ी का प्रयोग होता है, 'भेड़ की लेड़ी' अर्थ का अवगमन प्रो० शर्मा को कहाँ से हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। पा० टि० ९ में उद्धृत बौधायन के वाक्य में स्थित 'वृष्णः' का अर्थ यदि उन्होंने भेड़ किया है, तो निश्चय ही संस्कृत-भाषा की उत्क्रान्ति है। यहाँ वृषा शब्द अश्व का विशेषण है। बौधायन का अभिप्राय यह है कि ऐसे अश्व की लीद का प्रयोग वांछित है, जो केवल प्रजनन के कार्य में ही प्रयुक्त होता हो, अतएव शालीकि ने 'किसी प्रकार के घोड़े की लीद' कहकर बौधायन के मत को निरस्त किया। यदि वृषा का अर्थ भेंड़ होता तो यह विवाद ही नहीं होता। संस्कृत-साहित्य में वृषा का अर्थ कहीं भी भेंड़ नहीं है। अतएव प्रो० शर्मा का कथन अतिचिन्त्य एवं भ्रान्ति का कारण है।

७. तदेव—अपरिमितैर्मन्त्रैर्धूपयेदिति शालीकिः।

८. बौ० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

उखा आदि का पकाना—

उखा तथा अन्य ईंटों को पकाने के लिये[१] एक गड्ढ़ा बनाया जाता है। यह गड्ढ़ा चौकोर होता है। इस गर्त के उत्खनन में पूर्व वर्णित अभ्रि का प्रयोग होता है। एतदनन्तर अभ्रि व्यर्थ हो जाती है। शतपथब्राह्मण एवं कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार[२] निर्माणक्रम के अनुसार निर्मन्त्रक अषाढा का अवधान युक्तिसंगत है। उखा का अवधान मन्त्रपूर्वक[३] होता है। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार उखा को गड्ढ़े में आधी रखना चाहिए[४]। विश्वज्योति ईंटों को भी पकाने के लिये गर्त में डाला जाता है[५]। उखा आदि को गड्ढ़े में रखने के पूर्व उसमें पर्याप्त इंधन बिछाने का[६] निर्देश है। ऊपर से भी इंधन रखकर गड्ढ़े को पूर्णतया आच्छादित करना[७] चाहिए। उस गड्ढ़े में डाले गये इंधन के चारों ओर मिट्टी छोपकर ऊपरी भाग में बीचो-बीच एक छेद करना चाहिए[८], जिससे आवश्यकतानुसार बीच-बीच में उसमें इंधन डाला जा सके। पकते समय उसकी समन्त्रक देख-रेख करनी चाहिए[९]। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार दक्षिण अथवा निर्मन्थ्य अग्नि से अग्नि लाकर उसे प्रदीप्त करना उचित है[१०]।

शतपथब्राह्मण एवं कात्यायनश्रौतसूत्र का मत है कि उखा आदि को पकाने की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिससे वे दिन भर में ही पक जायें[११]। पक जाने पर सावधानी से राख आदि को हटाकर उखा को उलटकर[१२] सीधा करना उचित है। अब उखा को भली-भाँति उठाकर आधेय स्थल पर रख दिया जाता है। कात्यायन-श्रौतसूत्र[१३] के अनुसार उसे किसी पात्र में प्रतिष्ठित करना चाहिए।

---

१. वा० सं०, ११.६१, श० ब्रा०, ६.५.४.१-३—एनमस्यां खनति, चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति, सा वैणव्यभ्रिरुत्सीदति; का० श्रौ०; १६.४.९—अभ्रया श्वभ्रं चतुरभ्रं खनति।

२. श० ब्रा०, ६.५.४.३—पचनमवधायाषाढामवदधाति तूष्णीम्, का० श्रौ०, १६.४.१०।

३. वा० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ६.५.४.४.—उखामवदधाति।

४. का० श्रौ०, १६.४.११—उखान्युब्जाम्।

५. श० ब्रा०, तदेव—विश्वज्योतिषोऽवदधाति तूष्णीमेव; का० श्रौ०, १६.४.१०।

६. श० ब्रा०, पृ० ६६, पा० टि० ८; का० श्रौ०, तदेव।

७. वा० सं०, तदेव; श० ब्रा०, तदेव—पचनमवधायामीन्धे; का० श्रौ०, १६.४.१२।

८. विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, पृ० ९७—ततो दण्डादिनोखोपरिस्थे श्रपणे छिद्रं कृत्वा……।

९ वा० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६.५.४.५—त्रीणि यजूंषीक्षमाण एव जपति; का० श्रौ०, १६.४.१४।

१०. का० श्रौ०, १६.४.१२-१३—दक्षिणाग्न्यग्निना दीपयति, निर्मन्थ्येन वा धूपनश्रपणम्।

११. श० ब्रा०, ६.५.४.१०—तां दिवैवोपवर्षद् दिवोद्वपेत्; का० श्रौ०; १६.४.१७।

१२. वा० सं०, ११.६३; श० ब्रा०, ६.५.४.११-१४—तां सावित्रेण यजुषोद्वपति, एनां पर्यावर्तयति, एनामुद्यच्छति, तां परिगृह्य निदधाति, एनामेतत् परिददाति गुप्त्यै; का० श्रौ०, १६.४.१८-२२।

१३. का० श्रौ०, १६.४.२२—परिगृह्य पात्रे करोति।

कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में भी प्रायः शुक्लयजुर्वेद-शाखा के समान ही उखा पकाने की प्रक्रिया मिलती है। संहिताओं में उल्लिखित विनियोग-मन्त्रों में स्थित क्रियापदों एवं संहिता-ब्राह्मणों की व्याख्या से यह विधि अत्यन्त[1] स्पष्ट है। श्रौतसूत्रों में यत्र-तत्र कतिपय अन्तर उपलब्ध होते हैं, जो प्रायः नगण्य हैं। बौधायनश्रौतसूत्र[2] के अनुसार शाला के उत्तर में उखा को पकाने के लिये एक बड़े गर्त के उत्खनन का विधान है। वैखानस[3] भी इसका अनुगमन करता है। अन्य श्रौतसूत्र[4] उपरिवर्णित गड्ढे का निर्माण गार्हपत्य अग्नि के समक्ष उचित मानते हैं। बौधायन एवं वैखानस के मत में गड्ढे के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित करने के लिये कुछ स्थान रिक्त रखना चाहिए[5]। बौधायनश्रौतसूत्र[6] के अनुसार यह रिक्त स्थान चार अंगुल होना चाहिए। इन दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार चार मन्त्रों से चतुर्दिक् अग्नि को प्रज्वलित करने का विधान भी प्रस्तुत करते हैं। बौधायन का मत है कि यदि प्रातः से उखा को पकाया जाये, तो सायं तक यह कर्म समाप्त कर लेना चाहिए और यदि उखा का पकाना सायं में प्रारम्भ किया जाये, तो उसका समापन प्रातःकाल में करना[7] चाहिए। बौधायनश्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी श्रौतसूत्रों में उखा को गड्ढे से निकालकर बालुका पर रखना चाहिए[8]। बौधायनश्रौतसूत्र[9] उखा को आशयस्थ करना उचित मानता है। मानवश्रौतसूत्र[10] का मत है कि उखा को पकने के पश्चात् आहवनीय अग्नि के समक्ष खर में रखना युक्तिसंगत है। इस उखा के साथ ही अषाढा, ऋषभ एवं मण्डल ईंटों को भी पकाना चाहिए। ध्यातव्य है कि दोनों अन्य उखाओं को भी पकाने की प्रक्रिया यही है।

---

[1] तै० सं०, ४.१६.२-३—खनतु, अवट, दधतु-उखे, अभीन्धतामुखे, श्रपयन्तूखे, देवस्त्वा सवितोद्वपतु, उत्तिष्ठ बृहती भव, ऊर्ध्वा तिष्ठ ध्रुवा त्वम्; का० सं०, १६.६, मै० सं०, २.७.६; तै० सं० ब्रा०, खनति, एनां दधाति, श्रपयति, पंचति, उद्वपति,""ध्रुवा त्वमित्याह प्रतिष्ठित्या; का० सं० ब्रा०, १९.७; मै० सं० ब्रा०, ३.१.८; क० सं० ब्रा, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.६-७; आप० श्रौ०, १६.५.८-११, ५.३, ६.१.२; सं० श्रौ०, ११.१.६०-६७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.२.१५-२०; वा० श्रौ०, २.१.१.४२-४७।

[2] बौ० श्रौ०, तदेव—उत्तरेण शालामुरुबिलमिवावटं खानयति।

[3] वै० श्रौ०, तदेव।

[4] आप० श्रौ०, १६.५.८—अग्रेण गार्हपत्यमवटं खात्वा; स० श्रौ०, ११.१.६०; बा० श्रौ०, ६.१.२.१५।

[5] बौ० श्रौ० १०.७, वै० श्रौ०, तदेव।

[6] बौ० श्रौ०, तदेव—चतुरङ्गुलमनुदिशमादीपनायातिशिनष्टि।

[7] तदेव, १०. ७—यदि प्रातरुपोषति सायमुपैति, यदि सायं प्रातः।

[8] आप० श्रौ०, १६.५.११; स० श्रौ०, ११.१.६०; वै० श्रौ०, १८.२९.२।

[9] बौ० श्रौ०, १०.६—एनामाशये प्रतिष्ठापयति।

[10] मा० श्रौ०, ६.१.२.२१—अग्रेणाहवनीयं पर्याहृत्य खरे निधाय।

उखा-सेचन—

उभय-प्रस्थानों में उखा को अजा के दूध से नहलाने की विधि मिलती है[१]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार उखा को संदेश द्वारा उठाकर सत (कुम्भ, शराव या मिट्टी का बड़ा पात्र) में स्थापित करने के पश्चात् उसे दूध से नहलाना[२] उचित है। इस सम्बन्ध में सभी ग्रन्थ एकमत हैं। बौधायनश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र में कहा गया है कि उखा को दूध से नहलाने के पश्चात् गो-दुग्ध से भी नहलाना चाहिए[३]। इसी प्रकार अवशिष्ट उखाओं एवं ईटों को भी दूध से नहलाने का विधान है। बौधायनश्रौतसूत्र[४] का कथन है कि उखा में यदि लांछन पैदा हो जाये, अथवा उसमें कहीं दरार पैदा हो जाये, तो पाषाण-चूर्ण को बकरी के दूध में मिलाकर उन स्थानों पर लेप लगाना चाहिए। तदनन्तर जलती हुई लकड़ी से उन स्थानों पर गर्मी पहुँचाने का निर्देश है। बौधायन का मत[५] है कि जब उखा से भाप का निकलना स्थगित हो जाये, तब उसे खारी में रखकर कृष्णाजिन से आच्छादित करना युक्तिसंगत है। अब उखा को सिकहर में रख कर यज्ञशाला में लटकाने का विधान है। यह वहाँ तबतक रहेगी, जबतक पुनः उसकी आवश्यकता न पड़े। ईंटों को भी यथास्थान सुरक्षित कर रखना चाहिए।

दीक्षणीय-इष्टि[६]—

यजमान दीक्षा-ग्रहण के निमित्त जो इष्टि करता है, उसे दीक्षणीय अभिधान[७] मिला। उखा संभरण की अनुवर्तिनी अमावास्या को इस इष्टि को करने का विधान है[८]।

---

१. वा० सं०, ११.६५; तै० सं०, ४.१.६.३; का० सं०, मै० सं० तदेव; श० ब्रा०, ६ ५.४. १६-१७; तै० सं० ब्रा०, ५.१.७.४; का० सं० ब्रा०, तै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १६.४.२३; बौ० श्रौ०, १०.८; आप० श्रौ०, १६.६.१; स० श्रौ०, ११.१.६६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.१.२२; वा० श्रौ०, ११.१.१.४८।

२. बौ० श्रौ०, तदेव, द्र०, वै० श्रौ०, तदेव।

३. बौ० श्रौ०, तदेव—गोपयसाभिविष्यन्दयति; वै० श्रौ०, तदेव।

४. बौ० श्रौ० तदेव—यदि विधुर्वा प्रदरो वा जायतेऽश्मचूर्णानि छागापयसि संप्रकीर्य तैः प्रत्युक्ष्योल्मुकेनाभितपति।

५. तदेव।

६. दीक्षणीय इष्टि के लिये द्र०—श० ब्रा०, ३.१.२-४, २.१-२; तै० सं० ब्रा०, ६.१.१-४; का० सं० ब्रा०, २३.१,७; मै० सं० ब्रा०, ३.६, आदि।

७. वृत्ति, आश्व० श्रौ०, ४.२.१–दीक्षाभ्रप्रयोजना इष्टिर्दीक्षणीया; शबर, जै० सू०, ५.३.२१–दीक्षणीयेति तादर्थ्यकरी समारब्धा भवति; काणे, हि० ध०, भाग–२, खण्ड २—पृ० ११३६ आदि।

८. श० ब्रा०, ६.२.२.२६।

कात्यायनश्रौतसूत्र[1] के अनुसार अमावास्या को दर्श इष्टि करने के पश्चात् यजमान दीक्षित होता है। यद्यपि कृष्णयजुर्वेदीय-परम्परा में दीक्षा के दिन का विवरण नहीं मिलता, तथापि यह कथन अयुक्त नहीं होगा कि सोमीय-दीक्षा के लिये विहित दिन अग्नि की दीक्षा के लिये भी उपयुक्त है। ध्यातव्य है कि सोमीय-दीक्षा के साथ-साथ अग्नि-दीक्षा भी होगी। सोमकर्म तथा अग्निकर्म जहाँ साथ-साथ होंगे, वहाँ सोम-कर्म पहले किया जाता है और अग्निकर्म बाद में[2]।

दीक्षणीय इष्टि की हवि—

शतपथब्राह्मण[3] के अनुसार अग्नि की दीक्षणीय-इष्टि में तीन हवियाँ होती हैं—अग्नि एवं विष्णु देवता के लिये एकादश कपालक पुरोडाश, आदित्य देवताओं के लिये चरु और वैश्वानर देवता के लिये द्वादश कपालक पुरोडाश। आदित्य चरु चावल एवं घृत से तैयार किया जाता है[4]।

कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण[5] के अनुसार चरु आदित्य देवता के स्थान पर अदिति के लिये दिया जाता है। यहाँ आग्ना-वैष्णव पुरोडाश के स्थान पर आग्ना-वैष्णव चरु का विकल्प भी है। परन्तु काठकसंहिता-ब्राह्मण[6] शुक्ल-याजुष् प्रस्थान का ही अनुकरण करता है। मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण में यद्यपि हवियों का उल्लेख नहीं है, तथापि उस शाखा के श्रौतसूत्र[7] में शुक्लयजुर्वेद को ही मान्यता दी गयी है। इस सम्बन्ध में बौधायनश्रौतसूत्र अपनी तैत्तिरीय-शाखा के साथ पूर्ण मतैक्य[8] रखता है। परन्तु आग्ना-वैष्णव चरु का उल्लेख नहीं करता। आपस्तम्बश्रौतसूत्र[9] में प्रकृत दो हवियों के साथ अग्निदीक्षा की हवि द्वादश-कपालक वैश्वानर पुरोडाश की विधि प्रस्तुत की गयी है। सत्याषाढश्रौतसूत्र तीन हवियों में अग्नि एवं विष्णुदेवता के लिये चरु को विहित बताता है। इस श्रौतसूत्र में दो हवियों का भी विधान है—आग्ना-वैष्णव एकादश-कपालक पुरोडाश तथा द्वादश-कपालक वैश्वानर[10] पुरोडाश। वैखानस-

---

[1] का० श्रौ०, १६.४ २७।

[2] श० ब्रा०, ६.६.१.४—अध्वरस्य पूर्वमथाग्नेः। द्र०, तदेव, ६.६.१.१३।

[3] तदेव—६.६.२—आग्नावैष्णव एकादशकपालः, तदध्वरस्य दीक्षणीयम्, वैश्वानरं द्वादश-कपाल आदित्यश्च चरुस्तेऽग्नेः। का० श्रौ०, १६.४.२८-२९, प्रो० जी० आर० शर्मा के अनुसार (ए० कौ० पृ० १५५) दीक्षा में वैश्वानर के लिये पशु पुरोडाश बनाया जाता है। यह निष्कर्ष भ्रान्ति पर आधृत है।

[4] तदेव—६.६.१.१०-११।

[5] तै० सं० ब्रा०, ५.६.१.५-६—चरु, आदित्यो भवित, इयं वा अदितिः....।

[6] का० सं० ब्रा०, १९.९।

[7] मा० श्रौ०, ६.१.३.१८।

[8] बौ० श्रौ०, १०.१२।

[9] आप० श्रौ०, १६.८.११।

[10] स० श्रौ०, ११.३.१।

श्रौतसूत्र[1] हवियों की इस विधि में हिरण्यकेशी का तथा वाराहश्रौतसूत्र[2] काठक-प्रस्थान का अनुगामी है।

औद्ग्रभण होम—

औद्ग्रभण आहुतियाँ बारह होतो हैं[3]। इनमें पाँच आहुतियाँ सोमदीक्षा की होती हैं एवं सात आहुतियाँ अग्नि-दीक्षा[4] की। बारहवीं आहुति पूर्णाहुति होती है। इस विषय में शुक्लयजुर्वेद तथा कृष्णयजुर्वेद में कोई मतभेद नहीं है। बौधायन[5] के अनुसार जिसने पहले सोमयाग नहीं किया है, उसी को सोमदीक्षा की आहुति करनी चाहिए। शालीकि[6] का मत है कि केवल आग्निकी दीक्षा की ही आहुति देनी युक्तिसंगत है। कुछ आचार्य औद्ग्रभण होम उख्य अग्नि में करने का विधान करते हैं; परन्तु याज्ञवल्क्य इसका विरोध करते हैं[7]।

दीक्षा की कालावधि—

दीक्षा यजमान को भावी यज्ञ के लिये उपयुक्त बनाती है। दीक्षित होने के पश्चात् यजमान को कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता है। अतएव यजमान जितने समय तक दीक्षित रहता है, उतने समय तक उसे विहित नियमों का पालन करना पड़ता है। शुक्ल, याजुष[8] प्रस्थान में संवत्सर दीक्षा को उचित माना गया है। वस्तुतः अग्निदीक्षा एवं उखा-भरण दोनों कर्म अन्योन्याश्रित हैं। संवत्सर भर में पूर्ण होने वाला उखा में अग्निसंभरण दीक्षा-काल की अवधि को नियत कर देता है। उखा-संभरण का समय यदि कम कर दिया जाये, तो गर्भ की प्रक्रिया का प्रतिरूपायन ही नहीं होगा और यह कर्म गर्भपात के समान होगा। अतएव शतपथब्राह्मण में वात्स्य[9] का कथन है कि जो यजमान वर्षपर्यन्त उख्य अग्नि का संभरण न करना चाहता हो, उसके अग्नि-चयन में ऋत्विक् कर्म नहीं करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने इस विषय में प्राच्य दैयाम्पति और

---

[1] वै० श्रौ०, १६.२९.६।

[2] वा० श्रौ०, २.१.२.१६। दीक्षणीय हवियों के लिये द्र०—शां० श्रौ०, ९.२४.२-६।

[3] श० ब्रा०, ६.६.१.१२-१४—पञ्चाध्वरस्य सप्ताग्नेः। का० श्रौ०, १६.४.३०।

[4] वाज० सं०, ११.६६-६७, तै० सं०, ४.९.१.१; का० सं०, १६.७; मै० सं०, २.७.७; श० ब्रा०; तदेव; का० सं० ब्रा०, १९-१०; मै० सं० ब्रा०, ३.१.९; का० श्रौ०; तदेव; बौ० श्रौ०; १०.१३; आप० श्रौ०, १६.८.१३; स० श्रौ०, ११.१.२; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.३.१९-२०; वा० श्रौ०, २.१.२.१८-१९।

[5] बौ० श्रौ०, २२.२।

[6] तदेव;

[7] श० ब्रा०, ६.६.१.२२।

[8] तदेव, ६.१.३.२०—तमेतं संवत्सर एव चिनुयात्; द्र०, तदेव, ९.५.१.६२, का० श्रौ०, १६.६.२३।

[9] श० ब्रा०, ९.५.१.६२।

शाण्डिल्यायन के संवाद का उल्लेख किया है। इस संवाद से ज्ञात होता है कि कालान्तर में संवत्सर-दीक्षा और नियम-पालन वैदिक ऋषियों की सन्तानों के लिये दुर्वह हो उठा था और संभवतः इसी कारण छह मास की वैकल्पिक दीक्षा की विधि को भी स्वीकार कर लिया गया था[1]; परन्तु शाण्डिल्यायन कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतः सांवत्सरिक दीक्षा का ही विधान करते हैं। केवल वे यजमान सांवत्सरिक नियम में परिवर्तन कर सकते हैं, जिन्होंने संवत्सर भर सौमाभिषव किया है अथवा जिन्होंने वर्षपर्यन्त अग्निहोत्र किया हो अथवा जो वर्ष तक गर्भ में[2] रहे हों। कात्यायन[3] यद्यपि शतपथब्राह्मण के दीक्षाकाल का विरोध नहीं करता, तथापि उसके मत से सोमदीक्षा ही प्रधान होती है। अतएव सोमयोग के दीक्षाकाल को ही स्वीकारना चाहिए।

कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में भी संवत्सर दीक्षा के विषय में कोई विमति[4] नहीं है; परन्तु यहाँ अनेक विकल्प भी प्रस्तुत किये हैं। तैत्तिरीय-संहिताब्राह्मण[5] में तीन, दस, तेरह या सत्रह रात्रि तक अथवा चार, आठ या बारह मास पर्यन्त दीक्षित रहने का नियम है। काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण तथा कठ-कपिष्ठलसंहिता-ब्राह्मण उपरिवर्णित दीक्षाकाल के अतिरिक्त छह, बारह, पन्द्रह अथवा चौबीस दिनों तक दीक्षाकाल को युक्तिसंगत[6] मानते हैं। बौधायन[7] के अनुसार इन वैराजी दीक्षाओं का वही अधिकारी है, जिसने वर्ष भर सोम-सवन किया हो। शालीकि[8] अग्नि को संवत्सर-पर्यंन्त अग्नि-संभरण के अनन्तर ऐतिहासिक ही मानते हैं। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र संवत्सर-दीक्षा के अतिरिक्त तीन, छह, अथवा बारह दिनों का भी विधान करते हैं[9]। इसके अतिरिक्त इन सभी श्रौतसूत्रों में

---

[1] तदेव, ९.५.१.६३; का० श्रौ०, १६.६.१३।

[2] श० ब्रा०, ९.५.१.६५–६८—कामं वा एनं स चिन्वीत, येन पुरा संवत्सरं भृतं स्यात्, यः संवत्सरमिविष्यन् स्यात्, यः संवत्सरमग्निहोत्रं जुहुयात्, यः संवत्सरजातं स्यात्। द्र०, का० श्रौ०, १६.६.९-१२।

[3] का० श्रौ० १६.६.७—सोमाविरोधेन वा तत्प्राधान्यात्; कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ९०७।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.५.१.६, ५.२.५, ६.५.१; का० सं० ब्रा० २१.५, २२.३; मै० सं० ब्रा०, ३.४.६, बौ० श्रौ०, २२.२; आप० श्रौ०, १६.९.१; स० श्रौ०, ११.५.१६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.३६।

[5] तै० सं० ब्रा०, ५.६.७।

[6] का० सं० ब्रा० २१.५; मै० सं० ब्रा०, ३.४.६; क० सं० ब्रा०, ३१.२०।

[7] बौ० श्रौ०, तदेव।

[8] तदेव।

[9] आप० श्रौ०, स० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

मानवश्रौतसूत्र के समान ब्राह्मणों में निर्धारित विविध दीक्षाकाल को मान्यता प्रदान[1] करते हैं। दीक्षा से सम्बन्धित अन्य सभी विहित कार्यों को सम्पन्न किया जाता है।

उखा-प्रवृञ्जन—

उख्य अग्नि को संवत्सर-पर्यन्त सम्भृत करने की प्रक्रिया का अब प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम उखा को खूब गरम किया जाता है। शुक्लयजुर्वेद[2] प्रस्थान में उखा-प्रवृञ्जन आहवनीय पर करने का विधान है। कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा में कामना भेद से उखा को गरम करने के लिये विविध अग्नियों का उल्लेख किया गया है। इस विषय में तैत्तिरीयसंहिता ब्राह्मण[3] का मत है कि अर्चि में भूत पर अधिकार करने वाले को तथा अंगार पर भविष्य पर अधिकार करने वाले को उखा को तपाना चाहिए। जिस व्यक्ति की श्री विनष्ट हो गयी हो, उसके लिये मन्थन से उत्पन्न अग्नि पर उखा को गरम करना उचित है। अन्नकामी को अम्बरीष की अग्नि का प्रयोग करना युक्तिसंगत है। ऋत्विक् यदि चाहता हो कि यजमान के शत्रु उत्पन्न हों, तो उसके लिये कहीं से अग्नि लाकर उखा का तपाना श्रेयस्कर है। काठकसंहिता-ब्राह्मण[4] भरसाई की अग्नि को उचित मानता है। काठक का मत है कि स्वर्गकामी यजमान को वृक्ष पर गिरी हुई बिजली का प्रयोग ऊखा-प्रवृञ्जन में करना चाहिए। मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण[5] में उपरितन विवरण के अतिरिक्त यह उल्लेख मिलता है कि राष्ट्र को जयशील बनाने के लिये उखा-प्रवृञ्जन में दावानल का प्रयोग उचित है। कठ-कपिष्ठल-संहिता-ब्राह्मण[6] में भी इन विविध कामनाओं के लिये विभिन्न अग्नियों में उखा को तपाने का विवरण उपलब्ध होता है। सभी कृष्णयजुर्वेदीय[7] ग्रन्थों का यह मत है कि काम्य अग्निचयन करने वाले को आहवनीय अग्नि पर उखा को नहीं तपाना चाहिए।

---

[1] मा० श्रौ०, ६.१.४.३६।

[2] श० ब्रा०, ६.६.१.२२; का० श्रौ० १६.४.३१।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.१.९.२.४; महादेव प्र० च०, स० श्रौ०, आ० ग्र० ५३, पृ० २६, के अमुसार अम्बरीष लोहे का पात्र है—घृतादिना शाकादिमर्जनार्थं यल्लौकिकं लौहादिपात्रम्, तदम्बरीषम्—परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता। आप० श्रौ०, १६.९.८ में इसी सन्दर्भ में भाड़ से अग्नि लेने का उल्लेख है। कर्क, का० श्रौ० (वेबर) पृ० ३५२–अम्बरीषाद् भ्राष्ट्रात् कन्दुकगृहात्। अन्यत्र भी इसे भाड़ ही कहा गया है, द्र० अ० कौ०, २.९.३०–अम्बरीषं भ्राष्ट्रः; श० क०, पृ० ८७ (प्रथम भाग); वाचस्पत्यम्, प्रथम-भाग, पृ० ३२८; मो० वि० पृ० ८३।

[4] का० सं० ब्रा०, १९.१०।

[5] मै० सं० ब्रा०, ३.१.४।

[6] क० सं० ब्रा०, ३०.८।

[7] तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.१३; आप० श्रौ० १६.९.९; स० श्रौ०, ११.३.१३; वै० श्रौ०, १८.२९.७; मा० श्रौ०, ६.१.३.२६।

कृष्णयजुर्वेद-सम्बन्धित सभी श्रौतसूत्रों[1] में काम्य अग्निचयन से सम्बन्धित ब्राह्मणों में वर्णित विकल्पों का विधान मिलता है। बौधायन-श्रौतसूत्र एवं वाराह-श्रौतसूत्र में राष्ट्र को जयिष्णु बनाने की कामना का उल्लेख नहीं किया गया है।

ध्यातव्य है कि शतपथब्राह्मण[2] में अंगारों द्वारा उखा को तपाना निषिद्ध किया गया है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि इस समय अग्नि गर्भ में रेत के रूप में रहता है, अतएव उसका प्रवृञ्जन रेतोरूप अर्चि में ही उचित है। अंगार अस्थि के प्रतीक हैं और कोई गर्भ आरम्भ में ही अस्थियुक्त नहीं हो जाता।

उखा-प्रवृञ्जन[3] के समय ही उखा में मूँज और सन डाल दिया[4] जाता है। कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में, आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र के अतिरिक्त[5], सन का उल्लेख नहीं मिलता। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार लीद या गोबर और पूतीकतृणों (पोई) को उखा में डालकर अग्नि को उत्पन्न करने का विधान है[6]। बाद में इस श्रौतसूत्र के अनुसार मूँज के समूह को भी आहित किया जाता है। उखा के तप्त हो जाने के पश्चात् काठकसंहिताब्राह्मण, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में भी मूँज के गुच्छे को उसमें डालने का निर्देश मिलता है[7]। मानवश्रौतसूत्र[8] मूँज के अतिरिक्त विकल्परूप में किसी भी ज्वलनशील तृण आदि को उखा में अग्नि-जनन हेतु डालना उचित समझता है।

उखा में समिधाओं का आधान—

उखा में अग्नि प्रज्वलित होने के पश्चात् उसमें कतिपय समिधाओं का आधान

---

१. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ, १६.९.७-८; स० श्रौ०, ११.३.७,९-११; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.३.२७।

२. श० ब्रा०, ६.६.२.९; का० श्रौ०, १६.४.३४।

३. वा० सं०, ११.६८-६९; तै० सं०, ४.१.९; का० सं०, १६.७; मै० सं०, ३.७.७।

४. श० ब्रा०, ६.६.१.२३-२४—मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवति, शणकुलायमन्तरं भवति; का० श्रौ०, १६.४.३१; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.१.९.५; बौ० श्रौ०, १०.१३; आप० श्रौ०, १६.९.४; स० श्रौ०, ११.३.३।

५. आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव, महादेव, प्र० च० में शणकुलाय का अर्थ शणपक्षी का घोसला करते हैं। यह अर्थ उचित नहीं है। श० ब्रा० में इसे स्पष्टतया 'सन' या 'सनई'—शणा—कहा गया है। श० ब्रा०, ६.७.१.८ में रुक्मपाश को सन का बताया है—शाणो रुक्मपाशः। कहीं भी शण का अर्थ पक्षी नहीं मिलता। अतएव कोशों में पटसन को शणपर्णी और सन को शणपुष्पिका कहा गया है।

६. वै० श्रौ०, १८।२९.७—उखायां शकृत्पिण्डान् पूतितृणानिति संप्रकीर्य....। तस्मिन् मुञ्जकुलायमवदधाति।

७. का० सं० ब्रा०, १९.९; मै० सं० ब्रा०, ३.१.९; आप० श्रौ०, स० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

८. मा० श्रौ०, ६.१.२.२३—तप्तायां मुञ्जानवदधात्यन्यद्वा क्षिप्राग्निम्।

किया जाता है। शुक्लयजुर्वेद-प्रस्थान[१] में कुल तेरह समिधाओं की आहुति दी जाती है। इन समिधाओं की लम्बाई एक प्रादेश होती है[२]। सर्वप्रथम घी में डुबोकर क्रमुक (तूत)[३] की समिधा को आहित करने का विधान है। ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेद[४] सम्प्रदाय में भी इसी समिधा के आधान का सर्वप्रथम वर्णन है; परन्तु इनमें कुछ ग्रन्थ क्रमुक के साथ मूँज डालने का भी निर्देश देते हैं। अन्य समिधाएँ[५] विकंकत (टेंटी), उदुम्बर (गूलर) अपरशुवृवण (कुल्हाड़ी से न काटी गया) उदुम्बर तथा अधःशया (भूमि पर गिरी हुई) उदुम्बर वृक्ष की, आहित की जाती है। इन सभी समिधाओं की संख्या एक-एक होती है। एतदनन्तर सभी समिधाएँ पलाश तरु की होती हैं[६]। ब्राह्मण या क्षत्रिय के अतिरिक्त यजमान के लिए पलाश की छह समिधाएँ ही उखा में आहित की जाती हैं[७]। इस प्रकार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से व्यतिरिक्त यजमान के लिये कुल ग्यारह समिधाओं के प्रयोग का ही विधान है। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यजमान की स्थिति में बारह समिधाओं के निक्षेप का[८] निर्देश है। तेरहवीं समिधा प्रत्येक दशा में क्षत्रिय को उद्दिष्ट कर ही उखा में निक्षिप्त की जाती है तथा बारहवीं समिधा ब्राह्मण के लिये होती है। शुक्लयजुर्वेद-सम्प्रदाय का यही विधान है[९]।

कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में कहीं भी पालाशी समिधाओं का उल्लेख नहीं किया गया है। तैत्तिरीय-शाखा[१०] की संहिता एवं ब्राह्मण के साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष यह निकलता है कि उखा में कुल तेरह समिधाओं का आधान विहित है। इन समिधाओं में क्रमशः एक क्रमुक, एक विकंकत, एक शमी (अपरशुवृवण), पाँच उदुम्बर (सम्भयतः अपरशुवृवण), एक पीपल, एक विकंकत, एक शमी और

---

१. श० ब्रा०, ६.६.४.१६—तास्त्रयोदश संपद्यन्ते; का० श्रौ०, १५.४.३३।

२. तदेव, ६.६.३.१२; का० श्रौ०, तदेव।

३ तदेव, ६.६.३.११—सा कार्मुकी स्यात्; का० श्रौ०, १६.४.३५।

४. तै० सं० ब्रा०, तदेव, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३०.८; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.९.६; सं० श्रौ०, ११.३.५-६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.३.१.२८; वा० श्रौ०, २.१.२.२२।

५. वा० सं०, ११.७१-७४; श० ब्रा०, ६.६.४.१, २-६; का० श्रौ० १६.४.३६-३९।

६. वा० सं०, ११.८०, श० ब्रा०, ६.६.३.७—उत्तराः पालाश्यो भवन्ति; का० श्रौ०, १६.४.४०।

७. तदेव, ६.६.३.१२—एता एकादशादधाति, अक्षत्रियस्य पुरोहितस्य; द्र०, का० श्रौ०, १६.४.४३—कात्यायन क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण से भिन्न यजमान के लिये ग्यारह या तेरह समिधाओं को मान्यता देते हैं।

८. तदेव, ६.६.३.१३—द्वादश क्षत्रियस्य वा पुरोहितस्य; का० श्रौ०, १६.४.४१-४२।

९. सायण, श० ब्रा०, ६.६.३.१५—पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तस्य एकादश, तयोस्तु द्वादशैव, तत्रापि उपोत्तमा पुरोहितस्य, उत्तमा क्षत्रियस्येति व्यवस्थापितम्।

१०. तै० सं०, ४.१.९-१०; तै० सं० ब्रा०, ५.१.९.५, १.१०.१-२।

दो उदुम्बर वृक्ष की समिधाएँ हीती हैं । काठकसंहिता एवं ब्राह्मण में तैत्तिरीय वर्णित द्वितीय स्थानीय विकंकत के स्थान पर उदुम्बर, तृतीय स्थानीय शमी के स्थान पर विकंकत और पंचम स्थानीय अश्वत्थ के स्थान पर उदुम्बर को आधेय बताया गया है । मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण के अनुसार एक क्रमुक, एक उदुम्बर, एक विकंकत, एक शमी (अपरशुवृवण), पाँच उदुम्बर (अपरशुवृवण), एक अश्वत्थ, दो उदुम्बर और एक अन्य अनादिष्ट वृक्ष की समिधा का आधान उचित माना गया है[2] । कठ-कपिष्ठल-संहिता-ब्राह्मण[3] में प्रायः काठक का अनुकरण मिलता है ।

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण[4] में तीन समिधाओं को उखा में डालने के पश्चात् तीन मंत्रों से अग्नि के उपस्थान का भी निर्देश है ।

बौधायनश्रौतसूत्र[5] में तैत्तिरीय का पूर्णतया अनुकरण मिलता है; परन्तु यहाँ 'राक्षोघ्न' मन्त्रों के द्वारा अग्नि के पुनः उपस्थान का निर्देश है । यह उपस्थान पाँच औदुम्बरी समिधाओं के आधान के पश्चात् होता है । इस उपस्थान के विभिन्न वृक्षों की तीन घृताक्त समिधाओं को उखा में डालने का विधान किया गया है । ध्यातव्य है कि बौधायन में वर्णित उपरितन विधानों का तैत्तिरीय में अनुल्लेख है । आपस्तम्बश्रौतसूत्र[6] में भी तेरह समिधाओं का आधान विहित माना गया है । यहाँ केवल राक्षोघ्न उपस्थान और विविध वृक्षों की तीन समिधाओं को उखा में डालने की विधि नहीं मिलती । सत्याषाढश्रौतसूत्र[7] में यद्यपि आपस्तम्ब का अनुगमन है, तथापि कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है । यहाँ आपस्तम्ब-वर्णित दूसरी समिधा के स्थान पर उदुम्बर का विधान है । वैखानसश्रौतसूत्र[8] में बौधायन का अनुसरण किया गया । इन तीनों श्रौतसूत्रों[9], आपस्तम्ब, सत्याषाढ और वैखानस, के अनुसार किन्हीं के इस मत का उल्लेख है कि विकंकत और शमी के आधान-क्रम में परिवर्तन भी होता है । यह परिवर्तन द्वितीय तथा तृतीय समिधा के विषय में कहा गया है । मानवश्रौतसूत्र[10]अपने ब्राह्मण मैत्रायण का अनुकरण करता है । वाराहश्रौतसूत्र में दस[11]समिधाओं-एक क्रमुक,

---

[1] का० सं०, १६.७; का० सं० ब्रा०, १९.१० ।

[2] मै० सं०, २.७.७; मै० सं० ब्रा०, ३.१.९ ।

[3] क० सं० ब्रा०, तदेव ।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.१.९.५—तिसृभिर्जातमुपतिष्ठते; द्र०—बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.९.१४; स० श्रौ०, ११.३.१७, वै० श्रौ०, तदेव ।

[5] बौ० श्रौ०, तदेव ।

[6] आप० श्रौ०, १६.९.६,११-१३, १०.१,३-५,७ ।

[7] स० श्रौ०, ११.३.५, १५,१८-२३ ।

[8] वै० श्रौ०, तदेव ।

[9] आप० श्रौ०, १६.९.१३; स० श्रौ०, ११.३.१७; वै० श्रौ०, तदेव ।

[10] मा० श्रौ०, ६.१.३.२८-३१ ।

[11] वा० श्रौ०, २.१.२.२२-३० ।

एक उदुम्बर, एक विकंकत, एक अश्वत्थ, दो उदुम्बर, एक अनामक वृक्ष और तीन आश्वत्थी समिधाओं का ही विधान है। इन आश्वत्थी समिधाओं के मन्त्रों में कामनाभेद से भिन्नता है। यदि[1] यजमान वर्षा का इच्छुक हो, तो सौरी 'रश्मिवती', यदि वृष्टि न चाहता हो, तो सौरी 'भ्राजस्वती' और यदि वह पशुपति बनना चाहता हो, तो आग्नेयी 'भिषग्वती' ऋचाओं के द्वारा आश्वत्थी समिधाओं का आधान उचित है।

ध्यातव्य है कि यदि यजमान किसी अभिचार में प्रवृत्त हो, तो मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र तथा वाराहश्रौतसूत्र के अनुसार तिल्वक (लोध) वृक्ष की समिधा का प्रयोग निर्दिष्ट समिधाओं या समिधा के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है[2]।

विष्णुक्रम—

उख्य अग्नि को यजमान के द्वारा उठाकर कुछ डग भर कर आगे बढ़ने और पुनः अपने स्थान पर लौटने की एक विशेष क्रिया को विष्णुक्रम अभिधान मिला है। इस कर्म का विवेचन करने से पूर्व इसमें प्रयोज्य रुक्म एवं आसन्दी का विवरण देना आवश्यक है।

रुक्म—

रुक्म सोने का एक आभूषण[3] है। शतपथब्राह्मण[4] एवं कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार यह वृत्ताकार होता है। कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों में इसके आकार का वर्णन नहीं मिलता। महीधर[5] के अनुसार रुक्म फलक के समान होता है। इसमें सन की कली अथवा चने की दाल के समान इक्कीस लटकनें लटकती[6] रहती हैं। इस कर्म में

---

१. तदेव, २.१.२०।

२. मै० सं० ब्रा०, तदेव, तैल्वकीमभिचरन्नादध्यात्; आप० श्रौ०, १६.१०.२; स० श्रौ०, ११.३.१९; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.३.१.२८; वा० श्रौ०, २.१.३.२८।

३. श० ब्रा०, ६.७.१.१—हिरण्मयो भवति; द्र०—तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०.३-४; का० सं० ब्रा० १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१, क० सं० ब्रा०, ३१.१, मा० श्रौ०, ६.१.४.१।

४. श० ब्रा०, तदेव—परिमण्डलो भवति; का० श्रौ०, १६.५.१।

५. महीधर, वा० सं०, पृ० २०९—स्वर्णनिर्मितफलकाकारमाभरणविशेषम्।

६. श० ब्रा०, तदेव—एकविंशतिर्निर्बाधः; द्र०—तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ० तदेव; बौ० श्रौ०, १०.१२, आप० श्रौ०, १६.१०.८, स० श्रौ०, ११.३.२६, वै० श्रौ०, तदेव। मा० श्रौ० ६.१.४.१; महीधर, तदेव—शणकदलतुल्याः स्वरूपादबहिर्भूता उन्नतबिन्दवः पिण्डा उच्यन्ते; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, तदेव—बिन्दवश्शणकदलसदृशा उन्नताः। निर्बाध के अर्थ के लिये द्र०, कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ९०५।

वह कृष्णाजिन के धवल-श्याम रोओं के बीच सन की तिफरी रस्सी से गुहा[१] रहता है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों[२] का रुक्म सूत में ग्रथित रहता है।

आसन्दी—

आसन्दी[३] गूलर की लकड़ी से बनायी जाती है। इसकी पाटी और पेरुए चौकोर होते हैं। इसकी ऊँचाई एक प्रादेश और आड़ी-बेड़ी लम्बाई एक अरत्नि होती है। इसकी बुनाई में मूँज के बाध का प्रयोग होता है। इस आसन्दी के चारों ओर छह रस्सियाँ लगी रहती हैं। इन रस्सियों में मिट्टी लपेटी रहती है। रस्सियाँ मूँज की बनी हुई तिफरी होती हैं। इन छहों रस्सियों को शिक्य (सिकहर) कहा जाता है।

कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों में बारह रस्सियों वाले शिक्य का भी वर्णन मिलता है[४]। केवल मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण एवं वाराहश्रौतसूत्र में शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के समान छह रस्सियों वाले शिक्य को ही विहित माना[५] गया है। आसन्दी के परिमाण के सम्बन्ध में सभी कृष्णयजुर्वेद[६]-ग्रन्थ शुक्लयजुर्वेद-शाखा के समान ही विवरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ आसन्दी पर विकल्परूप में फलक रखने का भी विधान है।

विष्णुक्रम[७] की विधि इस प्रकार है। सर्वप्रथम यजमान समन्त्रक अपने गले में रुक्म आभरण को पहनता है। रुक्म के निर्बाध बाहर की ओर निकले रहते हैं और दिखाई पड़ते हैं[८]। अब आहवनीय पर रखी हुई उखा को दो इण्ड्वों से उठा लिया जाता है[९]। अग्नि को उठाने में प्रयुक्त इण्ड्व[१०] घड़ा आदि को उठाने के लिये आजकल प्रयुक्त

---

१. श० ब्रा०, ६.७.१.६-७; का० श्रौ०, तदेव।

२. आप० श्रौ०, १६.१०-९; स० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

३. श० ब्रा०, ६.७.१.१३-१६; का० श्रौ०, १६.५.५.६।

४. तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०.५, २.१.१; का० सं० ब्रा०, १९.११; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.१२; आप० श्रौ०, १६.१०.८; स० श्रौ०, ११.३.२५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.६।

५. मै० सं० ब्रा०, ३.२.१; वा० श्रौ०, २.१.३.५।

६. बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.१०.१६; स० श्रौ०, ११.३.२५; वै० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, २.१.३.४।

७. वा० सं०, १२.१-१७; तै० सं, ४.१.१०; २.१ का० सं०, १६ ८; मै० सं०, २.७.८; श० ब्रा०, ६.७.२-३; तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं०, ३.२.१; क० सं० ब्रा० ३१.१।

८. श० ब्रा०, ६.७.२.१; ७.१.८; का० श्रौ०, १६.५.१; तै० सं० ब्रा०, ५.१०.३ का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क०सं०ब्रा०, तदेव०; बौ० श्रौ०, १०.१५; आप० श्रौ०, १६.१०.९; सं० श्रौ०, ११.३.६; मा० श्रौ०, ६.१.४; वै० श्रौ०, १८।२९.७; बा० श्रौ० २.१.३.१।

९. वा० सं० ब्रा० १२.२; श० ब्रा०, ६.७.२.३; का० श्रौ०, १६.५.३।

१०. कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ९०५; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, १६.५.२-३, द्र० का० श्रौ० १६.५.२।

गोली गुड़ुरी के समान होता है। इसकी रचना मूंज की तिफरी रस्सी से होती है और इनमें मिट्टी भी चुपड़ी रहती है। इसके पश्चात् अग्नि को आसन्दी के पास लाकर उसे आसन्दी पर ही रख दिया जाता है[१]। यह आसन्दी आहवनीय के आगे रखी रहती है। अब यजमान आसन्दी में लगे हुए शिक्य के पाश को अपने गले में डालता है[२]। यजमान[३] शिक्य को पहने हुए ही दोनों हाथों के द्वारा अग्नि को ऊपर की ओर उठा लेता है और पुनः उसे नीचे उतार कर नाभि के ऊपर धारण करता है। तदनन्तर यजमान विष्णुक्रम[४] हेतु आगे की ओर पादन्यास करता है। विष्णुक्रम[५] की दिशा ईशान होती है।

डग भरकर विष्णुक्रम का विधान करने के पश्चात् यजमान प्रदक्षिणक्रम से पुनः लौटकर प्रत्यावर्तित हो जाता है[६]। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है[७] कि अग्नि को जब यजमान ईशान दिशा में ऊपर उठाता है और ज़ब उसे वह नाभि के ऊपर लाकर कुछ देर धारण करता है, तब उसका मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रण करने का विधान है। यह क्रम दो बार आवर्तित किया जायेगा। अग्नि को ऊपर उठाने में हर बार अग्नि को पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचाई पर रखने का विधान है[८]। इस प्रकार तीन बार विष्णुक्रम में डग भरने की विधि है[९]। चौथी बार और सब कर्म किये जायेंगे, केवल पादन्यास का[१०] निषेध है। इस बार केवल सभी दिशाओं का अनुवीक्षण करने

---

[१] वा० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ६.७.१.१२,७.२.३; का० श्रौ०, १६.१२.३-५।

[२] वा० सं०, १२.३; श० ब्रा०, ६.७.२.४; का० श्रौ०, १६.५.६; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.१०.१०; स० श्रौ०, ११.३.२८; वै० श्रौ०, १८।२९ ८; मा० श्रौ०, ६.१.४.८; वा० श्रौ०, २.१.३.६।

[३] वा० सं०, १२.४; श० ब्रा० ६.७.२.५; का० श्रौ०, १६.५.७; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१०.१३; सं० श्रौ०, ११.३.३१; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ० ६.१.४.९; वा० श्रौ०, २.१.३.८।

[४] वा० सं०, १२.५; श०ब्रा० ६.७.२.१०-११; का०श्रौ०, १६.५.११; बौ० श्रौ०, १०.१६; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, ११.३.३२; मा० श्रौ०, ६.१.४.१०, वा० श्रौ०, २.१.३.९।

[५] श० ब्रा०, ६.७.२.१२-उदङ् प्राङ् तिष्ठन्; का० श्रौ०, १६.५.१४।

[६] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१०.१३।

[७] वा० सं, १२.६-११; श० ब्रा०, ६.७.३.१-२,३,६; का० श्रौ०, १६.५.१४.१७।

[८] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, १६.५.११।

[९] श० ब्रा०, ६.७.२.१३-१६; का० श्रौ०, १६.५.११।

[१०] वा० सं०, १२.५; श० ब्रा०, ६.२.२.१६—सर्वा दिशोऽनुवीक्षते, न प्रहरति पादम्; का० श्रौ०, १६.५.१२-१३, बा० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

में यजमान प्रवृत्त रहता है। ध्यातव्य है कि आपस्तम्ब चार विष्णुक्रमों का विधान करता है[१]।

विष्णुक्रम का समापन करने के पश्चात् यजमान अपने गले से रुक्म और शिक्य को निकाल कर, हाथों को ऊँचे उठाकर अग्नि को धारण करता है[२]। शतपथब्राह्मण[३] के अनुसार इस समय यजमान अग्नि को पूर्व में ऊपर उठाता है। कात्यायन[४] का मत है कि इस समय अग्नि को आग्नेय दिशा की ओर कर ऊपर उठाना उचित है। अब अग्नि को नीचे उतारने के अनन्तर उसे आसन्दी पर रख देता है और तीन मन्त्रों से उसकी स्तुति[५] करता है। कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में यही विधि मिलती है[६]। मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण एवं कठ-कपिष्ठलसंहिता-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अग्नि को आसन्दी पर रखना चाहिए[७]। कतिपय श्रौतसूत्रों[८] में विकल्परूप में शर्करा पर भी उख्य अग्नि को रखने का विधान है। यहाँ यत्र-तत्र उपलब्ध नगण्य अन्तर के विषय में विचार नहीं किया जा रहा है।

वात्सप्र—

वत्सप्री भालन्दन द्वारा दृष्ट सूक्त[९] से अग्नि की स्तुति को वात्सप्र[१०] अभिधान मिला है। यह विधि उभय प्रस्थानों में समान है। विष्णुक्रम और वात्सप्र दीक्षणीय दिवस से ही प्रारम्भ कर दिया जाता है। जितनी दीक्षा की अवधि होती है, उतने दिन तक निरन्तर इन दोनों कर्मों को करने का अपरिवर्तनीय विधान है। जिस दिन अग्नि के चयन का आरम्भ होता है, उस दिन यदि वात्सप्र की पारी होती है, तो उसे

---

१. आप० श्रौ०, १६.१०.१२—चतुरो विष्णुक्रमान् प्राचः प्रक्रामति; द्र०, स० श्रौ०, ११.३.३२; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.१०; वा० श्रौ०, २.१.३-९।

२. वा० सं०, १२.१२; श० ब्रा०, ६.७.३.८-१०; का० श्रौ०, १६.५.१७; बौ० श्रौ०, १०.१६; आप० श्रौ०, १६.१०.१४; स० श्रौ, ११.३.३६; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ० ६.१.४.१४, वा० श्रौ०, २.१.३.१३।

३. श० ब्रा०, ६.७.३.९।

४. का० श्रौ०, १६.५.१७।

५. वा० सं०, १२. १४-१७, श० ब्रा०, बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ० १६.१०.१६-१८; स० श्रौ०, ११.३.३७; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.१७; वा० श्रौ०, २.१.३.१६।

६. का० सं०, १६.८; मै० सं०, २.७.८; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१, क० सं० ब्रा०, ३१.१; बौ० श्रौ, १०.१६; आप० श्रौ०, १६.१०.१४-१८; स० श्रौ०, ११.३.३६-४०; मा० श्रौ०, ६.१.४.१४-१७; वा० श्रौ०, २.१.३.१३-१६।

७. मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव।

८. आप० श्रौ०, १६.१०.१८; स० श्रौ०, ११.३.३९; वै० श्रौ०, तदेव।

९. वा० सं०, १२.१८-२९; तै० सं०, ४.२.२; का० सं०, १६.९; मै० सं०, २.७.९।

१०. तै० सं० ब्रा०, ५.२.१.६—एतेन वै वत्सप्रीर्भालन्दनोऽग्नेः प्रियं धामावारुन्धः; द्र०—का० सं० ब्रा०, १९.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.२; क० सं० ब्रा०, ३१.२।

करने के पश्चात् विष्णुक्रम करने का विधान है, तदनन्तर वात्सप्र[१] का। समापन वात्सप्र से ही होता है। ध्यातव्य है कि दीक्षाकाल में एक दिन के अन्तर से इन दोनों विधियों को करना पड़ता है। मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र में शुक्लयजुर्वेद-शाखा का अनुकरण मिलता है[२]। बौधायनश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार विष्णुक्रम और वात्सप्र को इस प्रकार करना चाहिए कि वात्सप्र की पारी उपवसथ के दिन पड़े। मानवश्रौतसूत्र का अभिमत है कि इन दोनों विधियों को क्रमशः दिन और रात में करना चाहिए। कात्यायनश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र एवं सत्याषाढ-श्रौतसूत्र को सोमक्रय के दिन तक दोनों अनुष्ठानों का करना उचित कहा गया है[३]।

दीक्षा-काल-पर्यन्त करणीय विधि—

सम्पूर्ण दीक्षाकाल में यजमान को कुछ कार्य आवश्यक रूप से करना पड़ता है। दीक्षा-दिवस से ही इन नियमों का पालन करना चाहिए। यजमान सूर्यास्त के समय उख्य अग्नि के भस्म को हटाता है[४]। भस्म को हटाने के बाद ही यजमान लौकिक वाणी का प्रयोग[५] करता है। भस्म-उद्वपन प्रातः भी किया जाता है[६]। ज्ञातव्य है कि यदि आवश्यक हो तो दीक्षित व्यक्ति 'विचक्षण' आदि शब्दों का प्रयोग करके ही लौकिक वचन उचारता है। दीक्षित के मौन को 'वाग्यमन' एवं इस नियम से मुक्त होना 'वाग्विसर्ग' कहा गया है। वाग्विसर्जन के पश्चात् एक समिधा उख्य अग्नि में डाली जाती है[७]। यह समिदाधान वस्तुतः उख्य अग्नि के लिये रात्रिकालीन आहुति है। यजमान इसके पश्चात् अपनी स्वस्ति और अरिष्टि के लिये अग्नि की स्तुति करता है। प्रातःकाल भी समिदाधान आवश्यक है[८]।

यजमान-व्रत—

दीक्षित के भोजन का अभिधान व्रत है[९]। शतपथब्राह्मण[१०] के अनुसार दीक्षित को व्रत हेतु क्रमशः गाय के तीन, दो तथा एक थन से निकाले गये दूध को लेना चाहिए। व्रत-ग्रहण के पूर्व यजमान एक समिधा को दूध में डुबो कर अन्नवती

---

[१] श० ब्रा०, ६.७.४.१३-१५, द्र० का० श्रौ०, १६.६.५-६।

[२] मै० सं० ब्रा०, ३.२.२; स० श्रौ०, ११,४.१०; द्र० आप० श्रौ०, १६.११.९।

[३] का० श्रौ०, १७.१.१-२; स० श्रौ०, ११.४.८; वै० श्रौ०, तदेव।

[४] श० ब्रा०, ६.६.४.१—अस्तमित आदित्ये भस्मैव प्रथममुद्वपति; का० श्रौ०, १६.६.१।

[५] तदेव; का० श्रौ०, १६.६.२।

[६] तदेव, ६.६.४.२; का० श्रौ, १६.६.३।

[७] वा० सं०, ११.७५; श० ब्रा०, ६.६.४.१; का० श्रौ०, १६.६.२।

[८] वा० सं०, ११.७४, श० ब्रा०, ६.६.४.२; का० श्रौ०, १६.६.४।

[९] श० ब्रा०, ६.६.४.६—अन्नं हि व्रतम्; पतञ्जलि, महाभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५१, पृ० ६७—व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। श्रौ०प०नि०, पृ० १९५(२४)—भक्षणीयद्रव्यं व्रतमित्युच्यते।

[१०] श० ब्रा०, ९.५.१.३-६।

ऋचा के द्वारा अग्नि में आहुति[१] देता है। कुछ लोगों के अनुसार समिधा को दूध में डुबोना उचित[२] नहीं है। उनके अनुसार समिधा एक आहुति है। यदि उसे दूध में डुबोया जायेगा, तो दूध भी आहुति हो जायेगा। इस स्थिति में दीक्षित आहुतिरूप दूध को कैसे ग्रहण कर सकता है? आहुति तो केवल देव-भोज्य होती है, मनुष्य-भोज्य नहीं। याज्ञवल्क्य इस मतवाद को दोषपूर्ण मानते हैं। उनका अभिमत है कि दीक्षित की आत्मा देव है। इस स्थिति में यदि वह समिधा को दूध में नहीं डुबोता, तो वह अपनी दैवी आत्मा को प्रीत नहीं बनाता। यह समिधा आहुति नहीं है; क्योंकि व्रत में डुबोया गया है, अतएव यह समिधा अन्न[३] है।

बौधायनश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार यजमान को व्रत देते समय सर्वप्रथम 'अन्नपतीया' ऋचा से उखा में समिधा डालनी[४] चाहिए। विकल्प रूप में इस मन्त्र का जप भी किया जा सकता है। तदनन्तर कुछ लकड़ियों से अग्नि को समन्त्रक समिद्ध करने का विधान है[५]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र के अनुसार यह समिधा उदुम्बर[६] की होनी चाहिए। इससे सत्याषाढ भी सहमत[७] है। प्रातःकाल एवं सायं समिधाएँ डाली जाती हैं। एतदतिरिक्त कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों[८] के वैषम्य का विवरण कोई महत्त्व नहीं रखता।

वनीवाहन[९]—

गार्हपत्य अग्नि को बैलगाड़ी पर आहित कर चयनस्थल की ओर ले जाना वनीवाहन[१०] है। कुछ लोगों का कथन है [११]कि विष्णुक्रम द्वारा अग्नि का वहन और

---

१. वा० सं०, ११.८३; श० ब्रा०, ६.६.४.४, का० श्रौ०, १६.६ ८।
२. श० ब्रा०, ६.६.४.५।
३. श० ब्रा०, ६.६.४.५।
४. बौ० श्रौ०, १०.१६; वै० श्रौ०, १८।२९.९।
५. बौ० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव; द्र०—आप० श्रौ०, १६.११.१; स० श्रौ०, १२.४.२; मा० श्रौ०, ६.१.४.२०; वा० श्रौ०, २.१.३.२२।
६. आप० श्रौ०, तदेव।
७. स० श्रौ०, तदेव।
८. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.११.१-५; स० श्रौ०, ११.४.१-६; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.४.२०-२२; वा० श्रौ०, २.१.३.२१-२४।
९. वा० सं०, १२.३०-३४; तै० सं०, ५.२.१,३; का० सं०, १६.८.१०; मै० सं०, २.७.१०; क० सं०, २५.१; बौ० श्रौ०, १०.१८; आप० श्रौ०, १६.१२.४-१०; स० श्रौ०, ११.५.१-६; वै० श्रौ०, १८।२९.११; मा० श्रौ०, ६.१.४.२६-३०; ३२; वा० श्रौ०, २.१.३.२५-३०।
१०. सायण, श० ब्रा०, ६.८.१.१।
११. श० ब्रा०, ६.८.१.१-४; द्र०, का० श्रौ०, १६.६.२२—वनीवाहनमेतद्दीक्षासु यदेच्छेत्।

वात्सप्र द्वारा अवसान ही वनीवाहन है। याज्ञवल्क्य इस सिद्धान्त को उचित नहीं मानते। वस्तुतः विष्णुक्रम और वात्सप्र दैवकर्म हैं और अग्नि को बैलगाड़ी पर रखकर ले जाना तथा चयन-स्थान पर रुकना एक मानुष कर्म है। अतएव वनीवाहन विधेय ही है। इस विधि को न करने वाला अपने कर्म के द्वारा असुरनिष्ठ हो जाता है, क्योंकि उसका कर्म असुर्य हो जाता है। वनीवाहन के द्वारा दीक्षित देवों के समीप पहुँचता है।

सभी कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों[१] में इस विधि का विवरण मिलता है। बौधायन-श्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार यदि यजमान ने देव-यजन से अन्यत्र किसी स्थान पर दीक्षा ली हो, अथवा देव-यजन में दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् यदि उसके योग-क्षेम में कोई विघ्न उपस्थित हो जाये, तो वनीवाहन करना चाहिए[२]।

शुक्लयजुर्वेद[३] प्रस्थान में सर्वप्रथम उख्य अग्नि की उत्तर दिशा में एक बैलगाड़ी खड़ी की जाती है, जिसका अग्रभाग पूर्व की ओर रहता है। उख्य अग्नि में एक समिधा डालकर उसे बैलगाड़ी के अग्रभाग में स्थापित करने का विधान है। इस समय यजमान बैलगाड़ी के दक्षिण में रहता है और वही अग्नि को उठाकर बैलगाड़ी में रखता है[४]। कात्यायनश्रौतसूत्र[५] का मत है कि आसन्दी सहित उख्य अग्नि को बैलगाड़ी पर रखना चाहिए। गाड़ी में बैल जोतते समय पहले दाहिने बैल को जोतने का विधान है, बाद में बायें बैल[६] को। स्थाली में गार्हपत्य को रखकर गाड़ी पर स्थापित करने का निर्देश है।

कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान के अनुसार सर्वप्रथम उख्य अग्नि को बैलगाड़ी[७] में रखा जाता है। सभी कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों में तैत्तिरीय के इस मत का अनुकरण मिलता है। बौधायनश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार पाक्षिकरूप में अग्नि की अरणियों में समारोपित करके भी वनीवाहन[८] संभव है। बौधायन[९] कहता है कि

---

१. तै०सं०ब्रा०, ५.२.२; पूर्व का० सं० ब्रा०, १९.१२; मै० सं० ब्रा० ३.२.२; क० सं०ब्रा०, ३१.२; श्रौ० सू०, पूर्व पा० टि० ७।

२. बौ० श्रौ०, १०.१७; वै० श्रौ०, १८।२९.११।

३. वा० सं०, १२.३०; श० ब्रा०, ६.८.१.५; का० श्रौ०, १६.६.१५।

४. वा० सं०, १२.३१; श० ब्रा०, ६.८.१.७; का० श्रौ०, १६.६.१६।

५. का० श्रौ०, तदेव।

६. श० ब्रा०, ६.८.१.७; का० श्रौ०, १६.६.१८।

७. तै० सं०, ४.२.३.१; का० सं०, १६.१०; मै० सं०, २.७.१०; क० सं०, २५.१; तै० सं० ब्रा० ५.२.२.२; का० सं०, १९.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.२; क० सं० ब्रा०, ३१.२; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.१२.४; स० श्रौ०, ११.५.१; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.२७; वा० श्रौ०, २.१.३.२६।

८. बौ० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

९. बौ० श्रौ०, तदेव।

आसन्दी को बैलगाड़ी में कसकर बाँध देना चाहिए और शिक्य को मध्यम बांस में। बौधायन का यह भी निर्देश है कि आध्वरिक और आग्निक दोनों अग्नियों के साथ प्रयाण करना उचित है, इसके विपरीत शालीकि केवल आग्निक अग्नि के साथ ही प्रयाण को विहित[१] मानते हैं। बौधायन[२] का यह भी कथन है कि प्रयाण में गाड़ी के पीछे व्रतदुहा गायों और उनके बछड़ों को बाँधकर ले जाना चाहिए।

अब बैलगाड़ी को पूर्व की ओर हाँकने का निर्देश[३] है। कृष्णयजुर्वेद के संहिता-ब्राह्मणों तथा कतिपय श्रौतसूत्रों में शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के समान ही यह कर्म करणीय बताया[४] गया है। शुक्लयजुर्वेद परम्परा में यह कहा गया है कि यजमान की यदि इच्छा हो, तो वह भी गाड़ी पर आरूढ़ हो सकता है, अन्यथा वह पाँव-पियादे चले[५]। यदि प्रयाण-काल में बैलगाड़ी से अथवा उसके धुरे से कोई शब्द निकले, तो 'क्रन्दवती'[६] ऋचा का जप[७] करना चाहिए। इससे कृष्णयजुर्वेद-शाखा भी सहमत है। वसति के पूर्व यदि कहीं रुकना पड़े, तो अग्नि को गाड़ी से उतारना निषिद्ध माना गया[८] है। पड़ाव पर पहुँच कर गाड़ी जहाँ रोकी जाये, उसके उत्तर में पृथ्वी का संस्कार करने के पश्चात् अग्नि को वहाँ स्थापित कर उसमें समिधा का आधान करना चाहिए[९]। सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार यह समिधा उदुम्बर तरु[१०] की होती है। कृष्णयजुर्वेद[११] शाखा में समिधा को घी में भिगो कर अग्नि में आहित करना उचित

---

१. बौ० श्रौ०, २२.२।

२. बौ० श्रौ०, १०.१७।

३. वा० सं, १२.३२; श० ब्रा०, ६.८.१.८; का० श्रौ०, १६.६.१८।

४. तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, क० सं०, तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.६; स० श्रौ०, ११.५.३; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.२९; वा० श्रौ०, २.१.३.२९।

५. श० ब्रा०, ६.८.१.७; का० श्रौ०, १६.६.१९।

६. वा० सं०, १२.३३; तै० सं०, ४.२.१.१; का० सं०, १६.८; मै० सं०, २.७.१०; क० सं०, २५.१।

७. श०ब्रा०, ६.८.१.११; तै० सं० ब्रा०, ५.२.२.३; का० सं० ब्रा०, १९.१२, मै०सं०ब्रा०, ३.२.२; क०सं०ब्रा०, ३१.२; का०श्रौ०, १६.६.२०; बौ० श्रौ०, १०.१७; आप० श्रौ०, १६.१२.७; स० श्रौ०, ११.५.४; वै० श्रौ०, १८।२९.११; मा० श्रौ०, ६.१.४.३०; वा० श्रौ०, २.१.३.३०।

८. श० ब्रा०, ६.८.१.११—यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेत्, अनस्येवाग्निः स्यात्।

९. वा० सं०, १२.३४; श० ब्रा० ६.८.१.१२-१४; का० श्रौ० १६.६.२१।

१०. स० श्रौ०, ११.५.५।

११. तै० सं० ब्रा०, तदेव, ५.२.२.४—घृतानुषिक्तामवसिते समिधमादधाति, का० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.८; स० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

है। तैत्तिरीयसंहिता में वर्णनानुसार छन्दोविधान का निर्देश मिलता है। अनेक श्रौत-प्रस्थानों में इसका अनुकरण दृष्टिगत होता है[१]।

भस्मापोभ्यवहरण[२]—

पहले यह कहा जा चुका है कि जब उखा में भस्म हो जाये, तो उसे बाहर निकालना उचित है। वहाँ यह विधि दैनिक है। इससे यह निष्कर्ष सहजरूप में गम्य है कि यह विधान प्रतिदिन प्रातः-सायं किया जाता है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों से ज्ञात होता है कि जब उखा में भस्म का आधिक्य हो जाये, तभी यह अनुष्ठेय है[३]। उख्य भस्म को किसी जलाशय में डालने का निर्देश है। अतएव इस कर्म का अभिधान अपोभ्यवहरण या भस्मापोभ्यवहरण है। कात्यायनश्रौतसूत्र[४] के अनुसार उखा से भस्म को पलाश के दोने में लेना चाहिए। तदनन्तर उसे जल में प्रक्षिप्त करना चाहिए। शतपथब्राह्मण[५] के अनुसार भस्म को जल में प्रक्षिप्त करने में विनियुक्त तीन मन्त्रों में पहले प्रथम का फिर अवशिष्ट दो मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, अथवा इस क्रम को विपर्यस्त कर लेना चाहिए। बौधायनश्रौतसूत्र[६] तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार उख्य अग्नि को संदंश (सड़सो) से उठाकर सत (कुम्भ, शराव अथवा मिट्टी का बड़ा पात्र) में रख लेना चाहिए और तत्पश्चात् लोहे की दर्वी (करछुल) से भस्म को जल में प्रक्षिप्त करना उचित है।

अब जल में प्रक्षिप्त भस्म के कुछ अंश को पुनः लेकर उखा में निक्षिप्त करना[७] चाहिए। एतदनन्तर अग्नि की स्तुति का विधान है[८]। इसके सम्बन्ध में उभय प्रस्थान एकमत हैं।

---

१. तै० सं० ब्रा०, तदेव; द्र०—का० सं० ब्रा० मै० सं० ब्रा०, क०सं०ब्रा०, तदेव; बौ०श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.९, स० श्रौ०, वै० श्रौ० तदेव; वा० श्रौ०, २.१.३.३४।

२. वा० सं०, १२.३५-४२; तै० सं०, ४.२.३; का० सं०, १६.१०; मै० सं०, २.७.१०; क० सं०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.१८; आप० श्रौ०, १६.१२.११-१३, १३-१; स० श्रौ०, ११.५.७-१५; वै०श्रौ०, तदेव; मा०श्रौ०, ६.१.४.३१-३५; वा०श्रौ०, २.१.३.३१-३६।

३. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.११; स० श्रौ०, ११.५.७; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.४.३१, वा० श्रौ०, २.१.३.३१।

४. का० श्रौ०, १६.६.२६—पलाशपुटेन।

५. वा० सं०, १२.३५-३७; श० ब्रा०, ६.८.२.५; का० श्रौ०, १६.६.२६-२८।

६. बौ० श्रौ०, तदेव, एतमग्निं संदंशेन परिगृह्य सतेऽवधार्यादर्व्याप्सु भस्म प्रवेशयति; वै० श्रौ०, तदेव।

७. वा० सं०, १२.३८-४१; तै० सं०, ५.२.३.३; का० सं०, १६.१०; मै० सं०, २.७.१०; क० सं०, २५.१; श० ब्रा०, ६.८.२.१२-१४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.२.५; का० सं० ब्रा०; १९.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.२; क० सं० ब्रा०, ११.२; का० श्रौ०, १६.६.२९; बौ० श्रौ०, १०.१८, आप० श्रौ०, १६.१२.१२; स० श्रौ०, ११.५.९; मा० श्रौ०, ६.१.४.३४; वा० श्रौ०, २.१.३.३५।

८. वा० सं०, १२.४२; तै० सं०, का० सं०, मै० सं०, क० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०,

मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण[1] का मत है कि यदि यजमान पशुवृद्धि का इच्छुक हो, तो भस्म को उस मिट्टी में मिलाना चाहिए, चिति संरचना में जिसका उपयोग पुरीष के रूप में किया जाये। यजमान यदि इसका अभिलाषी हो कि चितियों में उपधेय सभी ईंटें आग्नेयी हो जायें, तो भस्म को उनमें मिला देना चाहिए। ध्यातव्य है कि जल में भस्म-प्रक्षेप एक नित्य विधि है और पुरीष निमित्तक मृत्तिका अथवा ईंटों पर भस्म-प्रक्षेप वैकल्पिक अथवा ऐच्छिक विधि है। मैत्रायणीसंहिता-ब्राह्मण[2] से यह संकेत मिलता है कि यदि यजमान यायावर हो, तो भस्म का प्रक्षेपण जल में उचित है। अन्यथा उपरितन वर्णित विधि का स्वीकार ही युक्तिसंगत है। कृष्णयजुर्वेदीय कतिपय श्रौतसूत्रों[3] में यायावर यजमान की स्थिति में भस्म को जल में फेंकने की विधि का उल्लेख है। हिरण्यकेशी[4] का कथन है कि यदि इष्टकाओं की संरचना हो चुकी हो, तो भस्म को जल में प्रक्षिप्त करना उचित है, अन्यथा उसे, ईंटों के निर्माण में प्रयोज्य मिट्टी में मिलाने के लिये अवशिष्ट रखना चाहिए। ध्यातव्य है[5] कि तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण और कुछ कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों में उख्य अग्नि में अग्नि-उपस्थान के पूर्व समिधा आधेय होती है।

कात्यायन[6] का मत है कि दीक्षा-काल में भस्मापोभ्यवहरण ऐच्छिक है; परन्तु वनीवाहन के पश्चात् सोमक्रय के दिन इसका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। इसका निर्देश पहले किया जा चुका है कि भस्मापोभ्यवहरण एक नित्य-विधि है। संहिताक्रम में अपोभ्यवहरणीय मन्त्रों की स्थिति एवं ब्राह्मण में इसकी अर्थवत्ता का प्रतिपादन उक्त कथ्य के लिये प्रभावी साक्ष्य हैं।

अग्निचयन में उपधेय ईंटों की संरचना तथा संख्या—

अग्निचयन की चितियों की संरचना के लिये ईंटों की आवश्यकता पड़ती है। कात्यायनश्रौतसूत्र[7] के अनुसार ईंटों का निर्माण उखा को बकरी के दूध से सींचने के

का० सं० ब्रा०, मै० सं०, ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१३.१; स० श्रौ०, ११.५.१२; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.४.३५; वा० श्रौ०, २.१.३.१६।

[1] मै० सं० ब्रा०, तदेव—पुरीषं कुर्यात् पशुकामस्य। इष्टका वा संयुयात्, तेनास्य सर्वा आग्नेयीरष्टका भवन्ति। द्र०, आप० श्रौ०, १६.१३.३; स० श्रौ०, ११.५.१४; वा० श्रौ०, २.१.३.३२।

[2] तदेव—अप्सु प्रवेशयेत्।

[3] आप० श्रौ०, १६ १३.४, अपतु यायावरः प्रवपेत्; वै० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ० ११.५.१५; वा० श्रौ०, २.१.३.३३।

[4] स० श्रौ०, ११.५.१३।

[5] तै० सं०, ४.२.३.४, तै० सं० ब्रा०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.१३; स० श्रौ०, ११.५.११; वै० श्रौ०, तदेव।

[6] का० श्रौ०, १६.६.२३-२५।

[7] का० श्रौ०, १६.४.२४।

पश्चात् ही कर लेना चाहिए। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों[1] के अनुसार दीक्षा-ग्रहण करने के पूर्व या पश्चात् ईंटों को बनाया जा सकता है; परन्तु यह कार्य इष्टका पशु के द्वारा यजन करने के अनन्तर ही किया जा सकता है। इन ईंटों को पकाने के लिये निर्मन्थ्य अथवा दक्षिण अग्नि का प्रयोग करने का विधान[2] है। ईंटें अच्छी तरह पकायी जानी चाहिए, जिससे वे पूरी तरह लाल[3] हो जायें। संरचना के समय ईंटों का परिमाण अधिक होना आवश्यक है; क्योंकि सूखने एवं पकने के बाद उनके निर्माण-परिमाण का बत्तीसवाँ अथवा तीसवाँ अंश न्यून हो जाता है[4]। बौधायन के अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनका मत है कि यदि ईंटों का परिमाण कम हो जायेगा तो उसे चिति पर आधेय पुरीष (मिट्टी) से पूरा कर लिया[5] जायेगा। बौधायन का यह भी निर्देश है कि ईंट-निर्माण में प्रयोज्य मिट्टी में राख का मिश्रण उचित[6] होता है। अतएव कृष्णयजुर्वेदीय कतिपय श्रौतसूत्र[7] भस्मापोभ्यवहरण कर्म में उख्य अग्नि की राख को बचाने का विधान करते हैं। ध्यातव्य है कि चितियों में टूटी-फूटी, अधपकी काली अथवा लांछित ईंटों का आधान[8] वर्जित है। अतएव ईंट-निर्माण के समय वास्तविक संख्या से अधिक संख्या में ईंटों का निर्माण युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यज्ञवेत्ता इसका विधान भी करते हैं।

ईंटों में कुछ सामान्य ईंटें होती हैं और कुछ विशेष। सामान्य ईंटों का नाम 'लोकम्पृणा' है और विशेष ईंटों का नाम 'यजुष्मती'। यजुष्मती उन्हें कहा गया है, जो

---

[1] आप० श्रौ०, १६.१३.५; स० श्रौ०, ११.५.१७; वै० श्रौ०, १९।२९.११; मा० श्रौ०, ६.१.४.३६; वा० श्रौ०, २.१.४.१।

[2] का० श्रौ०, १६.४.२६; आप० श्रौ०, १६.१३.७, स० श्रौ०, ११.५.१९; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.४.३९; वा० श्रौ०, २.१.४.३।

[3] आप० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव; द्र०, चिन्नस्वामी, य० त० प्र०, पृ० १००।

[4] का० शु०, ७.३०—ह्रसते पाकशोषाभ्यां द्वात्रिंशद्भागमिष्टका।
तस्मादाद्रप्रमाणं तु कुर्यान् मानाधिकं बुधः॥
द्र०, मा० श्रौ०, १०.२.५।

का० शु०, ९.२३–इष्टका पाकशोषाभ्यां त्रिशन् मात्रा तु हीयते। द्र०, तदेव; १०.२.५२. ध्यातव्य है कि यह उद्धरण (९.२३) विद्याधर शर्मा ने पा० टि० १, का० श्रौ०, (अच्युतग्र० ४) पृ० ९८ में दिया है; परन्तु यह का० शु० में नहीं मिला।

[5] बौ० शु०, २.२८—यच्छोषपाकाभ्यां प्रतिह्रसेत्, पुरीक्षेण तत्संपूरयेत्। द्र०, स० शु०, २५.३.३६-३७।

[6] तदेव, २.४२—उख्यभस्मना संसृज्येष्टकाः कारयेत्। संवत्सरभृत एवैतदुपपद्यते।

[7] आप० श्रौ०, १६.१३.२; स० श्रौ०, ११.५.१३।

[8] श० ब्रा०, ८.७.२.१६—न भिन्नां न कृष्णामुपदध्यात्; का० श्रौ०, १६.७.२७, द्र०, आप० श्रौ०, १६.१३.९; स० श्रौ०, ११.५.२०; वै० श्रौ०, तदेव; द्र० चिन्नस्वामी, तदेव।

चितियों में विशेष यजुषों के द्वारा आहित[1] की जाती हैं। यजुष्मती ईंटों के अलग-अलग नाम होते हैं और उनकी पहचान के लिये विशेष लक्षण का अंकन किस प्रकार से होता है, इसका ज्ञान नहीं हो पाता है। बौधायन[2] का मत है कि मण्डल, ऋषभ एवं विकर्णी ईंटों का अंकन ऐसा होना चाहिए कि उनकी अलग से पहचान संभव हो। बौधायनशुल्बसूत्र के टीकाकार व्यंकटेश्वर दीक्षित एवं द्वारकानाथ यज्वा का कथन है कि इन ईंटों पर मण्डल, ऋषभ एवं चन्द्राकार विकर्ण स्त्री का अंकन[3] होना चाहिए। इससे यह कथ्य सिद्ध होता है कि प्रत्येक यजुष्मती का अन्य यजुष्मतियों से अलगाव के लिये किसी प्रकार का कोई विशेष अंकन अवश्य होता है; परन्तु आज उसे जानने का कोई साधन नहीं है। शुक्लयजुर्वेदीय[4] परम्परा में सभी ईंटें वक्र चिह्न '‿‿‿', ऋजुचिह्न '|||' और तिर्यक् चिह्न *---*, से अंकित रहती हैं। कृष्ण-यजुर्वेद-शाखा[5] में ऋजुचिह्न एवं दक्षिण अथवा बायीं ओर से घूमी हुई वक्र रेखाओं से चिह्नित होती है।

ईंटें भिन्न-भिन्न आकार एवं परिमाण की बनायी जाती हैं। शतपथब्राह्मण[6] में 'पादमात्री' एवं 'उर्वस्थिमात्री' (जाँघ के बराबर) ईंटों का उल्लेख मिलता है। शुक्लयजुर्वेद-शाखा[7] में चौदह प्रकार की ईंटों का प्रयोग बताया गया है—पद्या, अर्द्धपद्या, पादभागा, जङ्घामात्री, अध्यर्द्धा, अर्द्धोत्सेधा, अर्द्धपद्या, पादभागा, त्रिग्राहिणी, अर्द्धपाद-भागा, बृहती, वक्रा, अर्द्धबृहती और चतुर्भागा[8]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में पादमात्री, अरत्निमात्री, उर्वस्थिमात्री और अणूकमात्री ईंटों का उल्लेख[9] मिलता है। बौधायन[10] ने पादा, द्विपदा, पंचमभागीया अरत्निमात्री, अध्यर्द्धा, अर्द्धेष्टका, अर्द्धेष्टका, अर्द्धपद्या, षष्ठभागीया और चतुर्थभागीया अथवा अणूकमात्री ईंटों

---

१. श० ब्रा०, ८.७.२.३; सायण, श० ब्रा०, भाग-४, पृ० २; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ, भूमिका, पृ० ६२।

२. बौ० शु०, २.१९—मण्डलभृषभं विकर्णीमितीष्टकासु लक्ष्माणि प्रतीयात्।

३. तदेव, स० भ० ग्र०, १०७, पृ० ६५।

४. श० ब्रा०, ८,७.२.१७—त्र्यालिखितवत्यः; कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ९०२; विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, भूमिका, पृ० ६२, पाद-टिप्पणी, १, पृ० ९८।

५. आप० श्रौ०, १९.१३.६; बौ० शु०, २.१२; स० श्रौ०, १३.५.१८; वै० श्रौ०, १८।२९.११, मा० श्रौ०, ६.१.४.३९; वा० श्रौ०, २.१.४.१; बौ० शु०, २.१२; महादेव, आ० ग्र०, ५३ (९), परिशिष्ट, चयनोपयोगकारिका, पृ० १२-१३।

६. श० ब्रा०, तदेव।

७. इष्टका-प्रकरणम्, इष्टका-प्रमाणम्, पाण्डुलिपिसंख्या, ३४९९,४१२३, स० भ० पुस्तकालय, वाराणसी, विद्याधर शर्मा, तदेव, भूमिका, पृ० ६२ पादटिप्पणी, पृ० ९८।

८. इन ईंटों के परिमाण एवं निर्माण-पद्धति के लिये द्रष्टव्य-तदेव।

९. आप० श्रौ०, १९.१३.६; वै० श्रौ०, १८।२९.११; तु०, स० श्रौ० (शु०), २५.४.३-यहाँ प्रादेशमात्री ईंट का भी उल्लेख है।

१०. बौ० शु०, ३.११,१४,१६,१९,२०-२१,४१।

का वर्णन किया है। महादेव[1] ने छह प्रकार की ईंटों को उपधेय कहा है—षोडशी, अर्द्धेष्टका, पादेष्टका, पक्षेष्टका, पक्षमध्यीया और पक्षाग्रीया।

शतपथब्राह्मण[2] ने अत्यन्त स्पष्टरूप से चितियों में उपधेय ईंटों का विवरण प्रस्तुत किया है। इस ब्राह्मण के अनुसार यजुष्मती ईंटों की कुल संख्या ३९५ है; परन्तु इनमें २६ ईंटें मिट्टी की नहीं होतीं। अतएव मृण्मयी यजुष्मती ईंटों की संख्या ३६९ होती है। अग्नि में उपधेय लोकम्पृणा की समवेत संख्या १०,८०० है। इस प्रकार शुक्ल-याजुष-प्रस्थान में मिट्टी की ईंटों की कुल संख्या ११,१६९ हो जाती है।

कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों में स्पष्टतः कहीं सारी ईंटों का परिगणन नहीं किया गया है। केवल यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि यदि कोई व्यक्ति प्रथम बार अग्निचयन कर रहा हो, तो उसे १००० ईंटों के द्वारा जानु की ऊँचाई के बराबर, दूसरी बार २००० ईंटों के द्वारा नाभि की ऊँचाई के बराबर और तीसरी बार ३००० ईंटों के द्वारा मुख की ऊँचाई के बराबर अग्नि की संरचना करनी चाहिए[3]। इस विवरण से स्पष्ट है कि इन ईंटों में यजुष्मती और लोकम्पृणा उभयविध ईंटें संकलित हैं। कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों में यजुष्मती ईंटों की कहीं अलग से गणना नहीं मिलती। सभी कृष्णयजुर्वेदीय-संहिता-ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों में यजुष्मती ईंटों की संख्या में मतैक्य नहीं मिलता। अतएव[4] त्रितियों में यजुष्मती ईंटों का परिगणन यथावसर तथा यथास्थान किया जायेगा।

प्रायश्चित्त

उखा के टूट जाने पर प्रायश्चित्त-विधान—

उखा यदि किसी कारण से टूट जाये तो उख्य अग्नि को एक ऐसी स्थाली में रख देना चाहिए, जिसका मुख चौड़ा[5] हो। इसके पश्चात् पूर्व आहित उपशया मिट्टी

---

[1] महादेव, आ० ग्र०, ५३ (५), उपोद्घात, पृ० २-३।

[2] श० ब्रा०, १०.४.३.१४-२०; का० श्रौ०, परिशिष्ट-पूरण-सूत्र, ९.१-२; विद्याधर शर्मा तदेव, मानचित्र, का० श्रौ०, पृ० १४८-१४९ में परिगणना ठीक है; परन्तु पादटिप्पणी, पृ० ९८ और भूमिका पृ० ६२ में यजुष्मती ईंटों की संख्या ३७० और कुल ईंटों की संख्या ११, १७० बतायी गयी है; जो सही नहीं है। सम्भवतः इसी स्रोत पर आधारित होने के कारण सूर्यकान्त, वैदिक-कोश, पृ० ४१४-१५ तथा के० पी० सिंह के ग्रन्थ 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ् दि कात्यायनश्रौतसूत्र, पृ० १०४ में भी यही भूल दृष्टिगत होती है।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.६.८.२-३; का० सं० ब्रा० २१.४, मै० सं० ब्रा०, ३.३.२; क०सं०ब्रा०, ३५.१, आप० श्रौ०, १६.१३.११; स० श्रौ०, ११.५.२२.२५.३.४९-५१; वै० श्रौ०, १८।२९.१२, बौ० शु० २.१०।

[4] ईंटों की निर्माण-प्रक्रिया और संख्या आदि के विषय में द्रष्टव्य, सरस्वती भवन पुस्तकालय, (वाराणसी), पाण्डुलिपि सं० ४०६८-इष्टकानिर्णयप्रस्तारः; ३९५८, ४०१६-इष्टकापूरणम्; ४२५८, ४२७८-इष्टकापूरणभाष्यम्; ४०७८, ४४४०—इष्टकापूरणविवरणम्; ४४४१-इष्टकापूरणविवृतिः; ४०८२-इष्टकापूरणव्याख्या; १८७१-महाग्निसर्वस्वव्याख्या।

[5] श०ब्रा० ६.६.४.८-यद्यैषोखा भिद्येत, या भिन्ना नवा स्थाल्युरुबिली स्यात्, तस्यामेनं कुर्यात्; का० श्रौ, १६.७.८।

और टूटी उखा के टुकड़ों को पीसकर पूर्व प्रक्रिया के अनुसार पुनः उखा-निर्माण करना चाहिए[१]। उखा-निर्माण से उखा-अभिषेक तक सारे कार्य पूर्ववत् करने का विधान है। ध्यातव्य है कि इस बार किसी कर्म में मन्त्रों के प्रयोग का निषेध है[२]। अन्त में उख्य अग्नि तथा उखा के कपाल को इस नूतन उखा में आहित कर लेना चाहिए। उखा के अवशिष्ट टुकड़ों तथा उपशया मिट्टी को पीसकर और एक में मिलाकर पुनः प्रायश्चित्त हेतु सुरक्षित रख देना चाहिए[३]।

उख्य अग्नि के बुझ जाने पर प्रायश्चित्त-विधान—

यदि उख्य अग्नि बुझ जाये तो गार्हपत्य से अग्नि लेकर और पूर्व की ओर (आहवनीय की ओर) जाकर इसमें समिधा का आधान कर इसे पुनः प्रज्वलित करे[४]। इस समय भी मन्त्रों के प्रयोग का निषेध है। इस विधान का उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण एवं मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण में भी उपलब्ध है[५]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुसार इस समय कृष्ण वस्त्र, कृष्णा गाय और स्वर्ण दक्षिणा में देना[६] चाहिए।

आहवनीय, गार्हपत्य तथा आग्नीध्रीय अग्नि के बुझ जाने पर प्रायश्चित्त-विधान

कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार आहवनीय, गार्हपत्य तथा आग्नीध्रीय अग्नि के बुझने पर एक समिधा को घी में डुबो कर मन्त्र[७]पूर्वक तत्तद् अग्नियों में आहित करना चाहिए[८]। गार्हपत्य में निर्मन्थ्य अग्नि से पुनः अग्नि को प्रज्वलित करने[९] का निर्देश है। यदि सुत्या (सोमरस चुआने) का समय हो तो सदस् तथा हविर्धान के मार्ग से जाकर गार्हपत्य से अग्नि को ले जाना चाहिए और उसे आहवनीय में स्थापित करना चाहिए[१०]। आग्नीध्रीय अग्नि के बुझने पर अग्नि ले जाने का मार्ग सदस् के उत्तर से होगा[११]। ध्यातव्य है कि सभी प्रायश्चित्तों में पहले आध्वर प्रायश्चित्त होगा, तदनन्तर आग्निक[१२]।

---

[१] श० ब्रा० ६.६.४.९—मृदमाहृत्य, उखां चोपशयां च पिष्ट्वा संसृज्योखां करोति; का० श्रौ०, १६.७.९।

[२] श०ब्रा० तदेव–अनुपहरन् यजुस्तूष्णीमेव; का०श्रौ०, १६.७.१०–पक्वायामावपति कपालं च।

[३] तदेव–उखां चोपशयां च पिष्ट्वा संसृज्य निदधाति प्रायश्चित्तिभ्यः; का० श्रौ०, १६.७.११।

[४] श० ब्रा० ६.४.४.१०—उख्योऽग्निरनुगच्छेत्, गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुद्धृत्योपसमाधायोख्यं प्रवृञ्ज्यात् का० श्रौ०, १६.७.६; द्र०, तदेव, ११.१७, ५७; २५.३.१४-१५।

[५] तै० सं० ब्रा०, ५.७.५.१; मै० सं० ब्रा०, ३.४.७; द्र० कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४२२, पा० टि० १।

[६] तै० सं० ब्रा०, ५.७.५.२—कृष्णं वासः, कृष्णा धेनुर्दक्षिणा, हिरण्यं ददाति।

[७] वा० सं०, १२.४३-४४।

[८] का० श्रौ०, १६.७.१-२।

[९] तदेव, १६.७.३।

[१०] तदेव, १६.७.४।

[११] तदेव, १६.७.५।

[१२] श० ब्रा० ६.६.४.११; का० श्रौ०, १६.७.७।

द्वितीय अध्याय

अग्निचयन : सुपर्णचिति

पुरश्चरण

वेदि-मान—

जिस दिन दीक्षा समाप्त होती है, उसी दिन वेदि का मान संधारित किया जाता है[1]। वेदि का अग्रभाग पूर्व में होता है और पश्चभाग पश्चिम में। वस्तुतः वेदि की कल्पना एक सुपेशा नारी के रूप में की गयी है[2]; अतएव उसकी संरचना में यह ध्यान रखा जाता है कि अंगोपांग भी उसी तरह के हों। इस दृष्टि के कारण पूर्वी छोर की चौड़ाई कम होती है तथा पश्चिमी छोर को अंस अभिधान मिला है। पूर्वी छोर के मध्य-बिन्दु से उत्तरी भाग के अन्तिम बिन्दु तक के मध्यवर्ती भाग को उत्तर अंस तथा दक्षिणी भाग के अन्तिम बिन्दु तक के मध्यवर्ती स्थल को दक्षिण अंस कहा जाता है। अतएव वेदि के पश्चिमी छोर का अभिधान श्रोणि है। पश्चिमी छोर के मध्य-बिन्दु और उसके उत्तरी भाग के अन्तिम-बिन्दु के मध्यवर्ती भाग को उत्तर-श्रोणि तथा दक्षिणी भाग के अन्तिम बिन्दु तक को दक्षिण-श्रोणि नाम दिया गया है।

अंस की लम्बाई चौबीस प्रक्रम[3] तथा श्रोणि की लम्बाई तीस[4] प्रक्रम होती है। क्रमशः यही वेदि के पूर्वी-भाग तथा पश्चिमी-भाग की चौड़ाई है। पश्चिम से पूर्व तक की लम्बाई छत्तीस प्रक्रम[5] होती है। सौमिक वेदि का यही मान है। अग्निचयन के सन्दर्भ में एक प्रक्रम तीन पदों का माना जाता है, जब कि सोमयाग में यह दो पद[6] का है।

अग्निक्षेत्र-मान—

उत्तर-वेदि के ऊपर आहवनीय अग्नि की स्थापना की जाती है। इसी उत्तर-वेदि पर ईंटों द्वारा अग्नि का चयन किया जाता है। अतएव इस स्थल को अग्निक्षेत्र शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। ईंटों द्वारा उड़ते हुए सुपर्ण पक्षी के आकार को

---

[1] का० श्रौ०, १६.७.२८—दीक्षाणामुत्तमेऽहनि वैद्यग्निमानम्।

[2] श० ब्रा०, १.२.५.१५—योषा वै वेदिः।

[3] श० ब्रा०, ३.५.१, ५-६; १०.२.३.४; बौ० शु०, १.६९; स० श्रौ० शु०, २५.२.७।

[4] श० ब्रा०, ३.५.१, २-३, १०.२.३.४; बौ० शु०, तदेव; स० श्रौ० शु०, तदेव।

[5] श० ब्रा०, ३.५.१.४; १०.२.३.४; बौ० शु०, तदेव; स० श्रौ० शु०, तदेव।

[6] का० शु०, ७.३४—आधाने पदिकं कुर्याद् द्विपदः सैमिको भवेत्।
अग्नौ च त्रिपदं कुर्यात् प्रक्रमं याज्ञिको बुधः ॥ का० श्रौ०, १६.८.१६।

रूपायित करने का विधान है। इसके आत्मा का मान चार पुरुष[१] होता है। उत्तर पक्ष एवं दक्षिण पक्ष की लम्बाई एक-एक पुरुष की होती है[२]। पूँछ एक पुरुष के मान में बनायी जाती है। सुपर्ण का रूप उड़ता हुआ होता है[३]। अतएव दोनों पंखो के मध्य में पूर्व की ओर एक ईंट को चार अंगुल बढ़ाकर आहित की जाती है तथा पश्चिम में पूर्व ईंट की सिधाई में थोड़ा स्थान (चार अंगुल) रिक्त कर ईंट रखी जाती है[४]। ऐसा करने पर पक्षों की आकृति वक्र दृष्टिगत होने लगती है। अग्नि-क्षेत्र का इस प्रकार सात पुरुष के बराबर मान[५] होता है।

गार्हपत्य-चयन[६]

अब समस्त याजुष-प्रस्थानों में गार्हपत्य अग्नि के चयन का विधान मिलता है। शुक्ल तथा कृष्ण विधानों में कहीं-कहीं कुछ छोटे-मोटे अन्तर देखे जा सकते हैं। यह ध्यातव्य है कि उभय चिति-विधियों में तत्त्वदृष्टि से कोई भेद नहीं है।

शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र में गार्हपत्य-चिति का आकार वर्तुल बताया गया है[७]। इसका परिमाण एक व्याम या चार अरत्नि है[८]। कृष्णयजुर्वेद-संहिता-ब्राह्मणों में केवल मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण[९] में शुक्लयजुर्वेदीय माप का उल्लेख मिलता है। अन्य कृष्णयजुर्वेदीय-संहिता-ब्राह्मणों के समान यहाँ भी चिति के आकार का कोई संकेत नहीं मिलता। माप के सम्बन्ध में आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र,

---

१. श० ब्रा०, १०.२.३.५, बौ० शु०, ३.१०, स० श्रौ० शु०; २५.३.२१; विद्याधर शर्मा, का० षौ०, अ० ग्र०, पृ० ११३, पा० टि० १।

२. श० ब्रा०, तदेव, १०.२.३.६; का० श्रौ, १६.७.२-३; बौ० शु० तदेव; स० श्रौ० शु०, तदेव।

३. श० ब्रा०, १०.२.१.७; का० श्रौ०, तदेव; द्र०, बौ० शु०; ३.५.७; स० श्रौ० शु०, २५.३.२।

४. श० ब्रा०, १०.२.१.४-७, २.३.८; का० श्रौ०, १६.८.१५; विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १११-११२, पा० टि०.१।

५. विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० ११३, पा० टि० १।

६. वा० सं, १२.४५-६४, तै० सं, ४.२.४; का० सं०, १६.११; मै० सं०, २.७.११; क०सं०, २५.२; श० ब्रा०, ७.१.१-२; तै० सं० ब्रा०, ५.२.३; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३; क० सं० ब्रा०, ३१.३; का० श्रौ० १७.१.३-२२; बौ० श्रौ०, १०.२०-२१; आप० श्रौ०, १६.१४-१५.१.६; स० श्रौ०, ११.५.२९-४०; वै० श्रौ० १८।२९.१२; मा० श्रौ०, ६.१.५.१-१३; वा० श्रौ०, २.१.४.६-२०।

७. श० ब्रा०, ७.१.१.३७; का० श्रौ०, १७.१.५।

८. श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, तदेव।

९. मै० सं० ब्रा०, तदेव।

और मानवश्रौतसूत्र में भी शुक्लयजुर्वेदीय-ब्राह्मण का अनुसरण किया है[1]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा मानवश्रौतसूत्र[2] में परिमण्डल चिति के अतिरिक्त चतुरस्र गार्हपत्य के वैकल्पिक रूप का भी उल्लेख है[3]।

शुक्लयजुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुसार सर्वप्रथम पलाश की शाखा के द्वारा प्रदक्षिण क्रम से भूमि पर पड़े हुए तृण आदि का निरसन किया जाता है[4]। बाद में इस शाखा को उत्तर की ओर फेंक देना चाहिए[5]। कृष्णयजुर्वेदीय आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार पलाश-शाखा के स्थान पर शमी-शाखा का भी प्रयोग किया जा सकता है[6]। तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणीय-संहिता में उपर्युक्त विधि का निर्देश अनुपलब्ध है। इन ग्रन्थों में सर्वप्रथम यजन हेतु भूमि की प्राप्ति के लिए यम से प्रार्थना करने का विधान है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि दोनों प्रस्थानों में उपर्युक्त दोनों विधियों में विनियोजित मन्त्र समान हैं। बौधायनश्रौतसूत्र में मन्त्र पढ़कर अपने आप में अग्निग्रहण और स्वयं चिति के रूप के ध्यान का विधान किया गया है[7]।

इसके पश्चात् कुछ कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुसार भूमि को जल से अभ्युक्षित करने की विधि है[8]। शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान में गार्हपत्य चिति पर ऊषा (खारी मिट्टी) तथा सिकता का क्रमशः संनिवपन कर उनसे चिति को आच्छादित करने का विधान प्रस्तुत किया गया है[9]। कृष्णयजुर्वेद में पहले सिकता, तदनन्तर ऊषा के संनिवपन और उसको मन्त्र द्वारा मिलाने की व्यवस्था है[10]। शतपथब्राह्मण, कात्यायनश्रौतसूत्र, कृष्णयजुर्वेदीय आपस्तम्बश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र में गार्हपत्य के चारों ओर २१ परिश्रितों (३ अंगुल का विस्तृत पत्थर) को खोदकर गाड़ने का विधान है[11]। शतपथ-

---

१. आप० श्रौ०, १६.१४.१; स०श्रौ०, ११.५.२५; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.५.१, वा० श्रौ०, २.१.४.७, बौ० शु०, २.२९, स० शु०, २५.३.५१।

२. तदेव, स० शु०, २५.३.५०।

३. तदेव।

४. श० ब्रा०, ७.१.१.१; का० श्रौ०, १७.१.३।

५. श० ब्रा०, ७.१.१.५; का० श्रौ०, १७.१.४।

६. आप० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

७. बौ० श्रौ०, १०.२१।

८. तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.४; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३, सं० ब्रा०, ३१.३।

९. श० ब्रा०, ७.१.१.१.६,९ का० श्रौ०, १७.१.६।

१०. तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.५-६; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३; का० सं० ब्रा०, ३१.३, बौ०श्रौ०, १०.२०; आप०श्रौ०, १६.१४.१-२; स०श्रौ०, ११.५.२५-२६; वै० श्रौ, १८।२९.१२; मा० श्रौ० ६.१.५.२; वा० श्रौ०, २.१.४.९-१०।

११. श० ब्रा०, ७.१.१.१.३५, १०.४.३.१३; का०श्रौ०, १७.१.७; आप० श्रौ०, १६.१४.४; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१, ५.१; द्र० स० श्रौ, ११.५, २९; वा० श्रौ०, २.१.४.८।

ब्राह्मण इसके तिर्यग् उपधान, सादन तथा सूददोहस का निषेध करता है[१]। इस अवसर पर यह ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मणों में इस विधि का कहीं निर्देश नहीं है। समस्त ग्रन्थ गार्हपत्य की ईंटों की २१ संख्या के सम्बन्ध में एकमत हैं[२]। इन इष्टकाओं में ८ यजुष्मती और १३ लोकम्पृणा होती हैं[३]। शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार अध्वर्यु चितिदेश के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख बैठकर ४ अर्धबृहती नामक ईंटों का उपधान करता है[४]। ईंटें दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमशः आहित की जाती हैं[५]। ईंटों का मुख पूर्व की ओर रहता है। प्रत्येक इष्टका के उपधान के समय अलग-अलग मन्त्रों का विनियोग मिलता है। सब ईंटों के सादन तथा सूददोहस के मन्त्र का उच्चारण सकृत् होना चाहिए[६]।

इसके पश्चात् अध्वर्यु चिति के पश्चिम से उत्तर की ओर जाकर दक्षिणाभिमुख बैठता है और पश्चिम की ओर मध्यभाग में पूर्वोक्त इष्टकाओं से संलग्न दक्षिण और उत्तर में क्रमशः २ पद्या ईंटों का तिर्यग् (तिरश्ची) उपधान करता है। इसी प्रकार पुनः प्रत्यावर्तित होकर अध्वर्यु दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख बैठकर चिति के पूर्व में आहित होने वाली दोनों पद्या इष्टकाओं को रखता है। इस बार पहले उत्तर में तत्पश्चात् दक्षिण में ईंट के आधान का विधान है। समस्त कृष्णयजुर्वेद-संहिता-ब्राह्मणों, बौधायनश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र तथा मानवश्रौतसूत्र में इन ईंटों को समीची (एक सीध में) रखने का निर्देश है[७]। प्रत्येक इष्टका के उपधान, सादन तथा सूददोहस के मन्त्रों के अलग-अलग उच्चारण करने का नियम मिलता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र में विकल्परूप में इष्टकाओं के तिर्यग् आधान का भी उल्लेख है[८]।

कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार लोकम्पृणा इष्टकाओं में २ अर्धपद्या, २ पद्या तथा ८ वक्रा होंगी[९]। आग्नेय-कोण में २ अर्धपद्या तथा अन्य कोणों में ३ पद्या ईंटों को उपहित करना चाहिए। वक्रा ईंटों को शेष रिक्त स्थानों में आहित किया जाता है। शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र में लोकम्पृणा ईंटों के उपधान का द्विधा विधान मिलता है। चाहे ३ ईंटों को अथवा शेष ईंटों को मन्त्र पढ़कर रखे अथवा पहले दो ईंटों को उपहित कर फिर १० तथा १ ईंट को क्रमशः मन्त्र पढ़कर रखे। इष्टका उपधान के पश्चात् चात्वाल से पुरीष लाकर चिति को सम्यक् आवृत करना चाहिए[१०]।

---

१. श० ब्रा०, ७.१.१.१४।

२. श० ब्रा०, ७.१.१.३४; तै० सं० ब्रा, ५.२.३.१२, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा० तद्देव, का० श्रौ०, १७.१.८-१७; बौ० श्रौ०, १०.२०-२१; आप० श्रौ०, १६.१४.४-९; स० श्रौ०, ११.५.३१-३५; मा० श्रौ०, ६.१.५.४-६; वा० श्रौ०, २.१.४.१२-१४।

३. तदेव; ४. तदेव; ५. तदेव; ६. तदेव; ७. तदेव, पूर्व पा० टि० ७; ८. तदेव।

९. का० श्रौ०, १७.१.१५-१६।

१०. श० ब्रा० ७.१.१.३६; तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.१७; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं०

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, काठकसंहिता-ब्राह्मण तथा बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार सभी अग्नियों के चयन के समय चिति-देश के दक्षिण और उत्तर में क्रमशः कृष्ण तथा श्वेत अश्व खड़ा रखना चाहिए। इष्टका-उपधान तथा पुरीष-आधान के पूर्व क्रमशः उनका स्पर्श करना विहित है[1]।

शतपथब्राह्मण के अनुसार गार्हपत्य, एक चितिक होता है[2]। कात्यायनश्रौतसूत्र इसी मत का अनुगामी है[3]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, काठकसंहिता-ब्राह्मण, वैखानसश्रौतसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र और मानवश्रौतसूत्र के अनुसार प्रथम बार अग्निचयन करने वाले को पंचचितिक, दूसरी बार त्रिचितिक तथा तीसरी बार एक चितिक गार्हपत्य का चयन करना चाहिए[4]। मैत्रायणीय संहिता में त्रिचितिक या पंचचितिक गार्हपत्य को विहित माना गया है[5]। बौधायनश्रौतसूत्र में पंचचितिक गार्हपत्य का ही उल्लेख है[6]।

चयन कर लेने के पश्चात् मुख्य अग्नि को गार्हपत्यचिति के मध्य में स्थापित करने का निर्देश मिलता है[7]। शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार सिकता से उखा को भरकर दूध डालना चाहिए और उसे शिक्य से अलग कर अग्नि के उत्तर में एक अरत्नि की दूरी पर चिति-स्थल के ऊपर ही स्थापित कर देना चाहिए[8]। रिक्त उखा का अवेक्षण निषिद्ध माना गया है[9]। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों के अनुसार उखा में दही डालना चाहिए या पहले सिकता भरकर तब ऊपर दही लपेटे[10]। बौधायनश्रौतसूत्र में इस क्रिया की दो बार और आवृत्ति कर शाला के उत्तर-

---

ब्रा०, ३.२.३; क० सं० ब्रा०, ३१.३, का० श्रौ०, १७.१.१८; बौ० श्रौ०, १०.२१; आप० श्रौ०, १६.१५.१, स० श्रौ०, ११.५.३७; मा० श्रौ, ६.१.५.८; वा० श्रौ०, २.१.४.१५।

[1] तै० सं० ब्रा०, ५.७.१.२-३; का० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०-२०-२१।

[2] श० ब्रा०, ७.१.२.१५; का० श्रौ०, १७.१.२२।

[3] का० श्रौ०, तदेव।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.१४-१६; का० सं० ब्रा०, २०.१, आप० श्रौ०, १६.१५.३; वै० श्रौ०, १८।२९.१२, मा० श्रौ०, ६.१.५.९, द्र०, स०, श्रौ०, ११.५.३९, वा० श्रौ०, २.१.४.१७।

[5] मै० सं० ब्रा०, ३.२.३।

[6] बौ० श्रौ०, तदेव।

[7] श०ब्रा०, ७.१.१.३८-३९; का० श्रौ०, १७.२.१९।

[8] श० ब्रा०, ७.१.१.४१,४४; का० श्रौ०, १७.२.२१।

[9] श० ब्रा०, ७.१.१.४०, का० श्रौ०, १७.१.२०।

[10] तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.१, का० सं० ब्रा०, २०.१, मै० सं० ब्रा०, ३.२.१; क० सं० ब्रा०, ३१.३, बौ० श्रौ, १०.२२, आप० श्रौ०, १६.१५.५; स० श्रौ०, ११.६.१; वै० श्रौ०, १८।२९.१३; मा० श्रौ० ६.१.५.१३।

खण्ड में उखा को रखने का विधान है[1]। मानवश्रौतसूत्र में उखा को घी अथवा मधु से भी वैकल्पिकरूप में भरने का उल्लेख मिलता है[2]।

नैर्ऋत अग्निचयन[3] —

गार्हपत्य अग्नि की चिति की संरचना के अनन्तर नैर्ऋती ईटों का चयन किया जाता है। नैर्ऋति से सम्बद्ध होने से इसे नैर्ऋत-अग्नि-चयन कहा जाता है। इसमें तीन[4] काली ईटों का प्रयोग किया जाता है। इन ईंटों को धान की भूसी की आग में पकाया जाता है, इन पर कोई चिह्न भी नहीं बनाया जाता है और ये पादमात्री होती हैं। नैर्ऋती ईंटों को नैर्ऋत्य दिशा में श्वभ्र या प्रदर से युक्त ऊसर भूमि पर यज्ञ-स्थान से दूर रखकर चयन किया जाता है[5]। उत्तर की ओर खड़ा होकर अध्वर्यु नैर्ऋती ईंटों को दक्षिण की ओर रखता है[6]। कुछ लोग ईंटों को क्रमशः अपनी ओर आहित करते हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार इस प्रकार ईंटों का आधान उचित नहीं है[7]। ईंटों को अपने-आप से दूर रखना, निर्ऋति पाप से दूर होना है, अतएव पहली ईंट को रखने के पश्चात् दूसरी और तीसरी ईंट को उसके आगे रखना चाहिए[8]। इस प्रकार तीन ईंटों का संस्थापन दक्षिणाभिमुख ही होगा, उत्तराभिमुख नहीं। ईंटों को रखते समय स्पर्श का निषेध है।

तीनों ईंटें परस्पर असंसृष्ट रहती हैं और एक के बाद एक दक्षिणाभिमुख उपहित की जाती हैं। काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण, वैखानस-

---

[1] बौ० श्रौ०, तदेव।

[2] मा० श्रौ०, तदेव।

[3] वा० सं०, १२.६२-६६; तै० सं०, ४.२.५.६-१४; का०सं०, १६.११, मै० सं, २.७.१२, क० सं०, २५.३; का० श्रौ०, १७.१.२३, २.९; बौ० श्रौ० १०.२२, आप० श्रौ०, १६.१५.७-१०, १६, स० श्रौ०, ११.६.४-१५, वै० श्रौ० १८।२९. १३, मा० श्रौ०, ६.१.५.१४-२४. वा० श्रौ, २.१.४.२९-३०।

[4] श० ब्रा०, ७.२.१.१, ७, १४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.४, ५-१०, का० सं० ब्रा०, २०.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२-४; क० सं० ब्रा०, ३१.४; का० श्रौ० १७.१.२३; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१५.८; स० श्रौ०, ११.६.५, वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ, ६.१.५.१६; वा० श्रौ०, २.१.४.२३।

[5] श० ब्रा०, ७.२.१.८; तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.८; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.१.२३; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.१५.८; स० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[6] श० ब्रा०, ७.२.१.८; का० श्रौ० १७.१.२३।

[7] श० ब्रा०, ७.२.१.१३; का० श्रौ०, तदेव।

[8] श० ब्रा०, तदेव।

श्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और मानवश्रौतसूत्र के अनुसार शिक्यजाल से ईंटों को आच्छादित करना चाहिए[१]।

शुक्लयजुर्वेद-प्रस्थान में ईंटों को उपहित करने के अनन्तर आसन्दी-शिक्य, रुक्मपाश तथा दोनों इण्ड्वों को ईंटों के परे फेंक देने का विधान है[२]। इसके बाद अपने और नैर्ऋती ईंटों के मध्य चमस से जल की धारा छोड़कर ब्रह्मा, अध्वर्यु, यजमान आदि वहाँ से चल पड़ते हैं[३]। लौटते समय पीछे की ओर देखने का निषेध किया गया है[४]। लौटकर शालाद्वार्य गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिए[५]। तैत्तिरीयसंहिता, बौधायनश्रौतसूत्र में नैर्ऋती ईंटों के उपधान के पश्चात् उनके उपस्थान की विधि प्रस्तुत की गयी है[६]। बौधायन तथा वैखानस के मत से जल छोड़ने वाले पात्र का भी वहाँ परित्याग करना उचित है[७]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा मानवश्रौतसूत्र के अनुसार मार्जन करने के अनन्तर, गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिए[८]। बौधायन के मत में हाथ पैर भी धो लेना चाहिए[९]। मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण तथा मानवश्रौतसूत्र के अनुसार गोशाला के परे ही मार्जन करना श्रेयस्कर है[१०]। सभी प्रस्थान गार्हपत्य-अग्नि के उपस्थान में एक मत हैं; पर शालीकि आहवनीय के उपस्थान का विधान करते हैं[११]। इसीलिए सत्याषाढ इसे विकल्प-विधि के रूप में मान्यता देते हैं। बौधायन

---

[१] का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; बौ०श्रौ, १०.२२; आप० श्रौ०, १६.१५.९, १६.१; वै० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १६.६.७; मा० श्रौ०, ६.१.५.१८; वा० श्रौ०, २.१.४.२२।

[२] श० ब्रा०, ७.२.१.१५; का० श्रौ०, १७.२.३।

[३] श० ब्रा०, ७.२.१.१६; का० श्रौ०, १७.२.४।

[४] श० ब्रा०, ७.२.१.१७; का० श्रौ०, १७.२.६।

[५] श० ब्रा०, ७.२.१.१७; तै० सं० ब्रा०; ५.२.४.१२; का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१६.१; स० श्रौ०, ११.६.१४, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५.२३; वा० श्रौ०, २.१.४.२८।

[६] तै० सं० ब्रा०, ५.४.२.१३; बौ० श्रौ०, तदेव।

[७] बौ० श्रौ०, वै० श्रौ०, तदेव।

[८] तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.१४, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१६.५; स० श्रौ०, ११.६.१५; मा० श्रौ०, ६.१.५.२४; वा० श्रौ०, २.१.४.२९।

[९] बौ० श्रौ०, तदेव।

[१०] मै० सं० ब्रा०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५.२२।

[११] श० ब्रा०, ७.२.१.१८, तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव; का० श्रौ०, १७.२.५; मा० श्रौ०, ६.१.५.२४; वा० श्रौ०, २.१.४.२९; बौ० श्रौ०, २२.२— आहवनीयमेवैतेन यजुषोपविष्ठेरन्निति शालीकिः।

का कथन है कि जो लोग आहवनीय के उपस्थान को विहित मानते हैं, उनका मन्तव्य यह है कि पूर्व आहवनीय गार्हपत्य हो जाता है, अतएव इसी का उपस्थान उचित है[१]।

वेदि-संस्कार : अग्निक्षेत्र-कर्षण[२]—

ईंटों के द्वारा आहवनीय अग्नि का चयन करने के पूर्व सौमिक प्रायणीय हवि का निर्वपन, महावेदि की नाप-जोख तथा प्रायणीय इष्टि का समापन करने के बाद अग्निक्षेत्र को संस्कृत किया जाता है[३]। सर्वप्रथम सम्पूर्ण अग्निक्षेत्र की जोताई करने का विधान है। इस विधि को अग्नि-कर्षण, क्षेत्र-कर्षण या अग्निक्षेत्र-कर्षण कहा गया है। हल जुआ उदुम्बर अथवा किसी दृढ़ वृक्ष की लकड़ी का होता है[४]। सभी रस्सियाँ मूँज की बनी होती हैं[५]। बैलों की संख्या छह होती है[६]। शतपथब्राह्मण, तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र और मानवश्रौतसूत्र में बारह बैलों को भी जोतने का निर्देश मिलता है[७]। शतपथब्राह्मण, कात्यायनश्रौतसूत्र, सत्याषाढ-श्रौतसूत्र तथा आपस्तम्बश्रौतसूत्र में बैलों की उपर्युक्त दोनों संख्याओं के अतिरिक्त चौबीस संख्या को भी मान्यता दी गयी है[८]। शुक्लयजुर्वेद में केवल आत्मा को जोतने का विधान किया गया है; पर कृष्णयजुर्वेद दोनों पक्षों और पुच्छ को भी जोतने का निर्देश देता है[९]। कात्यायनश्रौतसूत्र का मत है कि अध्वर्यु तथा अन्य पुरुष क्षेत्र की

---

[१] बौ० श्रौ०, १०.२२।

[२] वा० सं०, १२.६७-७३; तै० सं०, ४.२.५.१५-२०; का० सं०, १६.१२; मै० सं०, २.७.१२; क० सं०, २५.३; श० ब्रा०; ७.२.२.२-२१; तै० सं० ब्रा०, ५ २ ५.१-१४; का० सं० ब्रा०, २०.३, मै० सं० ब्रा०, ३.२-४; क० सं० ब्रा०, ३१.५, का० श्रौ०, १७.२.७.२१, बौ० श्रौ०, १०.२३; आप० श्रौ०, १६.१८-१९, १-८; स० श्रौ०, ११.६.२५-४२; वै० श्रौ०, २९।१८.१६; मा० श्रौ०, ६.१.५.२५-४३; वा० श्रौ, २.१.४.३८, ५.१-७।

[३] श० ब्रा०, ७.२.३.१, का० श्रौ०, १७.२.७।

[४] श० ब्रा०, ७.२.२.३—औदुम्बरं भवति; का० श्रौ०, १७.२.९; बौ० श्रौ०, १०.२४; वै० श्रौ०, तदेव; ।

[५] श० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, २०.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.४; क० सं० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, १७.२.८।

[६] श० ब्रा०, ७.२.२,६; का० श्रौ०, १७.२.९।

[७] श० ब्रा० तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.८-९; का० श्रौ०, तदेव, बौ० श्रौ० १०.२५; आप० श्रौ०, १६.१८.५; स० श्रौ०, ११.६.२७; वै० श्रौ०; तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५.३७; वा० श्रौ०, २.१.४.३८।

[८] आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०; का० श्रौ०, तदेव।

[९] श० ब्रा०, ७.२.२.८; का० श्रौ०; १७.२.११; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१९.४; स० श्रौ०, ११.६.३४-३८; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०; ६.१.५.४०; वा० श्रौ०, २.१.५.४।

जोताई करते हैं[१]। बौधायन के अनुसार हल-जुआ कोई ला सकता है, पर जोतने का कार्य अध्वर्यु ही करता है। शालीकि का अभिमत है कि सम्पूर्ण अनुष्ठानों का सम्पादन अध्वर्यु को ही करना चाहिए[२]। शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के अनुसार सम्पूर्ण अग्निक्षेत्र में सोलह कूंड़ बनाये जाते हैं, पर कृष्णयजुर्वेद में बारह कूंड़ों का ही विधान है[३]।

अग्निक्षेत्र के उत्तर अंस के पूर्व में प्रतिप्रस्थाता बैलों को हल में जोतता है। पहले दायें, तदुपरान्त बायें बैल को हल में जोतने का विधान किया गया है[४]। जिस समय प्रतिप्रस्थाता बैलों को जोतता है, उस समय अध्वर्यु अग्निक्षेत्र की दक्षिण श्रेणि के पश्चिम में खड़ा होकर उन्हें मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करता है[५]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार दो बैलों को जोतते समय मन्त्र का प्रयोग उचित है। अन्य बैलों को चुपचाप जोतना चाहिए। शालीकि के मत में सभी बैलों को जोतते समय अभिमन्त्रित करना उचित है[६]।

सर्वप्रथम चार कूंड़ जोते जाते हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार पहला दक्षिण श्रेणि से दक्षिण अंस तक, दूसरा दक्षिण श्रेणि से उत्तर श्रेणि तक, तीसरा उत्तर श्रेणि से उत्तर अंस तक तथा चौथा कूंड़ उत्तर अंस से दक्षिण अंस तक बनाया जाता है[७]। इसी क्रम से चारों ओर तीन-तीन कूंड़ और जोते जाते हैं। प्रथम चार कूंड़ों की जोताई के क्रम को कात्यायनश्रौतसूत्र भी स्वीकार करता है[८]। अवशिष्ट बारह कूंड़ों को बनाने में शतपथब्राह्मण से कात्यायनश्रौतसूत्र का मतभेद है[९]। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार पश्चिम अनूक पर दक्षिण से उत्तर की ओर, दक्षिण श्रेणि से उत्तर अंस तक, उत्तर श्रेणि से दक्षिण अंस तक और पूर्व-अनूक पर पूर्व से पश्चिम की ओर तीन-तीन कूंड़ जोतना उचित है[१०]। अग्नि-क्षेत्र का कर्षण समाप्त करने के बाद मन्त्र का विनियोग कर बैलों को ईशान कोण में छोड़ दिया जाता है[११]। तैत्तिरीयसंहिता-

---

[१] का० श्रौ०, १७.२, ११, १८।

[२] बौ० श्रौ०, २२.३।

[३] श० ब्रा०, ७.२.२.१७—षोडश सम्पद्यन्ते; का० श्रौ०, १७.२.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.१४—तिस्रस्तिस्रः सीताकृषति; का० सं० ब्रा०, २०.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.५; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१९.५; स० श्रौ०, ११.६.३९; मा० श्रौ० ६.१.५.४१, वा० श्रौ०, २.१.५.६।

[४] महीधर, वा० सं०, १२.६७।

[५] श० ब्रा०, ७.२.२.४; का० श्रौ०, १७.२.१०।

[६] बौ० श्रौ०, २२.२।

[७] श० ब्रा०, ७.२.२.९-१७, का० श्रौ०, १७.२.१२-१७।

[८] का० श्रौ०, १७.२.१२।

[९] का० श्रौ०, १७.२.१३-१७।

[१०] का० श्रौ०, १७.२.१३-१७।

[११] श० ब्रा०, ७.२.२.२१; का० श्रौ०, १७.२.१९।

ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में बैलों को उत्तर दिशा में छोड़ने का विधान है[1]। काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण और वाराहश्रौतसूत्र में बैलों को पूर्व में मुक्त करने का निर्देश है[2]। मानवश्रौतसूत्र बैलों को अभिकोण की ओर छोड़ने की विधि प्रस्तुत करता है[3]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र में शुक्लयजुर्वेदीय विधि को वैकल्पिक रूप में मान्यता दी गयी है[4]। हल को उत्कर में फेंक दिया जाता है[5]। दक्षिणा प्रदान करते समय ये बैल अध्वर्यु को दिये जाते हैं[6]। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार हल भी अध्वर्यु को दक्षिणा के रूप में प्रदान करना चाहिए[7]।

दर्भस्तम्ब[8]—

अग्निक्षेत्र के मध्य में दर्भस्तम्ब रखा जाता है[9]। शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार दर्भस्तम्ब का उपधान निमन्त्रक होता है। दर्भस्तम्ब के उपधान के अनन्तर स्रुच् में पांच बार आज्य-ग्रहण कर उसपर आहुति दी जाती है[10]। कृष्णयजुर्वेदीय-

---

१. तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.३, उदीच उत्सृजति; का० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१९.८; स० श्रौ०, ११.६.४१, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५, ४२—दक्षिणः प्राचां विमुञ्चति; वा० श्रौ०, २.१.५.६—प्राच उत्सृजन्ति।

२. तदेव।

३. तदेव।

४. श० ब्रा०, तदेव।

५. का० श्रौ०, १७.२.२१।

६. श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.२.२०; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१९.८, स० श्रौ०, ११.६.४२; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५.४३; वा० श्रौ०, २.१.५.७।

७. मा० श्रौ०, तदेव।

८. वा० सं०, १२.७४; तै० सं०, ५.६.४.१-५; का० सं०, २२.६; मै० सं०, २.१२.३; क० सं०, ३४.१; श० ब्रा०, ७.२.३; तै० सं० ब्रा०; तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.३.१-२; बौ० श्रौ०, १०.२३, आप० श्रौ० १६.१७.७, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.५.३२; वा० श्रौ०, २.१.४.१७।

९. श० ब्रा०, ७.२.३.१—दर्भस्तम्बमुपदधाति; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ० १७.३.१; बौ०श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, ११.६.१६, वै० श्रौ०, तदेव; मा०श्रौ०, तदेव; वा०श्रौ०, तदेव।

१०. श० ब्रा०, ७.२.३.४; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.३.२; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

श्रौतसूत्रों के मत से दर्भस्तम्ब पर सुवर्ण रखकर आहुति देनी चाहिए[1]। कृष्णयजुर्वेद में दर्भस्तम्ब के साथ मन्त्र द्वारा दूर्वा के उपधान का भी निर्देश मिलता है[2]।

उदचमस-निनयन[3]—

दर्भस्तम्ब होम के पश्चात् जुते हुए अग्निक्षेत्र की सिंचाई की जाती है। इस विधि को उदचमस-निनयन का अभिधान दिया गया है। जिस चमस में जल भरकर क्षेत्र की सिंचाई की जाती है, वह उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी का बना हुआ होता है और उसका आकार चौकोर रहता है[4]। क्षेत्र के जुते-अनजुते दोनों भागों को सींचने का विधान है। कुल पन्द्रह चमस जल सिंचाई में प्रयुक्त होता है। जिस क्रम से कूंड़ बनाये जाते हैं, उसी क्रम से सिंचाई भी होती है। बाहर चमस से जुते हुए क्षेत्र की और तीन चमस से अनजुते क्षेत्र की सिंचाई की जाती है। तीन-तीन चमस से चार-चार कूंड़ सींचे जाते हैं[5]। कात्यायनश्रौतसूत्र में पन्द्रह चमसों से केवल जुते क्षेत्र की सिंचाई की विधि भी मिलती है। यह विधि यद्यपि कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में नहीं मिलती; तथापि आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में इसका वर्णन किया गया है।

औषधि-वपन[6]—

क्षेत्र की सिंचाई करने के बाद औषधियों को बोने का अनुष्ठान किया जाता है। इसे औषधि-वपन कहा गया है। उदचमस-निनयन के क्रम को ही औषधि-वपन में भी स्वीकार किया गया है[7]। उदुम्बर की लकड़ी के चौकोर चमस में औषधियों को भर कर बोआई की जाती है[8]। बारह चमसों से जुते क्षेत्र में और तीन चमसों से अनजुते

---

[1] मा० श्रौ०, वा० श्रौ०, तदेव।

[2] बौ० श्रौ०, १०.२३।

[3] श० ब्रा०, ७.२.४.१-१२; का० श्रौ०, १७.३.३-५; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.१९ १०; स० श्रौ०, ११.६.४३-४४।

[4] श० ब्रा०, ७.२.४.२; का० श्रौ० १७.३.३।

[5] श० ब्रा०, ७.२.४.४,६; का० श्रौ०, १७.३.४-५; आप० श्रौ०, १६.१९.१०; स० श्रौ०, ११.६.४४, वै० श्रौ०, तदेव।

[6] वा० सं०, ११.७५-८९, तै० सं०, ४.२.६; का० सं०, १६.१३; मै०सं०, तदेव; क०सं०, तदेव; श० ब्रा०, ७.२.४.१३-२४, तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.१७-१८; का० सं० ब्रा०, २०.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.५; क० सं० ब्रा०, ३१.५; का० श्रौ०, १७.३.८-१०, बौ०श्रौ०, १०.२५; आप० श्रौ०, १६.१९.११; स० श्रौ०, ११.६.४५-४६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.६.१-३; वा० श्रौ०, २.१.५.८-१२।

[7] श० ब्रा०, ७.२.४.१४-१८; का० श्रौ०, १७.३.८।

[8] श० ब्रा०, ७.२.४.१४; का० श्रौ०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव।

क्षेत्र में औषधियाँ बोई जाती हैं[1]। शुक्लयजुर्वेद के अनुसार समस्त औषधियों को बोना उचित है, केवल किसी एक औषधि को नहीं बोना चाहिए[2]। ध्यातव्य है कि उसी औषधि को नहीं बोना चाहिए, जिसका प्रयोग यजमान जीवन-पर्यन्त न करना चाहे[3]। कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान के अनुसार ग्राम्य-औषधियों को जुते क्षेत्र में, आरण्य-औषधियों को अनजुते क्षेत्र में बोना चाहिए[4]। ग्राम्य-औषधियाँ सात हैं—तिल, माष, व्रीहि, यव, प्रियंगु (काकुन), अणु और गोधूम। आरण्यक-औषधियाँ भी सात ही हैं—श्यामाक (साँवा), नीवार, जर्तिल (जंगली तिल), गवीधुक्, गार्मुत, वास्त्व और वैणुयव[5]। कुछ लोग ग्राम्य-औषधियों में कुलत्थ तथा आरण्यक-औषधियों में कुरुविन्द की गणना करते हैं[6]। आपस्तम्ब गार्मुत या कुलत्थ में किसी एक को आरण्यक मानता है[7]। काठकसंहिता-ब्राह्मण और मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण में कहा गया है कि वपन के समय जो औषधि उपलब्ध न हो, उसका ध्यान मात्र ही पर्याप्त है[8]। मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण और कतिपय कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों के अनुसार अनुपलब्ध औषधियों के स्थान पर मधुसने जौ का प्रयोग करना चाहिए[9]। बौधायन के अनुसार औषधियों को दही और आज्य में लपेट कर बोना चाहिए[10]। मानवश्रौतसूत्र घृत से औषधियों को अंजित करने का निर्देश देता है[11]।

परिश्रयण[12]—

सोम-निवपन, सोमक्रय तथा आतिथ्य इष्टि में हविष्कृद्-आह्वान तक अनुष्ठान करने के बाद आहवनीय अग्नि के चारों ओर गार्हपत्य के समान परिश्रयण किया जाता

---

[1] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.३.४-५।

[2] श० ब्रा०, ७.२.४.१४, का० श्रौ०, १७.३.६।

[3] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.३.७।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.५; का० सं० ब्रा०, २०.३; मै० सं०ब्रा०, ३.२.५; क० सं० ब्रा०, ३१.५।

[5] महादेव, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग ५, पृ० ४८।

[6] तदेव।

[7] आप० श्रौ०, १६.१९.१३-१४।

[8] का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

[9] मै० सं० ब्रा०, तदेव—यदि सर्वं न संविन्देद् यवान् मधुग्रुतान् वपेत्; आप० श्रौ०, १६.२०.१; स० श्रौ०, ११.६.४७; मा० श्रौ०, ६.१.६.२; वा० श्रौ०, २.१.५८।

[10] बौ० श्रौ०, १०.२५—सर्वौषधं दध्नाज्येन समुदायुतं भवति।

[11] मा० श्रौ०, ६.१.६.१—औषधीरारण्या ग्राम्याश्च सर्पिषा संसृज्य····।

[12] वा० सं०, १२.४६, तै० सं०, ४.२.७; का० सं० ब्रा०, ३८.१२; मै० सं०, ३.५.३; श०ब्रा०, ७.३.१.११; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६.२-४; का० सं० ब्रा०, २०.४; का० श्रौ०, १७.३.९-१०; आप० श्रौ०, १६.२०.९-११; सं० श्रौ०, ११.६.५६-५९; वै० श्रौ०, १८।२९.१६, मा० श्रौ०, ६.१.६.९; वा० श्रौ०; २.१.५.१९।

है। शतपथब्राह्मण के अनुसार आहवनीय के परिश्रयण में २६१ पत्थरों या कंकड़ों का प्रयोग किया जाता है[१]। यद्यपि कात्यायनश्रौतसूत्र में शतपथब्राह्मण की पाषाण-संख्या को मान्यता दी गयी है; फिर भी यहाँ वैकल्पिक रूप में ३९४ पाषाणों से भी परिश्रयण का विधान है[२]। अग्नि-क्षेत्र के वायव्य कोण में जंघा, नाभि और मुख के बराबर तीन पत्थर परिश्रित के लिए गाड़े जाते हैं[३]। सात-सात परिश्रित पाषाणों के निमित्त मन्त्र का एकबार विनियोग होता है। यदि परिश्रित पाषाण २६१ होगें, तो मन्त्र ३९ बार पढ़ा जायेगा[४]। अवशिष्ट दो परिश्रितों के हेतु अलग-अलग दो बार मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। जब परिश्रितोंकी संख्या ३९४ होगी, तब मन्त्र छप्पन बार प्रयुक्त होता है। अन्त में शेष दो परिश्रितों के लिए पूर्ववत् दो बार मन्त्र अलग-अलग विनियोजित किया जाता है।

लोगेष्टका-चयन[५]—

अग्नि-क्षेत्र का परिश्रयण करने के अनन्तर वेदि के बाहर से मिट्टी के चार ढ़ेलों को लेकर स्थापित किया जाता है। इन ढेलों को 'लोग' इष्टका कहा गया है[६]। स्फ्य से लोग ईंटों को खोदा जाता है[७]। इनका उपधान चारों ओर अनूकों के अन्त में करने का विधान है[८]। पश्चिम में उपधेय ईंट को वायव्य दिशा से लाया जाता है[९]। उत्तरी ईंट को रखते समय उसकी धूलि भूमि पर गिरानी चाहिए[१०]। शतपथब्राह्मण का मत है कि यजुष्मती ईंट होने के कारण इसका आधान आत्मदेश में ही उचित है[११]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार अग्नि-क्षेत्र को जोतते समय जो ढ़ेले बाहर हो गये हों, उन्हीं में से लोग इष्टका बनानी चाहिए[१२]। बौधानश्रौतसूत्र के मत में सर्वप्रथम दक्षिण में लोग इष्टका आहित कर,

---

१. श० ब्रा०, १०.४.३.१३—द्वे एकषष्ठे शते आहवनीये।

२. का० श्रौ०, १६.८.१७,८; ३. तदेव, १६.८.२३; ४. तदेव, १७.३.९।

५. वा० सं०, १२.१०२-१०५, तै० सं०, तदेव; का० सं० १६.१४; मै० सं०, २.७.१४; श० ब्रा०, ७.२.१-२६; तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.६; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.३.११-१२; बौ० श्रौ०, १०.२५-२६; आप० श्रौ०, १६.२०.५-६; स० श्रौ०, ११.६.५३-५४; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.६-५; वा० श्रौ०, २.१.५.१३।

६. श० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, १७.३.११।

७. श० ब्रा०, ७.३.१.१९; का० श्रौ०, तदेव।

८. श० ब्रा०, ७.३.१.२०-२४; का० श्रौ०, १७.३.११-१२।

९. श० ब्रा०, ७.३.१.२२।

१०. श० ब्रा०, ७.३.१.२३; का० श्रौ० १७.३.१३।

११. श० ब्रा०, ७.३.१.२५—ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः, ता आत्मन्नेवोपदधाति।

१२. आप० श्रौ०, १६.२०.५—अन्तर्विघाद्बहिर्विघमपन्नाः; स० श्रौ०, ११.६.५३; वै० श्रौ० १८।२९.६।

तदनन्तर पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व में उपहित करना चाहिए[१]। शुक्लयजुर्वेद में लोग ईंटे क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में रखी जाती हैं[२]। बौधायनश्रौतसूत्र में बताया गया है कि उत्तर से दो ढ़ेलों को लाकर उनमें से एक को उसी दिशा में उपहित कर, दूसरे को उधर फेंकना चाहिए, जिधर यजमान के शत्रु का निवास हो[३]। तैत्तिरीय मत का अनुगमन करते हुए शालीकि का अभिमत है कि जिधर शत्रु का निवास हो, उधर से ढ़ेले ही लाना चाहिए[४]। औपमन्यव की दृष्टि में प्रत्येक ईंट के आधान के बाद एक ढ़ेला उधर फेंकना चाहिए, जिधर शत्रु हो।

उत्तरवेदि, सिकता-निवपन[५]—

प्राकृत सोमयाग की भाँति उत्तरवेदि का संस्कार करने का निर्देश है[६]। इस कर्म को उत्तरवेदि-निवपन की संज्ञा दी गयी है। उत्तरवेदि-निवपन अग्निक्षेत्र के मध्य में आहित दर्भस्तम्ब के ऊपर ही किया जाता है[७]। उत्तरवेदि से सम्बद्ध सभी अनुष्ठान पूर्ववत् किये जाते हैं[८]। अग्निक्षेत्र के आत्मा-प्रदेश को बालू से आच्छादित कर दिया जाता है[९]। इस कर्म को सिकता-निवपन कहा गया है। सिकता का परिगणन यजुष्मती ईंटों में किया गया है। अतएव पक्षों एवं पुच्छ में इसे नहीं बिछाया जाता है[१०]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र और सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय यजमान होने पर गायत्री और त्रिष्टुप् छन्दवाली ऋचाओं का विनियोग सिकता-निवपन में करना चाहिए[११]। काठकसंहिता और सत्याषाढश्रौतसूत्र के मत में यदि वैश्य यजमान हो तो जगती छन्द का विनियोग उचित है[१२]। सिकता के

---

१. बौ० श्रौ०, १०.२६।

२. श० ब्रा०, ७.३.१.२०-२३-पुरस्तादाहरति, अथ दक्षिणतः, अथ पश्चाद्, अथोत्तरतः; का० श्रौ०, १७.३.११।

३. बौ० श्रौ०, २२.२।

४. तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.६—यं द्विष्याद् यत्र स स्यात्, तस्यै दिशो लोष्टमाहरेत्; तु०, का० सं० ब्रा०, २०.४; बौ० श्रौ०, १०.२६; आप० श्रौ०, १६.२०.६; स० श्रौ०, ११.६.५३; मा० श्रौ० ६.१.६.५; बौ० श्रौ०, २२.२।

५. बौ० श्रौ०, तदेव।

६. श० ब्रा०, ७.२.३.२७-२८; का० श्रौ०, १७.३.१४।

७. विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, तदेव।

८. श०ब्रा०, ३.५.१.१२-३६; तै०सं०ब्रा०, ६.२.७; का० सं० ब्रा०, २५.५; मै०सं०ब्रा०, ३.८.५-६; क० सं० ब्रा०, ३९.३-४।

९. वा० सं०, १२.१०६-१११; श० ब्रा०, ७.३.१.२८ का० श्रौ०, १७.३.१५।

१०. श० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, तदेव।

११. तै० सं० ब्रा०, तदेव, का० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, ११.६.६१।

१२. स० श्रौ०, ११.६.६१।

निवपन के बाद उसे अच्छी तरह फैला देना चाहिए। इस कर्म को सिकता-व्यूहन या सिकता-लम्भन कहते हैं। इसमें दो मन्त्रों का विनियोग किया जाता है[१]।

अग्नि-प्रणयन—

अवशिष्ट आविथ्य इष्टि, प्रवर्ग्य और उपसद् इष्टि का अनुष्ठान प्रकृत सोमयाग के समान करने के पश्चात् चिति में उपधेय ईंटों को अग्नि-क्षेत्र के समीप स्थापित किया जाता है[२]। इस कर्म को अग्नि-प्रणयन कहा गया है। गार्हपत्य के पूर्व में लाल बैल के चमड़े पर प्रथम चिति की ईंटें रखी जाती हैं[३]। अन्य चितियों की स्वयंमातृष्णा ईंटें भी साथ में रहती हैं[४]। यदि इच्छा हो तो सभी चितियों की ईंटें इस चमड़े पर रखी जा सकती हैं[५]। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार चमड़ा अन्तःपात्य शंकु के पूर्व में बिछाना चाहिए[६]। ध्यातव्य है कि चमड़े को इस प्रकार बिछाना चाहिए कि उसका अगला भाग पूर्व में रहे और रोएँदार हिस्सा ऊपर की ओर[७]। बौधायनश्रौतसूत्र में वैकल्पिक रूप में उच्छाया (चटाई) का प्रयोग चमड़े के स्थान पर विहित माना गया है[८]। बौधायनश्रौतसूत्र में चमड़े पर रखी जाने वाली वस्तुओं की एक लम्बी सूची दी गयी है। सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार सभी ईंटों के स्थान पर केवल स्वयमातृष्णाओं तथा विश्व-ज्योति ईंटों को ही चमड़े पर रखकर अनुष्ठान किया जा सकता है[९]। इस वृषभ चर्म के पूर्व में श्वेत अश्व अथवा किसी वर्ण का अश्व अथवा वृषभ खड़ा रहता है[१०]। कुशों को आज्य में डुबाकर चमड़े पर स्थापित अग्नि (चिति में उपधेय ईंटों) का प्रोक्षण किया जाता है। कृष्णयजुर्वेद में जल से भी प्रोक्षण का विधान है।

---

१. वा० सं०, ११.११२-११३ तै० सं०, ४.२.७; का० सं०, १६.१४; मै० सं०, २.७.१४; क० सं०, २५.५।

२. श० ब्रा०, ७.३.२.१-१९; का० श्रौ०, १७.३.१७.२२; बौ० श्रौ०, १०.२७ आप०श्रौ०, १६.२१; स०श्रौ०, ११.७.२-७; वै०श्रौ०, १८।२९. १६; मा० श्रौ०, ६.१.६.१३-१६; वा० श्रौ०, २.१.६.५-७।

३. श० ब्रा०, ७.३.२.१—चर्माणि, रोहिते, आनडुहे; का० श्रौ०, १७.३.१७।

४. का० श्रौ०, १७.३.१८—इतरासां च स्वयमातृष्णाः।

५. तदेव, १७.३.१९।

६. तदेव, १७.३.१७।

७. श० ब्रा०, ७.३.१.१।

८. बौ० श्रौ०, १०. २७।

९. स० श्रौ०, ११.७.३।

१०. श० ब्रा०, ७.३.२.१०, अश्वं शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति; तदेव, ७.३.२.१६—यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः; का०श्रौ०, १७.३.२०–कात्यायन का मत है कि यदि अश्व न उपलब्ध हो, तो बैल का प्रयोग करना चाहिए।

अग्नि-प्रोक्षण के बाद अग्नि-प्रणयन के निमित्त मन्त्रों के अनुवचन हेतु अध्वर्यु होता को निर्देश देता है[१]। जब होता पहली ऋचा का तीन बार पाठ कर लेता है, तब अध्वर्यु[२] आदि चमड़े पर रखी ईंटों को, चमड़ा सहित उठाकर, श्वेत अश्व को आगे-आगे हाँकते हुए पूर्व में पुच्छ के दक्षिण में रख देते हैं। इस समय तीन आग्नेयी 'कामवती' ऋचाओं का विनियोग किया जाता है[३]। चित्य ईंटों को रखने के बाद पुच्छ के उत्तर की ओर से अश्व को अग्नि-क्षेत्र की ओर ले जाने का विधान है[४]। शुक्लयजुर्वेद-प्रस्थान में अश्व का आरोहण और गमन आत्मा और उत्तरपक्ष के मध्य से है। कुछ लोगों के मत से अश्व को पूर्व या पश्चिम में पुच्छ की ओर से अग्नि-क्षेत्र में प्रविष्ट कराना चाहिए[५]। जिस प्रकार अग्नि-क्षेत्र में कुण्ड बनाये गये हें, उसी प्रकार अश्व को सम्पूर्ण अग्नि-क्षेत्र में घुमाया जाता है[६]। मानवश्रौतसूत्र नाभि पर अश्व के पैर को रखवाने का विधान प्रस्तुत करता है[७]। जब अश्व घूमता हुआ पश्चिम की ओर आता है, तब उसे चमड़े पर आहित ईंटों को सुँघाया[८] जाता है। घोड़े को पश्चिम पार्श्व में उत्तराभिमुख ले जाकर बैलों के समान ईशान कोण में मुक्त कर दिया जाता है[९]। उत्तरवेदि के प्रोक्षण से संभार-निवपन तक सभी सौमिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के बाद यजमान उत्तरवेदि के पश्चिम में खड़ा होकर अग्नि को आत्मसात् करता है[१०]। इसे अग्नि-ग्रहण कहा गया है। तदनन्तर यजमान सत्यसाम का गान करता है[११]।

प्रथम·चिति की संरचना[१२]—

यद्यपि प्रथम-चिति की संरचना में ईंटों के आधान का आरम्भ दर्भस्तम्ब

---

१. श० ब्रा०, ७.३.२.५।

२. श० ब्रा०, ७.३.२.१०; का श्रौ०, १७.३.२१-२२; आप० श्रौ०, १६ २१.३।

३. वा० सं०, १२.११५-११७; श० ब्रा०, ७.३.२.८; बौ० श्रौ०, १०.२७।

४. श० ब्रा०, ७.३.२.११; का० श्रौ०, १७.३.२३।

५. का० श्रौ०, १७.३.२४।

६. श० ब्रा०, ७.३.२.१७; का० श्रौ०, १७.३.२५।

७. मा० श्रौ०, ६.१.६.१७।

८. श० ब्रा, ७.३.२.१२-१४; का० श्रौ०, १३.२.२६, बौ० श्रौ०, १०.२८।

९. श० ब्रा०, ७.३.२.१९; का० श्रौ०, १७.३.२६।

१०. वा० सं०, १३.१; तै० सं०, ५.७.९.१; का० सं०, ७.१२; मै० सं०, १.६.१; श० ब्रा०, ७.४.१.१; तै० सं० ब्रा०, ५.७.९.१-२; का० श्रौ०, १७.३.२७; बौ० श्रौ, १०.२८; आप० श्रौ०, १६.२१.८; स० श्रौ०, ११.७.६; वै० श्रौ०, १८।२९.१६; द्र०, कीथ, हा० औ० सी०, १९, पृ० ४७७, पा० टि० २।

११. श० ब्रा०, ७.४.१.३—सत्यं साम गायति, ४.१.४-६, का० श्रौ०, १७.३.२८; आप०श्रौ० १६.२२.२, द्र०, वेबर, इन्दिश्शे स्तुदियन, पृ० १४८, टि० २, एग्लिंग, से० बु० ई०, ४१, पृ० ३६३, पा० टि० १।

१२. वा० सं०, १३.२-५८; तै० सं०, ४.२.८, ३.१-३; का० सं०, १६.१५-२०; मै० सं०,

उपधान से ही हो चुका है, तथापि सुविधा की दृष्टि से उसका वास्तविक आरम्भ यहीं से मानना उचित है। पूर्ववर्णित दर्भस्तम्ब और लोग की गणना भी ईंटों में की जाती है[1]। कृष्णयजुर्वेद में प्रत्येक चिति में ईंटों के उपधान के पूर्व कतिपय अनुष्ठान किये जाते हैं, जिनका उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में नहीं मिलता। कृष्णयजुर्वेद के अनुसार अध्वर्यु, आदि चिति के समीप पहुँचकर कृष्ण-मृग के चमड़े से बने उपानह् का परित्याग करता है[2]।

इसके बाद स्वयंचिति का जप किया जाता है[3]। ईंटों के उपधान के पूर्व सदैव दक्षिण में खड़े श्वेत अश्व का स्पर्श करने का निर्देश भी दिया गया है[4]। दर्भस्तम्ब के ऊपर पुष्करपर्ण रखा जाता है[5]। तदुपरान्त उसके ठीक ऊपर रुक्म का उपधान किया जाता है[6]। वाजसनेयक-प्रस्थान में कहा गया है कि रुक्म के आधान

२.७.३, २.७.१५-२०, २.८.१; क० सं०, २५.६-९; श० ब्रा०, ७.४.१.७-४१, ४.२.५, ८.१.१-४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६-१०; ३.१-१२, ५.५.३-७, ५.७.१-३; का० सं० ब्रा०, २०.५-९; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६-८; का० श्रौ०, १७.४-८; बौ० श्रौ०, १०.३०-३६; आप० श्रौ०, १६.२२-३५; स० श्रौ०, ११.७.८; वै० श्रौ०, १८-२९. १६-२१; मा० श्रौ०, ६.१.७-८; वा० श्रौ०, २.१.६-८; द्र०, पाण्डुलिपि, सरस्वतीभवन-पुस्तकालय, वाराणसी, चयनकर्मदीपिकापद्धतिः, २८२९; चयनप्रयोगः, ३५८१; चयन-पद्धतिः; २६८२, २७२४, २७३३; महाग्निचयनप्रयोगः, ३६५२।

[1] श० ब्रा०, २०.४.३.४५—यजुष्मत्यः, दर्भस्तम्बो लोगेष्टकाः।

[2] तै० सं० ब्रा०, ५.६.६.१—कार्ष्णी उपानहावुपमुञ्चते; तु०, का० सं० ब्रा०, २१.७; बौ० श्रौ०, १०.२३; वै० श्रौ०, १८।२९.२४।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.७.८.१; का० सं०, ४०.५; बौ० श्रौ०, १०.२१; आप० श्रौ०, १६.२१.६; स० श्रौ, ११.७.६; वै० श्रौ०, तदेव।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.७.१.२—इष्टका उपधास्यन्, श्वेतमश्वमभिमृशेत्; बौ० श्रौ०, १०.२८; आप० श्रौ०, १६.२१.११; स० श्रौ०, ११.७.११-१२; वै० श्रौ०, तदेव।

[5] वा० सं०, १३.२; तै० सं० ब्रा०, २.८; का० सं०, १६.१५; मै० सं०, २.७.३; का० सं० २५.६; श० ब्रा०, ७.४.१.७; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६.५; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; क० सं० ब्रा०, ३१;५; का० श्रौ०, १७.४.१; बौ० श्रौ०, १०.३०; आप० श्रौ०, १६.२२.२; स० श्रौ०, ११.७.१८; वै० श्रौ०, १८।२९.१७; मा० श्रौ०, ६.१.७.१; वा० श्रौ० २.१.६.११।

[6] वा० सं०, १३.३; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव, मै० सं०, २.७.१५; श० ब्रा०, ७.४.१ १०; तै० सं० ब्रा०, ५.२.७.१, का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव, क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.४.२; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.२२.३; स० श्रौ०, ११.७.२०; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.२, वा० श्रौ०, २.१.६.१२।

के समय इसके इक्कीस निर्बाधों को अधोमुखी रखना चाहिए[१]। कृष्णयजुर्वेदीय बौधायनश्रौतसूत्र, तथा मानवश्रौतसूत्र के अनुसार निर्बाधों को ऊर्ध्वमुखी रहना चाहिए[२]। कृष्णयजुर्वेद में रुक्म के व्याधारण (आज्य गिराना) का भी विधान[३] है। रुक्म के ऊपर हिरण्य-पुरुष को उपहित करने की विधि है। हिरण्य-पुरुष का सिर पूर्व की ओर, पीठ नीचे की ओर तथा वक्ष ऊपर रहता है[४]। मानवश्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्य कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थानों में हिरण्य-पुरुष का उपधान रुक्म के दक्षिण में किया जाता है[५]। हिरण्य-पुरुष के आधान के पश्चात् शुक्लयजुर्वेद 'चित्रसाम' के गान का विधान करता है[६]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र में 'पुरुषसाम' के गान का विधान है[७]। शुक्लयजुर्वेद-प्रस्थान के अनुसार सर्पनामों से युक्त तीन मन्त्रों से हिरण्य-पुरुष का उपस्थान किया जाता[८] है। उपस्थान के अनन्तर हिरण्य-पुरुष के ऊपर पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं[९]। आहुतियों के लिए जुहू में पाँच बार आज्य लिया जाता है। चार आहुतियाँ क्रमशः हिरण्य-पुरुष के पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण भाग में दी जाती हैं। पाँचवीं आहुति को पुनः पश्चिम भाग में देने का विधान है। कात्यायन का मत है कि किसी परिस्थिति में हिरण्य-पुरुष के पूर्व में नहीं जाना चाहिए[१०]। पुरुष का वक्षस्थल इस प्रकार आच्छादित करना चाहिए कि उसका स्पर्श ईंटें न कर सकें[११]।

---

[१] श० ब्रा०, तदेव—अधस्ताद् निर्बाधमुपदधाति, का० श्रौ०, तदेव।

[२] बौ० श्रौ०, तदेव, उत्तरनिर्बाधं रुक्ममुपदधाति; आप० श्रौ०, १६.६.३; मा० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०, तदेव।

[३] बौ० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, २.१.६.१३।

[४] वा० सं०, १३.४-५, तै० सं०, तदेव, का० सं०, तदेव, मै० सं०, तदेव, क० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ७.४.१.१५-१८, तै० सं० ब्रा०, ५.२.७.२, का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा० तदेव, क० सं० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, १७.४.३, बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, ११.७.२१, वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.७.३, वा० श्रौ०, २.१.६.१४-१५।

[५] तदेव, टि० ६।

[६] श० ब्रा०, ७.४.१.२२-२४; का० श्रौ०, १७.४.४; चित्रसाम के लिये द्र०, सा० सं०, १.१६९, वा० सं०, २७.३९; एग्लिग्, सै० बु० ई०, हा० ओ० सी०, १९, ४१, पृ० ३६०, पा० टि० १।

[७] आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

[८] वा० सं०, १३.६-८; श० ब्रा०, ७.४.१.२५-३१; का० श्रौ०, १७.४.६।

[९] वा० सं०, १३.९-१३; श० ब्रा०, ७.४.१.३२-३५; का० श्रौ०, १७.४.७-९।

[१०] का० श्रौ०, १७.४.५।

[११] तदेव, १७.४.१०।

हिरण्य-पुरुष के दक्षिण और उत्तर में स्रुचों का उपधान किया जाता है[1]। शतपथब्राह्मण एवं कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार हिरण्य-पुरुष के सम्मुख यजमान बैठकर अपनी दोनों भुजाओं को फैलाता है। जिस स्थान तक हाथ का विस्तार पहुँचाता है, उसी स्थान पर स्रुच आहित किया जाता है[2]। इन स्रुचों का पुष्कर हथेली के बराबर तथा हत्था बाहु या पैर के बराबर लम्बा होता है[3]। आधान में स्रुचों का अगला भाग पूर्व की ओर रहता है। दक्षिणी सुच् कार्ष्मर्य (खम्भारी) तथा उत्तरी उदुम्बर काष्ठ की होती है। दोनों में क्रमशः आज्य और दही भरा रहता है[4]।

हिरण्य-पुरुष के ऊपर स्वयमातृण्णा (स्वाभाविक छेदवाला कंकड़ या पत्थर) नामक इंट रखी जाती है[5]। कृष्णयजुर्वेद में इस इंट को घोड़े को सुंघाकर रखा जाता है। यहाँ स्वयमातृण्णा के आधान के समय अध्वर्यु के साथ अविद्वान् ब्राह्मण के रहने का विधान है[6]। काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण और वैखानसश्रौतसूत्र का मत है कि यदि पूर्व या पश्चिम से शत्रु-भय हो तो रखते समय उस ओर स्वयमातृण्णा

---

१. वा० सं०, १३.१३-१४; मै० सं०, २.७.१५; श० ब्रा०, ७.४.१.३६-४५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; का० श्रौ०, १७.४.११-१४; आप० श्रौ०, १६.२२.४-५—ध्यातव्य है कि तै० सं० ब्रा०, ५.२.७.३-४, का० सं० ब्रा०, २०.५, क० सं० ब्रा०, ३१.७, के अनुसार स्रुच्-उपधान में मन्त्र का प्रयोग नहीं मिलता--तूष्णीमुपदधाति न हीमे यजुषाप्तुमर्हति; बौ० श्रौ०, १०.३०, तैत्तिरीय का अनुगमन करता है; तु०, वै० श्रौ०, १८.२९.१७; मै० सं० ब्रा० का अनुगमन, स० श्रौ०, ११.७.२४-२५; मा० श्रौ०, ६.१.७.६ में उपलब्ध है। मैत्रायणी के मन्त्र का० सं०, १६.१५ में मिलते हैं। तु०, वा० श्रौ०, २.१.६.१६।

२. श० ब्रा०, ७.४.१.४५; का० श्रौ०, १७.४.१०।

३. का० श्रौ०, १७.४.१२; द्र० श० ब्रा०, ७.४.१.३६।

४. श० ब्रा०, ७.४.१.३७—कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति, आज्येन पूर्णा भवति; ४.१.१८—औदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति, दध्ना पूर्णा भवति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.७.३-४; का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३१.७; का० श्रौ०, १७ ४.१२-१३; बौ० श्रौ०, १०.३०; आप० श्रौ०, १६.२२.५; स० श्रौ०, ११.७.२४-२५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.७; वा० श्रौ०, तदेव।

५. वा० सं०, १३.१६-१९; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१५; श० ब्रा०, ७ ४.२.१-९; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.१-२, ५.५.५; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; क० सं० ब्रा०, ३१.८; का० श्रौ०, १७.४.१५; बौ० श्रौ०, १०.३१; आप० श्रौ०, १६.२३.१; स० श्रौ०, ११.७.२८; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.७.९; वा० श्रौ०, २.१.६.१७-२२।

६. तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.२; का० सं० ब्रा०, २०.६; क० सं० ब्रा०, ३१.८; बौ० श्रौ०, १०-३१; आप० श्रौ०, १६,२३.३; स० श्रौ०, ११.७.२८; वै० श्रौ०, १८।२९.१७; मा० श्रौ०, ६.१.७.९; २.१.६.१७।

को थोड़ा ऊँचा कर देना चाहिए[1]। कृष्णयजुर्वेद में स्वयमातृण्णा के एक छेद में मन्त्र द्वारा आज्य की एक आहुति तथा दूसरे छेद में हिरण्येष्टका के उपधान का दिर्देश है[2]। बौधायनश्रौतसूत्र के मत में स्वयमातृण्णा को अंगूठे से दबाकर अन्वारोह-मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए[3]। शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में स्वयमातृण्णा का स्पर्श कर सामगान का विधान है[4]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुशार स्वयमातृण्णा के उपधान के समय यदि साथ में अविद्वान् ब्राह्मण हो तो तीन, दो अथवा एक बैल दक्षिणा में देना चाहिए[5]।

शुक्लयजुर्वेद के मत में स्वयमातृण्णा के छेद में दूब डाली जाती है। इसे दूर्वेष्टका कहा गया है[6]। दूब की जड़ छेद में घुसी रहती है और अगला हिस्सा पूर्व की ओर फैला रहता है[7]। कतिपय कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों के अनुसार दूर्वास्तम्ब को मिट्टी के ढ़ेले के साथ रखना चाहिए[8]।

दूर्वेष्टका के पूर्व में द्वियजुष् नामक पद्या ईंट का आधान किया जाता है[9]। यद्यपि कृष्णयजुर्वेद में इस नाम का संकेत मिलता है, तथापि यहाँ इसका नाम वामभृत् है और इसका शिरोभाग स्वर्ण-खचित रहता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढ-श्रौतसूत्र के अनुसार वामभृत् का उपधान दो सुवर्ण खण्डों पर करना

---

[1] का० सं० ब्रा० तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.२३.७।

[2] तै० सं० ब्रा०, ५.५.५; बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, २.१.६.२०।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव।

[4] श० ब्रा०, ७.४.२.८—साम गायति; का० श्रौ०, १७.४.१६।

[5] तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.२३.३; स० श्रौ०, ११.७.३०; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.१३; वा० श्रौ०, २.१.६.२२।

[6] वा० सं०, १३.२०-२१; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, २०.१६; मै० सं०, २.७.१५; का० श्रौ०, १७.४.१८; बौ० श्रौ०, १०.३२; आप० श्रौ०, १६.२४.१; स० श्रौ०, ११.७.३२; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.१४; वा० श्रौ०, २.१.६.२४।

[7] श० ब्रा०, ७.४.२.१०-१५; का० श्रौ०, १७.४.१८।

[8] वै० श्रौ०, तदेव—सलोष्टं हरितं दूर्वस्तम्बम्; स० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[9] वा० सं०, १३.२२; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ७.४.२.१६-११; तै० सं० ब्रा०, ५.५.३; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३१.८; का० श्रौ०, १७.४-२०; बौ० श्रौ०, १०.३२; आप० श्रौ०, १६.२४.२; स० श्रौ०, ११.७.३३; मा० श्रौ०, ६.१.७.१४; वा० श्रौ०, २.१.६.२५।

प्रो० जी० आर० शर्मा—ए० कौ०, पृ० १६३ का कथन है कि 'का० सं० ब्रा०' ने 'द्वियजुष्' नामक एक नयी इंट का आविष्कार कर तैत्तिरीय-प्रस्थान में विहित इंटों की संख्या में वृद्धि कर दी है। प्रो० शर्मा की स्थापना की वैधता अथवा अवैधता का निर्णय करने के पूर्व का० सं० ब्रा० के उस कथन को उद्धृत किया जा रहा है, जिस पर उनका

चाहिए[1]। द्वियजुष् के पूर्व में रेतःसिच् नामक दो पद्या ईंटों को रखा जाता है[2]। कृष्णयजुर्वेदीय-ब्राह्मणों में तीन रेतःसिचों के आधान की विधि है। यजमान यदि ब्रह्मचारी हो, तो प्रथम चिति में सभी ईंटें रखी जाती हैं, अन्यथा एक ईंट प्रथम चिति में और शेष पाँचवीं चिति[3] में।

रेतःसिच् ईंटों के ठीक पूर्व में विश्व-ज्योति नामक पद्या ईंट रखी जाती

कथन आधृत है—'एषा वामभृत्' एतया वै देवा असुराणां वामं पशूनवृंजत, वाममेवैतया पशून् भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, द्वियजुर्भवति मातृव्यलोकमेव द्वियजुषा वृङ्क्ते, द्वितीयं हि लोके भ्रातृव्यो, हिरण्यशीर्ष्णी भवति, हिरण्यज्योतिरेव स्वर्गं लोकमेति'। स्पष्ट है कि यहाँ ईंट का नाम 'वामभृत्' है, न कि द्वियजुष्। ध्यातव्य है कि इस ईंट का उल्लेख, तै० सं० ब्रा०, ५.५.३ में स्पष्ट रूप से है—'देवासुराः संयत्ता आसन्, ते वामं वसु संन्यदधत, तद् देवा वामभृतावृंजत, तद्वामभृतो वामभृत्त्वम्, यद् वामभृतमुपदधाति, वाममेव तया वसु यजमानो मातृव्यस्य वृङ्क्ते हिरण्यमूर्ध्नी' भवति, ज्योतिर्वै हिरण्यम्, ज्योतिर्वामम्, ज्योतिषैवास्य ज्योतिर्वामं वृङ्क्ते, द्वियजुर्भवति प्रतिष्ठित्यै'। मै० सं० ब्रा० तथा क० सं० ब्रा० में यही बात कही गयी है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों में भी इस ईंट का नाम वामभृत् है और यही अभिधान सभी संहिता-ब्राह्मणों में भी उपलब्ध है। अतएव प्रो० शर्मा का यह कथन कि काठक सं० ब्रा० ने द्वियजुष् ईंट का आविष्कार कर तैत्तिरीय-विहित ईंटों की संख्या बढ़ा दी, भाषा का अज्ञान ही कहा जायेगा। इसकी एक विशेषता और है कि इसका शिरोभाग सोने से मढ़ा हुआ रहता है। मा० श्रौ० का तो यह भी कहना है कि वामभृत् ईंट के स्कन्ध-देश में काँच की जड़ाई भी होनी चाहिए। प्रो० शर्मा ने यदि कीथ द्वारा किया गया तै० सं० का अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद ही पढ़ा होता—हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४४३—तो यह भद्दी भूल उनसे न होती। अन्त में यह बताना आवश्यक है कि शु० य० प्रस्थान की 'द्वियजुष्' नामक ईंट और कृ० य० प्रस्थान की 'वामभृत्' नामक ईंट एक ही है; क्योंकि दोनों में विनियोजित मन्त्र और दोनों का प्रतीक अर्थ एक ही है। यह ईंट यजमान की प्रतीक है, जिसका आधान उसकी मर्त्य शरीर को अमर्त्य बनाने के लिये किया जाता है। अतएव इस ईंट का अग्निचयन में इतना अधिक महत्त्व है कि इसका अपलाप कोई नहीं कर सकता।

[1] आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, ११.७.३३।

[2] वा० सं०, १३.२४; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१६; श० ब्रा०, ७.४.२.२२-२४; तै० सं० ब्रा०, ५.६.८; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै०सं०ब्रा०, ३.२.६; क० सं० ब्रा०, ३१.८; का० श्रौ० १७.४.२२; आप० श्रौ०, १६.२४.३-४; स० श्रौ०, ११.७.३४-३६, वै० श्रौ०, १८।२९.१७; मा० श्रौ०, ६.१.७.१६-१८; वा० श्रौ०, २.१.६.२६-३०।

[3] तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव, क० सं० ब्रा० तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, ११.७.३६; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

है[1]। विश्व-ज्योति के ठीक पूर्व में ऋतव्या नामक दो पद्या ईटों को उपहित किया जाता है। ऋतव्या ईटों का उपधान अवका में किया जाता है या अवका से उन्हें आच्छादित किया जाता है[2]। ऋतव्या के पूर्व में अषाढा नामक एक पद्या इंट के चयन[3] का निर्देश है। अषाढा के दक्षिण में एक अरत्नि की दूरी पर अवका के ऊपर कूर्म रखा जाता है[4]। कूर्म का मुख हिरण्यपुरुष की ओर रहता है और इसे उलटा रखा जाता है[5]। इसे दही, मधु और घृत से अभ्यञ्जित करने का निर्देश मिलता है[6]। अभ्यञ्जन में 'मधुवाता ऋतायते' आदि मन्त्रों का विनियोजन

---

१. वा० सं०, १३.२४; तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ७.४.२.२५-२८; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; का० श्रौ०, १७.४.२३; आप० श्रौ०, १६.१४.७; स० श्रौ०, ११.७.३७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.१९; वा० श्रौ०, २.१.६.३१।

प्रो० जी० आर० शर्मा—ए० कौ०, पृ० १६३—का यह कथन कि 'विश्व-ज्योति' इंट मै० सं० ब्रा० का आविष्कार है, नितान्त भ्रम है। तै० सं० ब्रा०, तदेव, में स्पष्ट लिखा है—विश्वज्योतिष उपदधाति—और इसके विनियोग-मन्त्र भी तै० सं०, तदेव, में हैं।

२. वा० सं०, १३.२५; तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, ३५.९; मै० सं०, २.८.१२, श० ब्रा०, ७.४.२.२९-३१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० श्रौ०, १७.४.२४; बौ० श्रौ०, १०.३२; आप० श्रौ०, १६.२४.९; स० श्रौ०, ११.७.३७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.८.७; वा० श्रौ०, २.१.६.३३-३४।

३. वा० सं०, १३.२६; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१६; श ब्रा०, ७.४.२.३२-४०; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै०सं०ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा०, ३१.८; का०श्रौ०, १७.४.२५; बौ०श्रौ०, १०.३२; आप०श्रौ०, १६.२४.१२; स० श्रौ०, ११.७.४०; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.७.२१; वा० श्रौ०, २.१.६.३५।

प्रो० जी०आर० शर्मा—ए० कौ०, पृ० १६३—का यह कथन कि वै० श्रौ० में ऋतव्या का उल्लेख नहीं है, भ्रान्ति पर आधृत है। वै० श्रौ० में ऋतव्या का उल्लेख है।

४. वा० सं०, १३.२७-३२, तै० सं०, ४.२.९, ५.७.८; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१६; श० ब्रा०, ७.५.१.१-११; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.५.७.८; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, २.७.१६; का० श्रौ०, १७.४.२७-२८; बौ० श्रौ०, १०.३३; आप० श्रौ०, १६.२५.१-२, स० श्रौ०, ११.७.४१; मा० श्रौ०, ६.१.७.२२; वा० श्रौ०, २.१.६.३६—यहाँ मत्स्य का आधान भी निर्दिष्ट है।

५. तदेव।

६. श०ब्रा०, ७.५.१.२—तमस्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; का०सं०ब्रा०, २०.७; क० सं० ब्रा०, ३१.९; का० श्रौ०, १७.४.२७; बौ०श्रौ०, १०.३३; आप०श्रौ०, १६.२५.१; स० श्रौ०, ११.७.४१; वै० श्रौ०, १८।२९.१७; मा० श्रौ०, ६.१.७.२२; वा० श्रौ०, २.१.६.३६।

किया गया है[1]। कूर्म के उपधान में 'अपां गम्भन्' आदि मन्त्रों का विनियोजन मिलता है[2]। दूसरे मन्त्र को पढ़ते समय हाथ में रखे कूर्म को थोड़ा हिला-डुला देना चाहिए[3]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र कूर्म को उपहित करने के पश्चात् अवका से आच्छादित करने का निर्देश देते हैं[4]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इसे जाल से भी ढ़कना चाहिए[5]। कृष्णयजुर्वेद में कूर्म को शंकु गाड़कर बाँधने का निर्देश है, जिससे वह इधर-उधर न जा सके[6]। वैखानसश्रौतसूत्र के मत में कूर्म के न मिलने पर मण्डूक द्वारा कार्य किया जा सकता है[7]।

स्वयमातृण्णा के उत्तर में एक अरत्नि की दूरी पर उलूखल और मुसल का उपधान किया जाता है[8]। उलूखल एवं मुसल उदुम्बर-निर्मित होते हैं। दोनों की ऊँचाई एक प्रादेश होती है[9]। उलूखल का ऊपरी भाग चौकोर एवं बीच का पतला होता है[10]। कृष्णयजुर्वेदीय-संहिता-ब्राह्मणों में केवल उलूखल का ही वर्णन मिलता है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों में मुसल का भी उल्लेख किया गया है। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों के मत में उलूखल के उपधान के पूर्व उसमें सर्वौषध या व्रीहि को रखकर कांड़ना चाहिए[11]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार उलूखल एवं मुसल तथा वैखानस-श्रौतसूत्र के मत में मुसल की लम्बाई अरत्नि भर की[12] होती है। मानवश्रौतसूत्र

---

१. वा० सं०, १३.२७-२९; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१६।

२. वा० सं०, १३.३०-३२; तै० सं०, तदेव, का० सं० तदेव, मै० सं० तदेव।

३. श० ब्रा०, ७.५.१.९—एनमेजयति; का० श्रौ, १७.५.२।

४. तै० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव, द्र०, आप० श्रौ०, तदेव।

५. आप० श्रौ०, १६.२५.२; स० श्रौ०, ११.७.४२; वै० श्रौ० तदेव।

६. वै० श्रौ०, तदेव; ७. वै० श्रौ०, तदेव।

८. वा० सं०, १३.३३; तै सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ७.५.१.१२-२५; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, २.७.१६; क० सं० ब्रा०, ३१.९; का० श्रौ०, तदेव, बौ० श्रौ०, १०.३३; आप० श्रौ०, १६.२६.१-५; स० श्रौ०, ११.७.४३; वै०श्रौ०, १८।२९.१८; मा०श्रौ०, ६.१.७.२३; वा०श्रौ०, २.१.६.३७। ध्यातव्य है कि तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा० और मै० सं० ब्रा० में मुसल का उल्लेख नहीं है। आप० श्रौ०, एक सूप रखने का भी निर्देश देता है।

९. श० ब्रा०, ७.५.१.१५—औदुम्बरे भवतः; का०श्रौ०, तदेव; बौ० श्रौ, तदेव; आप०श्रौ०, १६.२६.१, स० श्रौ०, ११.७.४४; वै० श्रौ०, तदेव; द्र०, तै०सं० ब्रा०, ५.२.८.७; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७ क० सं० ब्रा०, ३१.९।

१०. श० ब्रा०, ७.५.१.१४—प्रादेशमात्रे भवतः; का० श्रौ०, तदेव।

११. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ० १६.२६.३; स० श्रौ०, ११.७.४ ; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.७.२३।

१२. बौ०श्रौ०, तदेव; वै०, श्रौ०, तदेव; द्र०, आप० श्रौ०, १६.२६.१-२ प्रादेशमात्रमुलूखलम्, अपरिमितं मुसलम्; स० श्रौ०, ११.७.४४।

उलूखल एवं मुसल-उपधान स्वयमातृण्णा के दक्षिण-पूर्व में उचित मानता है[१]।

सुरक्षित उपशया को सामने डालकर उलूखल के ऊपर उखा का आधान किया जाता है[२]। कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्रों में इस समय उखा को सिकता, दधि, मधु, घृत या दूध से भरने का विधान मिलता है[३]। शुक्लयजुर्वेद में इस विधि का उसी समय वर्णन किया जा चुका है। उखा के उपधान में 'ध्रुवासि धरुणाः' आदि दो मन्त्रों का विनियोग मिलता है[४]। यदि यजमान ने उखा में वर्ष भर अग्नि का संभरण किया हो, तो स्रुव से 'अग्ने युक्ष्वा' आदि दो मन्त्रों से दो आहुतियाँ दी जाती हैं, अन्यथा इन्हीं मन्त्रों से उपस्थान किया जाता है[५]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में दो अन्य उखाओं का भी उपधान इसी मुख्य उखा के साथ कर दिया जाता है[६]। शालीकि के मत में एक ही उखा के उपधान में मन्त्र का विनियोग करना चाहिए। अन्य उखाओं का आधान चुपचाप करना उचित है[७]।

उखा में पाँचों पशु-शिरों को रखा जाता है[८]। इन्हें पशु-इष्टका कहा गया है। प्रत्येक पशु के सिर में सात-सात सुवर्ण-खण्ड डालने का विधान है[९]। सुवर्ण-खण्ड मुख-

---

१. मा० श्रौ०, ६.१.७.२४।

२. वा०सं०, १३.१४-३५; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं०, २.७.१६; श० ब्रा० ७.५.१.२७-३८, तै० सं० ब्रा०, ५.२.९; का० सं० ब्रा०, २०.७, मै० सं० ब्रा०, ३.२.७ क० सं० ब्रा०, ३१.९; का० श्रौ०, १७.५.४-६; बौ० श्रौ०, १०.३३; आप० श्रौ०, १६.२६.६-११; स० श्रौ०, ११.७.४८-५३; वै० श्रौ०, १८।२९.१८; मा० श्रौ०, ६.१.७.२५; वा० श्रौ०, २.१.७.२।

३. बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ०, १६.२६.६; स० श्रौ०, ११.७.४८.४९; वै० श्रौ०, तदेव।

४. वा० सं०, १३.३४.३५; तै० सं० तदेव; का० सं०, तदेव, मै० सं०, तदेव।

५. श० ब्रा०, ७.५.१.३२-३४; का० श्रौ०, १७.५ ५-६।

६. बौ० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०, तदेव।

७. बौ० श्रौ०, २२.३—एकामेवोखां मन्त्रेणोपदध्यात् तूष्णीमितरे, इति शालीकिः।

८. वा० सं०, १३.४६-५१; तै० सं० ४.२.१०; का० सं०, १६.१७; मै० सं०, २.७.१७; श० ब्रा०, ७.५.२.१.३७; तै० सं० ब्रा, ५.२.९; का० सं० ब्रा०, २०.८; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७-८ क० सं० ब्रा०, ३१.१०-११, का० श्रौ०, १७. .७-१९; बौ० श्रौ०, १०.३३; आप०श्रौ०, १६.२६.१३, २७.१.२१; स०श्रौ०, ११.७.५४-६२ वै०श्रौ०, १८।२९.१९; मा० श्रौ०, ६.१.७.२७-३२; वा० श्रौ०, २.१.७.५-१४।

९. श० ब्रा०, ७ ५.२.८-९—हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति, सप्त सप्त; का० श्रौ०, १७.५.८-१२; द्र०, तै० सं० ब्रा०, तदेव; का०सं०ब्रा०, तदेव; मै०सं०ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १६.२६.१३, २७.१-६; स० श्रौ, ११.७.५४; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.७.२६; वा० श्रौ०, २.१.७.५।

नासिका के दोनों छेदों, दोनों नेत्रों और दोनों कानों में छोड़े जाते हैं। सर्वप्रथम पुरुष के सिर में सुवर्ण-खण्ड छोड़े जाते हैं, तदनन्तर अश्व, वृषभ, अवि और अज के सिरों में। कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान में इन सिरों के छेदों को मधु-मिश्रित दही से भरने का निर्देश है[1]। शतपथब्राह्मण के अनुसार यदि इष्टका पशु में केवल अज का प्रयोग हुआ हो तो भी समस्त सुवर्ण-खण्ड इस अकेले सिर में ही डालना चाहिए और पशु-सिरों से सम्बद्ध अनुष्ठान इसी को आधार बनाकर करना चाहिए[2]। पुरुष-सिर उखा के मध्य में रखा जाता है। शालीकि के मत में पशु-सिरों को उखा की वारी के पास रखना चाहिए[3]। इसके उत्तर तथा दक्षिण में क्रमशः अश्व, अवि, वृषभ एवं अज के सिर[4] उपहित किये जाते हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार पुरुष-सिर को दूध में रखना चाहिए[5]। पुरुष-सिर पर 'सौरी' ऋचा से दो आहुति दी जाती है[6]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में इन आहुतियों को नेत्र में छोड़ने का विधान है[7]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान सभी पशु-शिरों के ऊपर मन्त्र द्वारा हिरण्येष्टका रखने का निर्देश देता है[8]। उपहित पशु-सिरों का, पाँच उत्सर्ग मन्त्रों के द्वारा, उपस्थान किया जाता है[9]।

अब पन्द्रह अपस्या और पाँच छन्दस्या नामक ईंटों के चयन का वर्णन है[10]। कात्यायनश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में उपर्युक्त बीस ईंटों को

---

[1] तै० सं० ब्रा०, ५.२.९.३—दध्ना मधुमिश्रेण पूरयति; द्र०, बौ० श्रौ०, १० ३३; आप० श्रौ०, १६.२७.५; स० श्रौ०, ११ ७.५५; वै० श्रौ०, १८।२९.१९; मा० श्रौ०, ६ १.७.२७; वा० श्रौ०, २.१.७.५।

[2] श० ब्रा०, ७.५.२.१०; का० श्रौ०, १७.५.१२-सर्वमप्येकस्मिन्नेके। श० ब्रा० के मत से औपमन्यवी पुत्र भी सहमत हैं—द्र० बौ० श्रौ०, २२.२—वायव्यशिरसि वैतान् मन्त्रान् निगदेदित्यौपमन्यवीपुत्रः। द्र० आप० श्रौ०, १६.२७.१९; स० श्रौ०, ११.७.६०; वै० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, २.१.७.१३।

[3] बौ० श्रौ०, २२.३—अन्तेषु तस्य व्यदुह्योपदध्यादिति शालीकिः।

[4] श० ब्रा०, ७.५.२.६-७, १५,१६, का० श्रौ०, १७.५.१४-१६।

[5] श० ब्रा०, ७.५.२.१७, पयसि पुरुषमुपदधाति।

[6] वा० सं०, १३-४६; श० ब्रा० ७-५.२.२३-२७; का० श्रौ० १७.५.१८।

[7] बौ० श्रौ०, १०.३३; वै० श्रौ०, तदेव।

[8] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.२७.६; स० श्रौ०, ११.७.५६; वै० श्रौ०. तदेव, मा० श्रौ०, ६.१.७.३०; वा० श्रौ०, २.१.७.७।

[9] वा० सं०, १३.४६-५१; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ७.५.२.२८-३६, तै० सं० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३१.११; का० श्रौ०, १३.५.१९; बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ०, १६.२७.१३-१८; स०श्रौ०, ११.७.५९, वै०श्रौ०, तदेव, मा०श्रौ०, ६.१.७.२९; वा०श्रौ०, २.१.७.१२।

[10] वा० सं०, १३.५३; तै०सं० ४.३.१; का० सं०, १६.१८; मै०सं०, २.७.१८, क०सं०, २५.९; श० ब्रा०, ७.५.२,४०-६२; का० श्रौ०, १७.६.२; बौ० श्रौ०, १०.३५;

अपस्या नाम से अभिहित किया गया है। अपस्या ईंटें क्रमशः पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में रखी[1] जाती हैं। पूर्व अनूक के ऊपर एक ईंट रहती है और उनके दोनों ओर दो दो ईंटें[2]। इसी प्रकार दक्षिण में अनूक के ऊपर एक ईंट तथा उसके दोनों ओर दो-दो ईंटें[3]। बीच की ईंट के ठीक बगल में दोनों ओर रखी गयी ईंटें अर्धपद्या होती हैं[4]। पश्चिम में अनूक के ऊपर एक ईंट रहती है और उसके दोनों ओर दो-दो ईंटें[5]। उत्तर में अनूक के ऊपर एक छन्दस्या रहती है और उसके दोनों ओर दो-दो ईंटें[6]।

अब प्राणभृत् नामक पचास ईंटों का चयन किया जाता है[7]। इनमें छियालिस ईंटें पद्या, दो अर्धपद्या तथा शेष दो पादोना होती हैं[8]। प्राणभृत् ईंटों का आधान दस-दस की संख्या में क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा मध्य में किया जाता है[9]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान कोण एवं मध्य में रखने का विधान[10] है। कात्यायनश्रौतसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार प्रत्येक कोने में बाहर से भीतर की ओर प्राणभृत् ईंटों का आधान

आप॰ श्रौ॰, १६.२८.४; स॰ श्रौ॰, ११ ८.१; वै॰ श्रौ॰, १८।२९.२०; मा॰ श्रौ॰, ६.१.८.४; वा॰ श्रौ॰, २.१.७.१६-१७। प्रो॰ जी॰आर॰ शर्मा—ए॰कौ॰, पृ॰ १६३—का यह कथन त्रुटिपूर्ण है कि तै॰ सं॰ ब्रा॰ में रेतःसिक् के स्थान पर छन्दस्या है। वस्तुतः दोनों ईंटें अलग-अलग हैं और दोनों का उल्लेख तै॰ सं॰ ब्रा॰ में है। ध्यातव्य है कि इन बीस अपस्या ईंटों में अन्तिम पाँच ईंटों को श॰ ब्रा॰, तै॰ सं॰ ब्रा, का॰ सं॰ ब्रा॰, मै॰ सं॰ ब्रा॰, क॰ सं॰ ब्रा॰, बौ॰ श्रौ॰, और मा॰ श्रौ॰, छन्दस्या नाम से अभिहित करते हैं। एतद् विपरीत का॰ श्रौ॰, आप॰ श्रौ॰, स॰ श्रौ॰, वै॰ श्रौ॰, मा॰ श्रौ॰, तथा वा॰ श्रौ॰, में इन्हें अपस्या ही कहा गया है। वस्तुतः इनका नाम अपस्या ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन ईंटों के समूह का नाम अपस्या ही है और अन्तिम पाँच ईंटों को प्रतीक-अर्थ की दृष्टि से छन्दस्या कहा गया है। अतएव (ए॰ कौ॰, पृ॰ १६३) छन्दस्या नामक अलग ईंटों की कल्पना भ्रान्तिमूलक है।

१. श॰ ब्रा॰, ७.५.२.४०-४२; का॰ श्रौ॰, १७ ६.२।

२. विद्याधर शर्मा का॰ श्रौ॰, पृ॰ १२७, पा॰ टि॰ १।

३. तदेव; ४. तदेव; ५. तदेव; ६. तदेव।

७. वा॰ सं॰, १३.५४; तै॰ सं॰, ४.३.२; का॰ सं॰, १६.१९; मै॰ सं॰, २.७.१९; क॰ सं॰, २५.९; श॰ ब्रा॰, ८.१ १-४, १-३; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५.२.१०; का॰ सं॰ ब्रा॰, २०.९; मै॰ सं॰ ब्रा॰, २.७.१९; क॰ सं॰ ब्रा॰, ३१.११; का॰ श्रौ॰, १७.६.३; बौ॰ श्रौ॰, १०.३५; आप॰ श्रौ॰, १६.३२.१; वै॰ श्रौ॰, १८।२९.२०; स॰ श्रौ॰, ११ ८.५; मा॰ श्रौ॰, ६.८.१.५; वा॰ श्रौ॰, २.१.७.१८-१९।

८. विद्याधर शर्मा, तदेव, पा॰ टि॰ २।

९. श॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ श्रौ॰, तदेव।

१०. टि॰ ७।

उचित है[१]। मानवश्रौतसूत्र इन ईंटों का उपधान दक्षिण अंस, उत्तरश्रेणि, उत्तर अंस और मध्य में ठीक मानता है[२]।

कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में उपर्युक्त ईंटों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ईंटों के उपधान का विधान मिलता है। शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान में इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार प्रथम चिति में वज्रिणी नामक चार ईंटों का उपधान करना चाहिए[३]। ईंटें पत्थर की होती[४] हैं। अध्वर्यु धनुष पर बाण चढ़ाकर पूर्व में बीचोंबीच मारता है। बाण निकाल कर उसके द्वारा किये गये छेद में पत्थर गाड़ दिया जाता है[५]। इसी प्रकार क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में इन ईंटों का उपधान किया जाता है। इनके उपधान का मन्त्र केवल तैत्तिरीयसंहिता में मिलता है[६]। सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में वज्रिणी ईंटों का उपधान पाँचवीं चिति में बताया गया है[७]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायन-श्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में एक ऐन्द्री नामक ईंट के आधान की विधि है[८]। इसका एक अन्य नाम प्रतीष्टका भी है। इस ईंट में भी विनियोजित मन्त्र तैत्तिरीय-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है[९]।

अग्निक्षेत्र में बारह कुम्भ और कुम्भियों का भी उपधान किया जाता है। इन्हें कुम्भेष्टका कहा गया है[१०]। इनमें जल भरा रहता है। सभी घटों में एक-एक सोने का टुकड़ा छोड़ दिया जाता है। कुम्भ[११] और कुम्भी का जोड़ा बनाकर रखना चाहिए। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुसार दो-दो चारों दिशाओं में और चार को मध्य में

---

१. का० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०,तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

२. मा० श्रौ०, तदेव।

३. तै० सं० ब्रा०, ५.७.३.१—वज्रिणीरुपदधाति, इसमें प्रयुक्त मन्त्र भी यहीं उल्लिखित है। बौ० श्रौ०, १०.२४; वै० श्रौ०, १८।२९.१४।

४. बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

५. बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

६. तै० सं० ५.७.३.१।

७. स० श्रौ०, १२.२.२५; द्र० आप० श्रौ०, १७.९.५-६; वै० श्रौ०, १९।३०.६—द्रष्टव्य है कि वैखानस में वज्रिणी के उपधान का प्रथम चिति में भी विधान किया है।

८. तै०सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.५.७; बौ०श्रौ०, १०.२४; आप०श्रौ०, १६.२१.१२; वै०श्रौ०, १८।२९.१५; द्र०, कीथ, हा० औ० सी०, १९, पृ० ४४६, पा० टि० १।

९. तै० ब्रा०, २.५.८.१।

१०. तै० सं०, ५.६.१; मै० सं०, २.१३.३; द्र०; का० सं०, ३९.१; तै० सं० ब्रा०, ५.६.२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.१०; बौ० श्रौ०, १०.२९; आप० श्रौ०, १६.३२.५-७, ३२.१-२; स० श्रौ०, ११.८.११; वै० श्रौ०, १८।२९.१६; द्र०, कीथ, तदेव, पृ० ४५३, पा० टि० १०।

११. आप० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

रखना चाहिए[१]। जहाँ कूँड़ हो वहीं कुम्भों को स्थापित किया जाता है[२]। मध्य में स्थापित कुम्भों के मध्य में ऊपर बार्हस्पत्य नैवार चरु का उपधान किया जाता है[३]। कतिपय श्रौतसूत्रों में कुम्भों के उपस्थान का निर्देश किया गया है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान चिति में सर्प-शिर के आधान की विधि भी प्रस्तुत करता है[४]। वैखानस का मत है कि यदि सुरक्षित सर्प-शिर नष्ट हो गया हो तो मिट्टी अथवा सोने का सर्प बनाकर चिति में रखना चाहिए[५]। सर्पशिर की अनुपलब्धि में गोधा या सजातीय किसी सरीसृप का आधान किया जा सकता है। सर्प-शिर का आधान उन्हीं मन्त्रों से किया जाता है, जो शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान में हिरण्य-पुरुष के उपस्थान में विनियोजित किए गये हैं[६]। सर्प-शिर का उपधान ऐच्छिक है। यदि आधान नहीं किया जाये, तो सर्प-शिर से सम्बद्ध मन्त्रों का पाठ ही पर्याप्त है।

विश्व-ज्योति ईंट के पूर्व में सयुज् नामक ईंट का चयन किया जाता है[७]। संयानी नामक दो ईंटें अषाढा के पूर्व में आहित की जाती हैं[८]। मण्डलेष्टका का आधान स्वयमातृण्णा के पूर्व में किया जाता है[९]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के मत में बारह

---

१. तै० सं० ब्रा०, तदेव।

२. टि०, २।

३. तै० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १६.३३.३, स० श्रौ०, ११.८.१२; वै० श्रौ०, तदेव।

४. तै० सं० ब्रा०, ५.२.९.५—सर्पशीर्षमुपदधाति; बौ० श्रौ०, १०.३०; आप० श्रौ०, १६.२७.२२; स० श्रौ०, ११.७.६४; वै० श्रौ०, १८.२९ २०; वा० श्रौ०, २.१.७.१५।

ध्यातव्य है कि का०सं०ब्रा० का कथन है कि सर्पशिर के आधान से यजमान मरणशील होगा। अतएव उपधान न कर केवल तद्विनियुक्त यजुष् का पाठ मात्र करना उचित होगा, २.५; आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ भी विकल्प में इस विधि को स्वीकारते हैं।

५. वै० श्रौ०, तदेव।

६. पशु-शिर-उपधान के प्रकरण में इसी अध्याय में द्रष्टव्य।

७. तै० सं०, ४.४.५; का० सं०, ४०.२०; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.३२; आप० श्रौ०, १६.२३.९; स० श्रौ०, ११.७.३१; वै० श्रौ०, १८।२९.१७; मा० श्रौ०, ६.१७.१४, प्रो० जी० आर० शर्मा—ए० कौ०—का यह कथन कि बौधायन ने 'मण्डलेष्टका' का विधान कर ईंटों की संख्या में वृद्धि की, नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है; क्योंकि तै० सं० ब्रा० में इसका विनियोग-मन्त्र और उपधान-विधान दोनों मिलता है।

८. तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; मै० सं०, २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; बौ० श्रौ०, १०.३२, आप० श्रौ०, १६.२४.८; स० श्रौ०, ११.७.३७; मा० श्रौ०, ६.१.८.९।

९. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.२; का० सं०, ४०.२; बौ० श्रौ०, १०.३५; वै० श्रौ०, १८।२९.१७।

संयत नामक ईंटों को प्रथम चिति में रखना चाहिए[१]। कतिपय ग्रन्थों में इनका नाम संतति कहा गया है। मानवश्रौतसूत्र इनका उपधान पाँचवीं चिति में उचित मानता है। संयत् में विनियोजित मन्त्र काठकसंहिता और तैत्तिरीयब्राह्मण में मिलते हैं[२]। इनका उपधान चारों दिशाओं में तीन-तीन की संख्या में किया जाता है। पचास ईंटें अपानभृत नाम वाली रखी जाती हैं[३]। मैत्रायणोयसंहिता-ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र में इनका नाम संयत् है[४]। प्राणभृत् ईंटों के समान ही अपानभृत् ईंटें उपहित होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि ये ईंटें भीतरी भाग से बाहर की ओर रखी जाती हैं।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र में दो अन्वा-

---

[१] तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०.६—प्राणभृत उपधाय संयत उपदधाति; का० सं०, ३९ ८; तै० ब्रा० १.५.७; बौ० श्रौ०, १०.३५; आप० श्रौ०, १६.३२.३; स० श्रौ०, ११.८.७; वै० श्रौ० १८।२९.२१; वा० श्रौ०, २.१.७.२०। ध्यातव्य हैं कि तै० सं० ब्रा०, बौ० श्रौ०, स० श्रौ० और वै० श्रौ० में इन ईटों का नाम संयत् है; परन्तु तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में इनका नाम 'संतति' है। द्र०, सायण, आ० ग्र०, ३७ पृ० २६६—अग्निचयनशेषा इष्टकोपाधानमन्त्रा उच्यन्ते। 'प्राची दिशम्' (तै० सं०, ४.३.३) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्या अपानभृत इष्टका उक्ताः, तदुपधानादूर्ध्वं 'आयुषः' (तै० ब्रा०, १.५.७) इत्यादिभिमन्त्रैर्द्वादश संतत्याख्या इष्टका उपधेयाः। द्र०, महादेव, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग ५, पृ० ७०। कीथ, हा० औ० सी० १९, पृ० ४१४, पा० टि० १ का कथन है कि यहाँ संयत् अपानभृत ईंटों के लिये प्रयुक्त है। यह भी संभव है, क्योंकि मा० श्रौ०, ६.१.८.६ में अपानभृत को संयत् कहा गया हैं। यदि कीथ का मत ठीक है, तो यह मानना पड़ेगा कि तै० सं० ब्रा० में अपानभृत को ही संयत् कहा गया है। मा० श्रौ०, ६.२.२.१७ में पाँचवी चिति में संतति नाम की नौ ईंटों के उपधान का वर्णन है। सम्भवतः ये दूसरी ईंटें हैं; क्योंकि इनमें संख्या-भेद के साथ-साथ विनियोग-मन्त्र भी भिन्न हैं।

[२] तै० ब्रा०, १.५.७; का० सं०, ३९.८।

[३] तै० सं०, ४.४.३; का० सं०, ३९.७, मै० सं, २.७.२०; तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०; मै०सं०ब्रा०, ३.२.८; बौ० श्रौ०, १०.३५; आप०श्रौ०, १६.३२.२; स० श्रौ, ११.८.६; वै० श्रौ० १८।२९.२०, मा० श्रौ०, ६.८.१.५; वा० श्रौ०, २.१.७.२१। ध्यातव्य है कि मा० श्रौ० इन ईंटों का नाम 'संयत्' तथा वा० श्रौ०, 'अतिमात्रा' बताते हैं। विनियोजनीय मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि इनमें केवल नामभेद है। इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि 'अपानभृत्' का उल्लेख सभी कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में है। अतएव वैखानस के ऊपर 'अपानभृत्' नामक ईंटों का आरोप लगाना अनुचित एवं भ्रान्तिजनक है। प्रो० जी० आर० शर्मा ने अर्थ का अनर्थ करने की त्रुटि की है (ए० कौ०, पृ० १६३)।

[४] मै० सं० ब्रा०, ३.२.८; मा० श्रौ० ६.८.१.५।

रोहा[१], एक धर्मेष्टका[२] तथा एक कुलायिनी[३] नामक ईंट के आधान का निर्देश है। मानवश्रौतसूत्र में अन्वारोहा का उल्लेख नहीं है पर धर्मेष्टका एवं कुलायिनी का वर्णन[४] मिलता है। अन्वारोहा ईंटों के उपधान में उन्हीं मन्त्रों का विनियोग मिलता है, जिनका उल्लेख बौधायनश्रौतसूत्र में स्वयमातृण्णा के ऊपर अँगूठा रखकर अन्वारोह-वाचन में किया गया है[५]। धर्मेष्टका के विनियोजित मन्त्र तैत्तिरीय-आरण्यक में ही मिलते हैं, अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं है[६]। कुलायिनी ईंट के आधान में विनियोजित मन्त्र केवल मैत्रायणीयसंहिता तथा तैत्तिरीय-आरण्यक में उपलब्ध[७] हैं। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र के अनुसार छत्तीस ईंटों के द्वारा पुरुष के आकार की संरचना की जाती है। इसे पुरुष-चिति कहा गया है[८]। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार बारह-बारह ईंटों की तीन पंक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर बनायी जाती है[९]। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार पुरुष-चिति अग्नि के उत्तर अंस में रची जाती है[१०]। यहाँ तीन-तीन ईंटों को एक साथ आहित करने का निर्देश है[११]। पुरुषचिति ईंटों के आधान में विनियोजित मन्त्र काठकसंहिता और मैत्रायणीय-संहिता में उपलब्ध होता है[१२]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र में सौ ऋषि नामक ईंटों के उपधान का वर्णन है[१३]। इन श्रौत-सूत्रों से इनके उपधान के स्थल का कोई संकेत नहीं मिलता है। इनमें विनियोजित मन्त्र केवल काठकसंहिता में मिलता है[१४]।

---

[१] आप० श्रौ०, १६.२३.१०; स० श्रौ०, १७.७ ३१; वै० श्रौ०, १८।२९.१७।

[२] आप० श्रौ०, १६.२४.१४; स० श्रौ०, ११.७.३९; वै० श्रौ०, तदेव।

[३] मै० सं० ब्रा०, ३.४.७, आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ० ११.७.४०; वै० श्रौ०, तदेव।

[४] मा० श्रौ०, ६ १.७.२०; १.७.१४।

[५] बौ० श्रौ०, १०.३१।

[६] तै० आ०, ४.१७।

[७] मै० सं०, ३.४.७; आप० श्रौ०, स० श्रौ० तथा वै० श्रौ० में प्रयुक्त मन्त्र, तै० आ०, ४.१८; द्र० आप० श्रौ०, १६.२४.१५—तयोः प्रवर्ग्ये मन्त्रौ; सायण, आ० ग्र०, ३६, भाग १, पृ० ३८९—कुलायिनीं यास्त अग्न इति, उपदधाति।

[८] मै० सं० ब्रा०, ३.५.१; आप० श्रौ०, १६.२८.१-३; स० श्रौ०, ११.७.६५; वै० श्रौ०, १८।२९.२०; मा० श्रौ०, ६.१.८.१।

[९] वै० श्रौ०, तदेव।

[१०] मा० श्रौ०, ६ १.८.१-२।

[११] मा० श्री, ६.१.८.२।

[१२] का० सं०, ३९.४; मै० सं०, २.१३.१४।

[१३] आप० श्रौ० १६.३१.२, ३२.१, ३३.१; स०श्रौ०, ११.८ ४; वै० श्रौ०, १८।२९.२०।

[१४] का० सं०, ३९ २।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में वशा नामक ईंटों के चयन का वर्णन है[1]। मानवश्रौतसूत्र में इनका उपधान पाँचवी चिति में उचित माना गया है[2]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र में वशा संज्ञक ईंटों की संख्या पाँच और सत्याषाढश्रौतसूत्र में सात बतायी गयी है[3]। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार चार ईंटें चारों दिशाओं में तथा एक मध्य में रखी जाती है[4]। इनमें विनियोजित मन्त्र काठकसंहिता तथा मैत्रायणीयसंहिता में उपलब्ध होता है[5]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र के मत में उपशीवरी नामक ईंटों का भी आधान किया जाता है[6]। वैखानसश्रौतसूत्र में इनकी संख्या सोलह बतायी गयी है[7]। विकल्प से सत्याषाढश्रौतसूत्र के समान चौदह ईंटों के आधान को भी वैखानस मानता है[8]। उपशीवरी के आधान में विनियोजित मन्त्र काठकसंहिता और मैत्रायणीयसंहिता में उपलब्ध होता है[9]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण तथा बौधायनश्रौतसूत्र में ईंटों से सर्वतोमुखचयन किया जाता है[10]। इसमें पाँच ईंटें लगती हैं। इन्हें आत्मेष्टका कहा गया है। आत्मेष्टकाओं का उपधान-मन्त्र केवल तैतिरीयसंहिता में मिलता है[11]। प्राजापत्या नामक एक ईंट रखी जाती है[12]।

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, काठकसंहिता-ब्राह्मण तथा सभी श्रौतसूत्रों में ऋषभ नामक एक ईंट के उपधान का वर्णन है[13]। बौधायन के मत में ऋषभ ईंट के अगले

---

[1] आप० श्रौ०, १६.३२.४; स० श्रौ०, ११.८.४; वै० श्रौ०, १८।२९.२१।

[2] मा० श्रौ०, ६.२.३.३।

[3] आप० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ० तदेव; स० श्रौ०, तदेव; द्र०, महादेव, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग ५, पृ० ७१।

[4] वै० श्रौ०, तदेव।

[5] का० सं०, ३९.८; मै० सं०, २.१३.१५; ध्यातव्य है कि आप० श्रौ० तथा वै० श्रौ० में का० सं० का मन्त्र विनियुक्त है। स० श्रौ० में उल्लिखित मन्त्र के उत्स का पता नहीं है। मै० सं० के मन्त्र का प्रयोग मा० श्रौ० में है।

[6] आप० श्रौ०, १७.५.१६; स० श्रौ०, ११.८.१०; वै०श्रौ०, १८।२९.२१—ध्यातव्य है कि आपस्तम्ब उपशीवरी को पाँचवीं चिति में उपधेय मानता है।

[7] वै० श्रौ०, तदेव।

[8] वै० श्रौ०, तदेव।

[9] का० सं०, ३९.९; मै० सं०, २.१३.१६।

[10] तै० सं० ब्रा०, ५.५.८; बौ० श्रौ०, १०.३६; मा० श्रौ०, २.१.८.२।

[11] तै० सं० ५.५.८।

[12] तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.२; बौ० श्रौ०, १० ३६।

[13] तै० सं०, ५.७.२; का० सं०, ४०.२; बौ० श्रौ०, १०.३६; आप० श्रौ०, १६.३३.७; स० श्रौ०, ११.८.१४; वै० श्रौ०, १८।२९.२१; मा० श्रौ०, ६.१.८.१०; का० श्रौ०, २.१.८.८।

भाग को आगे की ओर झुका रहना चाहिए[1]। काठकसंहिता तथा वैखानसश्रौतसूत्र में पाँच त्रिवृत् नामक इंटों को प्रथम-चिति में आहित करने का निर्देश मिलता है[2]। बौधायनश्रौतसूत्र में रेतःसिच् नामक इंट के चयन का उल्लेख मिलता है। यह रेतःसिच् अन्य प्रस्थानों में वर्णित रेतःसिच् से सर्वथा भिन्न है। नाम-सादृश्य के अतिरिक्त दोनों में अन्य किसी प्रकार की समता नहीं है। इस रेतःसिच् में विनियोजित मन्त्र किसी संहिता में नहीं मिलता है। रेतःसिच् में विनियुक्त मन्त्र जिस अर्थ को प्रतिपादित करता है, वह तैत्तिरीयसंहिता के कतिपय वाक्यों में अवश्य दृष्टिगत होता है।

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र तथा आपस्तम्बश्रौतसूत्र में 'विभक्ति'-नामक एक लोकम्पृणा ईंट के उपधान का निर्देश दिया गया है[3]। यह ईंट दक्षिण दिशा में रखी जाती है। विभक्ति के उपधान में 'अग्ने आयाहि वीतये[4]' मन्त्र का विनियोग किया गया है। यह मन्त्र तैत्तिरीयसंहिता में मिलता है। काठकसंहिता, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार प्रथम-चिति में पाँच हिरण्येष्टकाओं का उपधान निर्दिष्ट है[5]। वैखानसश्रौतसूत्र पाँच त्रिवृत् नामक ईंटों के उपधान का निर्देश देता है[6]। वाराहश्रौतसूत्र में वैश्वदेवी नामक पाँच व्रत-इष्टकाओं की उपधेयता[7] वर्णित है। इसके अतिरिक्त वाराहश्रौतसूत्र दस अथर्वशिरा ईंटों को रखने की विधि प्रस्तुत करता है[8]। इसी प्रकार तीन गायत्री तथा दो रथन्तर नामक ईंटों के अधान की विधि वाराहश्रौतसूत्र में मिलती है[9]।

चिति में यजुष्मती ईंटों के आधान के पश्चात् रिक्त स्थान लोकम्पृणा ईंटों से आपूरित कर दिया जाता है[10]। प्रथम-चिति में कुल १९२९ लोकम्पृणाएँ प्रयुक्त होती हैं[11]।

गार्हपत्य-चिति के समान चात्वाल से पुरीष लाकर चिति के ऊपर रखा जाता

---

१. बौ० श्रौ०, तदेव।

२. बौ० श्रौ०, १०.३१।

३. तै० सं० ब्रा०, ५.५.६; बौ० श्रौ०, १०.२४; आप० श्रौ०, १७.७.४; ध्यातव्य है कि तै० सं० ब्रा० और आप० श्रौ० में इसका नाम 'अहोरूपा' (दिन का रूप) है।

४. तै० सं०, ५.५.६।

५. का०सं०, ३९.२; आप०श्रौ०, १६.३१.१; स० श्रौ०, ११.८.२; वै०श्रौ०, १८।२९.२०।

६. वै० श्रौ०, १८।२९.२१।

७. वा० श्रौ०, २.१.७.२१, १.८.१।

८. तदेव, २.१.८.३।

९. तदेव, २.१.८.५-६।

१०. श० ब्रा०, ८.१.४.१०; का० श्रौ०, १७.७.५; बौ० श्रौ०, १०.३६; स० श्रौ०, ११.८.१६-१७; मा० श्रौ०, ६.१.८.११; बा० श्रौ०, २.१.८.७।

११. विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ०प्र०, पृ० १२८, पा० टि० २; मानचित्र, पृ० १४८-१४९।

है[१]। पुरीष से समग्र-चिति का आच्छादन करने का विधान है। कृष्णयजुर्वेद के अनुसार उत्तर में स्थित कृष्ण अश्व का स्पर्श कर पुरीष-निवपन करना चाहिए[२]। पुरीषवती चिति का उपस्थान 'वार्त्रहत्याय' आदि सात मन्त्र से किया जाता है[३]। कुछ लोगों के अनुसार आठ या दस मन्त्रों का विनियोग उपस्थान में करना चाहिए[४]। अपराह्ण में प्रवर्ग्य तथा उपसद् इष्टि का अनुष्ठान करने के बाद सायंकाल में चिति के चारों ओर अश्व को तीन बार प्रदक्षिणक्रम से घुमाया जाता है[५]। अध्वर्यु भी चिति की तीन बार प्रदक्षिणा करता है[६]। कृष्णयजुर्वेद में चिति को पलाश की शाखा से बटोरने का भी विधान किया गया है[७]। इसे पलाशशाखा-परिकर्षण कहा गया है। इसके अतिरिक्त चिति-अभिमर्षण, चिति क्लृप्ति तथा चिति-होम आदि अनुष्ठान भी कृष्णयजुर्वेद में विहित माने गये हैं[८]। प्रथम-चिति की संरचना यहीं समाप्त हो जाती है। यजुष्मती ईंटों में उपधान के बाद सभी कृत अनुष्ठान प्रत्येक चिति के अन्त में विहित हैं।

द्वितीय चिति की संरचना[९]—

चिति की संरचना के पूर्व पूर्वार्द्ध में किये जाने वाले अनुष्ठानों को समाप्त करने के अनन्तर द्वितीय-चिति में ईंटों का उपधान किया जाता है। सर्वप्रथम आश्विनी नामक पाँच ईंटों का चयन करना चाहिए[१०]। इन ईंटों में तीन पद्या होती हैं और दो

---

[१] का० श्रौ०, १७.६.९।

[२] तै० सं० ब्रा०, ५.७.१; बौ० श्रौ०, १०.३६; आप० श्रौ०, १६.३४.५-६; स० श्रौ०, ११.८.१९; वै० श्रौ०, १८।२९.२१; मा०श्रौ० ६.१.८.१६; वा०श्रौ० २.१.८.९-१०।

[३] वा० सं०, १८.६८-७४; का० श्रौ०, १७.७.१।

[४] का० श्रौ०, १७.७.२।

[५] श० ब्रा०, १०.२.५.१; का० श्रौ०, १७.७.३।

[६] का० श्रौ०, १७.७.४।

[७] बौ० श्रौ०, १०.३६।

[८] बौ० श्रौ०, १०.३७; आप० श्रौ०, १६.३४-३५; स० श्रौ०, ११.८.२१-३३; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.८.१२-१५; वा० श्रौ०, २.१.८.११-१८।

[९] वा० सं०, १४.१-१०; तै० सं०, ४.३.४-६, ४.११; का० सं०, १७.१,१०.२२.५, ४०.२; मै० सं० २.८.१-२,१२; श० ब्रा०, ८.२.१-४; का० श्रौ०, १७.८; बौ० श्रौ०, १०.३७-३८; आप० श्रौ०, १७.१.१-१०; स० श्रौ,० १२.१.१-७; मा० श्रौ०, ६.२.१.१-८; वा० श्रौ०, २.२.१.१-१८।

[१०] वा० सं०, १४.१-५; तै० सं०, ४.३.४; का० सं०, १७.१; मै० सं०, २.८.१; क० सं०, २५.१०; श० ब्रा०, ८.२.१.१-१५; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; का० श्रौ०, १७.८.१-६,१५; बौ० श्रौ० १०.३८; आप० श्रौ०, १७.१.२; स० श्रौ०, १२.१.२; वै० श्रौ०, १९।३०.२; मा० श्रौ०, ६.२१.२; वा०श्रौ०, २.२.१.२।

अर्धपद्या[1]। आश्विनी ईंटें प्रथम-चिति में उपहित रेतःसिच् ईंटों के वृत्त-क्षेत्र में रखी जाती हैं[2]। पूर्व अनूक के उत्तर में एकपद्या के लिए स्थान छोड़कर प्रथम आश्विनी की स्थापना होती है। उत्तर अनूक के पूर्व में अर्धपद्या दूसरी आश्विनी रखी जाती है। इसके उत्तर में एक ईंट के लिए स्थान छोड़ देना चाहिए। पूर्व अनूक के दक्षिण में एक-पद्या के लिए स्थान रखकर तीसरी-पद्या आश्विनी का उपधान किया जाता है। चौथी-पद्या आश्विनी उत्तर अनूक के पश्चिम में एक ईंट के लिए स्थान छोड़कर रखी जाती है। पाँचवीं अर्धपद्या आश्विनी का आधान द्वितीय आश्विनी के ठीक उत्तर में किया जाता है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में चार ईंटें चार दिशाओं में और एक बीच में रखी जाती है[3]। आधान क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में किया जाता है। इनके आधान में 'ध्रुवक्षितिः' आदि पाँच मन्त्रों का विनियोग मिलता है[4]। अब प्रथम-चिति में रखी गयी ऋतव्याओं के ऊपर दो ऋतव्या ईंटों का आधान 'शुक्रश्च शुचिश्च०' मन्त्र द्वारा किया जाता है[5]।

ऋतव्या ईंटों का चयन करने के बाद पाँच वैश्वदेवी नामक ईंटों का आधान वर्णित है[6]। कृष्णयजुर्वेद में इन ईंटों को ऋतव्या नाम दिया गया है। पहली वैश्वदेवी पूर्व में उपहित आश्विनी के दक्षिण में, दूसरी दक्षिण में दूसरी आश्विनी के पश्चिम में, तीसरी पश्चिम में तीसरी आश्विनी के उत्तर में, चौथी उत्तर में चौथी आश्विनी के पूर्व में और पाँचवीं दक्षिण में पाँचवीं आश्विनी के पूर्व में रखी जाती है। वैश्वदेवी ईंटों में दूसरी और पाँचवीं अर्धपद्या होती हैं, शेष पद्या। कृष्णयजुर्वेद में वैश्वदेवी ईंटे आश्विनी के समान उन्हीं के समीप स्थापित की जाती हैं।

---

[1] विद्याधर शर्मा का० श्रौ०, तदेव।

[2] का० श्रौ०, तदेव।

[3] बौ० श्रौ०, १०.३८; आप० श्रौ०, १७.१.३; स० श्रौ०, ६.२.१.२; वै० श्रौ०, १९।३०.२, मा० श्रौ०, ६.२.१.२; वा० श्रौ०, २.२.१.२।

[4] वा० सं०, १४.१-५; तै० सं०, ४.३.४; का० सं०, १७.१; मै० सं०, २.८.१३।

[5] वा० सं०, १४.६; तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै०सं०, २.८.१२; श०ब्रा०, ८.२.१.१६-१८; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० सं० ब्रा०, २०.६.२१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३; क० सं० ब्रा०, ३१.१२—ऋतव्या की संख्या, ५; का०श्रौ०, १७.८.१६; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२.१; स०श्रौ०, १२.१.४; वै० श्रौ०, तदेव।

[6] वा० सं०, १४.७; तै० सं०, ४.३.४; का० सं०, १७.१; मै० सं०, २.८.१; क० सं०, २५.१०; श० ब्रा०, ८.२.२; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१२; का० श्रौ०, १७.७.११,१८; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१.३; स० श्रौ०, १२.१.३; वै० श्रौ०, तदैव; मा० श्रौ०, ६.२.१.३; वा० श्रौ०, २.२.१.३-४।

अब प्राणभृत् नामक पाँच ईंटों के उपधान की विधि मिलती है[1]। काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण, सत्याषाढश्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र और वाराह-श्रौतसूत्र में इन ईंटों का वायव्या नाम मिलता है। इनका आधान वैश्वदेवी के समान चारों दिशाओं में किया जाता है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व में वैश्वदेवी के दक्षिण, पूर्व, दक्षिण, पूर्व तथा दक्षिण में क्रमशः स्थापित की जाती है। कृष्णयजुर्वेद में वैश्वदेवी के समान उन्हीं के समीप इन ईंटों को रखने का निर्देश है। प्राणभृत् ईंटों के उपधान में 'प्राणं मे पाहि' आदि पाँच यजुष् विनियोजित किये गये हैं। इन ईंटों में दक्षिण में उपधेय दो ईंटें अर्धपद्या, शेष पादमात्री होती हैं।

अपस्या नामक पाँच ईंटों का उपधान किया जाता है[2]। कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान में इनका नाम वृष्टिसनि है[3]। प्राणभृत् के समान अपस्याएँ भी चारों दिशाओं में रखी जाती हैं। पूर्व में प्रथम प्राणभृत् के दक्षिण में, दक्षिण में दूसरी प्राणभृत् के पूर्व में दूसरी, पश्चिम में तीसरी प्राणभृत् के पश्चिम में, उत्तर में चौथी प्राणभृत् के पश्चिम में और दक्षिण में पाँचवी प्राणभृत् के पूर्व में पाँचवी अपस्या का आधान किया जाता है। इसमें तीन पद्या और दो अर्धपद्या ईंटें होती हैं। कृष्णयजुर्वेद में चार ईंटें चारों दिशाओं में और एक ईंट मध्य में स्थापित की जाती है[4]।

शतपथब्राह्मण में उन्नीस छन्दस्या नामक ईंटों के उपधान का विधान किया गया है[5]। कृष्णयजुर्वेद तथा कात्यायनश्रौतसूत्र में इन ईंटों को वयस्या नाम दिया गया[6] है। इन ईंटों में पूर्व अनूक के दक्षिण तथा उत्तर में उपधेय दो ईंटें जंघामात्री होती हैं। शेष अध्यर्धा। पूर्व में चार तथा क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में पाँच-पाँच ईंटों

---

[1] वा० सं०, १४.७; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, २.८.२; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १७.८.१२,२०; बौ० श्रौ० तदेव, आप० श्रौ०, १७.१.५; स० श्रौ०, १२.१.४; मा० श्रौ० ६.२.२.४; वा० श्रौ०, २.२.१.५।

[2] वा० सं०, १४.८; श० ब्रा०, ८.२.३.५-६, का० श्रौ०, १७.८.१३,२२; का० सं०, १७.१; मै० सं०, २.८.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, २१ १२; आप० श्रौ०, १७.१.५; वै० श्रौ०, १९।३०.२; मा० श्रौ०, ६.१.८.५; वा० श्रौ०, २.२ १.५।

[3] तै० सं०, ४.३.४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; बौ० श्रौ०, १०.३८।

[4] टि० १-२, तदेव।

[5] वा० सं०, १४.९-१०; श० ब्रा०, ८.३.३.१-१२।

[6] तै० सं०, ५.३.५; का० सं०, १७.२; मै० सं०, २.८.२; क० सं०, २६.१; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; का० सं० ब्रा०, १७.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं०, ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१.८, स० श्रौ०, १२.१.५-६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१ ८.६; वा० श्रौ०, २.२.१.५; का० श्रौ०, १७.८,२२-२४।

को उपहित किया जाता है। पूर्व में अनूक के उत्तर में पहली, दूसरी और दक्षिण में तीसरी, चौथी ईंट का आधान करना चाहिए। दक्षिण में पश्चिम से पूर्व की ओर ईंटें रखी जाती हैं, तीसरी ईंट अनूक के ऊपर स्थापित की जाती है। इसी तरह पश्चिम और उत्तर में ईंटों का उपधान होता है[1]। कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान में पूर्व में उपधेय चार ईंटें शुक्लयजुर्वेद के समान ही रखी जाती हैं। इसके बाद दक्षिण और उत्तर श्रोणि में पाँच-पाँच ईंटों की स्थापना की जाती है। शेष पाँच ईंटों को दोनों अंसों, पक्षों और पुच्छ में रखा जाता है[2]।

कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान में प्रथम चिति के समान सयुज्, संयानी, आत्मेष्टका, प्राजापत्या और ऋषभ ईंटों का चयन किया जाता है[3]। बौधायनश्रौतसूत्र के अतिरिक्त सयुज्, आत्मेष्टका और प्राजापत्या का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। बौधायनश्रौतसूत्र में संयानी की संख्या एक है, अन्यत्र दो। द्वितीय चिति में लोकम्पृणा की ईंटों की संख्या १५९० है[4]।

तृतीय चिति की संरचना[5]—

प्रारम्भिक अनुष्ठानों की समाप्ति के पश्चात् तीसरी चिति की संरचना के

---

[1] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १३५, पा० टि० एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ५१, पा० टि० २।

[2] टि० ५, तै० सं० ब्रा०, आदि, तदेव।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१.६,१०; स० श्रौ०, १२.१.७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.२.७; वा० श्रौ०, २.२.१.६।

द्वितीय चिति की संरचना के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वृष्टिसनि और अपस्या, वैश्वदेवी और ऋतव्या एक ही ईंट हैं। अतएव जी० आर० शर्मा—ए० कौ०, पृ० १७२-१७३—का मत भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः प्रो० शर्मा का सारा विवेचन त्रुटियों का संघात है। मै०सं०ब्रा० में अपस्या ईंटों की संख्या पाँच है, न कि चार, जैसा कि प्रो० शर्मा का कथन है—पृ० १७२, पा० टि० ४। यहाँ उनके कई सन्दर्भ भी अशुद्ध हैं। सयुजा और संयानी कृ० य० प्रस्थान की हैं, सभी ग्रन्थों में उनका उल्लेख भी है, अतएव वे बौधायन की हैं, यह कथन पूर्णतया भ्रान्ति पर आधृत हैं। इस प्रकार का० सं० ब्रा० में ऋतव्या ईंटों का उल्लेख है। यहाँ स्थान के संकोच से प्रो० शर्मा की सारी त्रुटियों का उल्लेख करना संभव नहीं हो पा रहा है।

[4] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १३६, पा० टि० १।

[5] वा० सं०, १४.११-२२; तै० सं०, ४.२.९,३.६.७,४.५-६, ११; का० सं०, १७.३.१०, २०.११,२२.५,४०.२; मै० सं०, २.७.१६, २.८.३,१२-१४; श० ब्रा०, ८.३.१-४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८,३.२, ९-७.१०; ४.२, ६.३; का० सं० ब्रा०, १७.३; २०.११; २१.३, २२.५; ४०.२; मै० सं० ब्रा०, २.७.१५-१६,८.३, १२-१३, ३.२.९; का० श्रौ०, १७.९; बौ० श्रौ०, १०.३९-४०; आप० श्रौ०, १७.१.११-१८, २.१-७; स० श्रौ०, १२.१.८-२०; वै०श्रौ०, १८।३०.३; मा०श्रौ०, ६.२.१.१०-२१, वा०श्रौ०, २.२.१.७।

निमित्त ईंटों का उपधान किया जाता है। प्रथम चिति में उपहित स्वयमातृण्णा का उपधान होता है[1]। इसके उपधान में 'इन्द्राग्नी अव्यथमाना' मन्त्र का विनियोग 'भुवः' व्याहृति के साथ किया जाता है[2]। शेष सारे अनुष्ठान पूर्ववत् किये जाते हैं। केवल मानवश्रौतसूत्र इस स्वयमातृण्णा के उपधान के समय अविद्वान् ब्राह्मण का निषेध करता है[3]। अविद्वान् ब्राह्मण न होने से वर दक्षिणा का भी वर्जन अपने आप हो जाता है। स्वयमातृण्णा के चयन के बाद दिश्या नाम पाँच इंटों का चयन किया जाता है[4]। इन ईंटों में दक्षिण अनूक पर उपधेय दो ईंटें अर्धपद्या होती हैं और शेष तीन पद्या। दिश्या ईंटों का आधान चारों दिशाओं में अनूकों के ऊपर किया जाता है। दूसरी ओर पाँचवीं दिश्या दक्षिण अनूक पर स्थापित की जाती है[5]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में चार इंटें चारों दिशाओं में और एक मध्य में रखी जाती है। दिश्या के चयन में 'राज्ञसि प्राची दिक्' आदि पाँच यजुषों का विनियोग किया गया है[6]।

विश्व-ज्योति नामक इंट प्रथम चिति में उपहित विश्व-ज्योति के ऊपर रखी जाती है[7]। इसके उपधान में 'विश्वकर्मा त्वा सादयतु' मन्त्र का विनियोग किया जाता है[8]। इस चिति में ऋतव्या नामक चार इंटों का चयन होता है[9]। चारों इंटें

---

[1] वा० सं०, १४.११-१२; तै०सं०, ४.३.६; का०सं०, १७.३; मै० सं०, २.८.३; क०सं०, २६.२; श० ब्रा०, ८.३.१.७-१४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.२, ५.५.५; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क०सं०ब्रा०, ३१.१३; का०श्रौ०, १७.९.१; बौ०श्रौ०, १०.४०, आप० श्रौ०, १७.१.१२; स० श्रौ०, १२.१.९; वै० श्रौ०, १९।३०-३, मा०, श्रौ०, ६.१.८.१०-१२; वा० श्रौ०, २.२.१.८।

[2] तद्देव; [3] मा० श्रौ०, तदेव।

[4] वा० सं०, १४.१३; तै०सं०, ४.३.६; का०सं०, १७.३; मै०सं०, २.८.३; क०सं०, तदेव; श० ब्रा०, ८.३.१.१०-१४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का०सं०ब्रा०, २०.११; मै०सं०ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१३; का०श्रौ०, १७.९.२; बौ०श्रौ०, १०.४०; आप०श्रौ०, १७.१.१२; स० श्रौ०, १२.१.१३; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.१.१८; वा० श्रौ०, २.२.१.११।

[5] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १३७, पा० टि० १, एग्लिंग् से० बु० ई०, ४३, पृ० ४३, पा० टि० ४।

[6] तै० सं० ब्रा०, आदि, तदेव।

[7] वा० सं०, १४.१४; तै० सं०, ४.२.९,४.४.६; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.७.१६; श० ब्रा०, ८.३.२.१-४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८,५.३.९; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं०ब्रा०, ३.२.६; का०श्रौ०, १७.९.३; बौ० श्रौ०, तदेव; आप०श्रौ० १७.१.१७; स०श्रौ०, १२.१.११; मा० श्रौ०, ६.२.१.१७; वा० श्रौ०, तदेव।

[8] तदेव।

[9] वा० सं०, १४.१५-१६, तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, तदेव, मै० सं०, २.८.१२; श०ब्रा०, ८.३.२.५-१२; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०,

अर्धोत्सेध पद्या होती हैं[1]। इनका आधान प्रथम चिति में उपहित ऋतव्याओं के ऊपर किया जाता है। शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान के अनुसार इन्हें अवका से आच्छादित नहीं किया जाता; पर कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में अवका से आच्छादन की विधि है[2]। अब दस प्राणभृत् नामक ईंटों का उपधान किया जाता है[3]। सत्याषाढश्रौतसूत्र में इनका वैराजी नाम मिलता है[4]। प्राणभृतों का आधान आत्मा के पूर्व भाग में किया जाता है। ईंटों का चयन उत्तर से दक्षिण की ओर किया जाता है। सभी प्राणभृत् ईंटें पद्या होती हैं[5]।

एतदनन्तर छन्दस्या नामक छत्तीस ईंटों का आधान किया जाता है[6]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में इन ईंटों को बृहती अभिधान दिया गया है[7]। बारह-बारह ईंटें क्रमशः दक्षिण-उत्तर में पक्ष और आत्मा की संधि में तथा पश्चिम में पुच्छ और आत्मा की संधि में रखी जाती हैं। इन ईंटों में तीस पद्या और छः अर्धपद्या होती हैं[8]। प्रत्येक दिशा में दूसरी और ग्यारहवीं ईंट अर्धपद्या रहती है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में ईंटों का आधान क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में किया जाता है। चौदह ईंटें बालखिल्या नाम की इस चिति में रखी जाती हैं[9]। काठकसंहिता-ब्राह्मण और मैत्रायणीय-संहिता-ब्राह्मण, कठ-कपिष्ठल-संहिता-ब्राह्मण तथा मानवश्रौतसूत्र में प्रथम सात

३.३.३; का० श्रौ०, १७.९.५-७; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२.१; स० श्रौ०, १२.१.१२; मा० श्रौ०, ६.१.८ ७।

[1] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, १७.९.५।

[2] बौ० श्रौ०, १०.४०।

[3] वा० सं०, १४.१७; तै० सं०, ४.३.६; का० सं०, १७.३; मै० सं०, २.८.३; श० ब्रा०, ८.३.२.१३-१४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, २०,११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; का० श्रौ०, १७.९.८; बौ० श्रौ०, १०.४०; आप० श्रौ०, १७.२.३; सं० श्रौ०, १२.१.१४; वै० श्रौ०, १९।३०.३; मा० श्रौ०, ६.२.१.१९; वा० श्रौ०; २.२.१.१२।

[4] स० श्रौ०, तदेव, वैराजीः पुरस्तादुपधाय।

[5] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, तदेव पृ० १३८, पा० टि० १; एग्लिग् , से० बु० ई०, ४३, पृ० ५१, पा० टि० १।

[6] वा० सं०, १४.१८-२०; श० ब्रा०, ८.३.३.१-१२; का० श्रौ०, १७.९-१०।

[7] तै० सं० ४.३.७; का० सं०, १७.३; मै० सं०, २.८.३, का० सं० २६.२; तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, २०.११. मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१३; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.२.४; स० श्रौ०, १२.१.१५; मा० श्रौ०, ६.२.१.१९; वा० श्रौ०, २.२.१.१२।

[8] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १३८, पा० टि० २, द्र० एग्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ५१, पा० टि० २।

[9] वा० सं०, १४.२१-२२; तै० सं०, ४.३.७; श० ब्रा०, ८.३.४.१-१०, का० श्रौ०, १७.११-१४; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.२.५; वा० श्रौ०, २.२.१.१३, स० श्रौ०, १२.१.१६।

ईंटों को 'आदित्यधामा' तथा अन्तिम सात ईंटों को 'अंगिरोधामा' कहा गया है[1]। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार प्रथम सात ईंटों का नाम 'बालखिल्या' है और शेष सात ईंटों का नाम 'वैखानसा' है[2]। बालखिल्या ईंटों में सात आत्मा के पूर्व भाग में और सात पश्चिम भाग में उपहित की जाती हैं। पूर्व में उपधेय ईंटों में तीसरी और पाँचवीं ईंट अर्धपद्या होती है[3]। कात्यायनश्रौतसूत्र से ज्ञात होता है कि बालखिल्या ईंटों का उपधान प्राणभृत् के पूर्व अथवा पश्चिम में किया जाता है। पूर्व में इनका चयन उत्तर से दक्षिण की ओर तथा पश्चिम में दक्षिण से उत्तर की ओर होता है[4]।

कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में प्रथम चिति के समान एक मण्डला[5], दो सयुजा[6], दो संयानी[7], पाँच आत्मेष्टका[8], एक प्राजापत्या[9] तथा एक ऋषभ[10] ईंट का उपधान इस चिति में भी किया जाता है। कतिपय कृष्णयजुर्वेदीय-ग्रन्थों में भूतेष्टका नामक बारह ईंटों के आधान का वर्णन मिलता है[11]। बौधायनश्रौतसूत्र इन ईंटों का उपधान पाँचवीं चिति में उचित मानता है। भूतेष्टका ईंटों का उपधान-मन्त्र 'पृथिव्यै स्वाहा' आदि है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र में एक अन्य मन्त्र का विनियोग निर्दिष्ट है। ध्यातव्य है कि 'पृथिव्यै स्वाहा' मन्त्र राजसूय के 'दिग्व्यास्थापन' (दिक्काल पर आरोहण) कर्म में विनियुक्त मन्त्रों का अन्तिम भाग है। वस्तुतः यह मन्त्र-समूह 'भूतानामवेष्टि'[12]

---

१. का० सं०, १७.३; मै० सं० २.८.३; क० सं०, २६.२; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै०सं०ब्रा०, ३.२.९, क० सं० ब्रा०, ३१.१३, मा० श्रौ०, ६.२.१.२०।

२. वै० श्रौ०, १८।३०.३।

३. विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १३८, पा० टि० २।

४. का० श्रौ०, १७.९-१०-१३।

५. तै० सं०, ४.४.५; मै०सं०, २.८.१४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.३९; आप० श्रौ०, १७.१.१५; सं० श्रौ०, १२.१.११; वै० श्रौ०, १९।३०.३; मा० श्रौ०, ६.१.८.१६; वा० श्रौ०, २.२.१.११।

६. तै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं०, ४०.२; बौ० श्रौ०, १०.४०।

७. तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; मै० सं०, २.८.१३, तै० सं०ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.१.१८; स० श्रौ०, १२.१.११; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.८.९।

८. स० श्रौ०, १२.१.१८।

९. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.२।

१०. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.१, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२.७; स० श्रौ०, १२.१.२०; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.१.२१; वा० श्रौ०, २.२.१.१५।

११. तै० सं० ब्रा०, ५.६.३; बौ० श्रौ०, १०.४६. आप० श्रौ०, १७.२.६; स० श्रौ०, १२.१.१७; वै० श्रौ०, तदेव।

१२. तै० ब्रा०, १.७.७.५—भूतानामवेष्टीर्जुहोति; आप० श्रौ०, १८.१५.९—पृथिव्यै स्वाहेति षड्भूतानामवेष्टीः। कीथ, हा० ओ० सी०, १८, पृ० १२५, पा० टि० २, का कथन है

आहुतियों में विनियुक्त है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, बौधायनश्रौतसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इस चिति में एक रेतःसिक् ईंट का आधान करना चाहिए[१]। तैत्तिरीयब्राह्मण एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र में दस अथर्वशिर नामक ईंटों को उपहित करने का विधान है[२]। इनमें विनियोजित मन्त्र कात्यायनसंहिता तथा मैत्रायणसंहिता में उपलब्ध हैं[३], अतएव यह प्रमाणित होता है कि इन प्रस्थानों में अथर्वशिर को स्वीकृति प्राप्त है। मैत्रायणक-प्रस्थान के श्रौतसूत्र मानव में इन्हें पंचमी चिति में उपधेय माना है[४]। कुछ आचार्यों के मत में यजुष्मती नामक ईंटों को आधेय माना गया है। पर इनकी संख्या आदि का उल्लेख नहीं मिलता। कात्यायनश्रौतसूत्र[५] में इसका उल्लेख है। बौधायनश्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी श्रौतसूत्र[६] एक हिरण्य-इष्टका के आधान का भी निर्देश करते हैं। एतदनन्तर सर्वतोमुख चयन आदि का[७] आधान कर चिति सम्बन्धित अन्य आवश्यक कार्य पूर्ववत् किये जाते हैं।

इस चिति में लोकम्पृणा ईंटों की संख्या १९५० होती है। पुरीष-निवपन आदि सम्पूर्ण अनुष्ठान पूर्ववत् किये जाते हैं[८]।

कि यह मन्त्र-समूह अभिषेक के अनन्तर यजमान के गीले वस्त्रों को उत्कर में फेंकने में प्रयुक्त होता है। यह वक्तव्य त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि आप० श्रौ० भूतेष्टका के उपधान में एक अन्य मन्त्र विनियुक्त करता है।

१. तै० सं० ब्रा०, ५.६.८.५; बौ० श्रौ०, १०.३९; आप० श्रौ०, १७.१.१६; स० श्रौ०, १२.१.११; वै० श्रौ०, तदेव।

२. तै०सं०ब्रा०, १.५.८, स०श्रौ०, १२.१.१९; द्र०, सायण, आ० ग्र०, ३७.१, पृ० २६७-अथर्वशिरोऽभिधानानामिष्टकानां दशानां मन्त्रा उच्यन्ते।

३. का० सं०, ३९-१२; मै० सं०, २.१३.६।

४. मा० श्रौ०, ६.२.२.२०।

५. का० श्रौ०, १७.९.१५।

६. आप० श्रौ०, १७.१.१४; स० श्रौ०, १२.१.११; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.१.१६; वा० श्रौ०, २.२.१.११।

७. बौ० श्रौ०, तदेव।

८. प्रो० जी० आर० शर्मा—ए० कौ० पृ० १७६-१७७—का तृतीय चिति का विवरण अनेक अशुद्धियों से भरा पड़ा है। यहाँ सबका विवरण देना सम्भव नहीं है, केवल मुख्य त्रुटियों का निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। ज्योतिष्मती नामक ईंट केवल पाँचवी चिति में रखी जाती है। दिश्या आप० श्रौ०, १७.२.२ में विद्यमान है। इसी प्रकार प्राणभृत् बौ० श्रौ०, १०.४०; और आप० श्रौ०, १७.२.३ में वर्णित है। स्पष्ट उल्लेख होने पर भी प्रो० शर्मा इनका अपलाप करते हैं। यह अति विस्मयावह है। वै० श्रौ०, की वैखानसा कोई नयी ईंट नहीं है। वै० श्रौ०, में चौदह बालखिल्या ईंटों को पूर्व सप्तक को बालखिल्या तथा परसप्तक को वैखानसा अभिधान दिया गया है। भूतेष्टका का तै० सं० ब्रा०, में वर्णन है। यह स्थापना कि विश्वज्योति तथा ऋतव्या का वर्णन केवल शुक्लप्रस्थान में है, सर्वथा भ्रम

चतुर्थ चिति की संरचना[1]—

प्रारम्भिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के पश्चात् चतुर्थ चिति की रचना प्रारम्भ की जाती है। सर्वप्रथम स्तोमा नामक अठारह ईंटों का उपधान किया जाता है[2]। स्तोमा के अनन्तर दस स्पृत् नाम की ईंटों का चयन किया जाता है[3]।

कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में मानवश्रौतसूत्र के अतिरिक्त सर्वत्र उपर्युक्त दोनों ईंटों का सम्मिलित नाम अक्षणयास्तोमीया[4] है और संख्या २८; मानवश्रौतसूत्र में अक्षणस्तोमीया ईंटों की संख्या अठारह और स्पृत् ईंटों की संख्या शुक्लयजुर्वेद के समान दस है[5]। ऋतव्या नामक दो पद्या ईंटों का आधान तृतीय चिति में उपहित ऋतव्याओं के ऊपर किया जाता है[6]। अब सृष्टि नाम की सत्रह ईंटों का चयन किया

हैं। कृष्णयजुर्वेदीय सभी ग्रन्थों में इनका विधान है। सभी के संदर्भ तृतीय चिति के विवरण में प्रस्तुत हैं। बौधायन के ऊपर यह आरोप लगाना कि उन्होंने कुछ नयी ईंटों का आविष्कार कर लिया है, नितान्त भ्रान्तिजन्य है। उनका उल्लेख संहिता, ब्राह्मणों में उपलब्ध हैं।

[1] वा० सं०, १४.२३-३१; तै० सं०, ४.३.८-११; ४.४.५-६,११; का० सं०, १७.४-५, १०,२२.५, ३९.१०, ४०.२; मै० सं०, २.८.४,६,१२,१३; १२.११; श० ब्रा०, ८.४.१.९-२८, ४.२.१-१५, ४.३.१-२०; तै० सं० ब्रा०, ५.३.३.४, ९-१०; ४.२; का० सं० ब्रा०, २०.६,१२,२१.३,२२.६; मै० सं० ब्रा०, २.८.४,१३,३.२.१०,३.३; का० श्रौ०, १७.१०.१-१७, बौ० श्रौ०, १०.४१-४२; आप० श्रौ०, १७.२.९-१३; स० श्रौ०, १२.१.२२-३०; मा० श्रौ०, ६.२.१.२३-२७; वा० श्रौ०, २.२.१.१७-१८।

[2] वा० सं०, १४.२३; श० ब्रा०, ८.४.१.९-२८; का० श्रौ०, १७.१०.१-१०; आधान-स्थल के लिये द्र०, विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १४०-४१, पा० टि० १; एग्लिंग्, से० बु० ई० ४३, पृ० ५९-६०, पा० टि० १,३।

[3] वा० सं०, १४.२४-२६; श० ब्रा०, ८.४.२.१:१३; का० श्रौ०, १७.१०.११-१५; आधान-प्रकार के लिये द्र०, विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १४१, पा० टि० १, एग्लिंग्, तदेव, पृ० ६६-६७, पा० टि० १-२।

[4] तै० सं०, ४.३.८-९; का० सं०, १७.४; मै०सं०,२.८.४; क० सं०, २६.३; तै०सं०ब्रा०, ५,३.३.४; का० सं० ब्रा०, २०.१२; मै०सं०ब्रा०, ३.२.१०; क०सं०ब्रा०, ३१.१४.१६; बौ०श्रौ०, १०.४२; आप०श्रौ०, १७.२.९; स०श्रौ०, १२.१.२२; वै०श्रौ०, १९।३०.४; मा० श्रौ०, ६.२.१.२३-२४; वा० श्रौ०, २.२.१.१८; कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४२०, पा० टि० १।

[5] मा० श्रौ०, तदेव।

[6] वा० सं०, १४.२७; तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१२; क०सं०, २७.९; श० ब्रा०, ८.४.२.१४-१५; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० सं० ब्रा०, २०.६, २१.३, मै० सं० ब्रा०, ३.३.३; का० श्रौ०, १७.१०.१७; बौ० श्रौ०, १०.४१; आप० श्रौ०, १७.२.१०; स० श्रौ०, १२.१.२४; वै०श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.८.७, कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४२९, पा० टि० २।

जाता है[1]। तैत्तिरीयसंहिता और मैत्रायणीयसंहिता में सृष्टि नामका उल्लेख मिलता है, पर काठकसंहिता में नहीं। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार सृष्टि इंटों का चयन दक्षिण अंश में किया जाता है[2]। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार इनका चयन-स्थान आत्मा का मध्य भाग है[3]।

कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में व्युष्टि नामक इंटों के चयन का निर्देश है[4]। वैखानसश्रौतसूत्र में इसकी संख्या सोलह है[5], अन्यत्र पन्द्रह। इसके अतिरिक्त एक सयुजा[6] तथा एक संयानी[7] इंट का भी आधान किया जाता है। तैत्तिरीय-प्रस्थान में पूर्ववत् आत्मेष्टका सयुज्, प्राजापत्या, संयानी और ऋषभ इंटों के चयन का[8] निर्देश है। बौधायन के अतिरिक्त अन्य श्रौतसूत्रों में केवल ऋषभ का वर्णन है। सत्याषाढ-श्रौतसूत्र के अनुसार इसी चिति में पाँच असपत्ना इंटों के चयन का निर्देश है[9]। अन्य

---

१. वा० सं०, १४.२८-३१; तै० सं०, ४.३.१०; का० सं०, १७.५; मै० सं०, २.८.६; क० सं०, २६.४; श० ब्रा०, ८.४.३.१-२०; तै० सं० ब्रा०, ५.३.४; का० सं० ब्रा०, २०.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; का० श्रौ०, १७.१०.१७; बौ० श्रौ०, १०.४२; आप० श्रौ०, १७.२.११; स० श्रौ०, १२.१.२५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२-१.२५, वा० श्रौ०, २.२.१.१७; द्र० विद्याधर शर्मा, तदेव; पृ० १४२, पा० टि० १।

२. बौ० श्रौ०, तदेव।

३. मा० श्रौ०, ६.२.१.२५।

४. तै० सं०, ४.३.११; का० सं०, ३९.१०, मै० सं०, २.८.६; तै० सं० ब्रा०, ५.३.४; बौ०श्रौ०, १०.४२; आप०श्रौ०, १७.२.१२; स०श्रौ०, १२.१.२६; वै०श्रौ०, १९।३०.४; मा० श्रौ०, ६.२.१.२६; वा० श्रौ०, २.२.१.१७।

५. वै० श्रौ०, तदेव।

६. तै० सं०, ४.४.५; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.४१।

७. तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; मै० सं० २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; बौ० श्रौ०, १०.४१; आप० श्रौ०, १७.२.९; स० श्रौ०, १२.१.२३; वै० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, वै० श्रौ०, तथा स० श्रौ०, के अनुसार इनकी संख्या दो है।

८. बौ० श्रौ०, १०.४३।

९. स० श्रौ०, १२.१.२७।

प्रो० जी० आर० शर्मा का—ए० कौ०, पृ० १७९—में कथन है कि चतुर्थी चिति में तै०सं० ब्रा०, के अनुसार आठ इंटें तथा स्पृत् नामक दस इंटों का आधान किया जाता है। ध्यातव्य है कि तै० सं० ब्रा०, ५.३.४ में स्पृत् नामक इंटों का कहीं निर्देश नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि तै० सं० ४.३.८ एवं ४.३.९ अनुवाकों में कुल २८ मन्त्र हैं। इनके द्वारा उपधेय इंटों की संख्या २८ होती है। अतएव अक्षणयास्तोमीया ईंटों की संख्या २८ होगी। नाम के सम्बन्ध में तथ्य यह है कि प्रथम अनुवाक के सभी यजुषों में 'स्तोम' शब्द तथा द्वितीय अनुवाक में 'स्पृत्' शब्द आया है। अतएव शु० य० प्रस्थान तथा कृष्णयजुर्वेदीय मानव श्रौ० सू० में उनका नाम स्तोमीया अथवा अक्षणयास्तोमीया और

सभी कार्य पूर्ववत् किये जाते हैं। ध्यातव्य है कि अन्य सभी प्रस्थान इसका उपधान पाँचवीं चिति में उचित मानते हैं। इस चिति में कुल १९५० लोकम्पृणाओं का चयन किया जाता है[1]।

पंचम चिति की संरचना[2]—

प्रारम्भिक अनुष्ठानों के अनन्तर पाँचवीं चिति में ईंटों के चयन का आरम्भ

स्पृत् है। का० सं० ब्रा०, २०.१२ तथा मै० सं० ब्रा०, ३.२.१० में दोनों शब्दों का तत्-तत् सन्दर्भों में प्रयोग मिलता है। कृ० य० के सभी श्रौ० सूत्रों में, मानव के अतिरिक्त, अक्षणयास्तोमीया है। ईंटों की जहाँ संख्या का कथन नहीं होता, वहाँ विनियोजनीय मन्त्र ही संख्या के निर्धारक होगें। नाम की एकता का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, विनियोग-मन्त्रों की एकता ही महत्त्वपूर्ण है। अतएव प्रो० शर्मा का संख्या निर्धारण पूर्णतया भ्रम-मूलक है।

इसी प्रकार का० श्रौ०, १७.१०.१-१५ में कहीं भी जंघामात्री शब्द की छाया नहीं है। यहाँ स्तोम तथा स्पृत् ईंटों का वर्णन है। अतएव प्रो० शर्मा के द्वारा इस संदर्भ में वर्णित ईंटों को 'जंघामात्री' नाम देना भी त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार यह कथन भी गलत है कि तै० सं० ब्रा० और स० श्रौ० में व्युष्टि नामक ईंटों की संख्या १६ है। तै० सं० ब्रा० तथा स० श्रौ०, में व्युष्टि ईंटों की संख्या १५ है। स० श्रौ०,—१२.१.२६—में तो स्पष्ट ही कहा गया है—पञ्चदशव्युष्टीः। केवल आप० श्रौ० तथा वै० श्रौ०, में व्युष्टि ईंटों की संख्या १६ है। इसका कारण भी है। वैखानस ने व्युष्टि के विनियोग-मन्त्रों में ईयुष्टे—तै० सं०, १.४.३३—उषादेवताक मन्त्र का संनिवेश कर दिया है। फलस्वरूप उनके अनुसार ईंटों की संख्या १६ हो गयी। तै०सं०, ४.३.११ में तो व्युष्टि के विनियोग-मन्त्रों की संख्या १५ ही है। अतएव तै० सं० ब्रा०, ५.३.४ में व्युष्टि ईंटों की संख्या का कथन स्पष्टतया उल्लिखित न होने पर भी संख्या १५ ही कर दी है। प्रो० शर्मा ने विना परीक्षा किये ही अपनी स्थापना प्रस्तुत कर दी है।

प्रो० शर्मा—तदेव, पृ० १८० में—का कथन कि सयुजा तथा संयानी ईंटों का आविष्कार बौधायन ने किया; अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। इन ईंटों का उल्लेख संहिता तथा ब्राह्मण में है। इसका निर्देश पहले किया जा चुका है।

[1] विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, अ० ग्र०, पृ० १४२, पा० टि० २, मानचित्र, १३८-१४९।

[2] वा० सं०, १५.१-६३, तै० सं०, ४.४.१-११, २.९,३.१२,५.५.५, ७.२,४; का० सं०, १७.६-१०; २२.५,२९.९.११,४०.८:४; मै० सं०, २.७.९,८.७-१०, १२-१३, १३.१२, १८-२०, श० ब्रा०, ८.५-७, तै० सं० ब्रा०, ५.२.८,३.२,५,७,९-११, ४.१-२,५.५, ७.४; का० सं० ब्रा०, २१.२,४,२२.६; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०, ३.१; का० श्रौ०, १७.११-१२; बौ० श्रौ०, १०.४४.४६; आप० श्रौ०, १७.३-१०, ११.१-२; स० श्रौ०, १२.१.३१-४६,२, ३.१-३; वै० श्रौ०, १९।३०.४-५; मा० श्रौ०, ६.२.२-३; वा० श्रौ०, २.२.१:२०-३१,२।

होता है। सर्वप्रथम असपत्ना नामक पाँच ईंटों का आधान किया जाता है[१]। द्वितीय चिति में उपहित आश्विनी ईंटों के समान इन ईंटों का चयन किया जाता है। असपत्ना ईंटें पद्या होती हैं। बौधायन का अभिमत है कि बीच में रखी गयी असपत्ना ईंट को पुरीष के साथ रखना चाहिए अथवा आधान के पश्चात् उसपर पुरीष का निक्षेप[२] करना चाहिए। इसके विपरीत शालीकि पुरीष-आधान का निषेध करते हैं[३]। विराज् नामक ईंटों की संख्या चालीस है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार दस-दस की संख्या में विराज् ईंटों को चारों कोनों में रखना चाहिए[४]। बौधायनश्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र आत्मा के चारों ओर इन ईंटों की स्थापना उचित मानते हैं[५]।

शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार स्तोमभागा ईंटों की संख्या उनतीस है[६]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में मानवश्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र इनकी संख्या एकतीस बतायी गयी है[७]। मानवश्रौतसूत्र एवं वाराहश्रौतसूत्र में स्तोमभागा इंटों की

---

[१] वा० सं०, १५.१-३; तै० सं०, ४.३.१२; का० सं०, १७.६; मै० सं०, २.८.७; श० ब्रा०, ८.५.१-४, ६-१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.५; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; का० श्रौ०, १७.११.१-४; बौ० श्रौ०, १०.४५; वै० श्रौ०, १९.३०.४; आप० श्रौ०, १७.३.१-३; मा० श्रौ०, ६.२.२.१, १.२.१.२०।

[२] क० सं० ब्रा०, ३१.१७, बौ० श्रौ०, १०.४५; तु० आप० श्रौ०, १७.३.३; स० श्रौ०, १२.१.२८; वै० श्रौ०, १९।३०.३, मा०श्रौ० ६.२.२.१; वा० श्रौ०, २.२.१.२०; तै० सं० ब्रा०, ५.३.५.२।

[३] बौ० श्रौ०, २२.४, मन्त्र—पुरीषेवैषा स्यादिति शालीकिः।

[४] वा० सं०, १५.४-५; श० ब्रा०, ८.५.१.५,८.५.२; का० श्रौ०, १७.११.५-८; द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ८७, पा० टि० २।

[५] तै० सं०, ४.३.१२; का० सं०, १७.६; मै० सं०, २.८.७; क० सं० २६.५; तै० सं० ब्रा०, ५.३.५; का० सं० ब्रा०, २१,२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; क० सं० ब्रा०, ३१.१७; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप०श्रौ०, १७.३.८; स० श्रौ०, १२.१.३१; मा०श्रौ०, ६.२.२.२, वा० श्रौ०, २.२.१.२१।

प्रो० जी० आर० शर्मा का कथन है कि (ए० कौ०, पृ० १८३) तै० सं० ब्रा०, में विराज् इंटों की संख्या बारह है। यह स्थापना अज्ञानमूलक है; क्योंकि तै० सं० ब्रा०, स्पष्टतः चालीस इंटों का विधान करता है—विराज उत्तमायां चित्यामुपदधाति''''दशदशोपदधाति, अक्ष्णयोपदधाति, द्र० कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ४२४।

[६] वा० सं० १५.६-९; श० ब्रा०, ८.५.३.२-८; का० श्रौ०, १७.११.५-८।

[७] तै० सं०, ४.४.१; का० सं०, १७.७, मै० सं०, २.८.८; का०सं०, २६.६; तै० सं० ब्रा०, ५.३.६; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.३.५; स० श्रौ०, १२.१.३१; मा० श्रौ०, ६.२.२.३; वा० श्रौ०, २.२.१.२२।

संख्या तैंतीस[१] है। इनका उपधान अषाढा के वृत्तक्षेत्र में किया जाता है। कात्यायन-श्रौतसूत्र के अनुसार ईंटों को इस प्रकार रखना चाहिए कि वे आत्मा के उत्तर, दक्षिण में क्रमशः चौदह और पन्द्रह की संख्या में हों[२]। पद्या ईंट स्थापित की जाती है, और इस पद्या के दोनों ओर एक-एक अर्धपद्या एवं दो-दो पद्या ईंटों का चयन होता है। पश्चिम में, पूर्व में उपहित ईंटों के समान उपधान किया जाता है। उत्तर में अनूक के दोनों ओर तीन-तीन ईंटें रखी जाती हैं। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार सात-सात ईंटें चारों दिशाओं में और तीन आत्मा के मध्य में रखी जाती हैं।

नाकसद् नामक पाँच ईंटों का उपधान अन्तिम चिति में निर्दिष्ट है[३]। इन ईंटों में तीन अर्धोत्सेध पद्या और दो अर्धोत्सेध अर्धपद्या होती हैं। नाकसदों का उपाधान पूर्ववर्णित आश्विनी के समान ऋतव्या के वृत्त-क्षेत्र में किया जाता है। दक्षिण में उपधेय दो ईंटें अर्धोत्सेध होती हैं। क्रमशः पूर्व, दक्षिण, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में नाकसदों का चयन विहित माना गया है[४]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में चार ईंटें चारों

प्रो० जी० आर० शर्मा, ए०कौ०, पृ० १८३ में व्यवस्था देते हैं कि तै० सं० ब्रा० और वै०श्रौ०, में स्तोमभागा ईटों की संख्या २९ है। यह कथन पूर्णतया असंगत है, तै०सं०ब्रा०, ३१ इंटों का विधान करता है—स्तोमभागा उपदधाति····सप्त सप्तोपदधाति सवीर्यत्वाय, तिस्रो मध्ये प्रतिष्ठित्यै—५.३.५; इसी प्रकार वै० श्रौ०,—स्तोमभागाः सप्त सप्त प्रतिदिशम्, अवशिष्टा मध्ये। पृ० १८५; तदेव, में उनका यह कथन भी भ्रान्तिमूलक है कि आपस्तम्ब स्तोमभागा का विधान नहीं करता, द्र० आप० श्रौ०, १७.३.५—स्तोमभागाः सप्त सप्त प्रतिदिशम्, अवशिष्टा मध्ये। इस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट है कि स्तोमभागा के सम्बन्ध में प्रो० शर्मा ने अज्ञानजन्य अनेक भ्रमों की सृष्टि की है। जहाँ तक इन इंटों की संख्या का सम्बन्ध है, वहाँ तक यही कथन है कि कृष्णयजुर्वेद के सभी ग्रन्थों में ३१ संख्या है। वस्तुतः इन सभी इंटों के अलग-अलग नाम भी हैं। स्थान-संकोच के कारण उनका उल्लेख संभव नहीं है। मै० सं० में इन इंटों में विनियोजित यजुषों की संख्या ३३ है। अतएव मा० श्रौ०, तथा वा० श्रौ०, में इनकी संख्या ३३ है। द्र० अग्रिम सन्दर्भ।

[१] मा० श्रौ०, ६.२.२.३—त्रयस्त्रिंशतं स्तोमभागा दिक्षु। पूर्वार्धादुपक्रम्य प्रदक्षिणं सप्त सप्त, पञ्च मध्ये। वा० श्रौ०, २.२.१.२२—त्रयस्त्रिंशतं स्तोमभागाश्चतुरः सप्तवर्गान् दक्षिणत उपधाय पञ्चलोकेषूपदधाति।

[२] का० श्रौ०, १७.११.९-११; द्र०, विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १४४, पा० टि० ३; द्र०, एग्लिंग्, पृ० ९७-९९, पा० टि० १।

[३] वा० सं०, १५.१०-१४; श० ब्रा०, ८.६.१.१-१०; का० श्रौ०, १७.१२.१; ध्यातव्य है कि कात्यायन का कथन है कि स्तोमभागा के ऊपर इसी समय पुरीष भी डाल देना चाहिए—तदेव, १७.११.१२; श० ब्रा० ८.५.५.४। कुछ आचार्यों के मत में तीसवीं स्तोमभागा का भी आधान करना चाहिए—तदेव, १७.११.११; परन्तु याज्ञवल्क्य इसका विरोध करते हैं, श० ब्रा०, ८.५.३.८।

[४] विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १४६, पा० टि० १

दिशाओं में और एक मध्य में रखी जाती है[१]। पंचचूडा नामक पाँच इंटों का आधान नाकसदों के ऊपर किया जाता है[२]। इनमें भी तीन अर्धोत्सेध पद्या और दो अर्धोत्सेध अर्धपद्या होती हैं[३]। सब ईंटों के आधान के बाद पश्चिमी[४] ईंट रखी जाती है। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण के अनुसार इन इंटों के आधान के समय द्वेषी का ध्यान[५] करना चाहिए। काठकसंहिता-ब्राह्मण का मत है कि द्वेषी के नाम का उच्चारण भी करना चाहिए[६]।

छन्दस्या नामक एकतीस ईंटों का आधान पाँचवीं चिति में किया[७] जाता है। कृष्णयजुर्वेद में इनका नाम छन्दोविधा है और संख्या तीस है[८]। छन्दस्या इंटों में दस

---

१. तै० सं०, ४.४.२; का० सं०, ६.१७.८; मै० सं०, २.८.९; क० सं०, २६.७; तै० सं० ब्रा०, ५.३.६, का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१७; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.३.७; स० श्रौ०, १२.१.३३; वै० श्रौ०, १९।३०.४; मा० श्रौ०, ६.२.२.३; वा० श्रौ० २.२.१.२३।

२. वा० सं०, १५.१५-१९; श० ब्रा०, ८.६.१.११; का० श्रौ०, १७.१२.२-३; तै० सं०, ४.३.३; का० सं०, २१.२; मै० सं०, २.८.१०; क० सं०, २६.८; तै० सं० ब्रा०, ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.३.७; स० श्रौ०, १२.१.३३; मा० श्रौ०, ६.२.२.५; वा० श्रौ०, २.२.१.२४।

३. विद्याधर शर्मा, का० श्रौ०, तदेव।

४. आधानक्रम के लिये द्र०, श० ब्रा०, ८.६ १.१६-१९, २३; का० श्रौ०, १७.१२.३-पश्चिमोत्तमा।

५. तै० सं० ब्रा०, ५.३.७.२-यं द्विष्यात् तमुपदधद् ध्यायेत्।

६. का० सं० ब्रा०, २१.२—यं द्विष्यात् तं ब्रूयादमूम्····।

७. वा० सं०, १५.२०-४८; श० ब्रा०. ८.६.२; का० श्रौ०, १७.१२.४-१६।

८. तै० सं०, ४.४.४; का० सं०, ७.१६-१७; मै० सं०, २.१३.७; तै० सं० ब्रा०, ५.३.८; का० सं० ब्रा०, २१.४; मै० सं० ब्रा०, ३.३.२; बौ० श्रौ०. १०.४५; आप० श्रौ०, १७.४.१०; स० श्रौ०, १२.१.४१, वै० श्रौ०, १९।३०.५; मा० श्रौ०, ६.२.२.२१; वा० श्रौ०, ६.२.१.२९-३१; मानव और वाराह में इनकी संख्या छत्तीस है।

ध्यातव्य है कि इन इंटों के समूह को का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, मानवश्रौ०, तथा वा० श्रौ० छन्दश्चिति अभिधान देते हैं। बौधायन, आपस्तम्ब (१७.४.९), और वैखानस इसका नाम याज्ञसेनी चिति बताते हैं। तै० सं० ब्रा० के अनुसार इस विद्या के प्रथम आचार्य यज्ञसेन चैत्रियायण हैं। का० सं० ब्रा०, तथा मै०सं०ब्रा० के अनुसार इनका नाम यज्ञसेन चैत्र है। अतएव इस चिति को याज्ञसेनी नाम दिया गया है।

प्रो० जी. आर. शर्मा (तदेव, पृ० १८५) का कथन है कि छन्दोविधा इंटों के सम्बन्ध में केवल सं० ब्रा० (कृ० य०) में उल्लेख है। श्रौ० सूत्रों ने बाद में इन इंटों का परित्याग कर दिया। अन्यत्र (तदेव, पृ० १८३) उनका कथन है कि आप० श्रौ० में आठ छन्दोविधा

पद्या और एक्कीस अर्धपद्या होती हैं[१]।

आठ इंटों द्वारा मध्य में गार्हपत्य का पूर्ववत् चयन किया जाता है। इन इंटों का नाम गार्हपत्येष्टका है[२]। गार्हपत्य इंटों में चार अर्धोत्सेध पद्या और चार अर्धोत्सेध अर्धपद्या होती हैं। इनका आधान-क्रम गार्हपत्य-चिति की इंटों के सदृश है[३]। गार्हपत्येष्टकाओं के आधान में गार्हपत्यचिति में इंटों के आधान में प्रयुक्त मंत्रों का विनियोग किया जाता है[४]। कृष्णयजुर्वेद में मानवश्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता है। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार गार्हपत्या इंटों का चयन स्वयमातृष्णा के उत्तरपूर्व में किया जाता है[५]। गार्हपत्या इंटों के ऊपर आठ पुनश्चिति इंटों के आधान का निर्देश है[६]। इनमें भी चार अर्धोत्सेध पद्या और चार अर्धोत्सेध अर्धपद्या होती हैं। कृष्णयजुर्वेद के केवल मानवश्रौतसूत्र तथा वाराह-श्रौतसूत्र में इन इंटों का वर्णन मिलता है[७]। कतिपय आचार्यों के अनुसार पुनश्चिति इंटों का उपधान पश्चिम अनूक के अन्त में करना चाहिए[८]। अन्य आचार्य गार्हपत्येष्टकाओं का चयन पश्चिम अनूक के अन्त में तथा पुनश्चितियों का पूर्व अनूक के अन्त में उचित मानते हैं[९]। उपर्युक्त दोनों मतों को शतपथब्राह्मण नहीं मानता[१०]।

इंटों का वर्णन है। स्पष्ट है कि यह वदतोव्याघात है। आप० श्रौ० में तीस छन्दोविधा इंटों का उल्लेख है। अतएव यहाँ भी उनका ज्ञान स्पष्ट है?

१. विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १४६-१४७ प्रो० जी० आर० शर्मा का कथन है कि श० ब्रा० में छन्दस्या इंटों की संख्या ३० है और का० श्रौ० में ६। श० ब्रा० १०.४.३.१८ पंचमी चिति में उपधेय इंटों की गणना करते समय कहता हैं—
'एकत्रिंशच्छन्दस्याः'। श० ब्रा०, ८.६.२.१, का भाष्य करते हुए हरिस्वामी का कथन हैं–एकत्रिंशद् ऋचः सारभूताः—तैनेतास्तावच्छन्दोनिर्मिता....। स्पष्ट है कि 'एकत्रिंशत्' का अर्थ ३० प्रो० शर्मा ही कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० १०९ भी देखना चाहिए। यदि प्रो० शर्मा ने एग्लिंग् को भी देखा होता, तो ऐसा अनर्थ न होता। का० श्रौ० में भी छन्दस्या की संख्या ३० ही है, न कि ६। श्रौतसूत्र को भी समझने में उन्होंने भूल की है।

२. श० ब्रा०, ८.६.३.१-१२; का० श्रौ०, १७.१२.१७।

३. श० ब्रा०, ७.१.१.३२; विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १४७।

४. वा० सं०, १२.४७-५४।

५. मा० श्रौ०, ६.२.२.१३।

६. वा० सं०, १५.४९-५६; का० श्रौ०, १७.१२.१८-२०।

७. मा० श्रौ०, ६.२.२.१४, वा० श्रौ०, २.२.१.२६—यहाँ इनका नाम 'अमृता' कहा गया है और इनकी संख्या एकतीस है।

८. श० ब्रा०, ८.६ ३.११।

९. श० ब्रा०, ८.६.३.१४।

१०. तदेव।

प्रथम और तृतीय चिति में उपहित ऋतव्या ईंटों के ऊपर दो पद्या ऋतव्याओं का उपधान पूर्ववत् किया जाता है[1]। अब प्रथम और तृतीय चिति में रखी गयी विश्व-ज्योति ईंट के ऊपर एकपद्या विश्व-ज्योति ईंट स्थापित की जाती है[2]। लोकम्पृणा-आधान तथा पुरीष-निवपन के अनन्तर एक विकर्णी तथा एक स्वयमातृण्णा का आधान होता है। स्वयमातृण्णा पूर्ववत् प्रथम और तृतोय चिति में स्थापित स्वयमातृण्णा के ऊपर रखी जाती है[3]। स्वयमातृण्णा के ठीक उत्तर में विकर्णी का उपधान[4] होता है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में उपर्युक्त स्वयमातृण्णा के अतिरिक्त चार अन्य स्वयमातृण्णाओं के उपधान का निर्देश[5] है। काठक और मैत्रायणी शाखा में इन स्वयमातृण्णाओं का उल्लेख नहीं है। मानवश्रौतसूत्र भी इन ईंटों का वर्णन नहीं करता। चारों स्वयमातृण्णाएँ आत्मा के चतुर्दिक् स्थापित की जाती हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में उपर्युक्त ईंटों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ईंटों के आधान का भी विधान मिलता है। 'कृत्तिका' नामक सात ईंटों का चयन किया जाता

---

[1] वा० सं०, १५.५७; तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै० सं, २.८.१२; क०सं०, २६.९; श०ब्रा०, ८.७.१.१-१२; तै०सं०ब्रा०, ५.४.२; का०सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३; का० श्रौ०, १७.१२.२१; बौ० श्रौ०, १०.४४; आप० श्रौ०, १७.४.५; स० श्रौ०, १२.१.३४; वै० श्रौ०, १९।३०.४; मा० श्रौ०, ६.१.८.७; वा० श्रौ०, २.२.२.७।

[2] वा० सं०, १५.५८; तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, १७.१०, मै० सं०, २.७.१६; श०ब्रा० ८.७.१.१६-२२, तै० सं० ब्रा०, ५.२.८,५.३.९; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; का० श्रौ०, १७.१२.२२; बौ० श्रौ०, १०,४६, आप० श्रौ०, १७.४.४; स० श्रौ०, १२.१.३६; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.२.८; वा० श्रौ०, २.२.२.५।

[3] वा० सं०, १५.६३; तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१४; श० ब्रा०, ८.७.३.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.५.५, का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; का० श्रौ०, १७.१२.२४; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.३.८-९; स० श्रौ०, १२.१.४३; वै० श्रौ०, १९।३०.५; मा० श्रौ०, ६.२.२.९; वा० श्रौ०, २.२.२.७।

[4] वा० सं०, १५.६२; तै० सं०, ४.४.३; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१४; श० ब्रा०, ८.७.३.९-१२; तै० सं० ब्रा०, ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै०सं०ब्रा०, २.८.१४; का० श्रौ०, १७.१२.२४; बौ० श्रौ०, तदेव, आप०श्रौ०, १७.३.९; वै०श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.१.४४; मा० श्रौ०, ६.२.३.१७।

[5] तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.५.५; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.७.३; स० श्रौ०, १२.२.२३।

है[१]। मैत्रायणक-प्रस्थान में इनका नाम 'वाग्' है[२]। बोधायनश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इनका आधान दक्षिण अंस में गुल्म के रूप में किया जाता है[३]। मानवश्रौतसूत्र में कृत्तिका ईंटों का उपधान-स्थल पूर्वार्ध बताया गया है[४]। वृष्टिसनि नामक पाँच ईंटों का उपधान इस चिति में होता है[५]। चार ईंटें आत्मा के चारों ओर तथा एक ईंट मध्य में रखी जाती है। आदित्या नामक आठ ईंटों का आधान किया जाता है[६]। इन ईंटों का आधान दो-दो की संख्या में चारों दिशाओं में होता है।

वाराहश्रौतसूत्र के अनुसार तीनों सन्धि-देशों में दो-दो तथा मध्य में दो ईंटों का चयन करना चाहिए[७]। यशोदा नामक पाँच ईंटें रखी जाती है[८]। मानवश्रौतसूत्र में यशोदा का उल्लेख नहीं मिलता है। बौधायनश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इनका उपधान भी वृष्टिसनि के समान होता है[९]। इसी तरह भूयस्कृत् अथवा पञ्चापञ्चीना नामक पाँच ईंटें रखी जाती हैं[१०]। अप्सुषद् नामक पाँच ईंटों का उपधान किया जाता है। सत्याषाढश्रौतसूत्र[११] तथा वैखानसश्रौतसूत्र में इन्हें अग्नि-

---

[१] तै० सं०, ४.४.५; का० सं०, ४०.४; मै० सं०, २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.४५, आप० श्रौ०, १७.५.४; स० श्रौ०, १२.२.२; मा० श्रौ०, ६.२.२.१०, वा० श्रौ०, ६.२.१.२५—अम्बा च बुला चेति षोडश।

[२] मा० श्रौ०, तदेव।

[३] बौ० श्रौ०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव।

[४] मा० श्रौ०, तदेव।

[५] तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; मै० सं०, २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.५; स० श्रौ०, १२.२.३; वै० श्रौ०. तदेव; मा० श्रौ०, ६ २.२.९; वा० श्रौ०, ६.२.१.२५।

[६] तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; मै० सं०, २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; मै० सं० ब्रा०, २.८.१३; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.६; स० श्रौ०, १२.२.४; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.२.११।

[७] मा० श्रौ०, ६.२.२.११।

[८] तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, ३९.९; मै० सं०, २.१३.१८; तै० सं० ब्रा० ५.३.१०; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.१०; स० श्रौ०, १२.२.६; वै० श्रौ०, १९।३०.५।

[९] बौ० श्रौ०, तदेव; त्रै० श्रौ०, तदेव।

[१०] तै० सं०, ४.४.७; का० सं०, ३९.९; मै० सं०. २.१३.१८; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११; मै० सं० ब्रा०, ३.५.२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.५.१०; स० श्रौ०, १२.२.७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.३.६; मानव इनका अभिधान पंचापंचीना करता है।

[११] तै० सं०, ४.४.७; का० सं०, ३९.९; मै० सं०, २.१३.१८; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११;

रूपा कहा गया है। चार ईंटें आत्मा के चारों ओर और एक मध्य में रखी जाती है। इसी तरह द्रविणोदा नामक पाँच ईंटों का आधान किया जाता है[१]। मानवश्रौतसूत्र में इन ईंटों का उल्लेख नहीं मिलता।

नक्षत्रों के लिए सत्ताईस ईंटों का आधान किया जाता है। इनका नाम नक्षत्रेष्टका[२] है। मैत्रायणीय-संहिता में उनतीस नक्षत्रों का परिगणन मिलता है[३]। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रस्थाव में इन ईंटों की संख्या उनतीस है। नक्षत्रा ईंटों के दो वर्गों में विभक्त कर आत्मा के दक्षिण और उत्तर भाग में आहित करने का विधान है। प्रथम समूह में चौदह ईंटें होती हैं और इनका आधान कृत्तिका से विशाखा तक के लिए किया जाता है। इन चौदह ईंटों का आधान आत्मा के दक्षिण-भाग में पूर्व से पश्चिम की ओर किया जाता है। आत्मा के उत्तर भाग में तेरह इटें अनुराधा से अपमरणी तक के नक्षत्रों के लिए स्थापित की जाती हैं। इनका उपधान उत्तर-श्रोणि से उत्तर अंस की ओर किया जाता है[४]। घृतेष्टका नामक पाँच ईंटों का चयन किया जाता है[५]। मैत्रायणीय-शाखा में इनका उल्लेख नहीं मिलता है। चार ईंटें चारों दिशाओं और एक ईंट बीच में रखी जाती है। बौधायन के अनुसार इन्हें घृत के साथ अथवा घृत में डुबोकर रखना चाहिए[६]। शालीकि का कथन है कि घृत का कार्य मन्त्रों द्वारा हो जाता है, अतः घृत की कोई आवश्यकता नहीं है[७]। औपमन्यव घृतपिण्डों के आधान का विधान करते हैं[८]।

मै० सं० ब्रा०, ३.५.२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.५.११; स० श्रौ०, १२.२.८; वै० श्रौ०, १९।३०.५।

[१] तै० सं०, ४.४.७; का० सं०, ३९.९; मै० सं०, २.१३.१८; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११; मै० सं० ब्रा०, ३.५.२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.५.१२; स० श्रौ० १२.२.९; वै० श्रौ०, १९।३०.५।

[२] तै० सं०, ४.४.१०; का० सं०, ३९.१३; मै० सं०, २.१३.२०; तै० सं० ब्रा०, ५.४.१; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.६.५; सं० श्रौ०, १२.२.१८; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.३.८; वा० श्रौ०, ६.२.३.१३।

[३] मै० सं०, तदेव।

[४] महादेव, प्रयोग-चन्द्रिका, आ० ग्र० ५३, भाग ५, पृ० ८८।

[५] तै० सं०, ४.४.६; का० सं०, २२.५; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.८; सं० श्रौ०, १२.२.५; वै० श्रौ०, १९।३०.५; वा० श्रौ०, २.२.२.११—वाराह ५ घृतपिण्ड रखने का निर्देश देता है। द्र०, महादेव, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग ५, पृ० ८६।

[६] बौ० श्रौ०, २२.४-स ह स्माह बौधायनो घृतेन वा सहोपदध्यात्, घृतेन वाभ्यज्य।

[७] तदेव—मन्त्रघृता एवैताः स्युरिति शालीकिः।

[८] तदेव—घृतपिण्डानेवात्रोपदध्यादित्यौपमन्यवः।

आयुष्या नाम की सात इंटों का उपधान किया जाता है[१]। चार ईंटें चारों दिशाओं तथा तीन इंटें मध्य में स्थापित की जाती हैं। वैखानसश्रौतसूत्र में आयुष्या इंटों की संख्या छह बतायी गयी है[२]। दो इंटें मध्य में और चार इंटें चारों दिशाओं में रखी जाती हैं। ऋतव्या (पूर्ववर्णित ऋतव्याओं से भिन्न) नामक सात इंटों का आधान वर्णित है[३]। पूर्ववर्णित ऋतव्याओं से भिन्न करने के लिये ही सम्भवतः बौधायनश्रौतसूत्र में इन्हें ऋतुनामा कहा गया है। वैखानसश्रौतसूत्र में इनका उल्लेख नहीं किया गया है। इनका आधान आयुष्या इंटों के समान होता है। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार आयुष्या इंटों का आधान पूर्वार्ध में करना चाहिए।

इन्द्रतनु नामक ईंटों की संख्या बाईस है[४]। इनमें पाँच-पाँच इंटें चारो दिशाओं में और दो ईंटें मध्य में रखी जाती हैं। यज्ञतनु नामक तैंतीस ईंटों का उपधान होता है[५]। काठक और मैत्रायणी-शाखा में इन इंटों का उल्लेख नहीं मिलता है। आठ-आठ इंटें आत्मा के चारों ओर और एक इंट बीच में रखी जाती है। अज्यानि नामक पाँच इंटों का चयन किया जाता है[६]। काठक तथा मैत्रायणक-प्रस्थान में इनका उल्लेख नहीं है। इनमें चार इंटें आत्मा के चतुर्दिक् और एक इंट मध्य में रखी जाती है। राष्ट्रभृत् नामक चार इंटों का उपधान किया जाता है[७]। काठक तथा मैत्रायणी शाखा में इन इंटों का वर्णन अनुपलब्ध है। राष्ट्रभृत् इंटें एक-एक की संख्या में आत्मा के चारों ओर रखी जाती हैं। पौर्णमासी और अमावस्या नामक दो इंटों का आधान किया जाता है[८]। पौर्णमासी चिति के पुच्छ तथा आत्मा की संधि में तथा अमावास्या उत्तर अंस में रखी जाती है। इनका उल्लेख केवल तैत्तिरीय-शाखा में मिलता है।

---

१. तै० सं०, ४.४.७, तै० सं० ब्रा०, ५.३.११; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.१३, स० श्रौ०, १२.२.१०; वै० श्रौ०, तदेव।

२. वै० श्रौ०, तदेव—आयुष्याः षडकैकां दिक्षु द्वे द्वे मध्ये।

३. तै० सं०; ४.४.७; तै० सं० ब्रा०,५.३.११; मै० सं०, २.१३.१२; बौ० श्रौ०, १०.४५; आप० श्रौ०, १७.५.१५; स० श्रौ०, १२;२.१२; वा० श्रौ०, २.२.२.८।

४. तै० सं०, ४.४.८; का० सं०, ३९.११; तै० सं० ब्रा०, ५.४.१; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.६.३, स० श्रौ०, १२.२.१३; वै० श्रौ०, तदेव।

५. तै० सं० ४.४.९; तै० सं० ब्रा०, ५.४.१; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.६.३; स० श्रौ०, १२.२.१५, वै० श्रौ०, १९।३०.५।

६. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.२, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.९.४; स० श्रौ०, १२.२.१६; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.३.७।

७. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.४; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.१०.२; स० श्रौ०. १२.२.२६; वै० श्रौ०, तदेव।

८. तै० सं०, ४.४.१०; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.६.५; स० श्रौ०, १२.२.२०; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.३.८; वा० श्रौ०, २.२.२.१४।

जीमूत नामक पाँच इंटों का उल्लेख काठक-शाखा में मिलता है[१]। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में इन इंटों का वर्णन है[२]। सम्भवतः जीमूतों का आधान अन्य पाँच संख्यावाली इंटों के समान होता है। ज्योतिष्मती नामक कतिपय अन्य इंटों का वर्णन मिलता है[३]। काठकसंहिता, बौधायनश्रौतसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में ज्योतिष्मती ईंटों की संख्या बारह है और मैत्रायणी-संहिता तथा मानवश्रौतसूत्र में चौदह[४]। तीन-तीन की संख्या में इनका आधान चारों दिशाओं में किया जाता है। चौदह संख्या होने पर दो ईंटें मध्य में रखी जाती हैं। सरित् नामक आठ ईंटों का आधान होता है[५]। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार इनका उपधान चारों दिशाओं में किया जाता है। इन्द्रनामा नामक इंटों के आधान का निर्देश है। मैत्रायणक-प्रस्थान में इनकी संख्या बारह कही गयी है। तीन-तीन इंटें चारों दिशाओं में रखी जाती हैं[६]। सत्याषाढश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र में पाँच अहोरूपा नामक जिन ईंटोंके उपधान का वर्णन हैं[७], उनका नाम बौधायनश्रौतसूत्र में विभक्ति है और उनका आधान पाँचों चितियों के चयन के आरम्भ में किया जाता है।

प्रथम और तृतीय चिति के समान दो संयानी[८], एक मण्ड[९], और यदि यजमान वृद्ध हो, तो एक रेतःसिच्[१०] नामक इंट का उपधान इस चिति में किया जायेगा।

---

१. का० सं०, ४.४।

२. आप० श्रौ०, १७.५.३, स० श्रौ०, १२.२.१७; वै० श्रौ०, तदेव।

३. का० सं०, ४०.३; मै० सं०, २.१३.१९ बौ० श्रौ, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.६.४; स० श्रौ०, १२.२.१६; मा० श्रौ, ६.२.३.७।

४. तदेव।

५. का० सं०, ४०.१; मै० सं०, २.१३.२३; आप० श्रौ०, १७.३.९; स० श्रौ०, १२.२.२१; वै० श्रौ०, १९।३०.५; मा० श्रौ०, ६.२.३.९।

६. का० सं०, २२,११; मै० सं०, २.१३.१७; आप०श्रौ०, १७.६.१; स० श्रौ०, १२.२.२१; मा० श्रौ०, ६.२.३.९।

७. तै० सं०, ५.५.६; का० सं०, २०.१४, आप० श्रौ०, १७.७.४; स० श्रौ०, १२.२.२४; वै० श्रौ०, तदेव।

८. तै० सं०, ४.३.६; का० सं०, २२.५; मै० सं०, ४.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; बौ० श्रौ०, १०.४४; आप० श्रौ०, १७.४.६; स० श्रौ०, १२.१.३५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.१.८.९; वा० श्रौ०; २.२.१.२५।

९. तै० सं०, ४.४.५; का० सं०, ३९.३; मै० सं०, २.८.१४; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.४.२; स० श्रौ०, १२.१.३७, वै० श्रौ०, १९।३०, ४; मा० श्रौ०, ६.२.२.१२; वा० श्रौ०, २.२.२.६।

१०. तै० सं० ब्रा०, ५.५.४, का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप०श्रौ०, १७.४.१; स०श्रौ०, १२.१.३६; वै०श्रौ०, १९।३०,४; मा०श्रौ०, ६.२.२७, वा० श्रौ०, २.२.२.५।

बौधायनश्रौतसूत्र में रेतःसिच् का अभिधान स्वराट् है। सयुज् नामक ईंट का भी आधान किया जाता है[1]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार इसकी संख्या एक है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र के मत में समस्त सयुजों का उपधान इसी चिति में करना चाहिए। वहाँ इनकी संख्या आठ है। ध्यातव्य है कि बौधायनश्रौतसूत्र विभिन्न चितियों में सयुजों का आधान उचित मानता है। इस चिति में पूर्वचितियों के समान पाँच आत्मेष्टका, एक प्राजापत्या और एक ऋषभ ईंट का आधान किया जाता है[2]। तैत्तिरीयसंहिता तथा काठकसंहिता अधिपत्नी नामक पाँच ईंटों के चयन की विधि प्रस्तुत करता है[3]। बौधायनश्रौतसूत्र में इनका नाम षष्टी चिति तथा आपस्तम्बश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र में वैश्वदेवी मिलता है।

तृतीय चिति में उपहित बारह भूतेष्टका नामक इंटों का आधान बौधायन इसी चिति में उचित मानता है[4]। मैत्रायणक-प्रस्थान, आपस्तम्बश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र का कथन है कि तृतीय चिति में उपहित दस अथर्वशिरा नामक इंटों का चयन पाँचवीं चिति में ही करना चाहिए[5]। मानवश्रौतसूत्र में इनका उपधान पूर्वार्धं में बताया गया है। वैखानसश्रौतसूत्र के मत में प्रथम चिति में उपहित वशा[6] और उपशीवरी[7] इंटों को, मानवश्रौतसूत्र इसी चिति में उपधेय मानता है। यहाँ इनकी संख्या क्रमशः छह और सोलह है। ध्यातव्य है कि वैखानस उपशीवरी ईंटों को वैकल्पिकरूप में इसी चिति में उपधेय मानता है। जिन इंटों को अन्य प्रस्थान संयत् कहते हैं और जिनका उपधान प्रथम चिति में विहित मानते हैं, उन्हें मैत्रायणक-प्रस्थान संतति अभिधान देता है और उनके उपधान को इसी चिति में उचित बताता है[8]। यहाँ इनकी संख्या नौ है। बौधायन के मत में प्रथम चिति में उपधेय चार वज्रिणी इंटों को आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र इस चिति में रखने का विधान करते हैं[9]। यहाँ वज्रिणी इंटों की वैकल्पिक संख्या पाँच भी

---

[1] तै० सं०, ४.४.५, का० सं०, ४०.२; तै० सं० ब्रा० ५.३.९; बौ० श्रौ०, १०.४४; आप० श्रौ०, १७.५.२; स० श्रौ०, १२.२.१, वै० श्रौ०, १९।३०.५।

[2] संदर्भ के लिये इसी अध्याय में प्रथम चिति की संरचना में द्रष्टव्य, बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.९.३।

[3] तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, २२.५; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.७.७; वै० श्रौ०, १९।३०.५।

[4] बौ श्रौ०, १०.४६।

[5] मै० सं० २.१३.६; आप० श्रौ०, १७.८.१; वै० श्रौ०, १९।३०.५; मा० श्रौ०, ६.२.२.२०।

[6] का० सं०, ३९.८, मै० सं०, २.१३.१५; मा० श्रौ०, ६.२.३.३।

[7] का० सं०, ३९.९; मै० सं०, २.१३.१६; आप० श्रौ०, १७.५.१६; स० श्रौ०, ११.८.१०; वै० श्रौ०, १८।२९.२१; मा० श्रौ०, ६.२.३.४; वा० श्रौ०, २.२.२.१०।

[8] मा० श्रौ०, ६.२.२.१७।

[9] आप० श्रौ०, १७.९.५-६; स० श्रौ०, १२.२.२५; वै० श्रौ०, १९।३०.५।

मिलती है[१] । बौधायनश्रौतसूत्र[२] में एक रेतःसिच् इंट को स्कन्धदेश पर रखने का वर्णन है । ध्यातव्य है कि यह अन्य रेतःसिचों से सर्वथा भिन्न है । इसमें विनियोजित मन्त्र भी संहिता में नहीं मिलता है ।

मैत्रायणी-शाखा में कुछ ऐसी इंटों का उल्लेख किया गया है, जिनमें कुछेक के नाम का अनुल्लेख है । 'समास्त्वाग्न' आदि मन्त्रों द्वारा दस ईंटों का चयन किया जाता है[३] । इनका आधान दो-दो की संख्या में आत्मा के चारों ओर और मध्म में किया जाता है । तीन-तीन की संख्या में आत्मा के चतुर्दिद् बारह ईंटें इष्टका-पशु में, प्राजापत्य-पशु में विनियुक्त आप्री मन्त्रों द्वारा रखी जाती हैं[४]। मानवश्रौतसूत्र में 'ऋचा त्वा छन्दसा' आदि मन्त्रों द्वारा आठ ईंटों के उपधान का वर्णन है[५] । अन्यत्र इनका नाम छन्दस्या है और संख्या सात बतायी गयी है[६] । 'दूतं वो विश्ववेदसम्' मन्त्रों द्वारा पाँच ईंटों का आधान किया जाता है[७] । इनमें चार ईंटें चारों दिशाओं में और एक इंट मध्य में रखी जाती है । आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्र में तीन-तीन लोकेष्टका और पावमानी नामक ईंटों के उपधान का निर्देश मिलता है[८] । अन्यत्र इनका कोई संकेत नहीं मिलता । हिरण्येष्टका नामक पाँच इंटों का आधान इस चिति में किया जाता है[९] । सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार इनमें चार इंटें चारों दिशाओं में और एक इंट मध्य में रखी जातो है । वैखानसश्रौतसूत्र के मत में चार हिरण्येष्टकाओं अथवा लोकम्पृणाओं द्वारा सर्वतोमुख चयन किया जाता है[१०]। ये चारों इंटें गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् के रूप में क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में स्थापित की जाती हैं ।

काठक और मैत्रायणी-शाखा में कतिपय इंटों का आधान सामों के उद्देश्य से किया जाता है । काठकसंहिता में इन ईंटों में विनियोजित मन्त्रों की संख्या नौ है और

---

१. स० श्रौ०, तदेव—पञ्चैके समामनन्ति ।

२. बौ० श्रौ०, १०.४६ ।

३. मा० श्रौ०, ६.२.२.१५ ।

४. तदेव, ६.२.२.१६ ।

५. मै० सं०, २.१३.१४; मा० श्रौ०, ६.२.२.१८; द्र०, वा० श्रौ०, २.२.१.२७ (यहाँ संख्या आठ है) ।

६. आप० श्रौ०, १७.१०.१; वै० श्रौ०, १९।३०.५ ।

७. मा० श्रौ०, ६.२.२.१९; मन्त्र के लिए द्र०, मै० सं०, २.१३.५ ।

८. आप० श्रौ०, १७.९.७-८; वै० श्रौ०, १९।३०.५ ।

९. तै० सं०, ५.५.५, का० सं० ३९.४; आप० श्रौ०, १७.५.१-२; स० श्रौ०, १२.२.२२, वै० श्रौ०, १९।३०.५ ।

१०. वै० श्रौ०, तदेव; तु०, बौ० श्रौ०, १०.४६; आप० श्रौ०, १७.१०.२,७-८, द्र०, तै० सं०, ५.५.६ ।

मैत्रायणीय-संहिता में बारह है[१]। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार वामदेव्य, रथन्तर, बृहत् और यज्ञायज्ञिय सामों के निमित्त नौ ईंटों का उपधान करना चाहिए[२]। मानवश्रौतसूत्र में उपर्युक्त सामों के अतिरिक्त महाव्रत-साम के लिए भी ईंटों के आधान का निर्देश है[३]। वैखानस के अनुसार पूर्व में शिरस्थानीय वामदेव्य के लिए तीन ईंटें रखनी चाहिए[४]। मानवश्रौतसूत्र महाव्रत को शिर बताता है[५]। रथन्तर साम से सम्बद्ध दो ईंटें वैखानस के मत में दक्षिण-पक्ष में आत्मोन्मुखी रखी जाती हैं[६]। इनमें दूसरी ईंट को इस प्रकार आहित किया जाता है कि उसका आधा भाग आत्मा में रहता है और आधा भाग पक्ष में[७]। इसी तरह बृहत् और यज्ञायज्ञीय-साम को उद्देश्य बनाकर दो-दो ईंटें क्रमशः उत्तर-पक्ष और पुच्छ में रखने का निर्देश है[८]। मानवश्रौतसूत्र में वामदेव्य-साम के लिए तीन ईंटों को आत्मा के मध्य में स्थापित किया जाता है[९]।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सत्याषाढश्रौतसूत्र और वैखानसश्रौतसूत्र के मत से एक हजार ईंटों के द्वारा पाँचवीं चिति में गोचिति की संरचना करनी चाहिए[१०]। गोचिति में विनियोजित मन्त्र केवल तैत्तिरीयसंहिता में मिलता है, पर एक अन्य सन्दर्भ में[११]। वैखानस का यह भी कथन है कि गोचिति की रचना स्वेच्छा से किसी चिति में की जा सकती है[१२]। ध्यातव्य है कि पशुकामना में ही गोचिति क्री रचना का विधान है[१३]।

इस चिति के रिक्त स्थानों को भरने के लिए कुल २९२२ लोकम्पृणा ईंटों का चयन किया जाता है[१४]।

शतरुद्रिय-होम[१५]—

ईंटों के द्वारा आहवनीय चिति की संरचना करने के बाद शतरुद्रिय-होम करने

---

१. का० सं०, ३९.१२, मै० सं०, २.१३.७।

२. वै० श्री०, तदेव, तु०, मा० श्रौ०, ६.२.३.१-२।

३. मा० श्रौ०, ६.२.३.१-२; ४. वै० श्री०, १९।३०. ५; ५. मा० श्रौ५ ६.२.३.१।

६. वै० श्री०, १९।३०.५; ७. तदेव; ८. तदेव; ९. तदेव।

१०. आप० श्रौ०, १७.४.१२-१३,५.१, स० श्रौ०, १२.१.४५, वै० श्रौ० तदेव।

११. तै० सं०, २.४.५।

१२. वै० श्रौ०, तदेव।

१३. स० श्रौ०, १२.१.४६, वै० श्रौ०, तदेव।

१४. विद्याधर शर्मा, तदेव, मानचित्र, पृ० १३८-१४९।

१५. वा०सं०, १६; तै०सं०, ४.५; का०सं०, १७.११-१६; मै० सं०, २.९.१.१०; क० सं०, २७; श० ब्रा०, ९.१.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.४; का० सं० ब्रा०, २१.६; मै०सं०ब्रा० ३.३.४; क० सं० ब्रा० ३१.२१; का० श्रौ०, १८.१, बौ० श्रौ०, १०.४८; आप० श्रौ०, १७.११.३०-६; स० श्रौ०, १२.३.४.६; वै०श्रौ०, १९।३.६; मा० श्रौ०, ६.२.४.३-७; वा० श्रौ०, २.२.३.३-१०।

का विधान है। रुद्र अग्नि के शमन के लिए होम करने के कारण इस होम का नाम शतरुद्रिय है[१]। अग्नि के उत्तरपक्ष और आत्मा की सन्धि के वायव्य कोण में गाड़ी गयी जानुमात्री, नाभिमात्री और मुखमात्री परिश्रितों के ऊपर आहुतियाँ देने का निर्देश है[२]। कृष्णयजुर्वेद-प्रस्थान में शतरुद्रिय-होम विकर्णी अथवा स्वयमातृण्णा ईंट पर की जाती है[३]। आहुति अर्कपर्ण के द्वारा होमी जाती है[४]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार अर्कपर्ण को बाँस में बाँधना चाहिए अथवा उसका दोना बनाकर उसमें छेद कर देना चाहिए[५]। जर्तिल (जंगली तिल) और गवेधुक (जंगली गेहूँ) के सत्तू का आहुति में प्रयोग किया जाता है[६]। कृष्णयजुर्वेदीय-विधान में इसके अतिरिक्त जर्तिल या गवेधुक की यवागू, बकरी या हिरणी का दूध अथवा कुसयसर्पि (पुराना घी) से भी होम का निर्देश दिया गया है[७]। होम के समय होमद्रव्य की धारा को अव्यवच्छिन्न होना चाहिए[८]।

शतरुद्रिय-होम में कुल छह आहुतियों का विधान किया गया है। पहली आहुति जानुमात्री परिश्रित के ऊपर दी जाती है और इसमें रुद्राध्याय के तीन अनुवाकों के मन्त्रों का उच्चारण करने के पश्चात् स्वाहा करने का निर्देश है[९]। दूसरी आहुति नाभिमात्री परिश्रित पर डाली जाती है और इसमें रुद्राध्याय के चतुर्थ एवं पंचम अनुवाकों के मन्त्रों को विनियोजित किया जाता है[१०]। प्रत्यवरोह मन्त्रों के पूर्व पठित मन्त्रों का विनियोग कर तीसरी आहुति को मुखमात्री परिश्रित पर देने का विधान है[११]। इन तीनों

---

१. श० ब्रा०, ९.१.१.७—शतशीर्षरुद्रशमनीयं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्।

२. श० ब्रा०, ९.१.१.१,१०; का० श्रौ०, १८.१.१।

३. तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.३; का० सं० ब्रा०, २१.६; आप० श्रौ०, १७.११.३; स० श्रौ०, १२-३.५; अन्यत्र उत्तरश्रोणि में होम—मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; बौ० श्रौ०, १०.४८, वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.४.३; बौ० श्रौ०, २२.५—पूर्वस्मिन्नेवानूके गौतमः।

४. श० ब्रा०, ९.१.१.४,९; तै० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३१.२१।

५. बौ० श्रौ०, १०.४८; स० श्रौ०, २.३.५; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, ६.२.४.३।

६. श० ब्रा०, ९.१.१.३,८, का० श्रौ०, तदेव।

७. तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.२; का० सं० ब्रा०, तदेव; वै० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, तदेव।

८. का० श्रौ०, १८.१.१।

९. श० ब्रा०, ९.१ १.११.१४-१९; का० श्रौ०, १८.१.२; तीनों अनुवाकों के लिये द्र०, वा० सं०, १६.१.१६।

१०. वा० सं०, १६.१७.२१; श० ब्रा०, ९.१.१.१२।

११. वा० सं०, १६.२२.६; श० ब्रा०, ९.१.१.१३।

आहुतियों को 'परारोह' आहुति कहा गया है[1]। प्रत्यवरोह मन्त्रों के द्वारा मुखमात्री, नाभिमात्री और जानुमात्री परिश्रित पर क्रमशः पुनः तीन आहुतियाँ दी जाती हैं[2]। आहुति देते समय अध्वर्यु का मुख उत्तर की ओर रहता है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में तीन आहुतियों की विधि मिलती है। आहुति क्रमशः उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर स्थित होकर दी जाती है[3]। अर्कपर्ण का छेदवाला दोना प्रतिस्थाता के हाथ में रहता है और उसी में होमद्रव्य गिराया जाता है[4]। प्रतिप्रस्थाता पहली आहुति के समय दोने को मुख की ऊँचाई पर रखता है। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी आहुति के समय दोना नाभि और जानु की ऊँचाई के बराबर रहता है[5]। तीनों आहुतियों की प्रतिपत्ति के समय यजमान से प्रत्यवरोह मन्त्रों का क्रमशः पाठ करवाने का निर्देश है[6]। शुक्लयजुर्वेद के अनुसार जिस अर्कपर्ण से होम किया गया है, उसे चात्वाल में फेंक देने का निर्देश है[7]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में अर्कपर्ण द्वेषी के संचरण के स्थान, द्वेषी के पशुओं के संचरण के स्थान, चूहों के बिल अथवा संचार-रहित स्थल में फ़ेंका जाता है[8]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान, जिस ईंट पर शतरुद्रिय हुआ है, उस पर गावीधुक चरु के उपधान का निर्देश देता है[9]। कतिपय मन्त्रों द्वारा यजमान चित्य अग्नि का उपस्थान करता है और ब्राह्मण को अयाचित तीन धनुष दान में देता है[10]।

अग्नि-परिषेक और इष्टका-धेनूकरण[11]—

शतरुद्रिय-होम के अनन्तर जल से सम्पूर्ण अग्नि-क्षेत्र को तीन बार सींचा

---

१. श० ब्रा०, तदेव।

२. श० ब्रा०, ९.१.१.४१; का० श्रौ०, १८.१.५।

३. बौ० श्रौ०, तदेव।

४. तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.३; का० सं० ब्रा०, २१.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; बौ० श्रौ०, १०.४८; वै० श्रौ०, १९।३०.६, स० श्रौ०, १२.३.५; मा० श्रौ०, ६.२.४.३।

५. बौ० श्रौ०, १०.४८, आप० श्रौ०, १७.११.४-५।

६. तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.४; बौ० श्रौ०, १०.४८।

७. श० ब्रा०, ९.१.१.१२; का० श्रौ०, १८.१.६।

८. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.११.५-६; वै० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.२.६-७, मा० श्रौ०, ६.२.४.५; वा० श्रौ०, २.२.३.८।

९. का० सं०, ४०.३३, तै० सं० ब्रा०, ५.५.९.३-४; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१२.१-२; वै० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, १२.२.२८; मा० श्रौ०, ६.२.४.६; वा०श्रौ०, २.२.३.९।

१०. तै० सं० ब्रा० ५.५.७.२-४; बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ०, १७.१२.२; स० श्रौ०, १२.३.९, वै० श्रौ०, तदेव, वा०श्रौ०, २.२.२.२०; मा० श्रौ०, ६.२.४.७।

११. वा० सं०, १७.२.३; तै० सं०, ४.६.१; का०सं०, १७.१६; मै०सं०, २.१०.१; क०सं०, २८.१; श० ब्रा०, ९.१.२.१-१९; तै० सं० ब्रा०, ५.४.४; का० सं० ब्रा०, २१.७;

जाता है[1]। इस अनुष्ठान को अग्नि का परिषेक कहा गया है। दक्षिण पक्ष और आत्मा की सन्धि के पश्चिमी भाग में अग्नीत् एक पाषाण पर जल से भरा हुआ मिट्टी का घड़ा रखता है। अग्नीत् घट को उठाकर प्रदक्षिण-क्रम से अग्नि को सींचता है[2]। तीन बार अग्नि की सिंचाई होती है और तीनों बार अग्नीत् उपर्युक्त रीति से पाषाण पर घट को रखता तथा उठाता है। सिंचाई पुरी कर अग्नीत् हर बार अप्रदक्षिण-क्रम से लौटता है। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार परिषेक के समय यजमान कतिपय मन्त्रों का पाठ करता है।

परिषेक की समाप्ति के पश्चात् अग्नीत् कुम्भ को पाषाण पर रखकर दक्षिण श्रोणि पर पूर्व की ओर मुख कर खड़ा हो जाता है और उसे वेदि के बाहर नैर्ऋती दिशा में फेंक देता है[3]। कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान के अनुसार यदि अभिचार से सम्बद्ध अग्निचयन हो तो दक्षिण श्रोणि में कुम्भ को तोड़कर द्वेषी का नाम लेना चाहिए[4]। फेंकने पर यदि घट न टूटे तो अग्नीत् अध्वर्यु को फोड़ने के लिए निर्देश देता है[5]। याज्ञिक व्याख्याताओं के अनुसार घट तो मिट्टी का बना होने के कारण फूट ही जायेगा, अतएव अग्नीत् अध्वर्यु को पाषाण तोड़ने के लिए कहता[6] है। अध्वर्यु कुम्भ और पाषाण को तोड़कर लौटते समय पीछे की ओर नहीं देखता[7]। यजमान ईशानाभिमुख हो अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर अग्निचिति का स्पर्श करता है[8]। इस विधि का नाम 'इष्टका-धेनूकरण' है।

मै० सं० ब्रा०, ३.३.५; का०श्रौ०, १८.२.१-९; बौ० श्रौ० तदेव; आप० श्रौ०, १७.१२ ४-६; स० श्रौ०, १२.३.११-१६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.८; वा० श्रौ०, २.२.३.१३-१४।

[1] श० ब्रा०, ९.१.२.१-४; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा० तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.२.१-२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१२.४.५; स० श्रौ०, १२.३.११-१२; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[2] श० ब्रा०, ९.१२.६,८; का० श्रौ०, १८.२.२-३।

[3] श० ब्रा०, ९.१.२.९; का० श्रौ०, १८.२.४; बौ० श्रौ०, तदेव।

[4] तै० सं० ब्रा०, ५.४.४; का० सं० ब्रा०, २१.७; मै० सं० ब्रा०, ३.३.५; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.१२.५; स० श्रौ०, १२.३.१२; वै० श्रौ०, १९।३०.६; वा० श्रौ०, २.२.३.१२।

[5] श० ब्रा०, ९.१.२.१२; का० सं० ब्रा०, २१.७; का० श्रौ०, १८.२.५।

[6] का० श्रौ०, १८.१२.६-७।

[7] श० ब्रा०, तदेव।

[8] श० ब्रा०, ९.१.२.१३-१९; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२, का० सं० ब्रा० २१.६; का० श्रौ०, १८.२.९; बौ० श्रौ०, १०.४७; आप०श्रौ०, १७.११.२; स० श्रौ०, १२.३.२, वै०श्रौ०, १९।३०. ६; मा० श्रौ०, ६.२.४.२; वा० श्रौ०, २.२.३.२।

अग्नि-परिकर्षण, सामगान, उक्थ्यशंसन[1]—

मण्डूक, अवका और वेतस की डाल को एक बाँस में बाँधकर अग्निचिति के ऊपर चारों ओर घसीटा जाता है[2]। वैखानसश्रौतसूत्र के अनुसार दर्भस्तम्ब भी बाँधा जाता है[3]। इस अनुष्ठान को अग्नि-परिकर्षण नाम दिया गया है। अग्नि-परिकर्षण[4] अग्निक्षेत्र-कर्षण के सदृश किया जाता है। सर्वप्रथम परिश्रित एवं आत्मा का परिकर्षण होता है। दक्षिण से पूर्व और पूर्व से दक्षिण की ओर क्रमशः परिकर्षण का निर्देश है। आत्मा पर बाँस घसीटने के पश्चात् दोनों पक्षों और पुच्छ का परिकर्षण करने का विधान है। सर्वप्रथम दक्षिण पक्ष का परिकर्षण होता है, तदनन्तर पुच्छ और उत्तर पक्ष का। पक्षों और पुच्छ का परिकर्षण बाहर से आत्मा की ओर करने की विधि है।

अग्नि-परिकर्षण की समाप्ति में बाँस को उत्कर में फेंकने का निर्देश है[5]। बौधायनश्रौतसूत्र में उपानह् और बाँस को तोड़कर चात्वाल में प्रक्षिप्त करने की विधि है[6]। वैखानसश्रौतसूत्र तथा सत्याषाढश्रौतसूत्र मण्डूक को मारकर अन्य वस्तुओं के साथ उत्कर में डालना चाहिए[7]। कृष्णयजुर्वेद के कतिपय श्रौतसूत्रों का अभिमत है कि परिकर्षण में प्रयुक्त अवका आदि से अपने द्वेषी का स्पर्श करना चाहिए[8]। अग्निचिति का स्पर्श कर अध्वर्यु खड़ा होकर सामगान करता है[9]। चिति के पूर्व में गायत्र, दक्षिण पक्ष में रथन्तर, उत्तरपक्ष में बृहत्, आत्मा में वामदेव्य, पुच्छ में यज्ञायज्ञिय तथा

---

[1] वा० सं०, १७.४-१०; तै० सं०, ५.४.६; का० सं०, १७.१७; मै० सं०, २.१०.१; श०ब्रा०, ९.१.२.२०-४३; तै०सं०ब्रा०, ५.४.४,५.८; का० सं० ब्रा०, २१.७; मै० सं० ब्रा०, ३.३.६; बौ० श्रौ०, १०.४९; आप० श्रौ०, १७.१२.७-९; वै० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.४.१-३,२.१३-१५; मा० श्रौ०, ६.२.४-१३; वा० श्रौ०, २.२.-४.११-१९।

[2] वा०सं०, तदेव, तै०सं०, तदेव; का०सं०, तदेव; मै०सं०, तदेव; श०ब्रा०, ९.१.२.२०,२३; तै०सं०ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.२.१०; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ० तदेव; स० श्रौ०, १२.४.१; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.११; वा० श्रौ०, २,२.३.१७।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव।

[4] श० ब्रा०, ९.१.२.२५-३०; का० श्रौ०, १८.२.११-१२।

[5] श० ब्रा०, ९.१.२.३१; का० श्रौ०, १८.२.१३. तु, आप० श्रौ०, १७.१२.८, स० श्रौ०, १२.४.२; वै०श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.१२, मा० श्रौ०, २.२.३.१९।

[6] बौ० श्रौ०, १०-४९।

[7] वै० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.४.२-३; तु०, आप० श्रौ०, १७.१२.८, का० सं० ब्रा० २१.७।

[8] आप० श्रौ०, १७.१२.९।

[9] श० ब्रा०, ९.१.२.३२,३४; का० श्रौ०, १८.३.१।

दक्षिण निकक्ष में प्रजापति-हृदय नामक साम गाया जाता है[1] । कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान में अग्नि की दोनों श्रेणियों और उपपक्षों में भी सामगान का विधान मिलता है[2] । उपर्युक्त सामों के अतिरिक्त यहाँ वारवन्तीय, श्येत और अग्निहृदय सामों के गायन का भी उल्लेख मिलता है[3] । अब अध्वर्यु होता को उक्थ्यशंसन के लिए प्रैष (निर्देश) देता है । होता उक्थ्य-शस्त्र का पाठ करता है[4] । बौधायनश्रौतसूत्र में कहा गया है कि यदि होता उक्थ्यशंसन में असमर्थ हो तो अग्निक्षेत्र के पश्चिम में पूँछ के समीप में कुश बिछाकर यजमान स्वयं एक बार या तीन बार उक्थ्यशंसन करता है । यजमान दोहमन्त्र का पाठ भी करता है[5] ।

अग्नि आरोहण, स्वयमातृण्णा व्याधारण, अग्नि-प्रोक्षण—

सोमयागीय उपवसथ के दिन वाग्विसर्ग के पश्चात् चित्य अग्नि के ऊपर चित्य आहुति एवं अग्नि-प्रोक्षण के लिए सामग्री के साथ अध्वर्यु आदि चढ़ते हैं[6] । इस कर्म को चित्य-आरोहण या अग्नि-आरोहण कहा गया है । चित्य-आरोहण के अनन्तर स्वयमातृण्णा में पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं[7] । इसे स्वयमातृण्णा व्याधारण या चित्य आहुति का अभिधान मिला है । चित्य आहुति देने के लिए आज्य पाँच बार लिया जाता है । आज्य में सुवर्ण छोड़ने का भी विधान है । आहुतियाँ

---

[1] शं० ब्रा०, ९.१.२.३५-४०; का० श्रौ०, १८.३.१-२ ।

[2] तै० सं० ब्रा०, ५.५.८; द्र०, आप० श्रौ०, १७.१२.१०-११, स० श्रौ०, १२.३.१३; मा० श्रौ०, ६.२.४.९-१०, वा० श्रौ०, २.२.३.१४, कीथ, हा० औ० सी १९; पृ० ४४७, पा० टि० ३; द्र० एगर्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० २८२, पा० टि० ५ ।

[3] तदेव ।

[4] श० ब्रा०, १०.१.१.१; का० श्रौ०, १८.३.२; बौ० श्रौ०, १०.४९; आप० श्रौ०, १७.१२.१२-१३; स० श्रौ०, १२.४.४; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.९; वा०श्रौ०, २.२.३.१५; उक्थ्यशस्त्र के लिये द्र०, एगर्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ११०, पा० टि० ३, २६, पृ० ४२९, पा० टि० २ ।

[5] बौ० श्रौ०, १०.४९ ।

[6] वा० सं०, १७.११; तै० सं०, ४.१.१; का० सं० १७.१७; मै० सं०, २.१०.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.४.५; का० सं० ब्रा०, २१.७, मै० सं० ब्रा०, ३.३.६; श० ब्रा०, ९.२.१.१-२; का० श्रौ०, १८.३.४; बौ० श्रौ०, १०.५०; आप० श्रौ०, १७.१३.५; स० श्रौ०, १२.४.६; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.४.१६; वा० श्रौ०, २.२.३.२० ।

[7] वा० सं०, १७.१२; तै० सं०, तदेव, का० सं० तदेव; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ९.२.१.४-१०; तै० सं० ब्रा०, ५.५.५; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का०श्रौ०, १८.३.५; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१३.६; स० श्रौ, १२.४.७; मा० श्रौ०, ६.२.४.१७; वा० श्रौ०, २.२.३.२१ ।

स्वयमातृण्णा के दक्षिण अंस उत्तर श्रोणि, दक्षिण श्रोणि, उत्तर अंस और मध्य में क्रमशः डाली जाती हैं[1]। अब पात्री या बड़े मुख की बटलोई में मिलाकर रखे गये दही, मधु और घृत में कुशों के अगले हिस्से को डुबोकर अग्नि को परिश्रित सहित सींचा जाता है[2]। इसे अग्नि-प्रोक्षण या चित्य-प्रोक्षण कहा गया है। पक्ष और पुच्छ सहित सम्पूर्ण अग्नि का प्रोक्षण करने के पश्चात् परिश्रित के बाहरी भाग की भी सिंचाई होती है। इन अनुष्ठानों की समाप्ति के अनन्तर अग्नि पर से अध्वर्यु आदि उतर आते हैं[3]। इसे चित्य-अवरोहण या अग्नि-अवरोण का अभिधान मिला है। अग्नि-अवरोहण में 'प्राणदा' मन्त्र का विनियोग किया जाता है। भविष्य में उपर्युक्त पद्धति से ही अग्नि-आरोहण और अग्नि-अवरोहण का नियम है।

प्रवर्ग्यं-उत्सादन, होम, समिदाधान—

प्राचीन वंश में उपसद् इष्टि की समाप्ति के बाद प्राकृत सोम याग के समान प्रवर्ग्य का उत्सादन किया जाता है। कात्यायनश्रौतसूत्र का मत है कि परिष्यन्द (द्वीप) में प्रवर्ग्यं उत्सादन किया जाता है[4]। ध्यातव्य है कि शतपथब्राह्मण परिष्यन्द में प्रवर्ग्य उत्सादन का निषेध करता है[5]। अग्निक प्रवर्ग्य उत्सादन में प्रथम प्रवर्ग्य का उत्सादन स्वयमातृण्णा से संलग्न किया जाता है[6]। प्रवर्ग्यं उत्सादन के अनन्तर शालाद्वार्य अग्नि में तीन आहुतियाँ दी जाती है[7]। पहली आहुति में स्रुच् में पाँच

---

१. श० ब्रा०, ९.२.१.६, १०; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.३.४; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ० तदेव, स० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, तदेव।

२. वा० सं०, १७.१३-१४; तै० सं० तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ९.२.१.११-१६; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.४.६; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.४.८; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.१९; वा० श्रौ०, २.२.३.२३।

३. वा० सं०, १७.१५, तै० सं०, तदेव; का० सं० तदेव; मै० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ९.२.१.१७. का० श्रौ०, १८.३.७, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, १२.४.९, मा० श्रौ०, ६.२.४.२०; वा० श्रौ०, २.२.३.२४।

४. का० श्रौ०, १८.३.८; द०, बौ० श्रौ०, १०.५१, आप० श्रौ०, १७.१४.५; स० श्रौ०, १२.५.१।

५. श० ब्रा०, ९.२.१.२१-२३।

६. श० ब्रा०, ९.२.१.२३; का० श्रौ०, १८.३.१०।

७. वा० सं०, १७.१६; तै० सं०, ४.६.१; का० सं०, १८.१; मै० सं०, २.१०.१; क०सं०, २८.२; श०ब्रा०, ९.२.२.१; तै०सं०ब्रा०, ५.४.५, का०सं०ब्रा०, २१.८, मै० सं० ब्रा०, ३.३.७, का०श्रौ०, १८.३.११; बौ० श्रौ०, १०.५१; आप०श्रौ०, १७.१३.६; स०श्रौ०, १२.४.१०; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.५.१; ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेद

बार आज्य लिया जाता है। अवशिष्ट दो आहुतियों के लिए पुनः स्रुच् में सोलह बार आज्य डालने का विधान है। इस षोडशगृहीत आज्य के आधे से पहले आहुति की जाती है और अवशिष्ट आज्य से दूसरी। उपर्युक्त दोनों आहुतियों का सम्बन्ध विश्वकर्मा देवता से है, अतएव इन्हें वैश्वकर्मणी आहुति अथवा वैश्वकर्मण होम[1] कहा गया है। अब समिदाधान किया जाता है। शालाद्वार्य अग्नि में तीन समिधाएँ उदुम्बर की डाली जाती हैं[2]। इन औदुम्बरी समिधाओं को रातभर घृत में डुबाकर रखने का विधान है[3]।

अग्नि-प्रणयन, अश्मापृश्नि और अग्नि का आधान—

शालाद्वार्य अग्नि को उठाकर आहवनीय अग्नि में आहित करने के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, उसे अग्नि-प्रणयन कहा गया है। प्राकृत सौमिक अग्नि-प्रणयन के सदृश ही आग्निक अग्नि-प्रणयन किया जाता है। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु, होता तथा ब्रह्मा को सम्प्रैष (निर्देश) देता है[4]। सम्प्रैष के अनुसार अध्वर्यु इध्म एवं उपयमनी उठा लेता है, होता को प्रह्रियमाण अग्नि के निमित्त मन्त्र के अनुवचन के लिए और ब्रह्मा को अप्रतिरथ मन्त्रों के जप के निमित्त प्रैष दिया जाता है[5]। होता जब प्रथम ऋचा का तीन बार उच्चारण कर लेता है, तब अध्वर्यु शालाद्वार्य अग्नि से प्रज्वलित इध्म को उठा लेता है[6]। अब ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और यजमान चित्य

प्रस्थान में इस आहुति को अनीकवती कहा गया है। द्र०, कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ३६२, पा० टि० ८।

[1] वा० सं०, १७.१७-३२; का० सं०, ४.६.२; १८.१-२; मै० सं०, २.१०.२-३; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ९.२.२.२,४-६; तै० सं० ब्रा०, ५.४.५; का० सं० ब्रा०, २१.८; मै० सं० ब्रा०, ३.३.७; का० श्रौ०, १८.३.१२-१३; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.१४.१-२; स० श्रौ०, १२.४.११; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.२।

[2] वा० सं०, १७.५०-५२; तै० सं०, ४.६.३; का० सं०, १८.३; मै० सं०, २.१०.४; क०सं०, २८.३; श० ब्रा०, ९.२.२.३; तै० सं० ब्रा०, ५.४.६; का० सं० ब्रा०, २१.८; मै० सं० ब्रा०, ३.३.८; का० श्रौ०, १८.३.१४; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१४.५; स० श्रौ०, १२.५.१; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.३।

[3] तदेव।

[4] श० ब्रा०, ९.२.३.१; का० श्रौ०, १८.३.१६; द्र०, कर्क, तदेव (वेबर), पृ० ९३६; एग्लिंग्, हा० ओ० सी, ४३, पृ० १९१, पा० टि० १।

[5] श० ब्रा०, ९.२.३.१; का० श्रौ०, १८.३.१७; बौ० श्रौ०, १०.५१; मा० श्रौ०, ६.२.५.४।

[6] वा० सं०, १७.५३, तै० सं०, ४.६.३; का० सं०, १८.३; मै० सं०, २.१०.५; क० सं०, २८.३; श० ब्रा०, ९.२.३.७; तै० सं० ब्रा०, ५.४.६; का० सं० ब्रा०, २१.८; मै० सं० ब्रा०, ३.३.८; का० श्रौ०, १८.३.१८; बौ० श्रौ०, १०.५१; आप० श्रौ०, १७.१४.६; स० श्रौ०, १२.५.२; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.५.५।

अग्नि की ओर गमन करते हैं[१]। चित्य अग्नि की ओर जाते समय ब्रह्मा सबके दक्षिण[२] रहकर अप्रतिरथ[३] मंत्रों का जप करता है। मार्ग में अध्वर्यु आग्नीध्र के दक्षिण में अश्मापृश्नि नामक पत्थर को रख देता है। यह पत्थर चित्रवर्णी, गोला और पतला होता है[४]। मार्ग में सभी 'इन्द्र विश्वा' आदि तीन मंत्रों का उच्चारण करते हैं[५]। आज्य-प्रोक्षण से अग्नि-प्रोक्षण 'वसवस्त्वा' आदि पाँच मंत्रों से किया जाता है[६]। चित्य-अग्नि के समीप पहुँचकर सभी उस पर चढ़ते हैं। चित्य-आरोहण में 'क्रमध्वमग्निना' आदि पाँच मंत्रों के विनियोग का निर्देश है। स्वयमातृण्णा को अध्वर्यु मिट्टी की दोहनी में रखे गये गाय के दूध से सींचता है[७]। स्वयमातृण्णा-सेचन में सफेद बछवे वाली काली गाय के दूध का प्रयोग किया जाता है[८]।

---

१. वा० सं०, १७.५४-५८; तै० सं० तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं० तदेव; श० ब्रा०, ९.२.३.८-१२; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव, का० श्रौ०, १८.३.१९; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.५.३; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.६।

२. श० ब्रा०, ९.२.३.५; का० श्रौ०, ११.१.९; आप० श्रौ०, १७.१४.७; मा० श्रौ०, ६.२.५.७।

३. वा० सं०, १७.३३-४४; तै० सं०, ४.६.४; का० सं०, १८.५; मै० सं०, २.१०.४; क० सं०, २८.५।

४. वा० सं०, १७.५९-६०; तै० सं०, ४.६.३; का० सं०, १८.३; मै० सं०, २.१०.५; क० सं०, २८.३; श० ब्रा०, ९.२.३.१४; तै० सं० ब्रा०, ५.४.६; का० सं० ब्रा०, २१.८; मै० सं० ब्रा०, ३.३.८; का० श्रौ०, १८.३.२०; बौ० श्रौ०, १०.५१; आप० श्रौ०, १७.१४.९; स० श्रौ०, १२.५.५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.८।

५. वा० सं०, १७.६१-६४; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं० तदेव; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ९.२.३.२०; तै० सं० ब्रा०, तदेव, का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.३.२२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, १२.५.६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.९।

६. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.५.९; बौ० श्रौ०, १०.५१-५२; द्र०, आप० श्रौ०,१७.१०.१०-११; स० श्रौ०, १२.३.१०; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.४.१; वा० श्रौ०, २.२.३.१—ध्यातव्य है कि बौधायन के अतिरिक्त सभी कृष्णयजुर्वेदीय-श्रौतसूत्र शतरुद्रिय होम के पश्चात् इस विधि को करणीय मानते हैं। अतएव वैखानस इस सयम चिति के आज्य प्रोक्षण के सम्बन्ध में 'एके' कहकर बौधायन के मत की ओर संकेत करता है—अत्र संचितस्याज्यप्रोक्षणमित्येके।

७. वा० सं०, १७.६५-६९; तै० सं०, ४.६.५; का० सं०, १८.४; मै० सं०, २.१०.६; क० सं० २८.४; श० ब्रा०, ९.२.३.२४; तै० सं० ब्रा०, ५.४.७; का० सं० ब्रा०, २१.९; मै० सं० ब्रा०, ३.३.९; का० श्रौ०, १८.४.१; बौ० श्रौ०, १०.५२; आप० श्रौ०, १७.१५.१; स० श्रौ०, १२.५.८; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.५.१०।

८. वा० सं० १७.७०-७१; का० सं०, तदेव; मै० सं०, २.१०.६; श० ब्रा०, ९.२.३.३०;

स्वयमातृण्णा-सेक के समय प्रतिप्रस्थाता निधेय अग्नि को स्वयमातृण्णा के ऊपर किये रहता है[1]। अब स्वयमातृण्णा के ऊपर अग्नि का आधान किया जाता है[2]। अग्नि-आधान में 'सुपर्णोऽसि' मन्त्र का विनियोग बताया गया है। मंत्र के अन्त में 'वषट्' शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक माना गया है[3]। अग्नि आधान के बाद समिदाधान होता है। आधेय समिधाओं की संख्या तीन होती है, शमी, विकंकत और उदुम्बर वृक्षों की[4]। औदुम्बरी समिधा कर्णक (वृक्ष में फूटकर उभरे हुए गुट्ठे) से युक्त होती है। यदि कर्णकवती औदुम्बरी समिधा का अभाव हो तो औदुम्बरी समिधा में दधिद्रप्स (गाढ़ा दही) लपेट देना चाहिए[5]।

का॰ सं॰ ब्रा॰, २१.९, मै॰ सं॰ ब्रा॰, ३.३.९; का॰ श्रौ॰, १८.४.२; आप॰ श्रौ॰ १७.१५.२, स॰ श्रौ॰, १२.५.८; मा॰ श्रौ॰, ६.२.६.११; ध्यातव्य है कि तै॰ सं॰। तै॰ सं॰ ब्रा॰, ४.६.५।५ ४.७; बौ॰ श्रौ॰, १०.५२; वै॰ श्रौ॰, १९।३०.६; उदुम्बर पात्र में रखे हुए दही से इस आहुति का विधान करते हैं। का॰ सं॰ ब्रा॰, आपस्तम्ब, १७.१५.१ तथा सत्याषाढ इसे विकल्परूप में स्वीकारते हैं।

[1] श॰ ब्रा॰, ९.२.३.३०; कर्क का॰ श्रौ॰, (वेबर), पृ॰ ९३६।

[2] वा॰ सं॰, १७.७.२; तै॰ सं॰, तदेव; का॰ सं॰, तदेव; मै॰ सं॰, तदेव; क॰ सं॰, तदेव; श॰ब्रा॰, ९.२.३.३४; तै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; मै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ श्रौ॰, १८.४.४; बौ॰ श्रौ॰, तदेव; आप॰ श्रौ॰, १७.१५.४; स॰ श्रौ॰, १२.५.९; वै॰ श्रौ॰, तदेव; मा॰ श्रौ॰, ६.५.२.१२।

[3] श॰ ब्रा॰, ९.२.३.३५; का॰ श्रौ॰, तदेव।

[4] श॰ ब्रा॰, ९.२.३.३६-३७, ३९-४०; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५.४.७; का॰ सं॰ ब्रा॰, २१.९; मै॰ सं॰ ब्रा॰, ३.३.९; का॰ श्रौ॰, १८.४.६; बौ॰ श्रौ॰, १०.५२; आप॰ श्रौ॰, १७.४-६; स॰ श्रौ॰, १२.५.१०; वै॰ श्रौ॰, १९।३०.६; मा॰ श्रौ॰, ६.२.५.१२; मानव में औदुम्बरी के स्थान पर आश्वत्थी का विधान है।

[5] श॰ ब्रा॰, ९.२·३.४०; तै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; मै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰श्रौ॰, १८.४.६-७; ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में कर्णकवती अथवा कर्णका औदुम्बरी समिधा का उल्लेख नहीं है। निर्विशेष औदुम्बरी समिधा का ही विधान है। कर्णक के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। सायण का कथन है कि पत्तों एवं टहनियों को कर्णक कहते हैं—'कर्णकशब्देनात्र पत्रशाखादिकं विवक्ष्यते'। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि याज्ञवल्क्य और कात्यायन के मत में यदि कर्णकवती औदुम्बरी समिधा का अभाव हो, तो सामान्य औदुम्बरी समिधा में दही लपेट लेना चाहिए। यदि सायण का अर्थ माना जाये, तो पत्ती एवं टहनियों से युक्त समिधा का अभाव नही हो सकता, वह तो सर्वत्र सुलभ है। दैव के अनुसार—कर्णको द्वितीयः द्वियीयशाखोद्भेदः—जिस टहनी में दूसरी शाखा निकली हो। दूसरी शाखा कर्णक है। यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार को समिधा भी सर्वत्र सुलभ है। वेबर, इण्डिशे स्टूडियन १३,२८१ के मत में कर्णक का अर्थ गाँठदार छेद है। सम्भवतः वेबर का अनुकरण करते हुए कोथ, हा॰ ओ॰ सी॰ १९, पृ॰ ४३४, ने खोखली शाखा अर्थ किया है। एग्लिंग् से॰ बु॰ ई॰, ४३,

समिदाधान[1] के बाद स्रुच्[2] से दो आहुतियाँ दी जाती हैं। स्रुच् को आज्य से भरकर पूर्णाहुति देने का विधान है[3]। कात्यायन के अनुसार यदि अध्वर्यु की इच्छा हो तो 'संवत्सरोऽसि' मंत्र द्वारा चित्य अग्नि का स्पर्श करे[4]।

वैश्वानर, मारुत पुरोडास होम –

अग्नि आधान के अनन्तर वैश्वानर और मारुत पुरोडाश का निर्वपण किया जाता है। वैश्वानर और मारुत पुरोडाशों के निर्माण के लिए क्रमशः बारह तथा आठ कपालों का उपधान होता है[5]। सर्वप्रथम पूर्व में बीचो-बीच वैश्वानर कपाल रखा जाता है और उसके दोनों ओर मारुत कपाल, तदनन्तर क्रमशः पूर्व आहित मारुत कपालों के पीछे तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे मारुत कपाल की स्थापना की जाती है। सातवाँ कपाल सबके अन्त में बीचो-बीच रख दिया जाता है। कपालों का उपधान त्रिकोण आकृति की रचना करता है। कपालों के उपधान के समान ही पुरोडाशों का अधिश्रयण किया जाता है। निर्वाप के अनन्तर पुच्छ के पश्चिमी भाग में कुश बिछाकर दोनों पुरोडाश रख दिये जाते हैं[6]। विकल्परूप में कुश का आस्तरण एवं पुरोडाश का आधान आहवनीय से संलग्न भी किया जा सकता है[7]। वैश्वानर पुरोडाश हवन करने के बाद हाथ से मारुत पुरोडाश का होम कपाल आधान के सदृश करने का

पृ० २०३, कर्णकवती का अर्थ द्विशाखी करते हैं। ये सभी अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी समिधा सर्वत्र सुलभ है। कर्क, का० श्रौ०, (वेबर) पृ० ९३६, ने किसी को उद्धृत करते हुए लिखा है—कर्णको दारुस्फोटो रोगस्तद्वती सकर्णका, इति केचित्। यही अर्थ सर्वाधिक युक्तिसंगत है। वृक्षों की शाखाओं में एक विशेष रोग होने पर गाँठे उभड़ आती हैं, जिनका आकार गुट्ठों के समान अथवा कैंसर से बनी हुई रतौड़ी के सदृश होता है। उन्हें ही कर्णक कहा गया है। इसे बोली में बोंदा कहा जाता है। इस प्रकार के पेड़ सर्वत्र सुलभ नहीं होते। कहीं-कहीं दृष्टिगत होते हैं। अतएव उनका अभाव हो सकता है।

[1] वा० सं०, १७.७४-७६; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेप; क० सं०, तदेव।

[2] वा० सं०, १७.७७-७८; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; श० ब्रा० ९.२.३.४१; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.४.८; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.१५.७; स० श्रौ०, १२.५.११-१२; वै० श्रौ०, तदेव।

[3] वा० सं०, १७.७९; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेब; का० श्रौ०, १८.४.९; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, १२.५.१२।

[4] वा० सं०, २७.५४; का० श्रौ०, १८.४.१३।

[5] का० श्रौ० १८.४.१६-१९;

[6] तदेव, १८.४.२२;

[7] तदेव;

विधान है। इसके विपरीत यह नियम भी मिलता है कि वैश्वानर पुरोडाश को विस्तृत कर उसी के ऊपर मारुत पुरोडाश का हवन किया जाये[१]। मारुत पुरोडाश के हवन में 'सुक्रज्योतिः' आदि छह मन्त्रों का विनियोग मिलता है[२]। सप्तम मारुत पुरोडाश में 'विमुख' नामक 'उग्रश्च' मन्त्र को विनियोजित किया जाता है। मारुत होम के बाद 'इन्द्र देवीः' मन्त्र का जप करने का विधान है[३]। अन्त में 'इमं स्तनम्' आदि तेरह मन्त्रों का अध्वर्यु स्वयं जप करता है अथवा उन्हें यजमान से पढ़वाता है[४]।

वसोर्धारा, पार्थ और बाजप्रसवीय होम, यजमान अभिषेक—

यजमान सप्तम मारुत पुरोडाश पर आज्य की एक आहुति अविच्छिन्न रूप में देता है। इस होम को 'वसोर्धारा' अभिधान दिया गया है। आहुति देने के लिए औदुम्बरी स्रुच् में पाँच बार आज्य लिया जाता है। वसोर्धारा में मन्त्रों के आठ अनुवाकों का विनियोग मिलता है[५]। अवशिष्ट आज्य में ब्रह्मोदन पकाकर चार ब्राह्मणों को भोजन करा उन्हें भोजनोपरान्त चार गायें दक्षिणा में देनी चाहिए[६]। वसोर्धारा होम के पश्चात् औदुम्बरी स्रुच् को अध्वर्यु अग्नि में डाल देता है[७]। अब आज्य की पार्थ संज्ञक छह आहुतियाँ दी जाती हैं[८]। पार्थ होम में, राजसूय के पार्थहोम के सदृश, 'अग्नये स्वाहा' आदि मंत्रों का विनियोग किया गया है[९]। वाजप्रसवीय होम के लिये औदुम्बर चमस में सर्वौषध एकत्र कर उसमें जल और दूध मिलाया जाता है। यजमान जिस अन्न का जीवन भर परित्याग करना चाहता हो, उसे चमस में नहीं रखा जाता। चमस में स्थित पदार्थों को औदुम्बर स्रुच् से होमने का निर्देश है[१०]। पहले वाजपेयिक

---

१. तदेव, १८.४.२३।

२. वा० सं०, १७. ८०-८५; तै० सं०, तदेव; का० सं०, १८.६।

३. वा० सं, ३९.७; का० श्रौ०, १८.४.२४।

४. वा० सं०, १७.८७-९९; का० श्रौ०, १८.४.२६।

५. वा० सं०, ८.१-२९; तै० सं०, ४.७.१-११; का०सं० १८.७-१२; मै० सं०, २.११.१-६, क० सं०, २८.७-११; २९.१; श० ब्रा०, ९.३.२.१.१०; तै० सं० ब्रा०, ५.४.८,५.७.३, का० सं० ब्रा०, २१.११; मै० सं० ब्रा०, ३.४.१-२; का० श्रौ०, १८.५.१; बौ० श्रौ०, १०.५४, आप० श्रौ०, १७.१७.८; स० श्रौ०, १२.६.१; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा०श्रौ०, ६.२.५.२५-२६; वा० श्रौ०, २.२.४.१-५।

६. तै० सं० ब्रा०, ५.७.३; बौ० श्रौ०, १०.५४; आप० श्रौ०, १७.१५.१०-११; स० श्रौ०, १२.६.३-४; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.२७; वा० श्रौ०, २.२.४.७।

७. श० ब्रा०, ९.३.३.१४; का० श्रौ०, १८.५.२।

८. श० ब्रा०, ९.३.४.६-९, का० श्रौ०, १८.५.३।

९. वा० सं०, १०. ५।

१०. श० ब्रा०, ९.३.४.४; तै० सं० ब्रा०, ५.४.९; का० सं० ब्रा०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.३; का० श्रौ०, १८.५.४; बौ० श्रौ०, १० ५४; आप० श्रौ०, १७.१९.१-४; स० श्रौ०, १२.६.५; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.२८-२९; वा० श्रौ०, २.२.

वाज प्रसव्य की सात आहुतियाँ दी जाती हैं, तदुपरान्त आग्निक वाजप्रसवीय[१] होम की। वाजप्रसवीय होम से अवशिष्ट पदार्थों में जल मिलाकर यजमान का अभिषेक किया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि होम शेष में जल मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उसमें वाजपेयक दूध आदि तो अवशिष्ट हैं ही, जिससे अभिषेक किया[२] जा सकता है। अभिषेक के समय यजमान पुच्छ के उत्तर में परिश्रित से संलग्न बिछे हुए कृष्णाजिन पर बैठता है[३]। समृद्ध यजमान को बैठाकर अभिषेक किया जाता है। समृद्धि की कामना में अभिषेक के समय यजमान खड़ा रहता है[४]। पुष्टि की इच्छा में आसन के लिए बस्तचर्म का प्रयोग करना चाहिए[५]। ब्रह्मवर्चस् की कामना में कृष्णाजिन का प्रयोग विहित माना गया है[६]। यदि यजमान ब्रह्मवर्चस् और पुष्टि दोनों की कामना करने वाला हो तो दोनों चमड़े को एकत्र बिछाकर उसे बैठाना चाहिए और उसपर अभिषेक करना चाहिए[७]। कुछ लोगों के मत में चित्य-अग्नि के ऊपर या चित्य-अग्नि के दक्षिण में यजमान का अभिषेक उचित माना गया है; पर इसका वाजसनेयक प्रस्थान में निषेध किया[८] गया है। अभिषेक[९] के बाद औदुम्बर चमस को आहवनीय अग्नि में डालने का विधान है[१०]। अब पुनः पार्थसंज्ञक छह आहुतियाँ दी जाती हैं[११]।

४.८-१०; कृष्णयजुर्वेदीय-प्रस्थान सात जंगली तथा सात ग्राम्य औषधियों के होम का विधान करता है।

[१] श० ब्रा०, ९.३.४.८-९; मन्त्रों के लिये द्रष्टव्य, वा० सं०, ९.२३.३०; १८.३०-३६; तै० सं० ४.७.१२; का० सं०, १८.१३; मै० सं०, २.१२.२१; क० सं०, २९.२।

[२] का० श्रौ०, १८.४.७-८; द्र०, बौ० श्रौ०, १०.५७; आप० श्रौ०, १७.१९.५; स० श्रौ०, १२.६.८; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.३०; वा० श्रौ०, २.२.४.१२.

[३] श० ब्रा०, ९.३.४.१०,१३; का० श्रौ०, १८.५.९; द्र०, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव, वै० श्रौ०; तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[४] श० ब्रा०, ९.३.४.१४; का० श्रौ०, १८.४.१०-११।

[५] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.४.१२; द्र०, आप० श्रौ०, १७.१९.६.७—यह बस्तचर्म पर वैश्य के भी अभिषेक का विधान करता है। तु०, स० श्रौ०, १२.६.९; वै० श्रौ० तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.३०; वा० श्रौ०, २.२.४.११।

[६] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.५.९; द्र०, बौ० श्रौ०. तदेव; आप० श्रौ०, १७.१९.५; स० श्रौ०, १२.६.९; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव; वा० श्रौ०, तदेव।

[७] श० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.५.१३; ध्यातव्य है कि—आप० श्रौ०, १७.१९.६; स० श्रौ०, १२.६.९. राजन्य यजमान का अभिषेक व्याघ्रचर्म पर उचित मानता है।

[८] श० ब्रा०, ९.३.४.११-१३; का० श्रौ०, १८.५.१४।

[९] अभिषेक-मन्त्र के लिए द्र०—वा० सं०, १७ ३७।

[१०] श० ब्रा०, ९.३.४.१६; का० श्रौ० १८.४.१५।

[११] श० ब्रा०, ९.३.४.१८; का० श्रौ०, तदेव।

राष्ट्रभृत्, रथशीर्ष, वातहोम तथा अन्य आहुतियाँ—

अब राष्ट्रभृद्[१] नामक बारह आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुति के लिए आज्य बारह बार लिया जाता है। सभी आहुतियाँ अलग-अलग डाली जाती हैं। रथशीर्ष पर अध्वर्यु पाँच आहुतियाँ देता है। इसे रथशीर्ष-होम कहा गया है। रथशीर्षं-होम के लिए पाँच बार आज्य लिया जाता है। इस आज्य को आहवनीय के समीप रथ के अग्रभाग के ऊपर प्रतिप्रस्थाता उठाये रखता है। प्रत्येक आहुति के समय रथनीड को प्रदक्षिण क्रम से प्रत्येक दिशा में घुमाने का निर्देश मिलता है। इसके विपरीत हिरण्यपुरुष पर दी गयी आहुति क्रम का अनुसरण भी किया जा सकता है। दोनों स्थितियों में अध्वर्यु रथ के अगले हिस्से के सामने ही बैठकर होम करता है[२]। रथशीर्ष होम के पश्चात् रथ को चिति पर से उतारकर उत्तर की ओर वेदि के मध्य में प्राङ्मुख रख दिया जाता है। रथ के साथ जुआ और उपयोग में आने वाली रस्सियाँ भी रहती हैं। रथ की जुआ के दायें और बायें सिरे के नीचे और मध्यभाग के नीचे वेदि के बाहर से अंजलि में वायु भरकर तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। वायु की आहुति होने से इसे वातहोम कहा गया है[३]। दक्षिण, उत्तर एवं दक्षिण से क्रमशः वायु लाया जाता है। होम के पश्चात् तीनों स्थलों पर अश्व की भावना कर वात को जोतना चाहिए। जोतने में योक्त्र का प्रयोग करना आवश्यक है[४]। वातहोम के अन्त में यजमान अपने आदमियों के द्वारा इस रथ को अध्वर्यु के आवसथ में पहुँचा देता है। दक्षिणा के समय यह रथ तीन घोड़ों के साथ अध्वर्यु को समर्पित किया जाता है[५]। वातहोम के अनन्तर

---

[१] वा० सं०, १८.३७-४३; तै० सं०, ३ ४.७; का० सं०, १८.१४; मै० सं०, २.१२.२; श० ब्रा०, ९.४.१.१-१२; तै० सं० ब्रा०, ५.४.९; का० सं० ब्रा०, २१-१२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.३; का० श्रौ०, १८.५.१६; बौ० श्रौ०, १०.५४; आप० श्रौ०, १७.१९.१२; स० श्रौ०, १२.६.१५-१६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.५.३२; वा० श्रौ०, २.४.४.१३-१४।

[२] वा० सं०, १८.४४; तै० सं०, ३.४.७; का० सं०, १८.१४; मै० सं०, २.१२.२; क०सं०, २९.३; श० ब्रा०, ९.४.१.१३-१६; तै० सं० ब्रा०, ५.४.९; का० सं० ब्रा०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.३; का० श्रौ०, १८.५.१७-२०; बौ० श्रौ०, १०.५४, आप०श्रौ०, १७.२०.५.६; स० श्रौ०, १२.६.१७; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.५.३३; वा० श्रौ०, २.२.४.१५-१७; सौमिक घिष्ण्य के लिये द्र०, अग्निष्टोम पद्धति, चौ०सं० सी०, ४४५ पृ० १७६ आदि।

[३] वा० सं०, १८.४५; तै० सं०, ४.७.१२; का० सं० तदेव; मै० सं०, २.१२.३; क० सं०, तदेव; श०ब्रा०, ९.४.२.१-४; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै०सं०ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.६.१; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२०.११-१३; स० श्रौ०, १२.६.२०-२१; मा० श्रौ०, ६.२.५.३४; वा० श्रौ०, २.२.४.२०।

[४] का० श्रौ०, १८.६.२।

[५] श० ब्रा०, ९.४.२.११; का० श्रौ०, १८.६.३-४; आप०श्रौ०, १७.२०.७-१०; स०श्रौ०, १२.६.१८-१९; मा० श्रौ०, ६.२.५.३३; वा० श्रौ०, २.२.४.१८-१९।

तीन रुक्मती, एक वारुणी तथा पाँच अर्काश्वमेध या संतति नामक आहुतियों को देने का विधान है[१]।

कृष्णयजुर्वेद में चिति से सम्बन्धित कतिपय ऐसे अनुष्ठान हैं, जिनका उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान में नहीं है। उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

एक सहस्र स्वर्ण-खण्डों द्वारा अग्नि-प्रोक्षण—

शतरुद्रिय होम के पहले किसी पात्र में जल रखने के पश्चात् उसमें स्वर्णखण्ड भी रख लिये जाते हैं। दो-दो सौ स्वर्णखण्डों द्वारा पाँच बार अग्नि का प्रोक्षण किया जाता है[२]। स्वयमातृण्णा का प्रोक्षण होता है। पूर्व से यह कर्म प्रारम्भ होता है और प्रदक्षिण-क्रम से किया जाता है। अन्त में स्वयमातृण्णा का मध्यभाग प्रोक्षित होता है।

सर्पाहुति—

आज्य द्वारा छह आहुतियाँ मन्त्रों द्वारा दी जाती हैं[३]। इसे सर्पाहुति कहा गया है। यह आहुति चिति-परिकर्षण के बाद दी जाती है।

गन्धर्वाहुति—

यह आहुति सर्पाहुति के पश्चात् दी जाती है[४]। आपस्तम्ब और सत्याषाढ इसे महाहुति अभिधान देते हैं।

चिति-आहुति—

तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार पाँचों चितियों के नाम हैं—उदधि, दुध्र, गह्य, किंशिल और वन्य। इन नामों के साथ चितियों के लिये पाँच आज्य-आहुतियाँ दी जाती हैं[५]। बौधायन इसे संचित-आहुति अभिधान देते हैं और प्रत्येक चिति के अन्त में करणीय मानते हैं[६]।

अधिपत्नी आहुति—

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार आज्य से अधिपत्नी आहुति भी दी जाती है[७]।

---

[१] वा० सं० १८.४८-४९, तै० सं० ब्रा०, ५.७.५; आप० श्रौ०, १७.२०.१६-१७; स०श्रौ०, ११.६.२२-२३; मा० श्रौ०, ६.२.६.२२-२३।

[२] तै० सं०, ५.५.१०; बौ० श्रौ०, १०.४७; आप०श्रौ०, १७.११.१; स० श्रौ०, १२.३.१; वै० श्रौ०, १९।३०.६; मा० श्रौ०, ६.२.४.१।

[३] तै० सं०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२०.१४; स० श्रौ०, १२.६.२२; वै० श्रौ०, तदेव, द्र० वा० श्रौ०, २.२.५.७।

[४] तै० सं०, तदेव; बौ० श्रौ०, १०.५०; आप० श्रौ०, १७.२०.१५; स० श्रौ०, १२.६.२२; वै० श्रौ०, तदेव।

[५] तै० सं०, ५.५.९; आप० श्रौ०, १७.२०.१४; स० श्रौ०, १२.६,२२; वै० श्रौ०, तदेव।

[६] बौ० श्रौ०, १०.३७-३८; ४०, ४३, ४७।

[७] बौ० श्रौ०, १०.४७।

अन्वारोह-होम—

कतिपय श्रौतसूत्र आज्य से अन्वारोह होम का विधान करते हैं[१]।

एतदतिरिक्त कतिपय अन्य छोटे-मोटे अनुष्ठान-भेद अथवा अनुष्ठान हैं, जिनका उल्लेख अनावश्यक है।

धिष्ण्य-चयन—

धिष्ण्य आठ हैं[२]—आग्नीध्रीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्ट्रीय, अच्छावाकीय और मार्जालीय। महावेदि के उत्तर एवं दक्षिण पार्श्व में आग्नीध्रीय और मार्जालीय धिष्ण्य होता है। सदोमण्डप के पूर्व द्वार के पश्चिम में एक प्रक्रम स्थान छोड़कर पृष्ठ्या के ठीक ऊपर होत्रीय धिष्ण्य बनाया जाता है। होत्रीय के उत्तर में क्रमशः समानान्तर, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्ट्रीय और अच्छावाकीय धिष्ण्य होते हैं। होत्रीय के उत्तर में चार अरत्नि और डेढ़ पग की दूरी पर मैत्रावरुणीय या प्रशास्त्रीय धिष्ण्य रहता है[३]। सभी धिष्ण्य अठारह अंगुल परिमाण वाले चतुष्कोण या मण्डलाकार होते हैं[४]। होत्रीय के दक्षिण में स्थित सभी धिष्ण्यों के मध्य का अन्तर भी अठारह अंगुल रहता है[५]। सभी धिष्ण्यों में ईंटों का एक ही प्रस्तार बनाया जाता है[६]। जिस धिष्ण्य में जितनी ईंटों का चयन किया जाता है, उसमें उतनी संख्या में परिश्रित भी लगाये जाते हैं[७]। यहाँ परिश्रित खोदकर गाड़े नहीं जाते, केवल रख दिये जाते हैं। आग्नीध्रीय, होत्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय और मार्जालीय के अतिरिक्त अन्य सभी धिष्ण्यों में आठ-आठ ईंटों से चयन किया जाता है[८]। इन ईंटों में एक-एक अर्धपद्या तथा सात-सात पादभागा ईंटें होती हैं। धिष्ण्यों के चयन में प्रायः लोकम्पृणा ईंटों का प्रयोग किया जाता है। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार आठ ईंटों वाले धिष्ण्यों में सात लोकम्पृणा और एक यजुष्मती ईंटें होती हैं[९]। यद्यपि

---

१. आप० श्रौ०, १७.१३.२; स० श्रौ०, १२.४.४; मा० श्रौ०, ६.२.६.११।

२. श० ब्रा०, ९.४.३.१-१४; का० श्रौ०, १८.६.७-१२, श्रौ० प० नि०, २७९।३१७।

३. एग्लिंग्, से० बु० ई०, २६, पृ० १४८; पा० टि० ४, चिन्नस्वामी, यज्ञतत्त्वप्रकाश, सौमिकवेदि का मानचित्र, ६; एग्लिग्, तदेव, पृ० ४७५।

४. बौ० शु०, २.३७-४१; स० श्रौ० शु०, २५.६२; मा० श्रौ०, १०.३.३.४३-२९; जेनेटी एम्० फान गेल्डर, शतपिटक सीरीज, २७. नयी दिल्ली, १९६३, पृ० ३०५।

५. तदेव, कर्क, का० श्रौ०, (वेबर), पृ० ९४१; एग्लिग्, तदेव; गेल्डर, तदेव; विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १५८; महादेव, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग–५, पृ० ११०-१११; एग्लिग्, तदेव, ४३, पृ० २४४, पा० टि० २।

६. श० ब्रा०, ९.४.३.२; बौ० शु०, तदेव; एग्लिग, तदेव, २६, पृ० १४८, पा० टि० ४।

७. श० ब्रा०, ८.७.३.१, आदि, ९.४.३.९; एग्लिग्, तदेव, ४३, पृ० २४५, पा० टि० १।

८. श० ब्रा०, ९.४.३.७; का० श्रौ०, १८.६.७; विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १५८।

९. तै० सं० ब्रा०, ५.४.११; का० सं० ब्रा०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४, बौ० श्रौ०,

आग्नीध्रीय धिष्ण्य में भी आठ ईंटों का चयन होता है, पर अश्मापृश्नि पाषाण के उपधान से ईंटों की संख्या नौ हो जाती है[1]। अश्मापृश्नि की गणना यजुष्मती ईंटों में की गयी है[2]। यह वही अश्मापृश्नि है, जिसे अग्निप्रणयन के समय सुरक्षित स्थान में रखा गया था। होत्रीय धिष्ण्य में इक्कीस ईंटों का चयन किया जाता है[3]। इन ईंटों में तीन पादभागा, छह अर्धपादभागा और बारह चतुर्भागा होती हैं। शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान में होत्रीय-धिष्ण्य की ईंटों के उपधान में विनियोग-मन्त्र तीन बार पढ़ा जायेगा[4]। दस-दस ईंटों के लिए दो बार और अवशिष्ट एक ईंट के लिए तीसरी बार[5]।

ब्राह्मणाच्छंसीय धिष्ण्य में ग्यारह ईंटों का प्रस्तार बनाया जाता है[6]। ईंटों में सात पादभागा और चार अर्ध पादभागा ईंटें होती हैं। शुक्लयजुर्वेदीय-प्रस्थान में ब्राह्मणाच्छंसीय में ईंटों के उपधान में विनियोग-मन्त्र का उच्चारण दो बार किया जाता है। इन ईंटों में एक बार और अवशिष्ट ईंट के लिए दूसरी बार[7]। मार्जालीय धिष्ण्य की रचना छह ईंटों से की जाती है। इन ईंटों में तीन अर्धपद्या तथा तीन पादभागा होती हैं। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार मार्जालीय में पाँच लोकम्पृणा और एक यजुष्मती ईंट का प्रयोग किया जाता है[8]। सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार

१०.५५; तु०, आप० श्रौ०, १७.२१.१; स० श्रौ०, १२.६.२६; वै० श्रौ०, १०।३०.६, मा० श्रौ०, ६.२.६.३; वा० श्रौ०, २.२.४.२३।

१. श० ब्रा०, ९.३.४.६; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.६.८; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १७.२१.२; स० श्रौ०, १२.६.२५; वै० श्रौ०, तदेव, मा० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, तदेव।

२. श० ब्रा०, १०.४.३.१८।

३. श० ब्रा०, ९.४.३.७; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.६.१०, बौ० श्रौ०, तदेव; आप०, श्रौ०, १७.२१.३; स० श्रौ०, १२.६.२६; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, तदेव—ध्यातव्य है कि तै० सं० ब्रा०, बौ० श्रौ०, आप० श्रौ०, स० श्रौ०, वै० श्रौ०, बारह ईंटों के उपधान का विधान करते हैं। आप० श्रौ०, १६,२४,२१ ईंटों के आधान का विकल्प भी प्रस्तुत करता है। सत्याषाढ केवल २४ के विकल्प को स्वीकारता है।

४. का० श्रौ०, १८.६.१०।

५. विद्याधर शर्मा, तदेव, पृ० १५८।

६. श० ब्रा०, ९.४.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; का० श्रौ०, १८.६.११; आप० श्रौ०, १७.२१.३; वै० श्रौ०, १९।३०.६।

७. का० श्रौ०, १८.६.११।

८. श० ब्रा०, ९.४.३.८; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; का० श्रौ०, १८.६.१२; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव; वै०श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, तदेव, वा० श्रौ०, तदेव।

प्रशास्त्रीय धिष्ण्य में ग्यारह या एक्कीस इंटों का प्रस्तार बनाया जाता है[१]। अन्यत्र सर्वत्र इस धिष्ण्य में आठ इंटों के ही प्रयोग का विधान है। सभी धिष्ण्यों के ऊपर पुरीष का निवपन किया जाता है। पुरीष-निवपन में मन्त्र का विनियोग निषिद्ध[२] है।

अब अग्नीषोमीय पशु-पुरोडाश का अनुष्ठान करने का निर्देश है। आहवनीय आदि के अनुदेश से स्विष्टकृत तक सभी विधियाँ विधेय मानी गयी हैं। इसके बाद शतपथब्राह्मण के अनुसार 'दिशामवेष्टि' हवि द्वारा यजन करने का विधान है[३]। अभिषेचनीय सोम में अग्नीषोमीय पशु-पुरोडाश के अनन्तर 'देवसू' हवि का निर्वपण भी किया जाता है। यहाँ इस याग को मान्यता नहीं दी गयी है[४]।

सौमिक प्रातरनुवाक के पूर्व तीन मन्त्रों के द्वारा आधान क्रम से परिधियों का स्पर्श किया जाता है। इस विधि को अग्नि-योजन कहा गया है[५]। इसी प्रकार से सोम-सवन एवं सोम-भक्षण के पश्चात् और आग्निमारुत स्तोत्र, यज्ञायज्ञिय का प्रयोग करने पूर्व परिधि की सन्धियों के स्पर्श का विधान है[६]। यह अनुष्ठान अग्नि-विमोक के नाम से प्रथित है। कुछ लोगों के अनुसार प्रायणीय में अग्नि-योजन और उदयनीय में अग्नि-विमोचन करना चाहिए[७]। इसके विपरीत बौधायन प्रतिदिन अग्नि-योजन तथा अग्नि-विमोचन करने के पक्ष में हैं[८]। शालीकि का अभिमत है कि

---

१. स० श्रौ०, १२.६.२६।

२. श० ब्रा० ९.४.३.१०; का० श्रौ०, १८.६.१४; धिष्ण्य मन्त्रों के लिये द्रष्टव्य, ५.३१-३२; कृ० य० प्रस्थान में धिष्णयो में उपधेय ईंटों का नाम विहव्या है, तै० सं० ब्रा०, ५.४.११.३; उनमें विनियोजित मन्त्रों के लिये द्र०, तै० सं०, ४.७.१४; द्र०, कीथ, हा० ओ० सी०, १९. पृ० ३८६, पा० टि० ४।

३. श० ब्रा०, ९.४.३.१०।

४. तदेव, ९.४.३.१५।

५. वा० सं०, १८.५१-५३; तै० सं०, ४.७.१३; का० सं०, १८.१५; मै० सं०, २.१२.३; क० सं०, २९.४; श० ब्रा०, ९.४.४.१-७; तै० सं० ब्रा०, ५.४.१०; का० सं० ब्रा०, २२.१, मै० सं० ब्रा०, ३.४.४-५; का० श्रौ०, १८.६.१५; बौ० श्रौ०, १०.५७; आप० श्रौ०, १७.२३.१; स० श्रौ०, १२.७.२; वै० श्रौ०, १९।३०.७; मा० श्रौ०, ७.२.६.९; वा० श्रौ०, २.२.५.१।

६. वा० सं०, १८.५४-५५; तै०सं०, तदेव; का०सं०, तदेव; मै० सं० तदेव; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ९.४.४ ८-१४; तै० सं० ब्रा०, ५.५.७, का० श्रौ०, १८.६.१६; बौ० श्रौ०, १०.५९; आप० श्रौ० १७.२३.१०; स० श्रौ०, १२.७.७; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.६.१९-२०; वा० श्रौ०, २.२.५.६।

७. श० ब्रा०, ९.४.४.१३; का० श्रौ०, १८.६.१७।

८. बौ० श्रौ०, २२.६।

अग्नि-योजन प्रतिदिन करना चाहिए, पर अग्नि-विमोक एक बार केवल अन्त में ही सम्पन्न करना उचित है[1] । औपमन्यव के अनुसार प्रारम्भ में अग्नि-योजन और अन्त में अग्नि-विमोचन करना चाहिए[2] ।

यज्ञ की समाप्ति में वात देवताओं को उद्देश्य बनाकर आज्य से आहुति देने का विधान है। इस अनुष्ठान को समिष्ट-यजुष् होम कहा गया है। पहले सौमिक समिष्ट-यजुष् होम किया जायेगा, तदनन्तर आग्निक । आध्वरिक समिष्ट यजुष् में ९ आहुतियाँ, 'समिन्द्र णो मनसा' आदि मन्त्रों से दी जाती है। आग्निक समिष्ट-यजुष् में 'इष्टो यज्ञः' आदि मन्त्रों से दो आहुतियाँ देने का विधान है[3] । समिष्ट-यजुष् के अनन्तर अवमृद्य एवं उदयनीय का अनुष्ठान किया जाता है[4] ।

अनुबन्ध्य पशु पुरोडाश का होम करने के पश्चात् देविका हवि का निर्वचन किया जाता है। देविका हवि इष्टि है। इसमें पाँच हवियाँ होती हैं—अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू के लिए चरु एवं धाता के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश[5] । इस इष्टि के बाद अनुबन्ध्य पशु के हृदय शूल से अनुष्ठान कर स्रुच् द्वारा आकूत मंत्रों से आठ आहुतियाँ दी जाती है[6] । इन आहुतियों का शतपथब्राह्मण 'वैश्वकर्मणी' अभिधान देता है। वैश्वकर्मणी आहुति के पश्चात् चित्य अग्नि का नाम 'चित्र' रखा जाता है[7] और 'ये अग्नयः' मन्त्र से उपस्थान किया जाता है[8] ।

---

[1] बौ० श्रौ०, तदेव ।

[2] तदेव ।

[3] वा० सं०, १८ ५६-५७; तै० सं०, ५.७.७; का० सं० ४०.१३; श० ब्रा०, ९.५.१.३१-३३; का० श्रौ०, १८.६.१८; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १७.२३.८-९; स० श्रौ०, १२.७.८-९; वै० श्रौ०, तदेव; मा० श्रौ०, ६.२.६.२२ ।

[4] श० ब्रा०, ९.५.१.३४; बौ० श्रौ०, तदेव ।

[5] श० ब्रा०, ९.५.१.३६-४४; का० श्रौ०, १८.६.१९-२० ।

[6] वा० सं०, १८.५८-६५, श० ब्रा०, ९.५.१.४१; का० श्रौ०, १८.६.२१ ।

[7] श० ब्रा०, ९ ५.१.५२; ६.१.३.२०; का० श्रौ० १८.६.२२ ।

[8] वा० सं०, १८.६७, श० ब्रा०, ९.५.१.५२; का० श्रौ०, तदेव ।

तृतीय अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय-शाखा में वर्णित लघु अग्नि-चयन

सावित्र-चयन[1]—

सावित्र अग्नि का चयन पशुबन्ध, सोमयाग, तथा अहीन सत्र में विहित माना गया है[2]। इस चयन को कृष्णयजुर्वेदीय श्रौत-परम्परा में ही स्वीकृति मिली है। निरूढ़ पशुबन्ध के षड्होता होम से यूप-निर्माण तक समग्र अनुष्ठानों की समाप्ति के के पश्चात् वेदि का निर्माण किया जाता है[3]। इसकी वेदि भी सौमिक वेदि के समान होती है, अन्तर केवल इतना है कि इसके मान में प्रयुक्त प्रक्रम सौमिक प्रक्रम के तृतीय अंश के बराबर होता है[4]। वेदि का आकार वृत्त के समान अथवा रथचक्र के सदृश परिमण्डलाकार होता है[5]। वेदि के मध्य में समूल हरे दर्भस्तम्ब का आधान तथा सुपर्ण अग्निचयन के सदृश उस पर पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं[6]। वेदि-व्याधारण तक उत्तरवेदि से सम्बद्ध सभी अनुष्ठानों को करने के बाद परिमण्डल वेदि में नौ वृत्त-रेखाएँ खींची[7] जाती हैं। वेदि के ऊपर सिकता-निवपन कर उसे कुशों से आच्छादित करने का विधान मिलता है[8]।

दूसरे दिन प्रातःकाल अग्निहोत्र करने के पश्चात् उत्तरवेदि-अभिमर्शण, अग्नि-ग्रहण, स्वयंचिति-अभिमर्शण, सिकता-निवपन एवं खारी मिट्टी का डालना आदि अनुष्ठान करने के बाद चयन किया जाता है[9]। वेदि के ऊपर वस्तुओं को आहित

---

१. तै० ब्रा०, ३.१०; बौ० श्रौ, १९.१-५; आप० श्रौ०, १९.११-१३; स० श्रौ०, २३.२; सरस्वती-भवन-पुस्तकालय, (वाराणसी), द्र०, पाण्डुलिपि संख्या—२७५२, काठकवह्नि-प्रयोग:; २३२५, काठकसंज्ञक-सावित्रचयनम्; ३८८६, सावित्रकाठकचयनप्रयोग:, ३७८५, सावित्रकाठकप्रयोग:; २७६४, सावित्रचयनम्; ३६३३, सावित्राग्निचयनप्रयोग:, ३६६३, सावित्राग्निनाचिकेताग्निप्रयोग:; ३४०९, सावित्रादिकाठकप्रयोग:; ३४०७; सावित्रनाचिकेत-चातुर्होत्रवैश्वसृजप्रयोगा: ।

२. बौ० श्रौ०, १९.१.५; आप० श्रौ०, १९.११.१, स० श्रौ०, २३.२.२ ।

३. बौ० श्रौ०, आप० श्रौ०, १९.११.४-५, स० श्रौ०, २३.२.४-६ ।

४. बौ० श्रौ०, तदेव ।

५. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.११.६; स० श्रौ०, २३.२.६ ।

६. बौ० श्रौ०. तदेव, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०. तदेव ।

७. बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव ।

८. बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव ।

९. बौ० श्रौ०, १९.१-२; आप० श्रौ०, १९.११.७; स० श्रौ०, २३.२.७ ।

करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि उपर्युक्त नौ रेखाएँ बनी रहें[1]। उत्तरवेदि के पश्चिमार्ध में गड्ढा बनाकर उसमें जल भरा हुआ एक मृत्तिका-पात्र 'वाक्त्वा.....' मन्त्र के द्वारा आहित किया जाता है[2]।

सावित्र चिति में १८५ सोने की ईंटों के प्रयोग का निर्देश मिलता है। इन ईंटों का मान अँगूठे के पोर के बराबर होना चाहिए[3]। यदि सौवर्ण इष्टकाएँ अनुपलब्ध हों तो उनके स्थान पर घी में डुबायी गयी कंकडियों का प्रयोग किया जा सकता हैं। लोकम्पृणा की संख्या भी यजुष्मती ईंटों के बराबर अथवा अपरिमित होती है[4]। चार स्वयमातृण्णा ईंटों का चयन किया जाता है[5]। इन ईंटों के आधान में किसी विशेष मन्त्र का विनियोग नहीं मिलता। जिस नाम से ईंटों का आधान किया जाता है, उसी का विनियोग विहित माना गया है। सादन वाक्य प्रत्येक ईंट के आधान में विनियोजित किया जाता है, पर सूददोहस मन्त्र का विनियोग एक लेखा में आधेय ईंटों की स्थापना के अनन्तर ही करने का विधान है[6]।

निम्नलिखित विवरण में लेखानुसार ईंटों के आधान की पद्धति दी जा रही है।

रेखा	**ईंटों की संख्या**	**ईंटों की देवता**	**अन्य विवरण**
बाह्य नवम रेखा	१५	१. संज्ञान	
		२. विज्ञान	
		३. प्रज्ञान	
		४. जानत्	
		५. अभिजानत्	मास के पूर्वपक्ष के १५ दिनों के उद्देश्य से इन ईंटों का आधान किया जाता है[7]।
		६. संकल्पमान	
		७. प्रकल्पमान	
		८. उपकल्पमान	
		९. उपक्लृप्त	
		१०. क्लृप्त	
		११. श्रेयस्	

---

[1] बौ० श्रौ०, १९.२; आप० श्रौ०, १९.११.१०; स० श्रौ० २३.२.१०।

[2] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.११.११; स० श्रौ०, २३.२.११।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव—यावदुत्तममङ्गुलिकाण्डं यज्ञपरुषा संमितं तावन्मात्रीः पञ्चाशीतिशतं हिरण्येष्टकाः शर्करा वा घृताक्ता, आप० श्रौ०, १९.११.३; स० श्रौ०, २३.२.३।

[4] बौ० श्रौ, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।

[5] बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव।

[6] बौ० श्रौ०, तदेव।

[7] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.१; स० श्रौ०, २३.२.१२।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
		१२. वसीयस्	
		१३. आयत्	
		१४. सम्भूत	
		१५. भूत	
बाह्य नवम रेखा	१५	१. चित्र	
		२. केतु	
		३. प्रमान्	
		४. आमान्	उपर्युक्त १५ दिनों के मध्य में इन इंटों का आधान दिनों के १५ मुहूर्तों के निमित्त किया जाता है[1]।
		५. संमान्	
		६. ज्योतिष्मान्	
		७. तेजस्वान्	
		८. आतपन्	
		९. तपन्	
		१०. असितपन्	
		११. रोचन	
		१२. रोचमान	
		१३. शोभन	
		१४. शोभमान	
		१५. कल्याण	
बाह्य अष्टम रेखा	१५	१. दर्शा	
		२. दृष्टा	
		३. दर्शता	
		४. विश्वरूपा	
		५. सुदर्शना	इन इंटों का आधान पूर्वपक्ष (शुक्ल) की १५ रात्रियों के उद्देश्य से किया जाता है[2]।
		६. आप्यायमाना	
		७. प्यायमाना	
		८. प्याया	
		९. सूनृता	
		१०. इरा	

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.२; स० श्रौ०, २३.२.१३।

[2] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.३; स० श्रौ० २३.२.१४।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
		११. आपूर्यमाणा	
		१२. पूर्यमाणा	
		१३. पूरयन्ती	
		१४. पूर्णा	
		१५. पौर्णमासी	
बाह्य अष्टम रेखा	१५	१. दाता	
		२. प्रदाता	
		३. आनन्द	
		४. मोद	
		५. प्रमोद	उपर्युक्त ईंटों के मध्य में १५ पूर्वपक्ष की रात्रियों के मुहूर्तों का उपधान किया जाता है[1]।
		६. आवेशन	
		७. निवेशन	
		८. संवेशन	
		९. संशान्त	
		१०. शान्त	
		११. अभवन्	
		१२. प्रभवन्	
		१३. संभवन्	
		१४. संभूत	
		१५. भूत	
बाह्य सप्तम रेखा	१५	१. प्रस्तुत	
		२. विष्टुत	
		३. संस्तुत	
		४. कल्याण	
		५. विश्वरूप	इन ईंटों का आधान अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) के १५ दिनों के निमित्त किया जाता है[2]।
		६. शुक्र	
		७. अमृत	
		८. तेजस्वि	
		९. तेजस्	
		१०. समिद्ध	

---

[1] तै० ब्रा० ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.४; स० श्रौ०, २३.२.१५।

[2] तै० ब्रा०, ३.१०.१, बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.५; स० श्रौ०, २३.२.१६।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
		११. अरुण	
		१२. भानुमत्	
		१३. मरीचिमत्	
		१४. अभितपत्	
		१५. तपस्वत्	
बाह्य सप्तम रेखा	१५	१. सविता	
		२. प्रसविता	
		३. दीप्त	
		४. दीपयन्	
		५. दीप्यमान	उपर्युक्त दिनों के १५ मुहूर्तों को उद्देश्य बनाकर इन ईंटों को आहित किया जाता है[1]।
		६. ज्वलन्	
		७. ज्वलिता	
		८. तपन्	
		९. वितपन्	
		१०. संतपन्	
		११. रोचन	
		१२. रोचमान	
		१३. शुम्भू	
		१४. शुम्भमान	
		१५. वाम	
बाह्य षष्ठ रेखा	१५	१. सूता	
		२. सुन्वती	
		३. प्रसुता	
		४. सूयमाना	इनका उपधान कृष्ण-पक्ष की १५ रातों के निमित्त किया जाता है[2]।
		५. अभिषूयमाणा	
		६. पीती	
		७. प्रपा	
		८. संपा	
		९. तृप्ति	
		१०. तर्पयन्ती	

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.६; स० श्रौ०, २३.२.१७।

[2] तै० ब्रा०, ३.१०.१, बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.७; स०श्रौ० २३.२.१८।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
		११. कान्ता	
		१२. काम्या	
		१३. कामजाता	
		१४. आयुष्मती	
		१५. कामदुघा	
बाह्य षष्ठ रेखा	१५	१. अभिशास्ता	
		२. अनुमन्ता	उपर्युक्त ईंटों के मध्य में कृष्णपक्ष की रातों के १५ मुहूर्तों को उद्देश्य बनाकर इन ईंटों का उपधान विहित है[1] ।
		३. आनन्द	
		४. मोद	
		५. प्रमोद	
		६. आसादयन्	
		७. निषादयन्	
		८. संसादन	
		९. संसन्न	
		१०. सन्न	
		११. आभू	
		१२. विभू	
		१३. प्रभू	
		१४. शंभू	
		१५. भुवः	
पंचम रेखा	१२	१. पवित्र	
		२. पवयिस्यन्	
		३. पूत	इनका उपधान वर्ष भर के पूर्वपक्षों के निमित्त किया जाता है[2] ।
		४. मैध्य	
		५. यश	
		६. यशस्वान्	
		७. आयु	
		८. अमृत	
		९. जीव	
		१०. जीविष्यन्	
		११. स्वर्ग	
		१२. लोक	

---

[1] तै० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१०.८; स०श्रौ०, २३.२.१९ ।

[2] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.९; स० श्रौ०, २३.२.२० ।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
चतुर्थ	१२	१. सहस्वान्	वर्ष भर के अपरपक्षों (कृष्ण) के लिए इन ईंटों का उपधान किया जाता है[1] ।
		२. सहीयान्	
		३. ओजस्वान्	
		४. सहमान	
		५. जयन्	
		६. अभिजयन्	
		७. सुद्रविण	
		८. द्रविणोदा	
		९. आर्द्रपवित्र	
		१०. हरिकेश	
		११. मोद	
		१२. प्रमोद	
तृतीय	१३	१. अरुण	इन ईंटों का आधान वर्ष में स्थित १३ मासों के निमित्त किया जाता है[2] ।
		२. अरुणरजा	
		३. पुण्डरीक	
		४. विश्वजित्	
		५. अभिजित्	
		६. आर्द्र	
		७. पिन्वमान्	
		८. अन्नवान्	
		९. रसवान्	
		१०. इरावान्	
		११. सर्वौषध	
		१२. संभर	
		१३. महस्वान्	
तृतीय	सिकता उपधान	१. एजत्का	इनका परिगणन ईंटों में नहीं किया जायेगा। सुविधा की दृष्टि से यहाँ उल्लेख कर दिया गया है। इन नामों से आठ-
		२. जोवत्का	
		३. क्षुल्लका	
		४. शिपिविष्टका	
		५. सरिस्त्ररा	
		६. सुशेरव	

---

[1] तै०ब्रा०, ३.१०.१; बौ०श्रौ०, १९.३; आप०श्रौ०, १९.१२.१०; स०श्रौ०, २३.२.२१ ।

[2] तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१२.११; स० श्रौ०, २३.२.२२ ।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
		७. अजिरा	बार सिकता का प्रक्षेप किया जाता है[1]।
		८. गमिष्णु	
द्वितीय	१५	१. इदानीम्	
		२. तदानीम्	
		३. एतर्हि	पूर्ववर्णित मुहूर्तों के अवयवरूप में स्थित १५ क्षुद्र मुहूर्तों के लिए इनका उपधान किया जाता है[2]।
		४. क्षिप्र	
		५. अजिर	
		६. आशु	
		७. निमेष	
		८. फण	
		९. द्रवन्	
		१०. अतिद्रवन्	
		११. त्वरन्	
		१२. त्वरमाण	
		१३. आशु	
		१४. आशीयान्	
		१५. जव	
प्रथम	९	१. अग्निष्टोम	
		२. उक्थ्य	
		३. अतिरात्र	प्रथम छह क्रतुओं तथा अन्त्य तीन इंटें ऋतुओं के निमित्त, कुल ९ इंटें रखी जाती हैं[3]।
		४. द्विरात्र	
		५. त्रिरात्र	
		६. चतुरात्र	
		७. अग्नि	
		८. ऋतु	
		९. सूर्य ऋतु	
		१०. चन्द्रमा ऋतु	

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, १९.३; आप० श्रौ०, १९.१२.१२; स० श्रौ०, २३.२.२३।

[2] तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१२.१३; स० श्रौ०, २३.२.२४।

[3] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१२.१४; स० श्रौ०, २३.२.२५।

रेखा	ईंटों की संख्या	ईंटों की देवता	अन्य विवरण
नाभि में	४	१. प्रजापति २. संवत्सर ३. महान् ४. क	इन ईंटों का उपधान चार संवत्सर नामों के लिये किया जाता है[1] ।
योग	१८५		

टिप्पणी—ईंटों की देवता का अभिधान ही ईंटों का भी अभिधान है, अतएव अलग से उल्लेख नहीं किया गया ।

चारों स्वयमातृण्णाओं का उपधान क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में किया जाता है । पूर्वीय स्वयमातृण्णा के आधान में 'भूरग्निं पृथिवीं च' मंत्र का, दक्षिणी स्वयमातृण्णा के आधान में 'भुवो वायुं चान्तरिक्षं च', पश्चिमी स्वयमातृण्णा के आधान में 'स्वरादित्यं दिवं च' तथा उत्तरी स्वयमातृण्णा के आधान में 'भूर्भुवः स्वश्चन्द्रमसं च दिशश्च' मंत्र के विनियोग का निर्देश है[2] । चारों स्वयमातृण्णाओं के लिए सूददोहस मंत्र का एक ही बार विनियोग का विधान है[3] ।

चिति के रिक्त स्थानों को लोकम्पृणा ईंटों से भर दिया जाता है । लोकम्पृणा ईंटों का आधान पूर्व की ओर से करने का विधान मिलता है । उत्तर में ईंटों के आधान की समाप्ति होती है[4] । सुपर्ण अग्निचयन के समान ही यहाँ भी पलाशशाखा से चिति का परिकर्षण, चिति क्लृप्ति मंत्रों से अभिमर्शण और आरोहण-अवरोहण मंत्रों के उच्चारण का विधान किया गया है[5] । काले अश्व का स्पर्श कर चिति को पुरीष से अच्छादित कर दिया जाता है[6] । पुरीष आधान में पूर्ववर्णित मंत्र का विनियोग किया गया है । अग्नि का सहस्रकरण और धेनुकरण पूर्ववत् करने का विधान मिलता है[7] ।

शतरुद्रिय होम भी पूर्ववत् किया जाता है[8] । बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार सावित्र-चयन में शतरुद्रिय होम वैकल्पिक है[9] । शतरुद्रिय में प्रयुक्त अर्कपर्ण को बौधायन

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१०.१; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१२.१५; स० श्रौ०, २३.२.२६ ।

[2] तै० ब्रा०, ३.१०.२-३, बौ० श्रौ०, १९.४; आप० श्रौ०, १९.१२.१६; स० श्रौ०, २३.२.२७ ।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव ।

[4] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१२.१७; स० श्रौ०, २३.२.२८ ।

[5] बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१२.१९-२१; स० श्रौ०, २३.२.३०-३२ ।

[6] तदेव; आप० श्रौ०, १६.१२.१८; स० श्रौ०, २३.२.२९ ।

[7] तदेव, आप० श्रौ०, १६.१२.२२-२३; स० श्रौ०, २३.२.३३-३४ ।

[8] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१२.२४; स० श्रौ, २३.२.३५ ।

[9] बौ० श्रौ, तदेव ।

के अनुसार द्वेषी के पशुओं के स्थान पर फेंकने का विधान है[१]। अन्यथा पशु जहाँ न जाते हों, उस स्थान पर अथवा अवट या दीमक (वल्मीकपा) पर अर्कपर्ण फेंक दिया जाता है[२]। यजमान चिति का उपस्थान-संहार-विहार 'संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि', 'एति प्रेतिवीति' मंत्रों से करता है[३]। होता अग्नि के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठकर 'भूर्भुवः स्वः ओजो बलम्' अनुवाक से अग्नि का शंसन करता है[४]। यदि होता शंसन नहीं करता है, तो यजमान ही अग्नि के समीप पश्चिम में कुशों के आस्तरण पर बैठक कर अग्नि-शंसन करता है[५]।

अग्नि-प्रणयन तक समस्त पाशुक-कर्म का अनुष्ठान करने के बाद अनेक चतुर्गृहीत आहुतियाँ देने का विधान है। इन आहुतियों में शतरुद्रीय, वसोर्धारा, अन्नहोम तथा विश्वप्री हैं[६]। 'असवे स्वाहा', 'वसवे स्वाहा' आदि मंत्रों से अग्नि के तिमित्त २१ आहुतियाँ डाली जाती हैं[७]। उपर्युक्त आहुतियों के संस्रव (अवशिष्ट अंश) को यजमान की अंजलि में डाल दिया जाता है। यजमान इससे अपने मुख का परिमार्जन करता है[८]। मुख-परिमार्जन में 'राज्ञी विराज्ञी' मंत्रों के अनुवाक का विनियोग किया जाता है[९]। वपाहोम तक समस्त पाशुक-अनुष्ठान सम्पन्न करने के अनन्तर चयन में प्रयुक्त ईंटों की संख्या के अनुसार गर्भवती षष्ठौही गायों को दक्षिणा में देने का विधान है[१०]। साथ में सुवर्ण तथा वस्त्र भी देने का निर्देश मिलता है[११]। यदि षष्ठौही का अभाव हो तो इतने मंथों को अथवा ओदन को ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए[१२]।

मनोता तक पाशुक-कर्म करने के पश्चात् औदुम्बर पात्र में मृत्युग्रह के निमित्त जूस भरा जाता है[१३]। जूस के ग्रहण और सादन में 'विपश्चिते पवमानाय गायत'

---

१. बौ० श्रौ०, तदेव; द्र०—आप० श्रौ०, १९.१२.२५; स० श्रौ, २३.२.३६।
२. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।
३. तै० ब्रा०, ३.१०.४; बौ० श्रौ०, १९.४; आप० श्रौ०, १९.१२.२३; स० श्रौ०, २३.२.३४।
४. तै० ब्रा०, ३.१०.५; बौ०श्रौ०, तदेव; आप०श्रौ०, १९.१२.२६; स०श्रौ०, २३.२.३७।
५. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।
६. बौ० श्रौ०, १९.५; आप० श्रौ०, १९.१३.१-७; स० श्रौ०, २३.२.३८-४०।
७. तै० ब्रा०, ३.१०.७; बौ०श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१३.९; स० श्रौ०, २३.२.४२।
८. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३ ८; स० श्रौ०, २३.२.४१।
९. तै० ब्रा०, ३.१०.६; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।
१०. बौ० श्रौ०, १९.५; आप० श्रौ०, १९.१३.१०-११; स० श्रौ०, २३.२.४३-४४।
११. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.१४।
१२. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.१२-१३; स० श्रौ०, २३.२.४५-४६।
१३. बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.१५; स० श्रौ०, २३.२.४७।

अनुवाक का विनियोग किया जाता है[१]। मृत्युग्रह का दर्भ द्वारा परिमार्जन कर 'एष ते योनिर्मृत्यवे त्वा' मंत्र से उसे उत्तर वेदि में स्थापित किया जाता है[२]। इस ग्रह को होमते समय 'विद्युदसि' मंत्र से जल से आचमन करने का विधान है[३]। होम में 'अपमृत्युममपक्षुद्यम्' मंत्र का विनियोग किया जाता है[४]। हवन के अननन्तर पुनः जल के आचमन का विधान किया गया है[५]। इस समय 'वृष्टिरसि वृश्च मे पाम्पानम्' मंत्र का विनियोग करना चाहिए[६]। कतिपय आचार्यों के मत में मृत्युग्रह का नाचिकेत अग्नि में ही विधान औचित्यपूर्ण है[७]। स्विष्टकृत् का अनुष्ठान करने के अनन्तर इडा-भक्षण किया जाता है। इडा-भक्षण में 'भक्षोऽस्यमृतभक्षः' मंत्रों का विनियोग है[८]। इडा-भक्षण के बाद 'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाक्' अनुवाक से आत्माभिमर्शण किया जाता है[९]। अन्त में दक्षिणा तक अनुयाज आदि पाशुक-कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।

पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि सावित्र-अग्नि का चयन सोमयाग अहीन-सत्र में भी किया जा सकता है। सोमयाग में इस चयन का विधान करने पर प्रथम उपसद् में अग्नि-क्षेत्र का निर्माण करने का निर्देश है[१०]। दूसरी ओर तीसरी उपसद् के मध्य में इष्टका-चयन किया जाता है[११]। शेष सारे अनुष्ठान पूर्ववत् किये जाते हैं[१२]। अहीनसत्र में सावित्र-अग्नि का चयन करने पर पहले दिन ही दक्षिणादान और मृत्यु-ग्रह के ग्रहण का विधान करना चाहिए[१३]। सावित्र-अग्नि का चयन करने के पश्चात् सौत्रामणी इष्टि का अथवा मैत्रावरुणी आमिक्षा से यजन का निर्देश है[१४]।

---

१. तै० ब्रा०, ३.१०.८.१; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.१६; स० श्रौ०, २३.२.४७।

२. बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.३.१९; स० श्रौ०, २३.२.४९।

३. स० श्रौ०, तदेव।

४. तै० ब्रा०, ३.१०.८.१, बौ० श्रौ०, १९.५; आप० श्रौ०, १९.१३.२०; स० श्रौ०, २३.२.४९।

५. तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.२१; स० श्रौ०, २३.२.५०।

६. तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३-२१; स० श्रौ०, २३.२.५०।

७. आप० श्रौ०, १९.१३.१७; स० श्रौ०, २३.२.४७।

८. बौ० श्रौ०, १०.५; आप० श्रौ०, १९.१३.२२।२३; स० श्रौ०, २३.२.५०।

९. तै० ब्रा०, ३.१०.८.२-९; तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.२४; स० श्रौ०, तदेव,।

१०. तदेव; आप० श्रौ०, १९.१३.२५, स० श्रौ०, तदेव।

११. तदेव; १२. तदेव; १३. तदेव।

१४. तदेव; द्र० महादेव, प्र० च०, आ० ग्र० ५३, पृ० ८१७—

पशौ नित्ये च काम्ये चाहीने सत्रे विधीयते।
सावित्रस्य समाप्तौ च सौत्रामण्या पयस्यया॥

नाचिकेत-चयन[1]—

नाचिकेत-अग्नि का चयन सावित्र के समान होता है[2]। सावित्र-चयन में विहित समस्त अनुष्ठानों का करना यहाँ भी आवश्यक है। यहाँ केवल उन विषयों का वर्णन किया जाएगा जो केवल नाचिकेत-अग्नि के चयन में सम्पन्न किए जाते हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार नाचिकेत का चयन पशुबन्ध की उत्तरवेदि पर भी किया जा सकता है[3]। तैत्तिरीयब्राह्मण[4] में इसका यद्यपि निषेध मिलता है; पर श्रौतसूत्रों[5] में नाचिकेत के चयन को पशुबन्ध में ऐच्छिक रूप में मान्यता दी गयी है। सौमिक-अध्वर, सहस्रसत्र, विश्वजित् अथवा जिस यज्ञ में जैसे चतुर्मास्यों में, जहाँ अनेक आहुतियों को देने की विधि हो, तो उसमें नाचिकेत-अग्नि का चयन करना चाहिए[6]। सौत्रामणी का यदि किसी के अंगरूप में अनुष्ठान न किया जाये, तो उसमें भी चयन किया जा सकता है[7]। षोडशी, साद्यस्क्र तथा वाजपेय में नाचिकेत के चयन का निषेध मिलता है[8]। कतिपय आचार्य द्वादशाह यज्ञों में भी इस चयन का विधान करते हैं[9]।

नाचिकेत-अग्नि का चयन उत्तरवेदि पर परिमण्डल या चतुरश्र अग्नि-क्षेत्र में किया जाता है[10]। चयन में सोने की ईंटों या कंकड़ियों का प्रयोग होता है[11]। सोने की ईंटें मध्यमा उँगली के पोर के बराबर होती हैं। ईंटों की संख्या २१ होती है[12]। ईंटों के रूप में कंकड़ियों का प्रयोग करने के पूर्व उन्हें घृत में डुबो दिया जाता है[13]। कामना के भेद से ईंटों की स्थापना की पद्धति में भी वैभिन्य है[14]। पशु की कामना में नाचि-

---

[1] तै०ब्रा०, ३.११.१-१०; बौ०श्रौ०, १९.६; आप०श्रौ०, १९.१४; स०श्रौ०, २३.३.१-१५ सरस्वती-भवन-पुस्तकालय (वाराणसी), द्र०—पाण्डुलिपि-संख्या २७५२, काठकवह्नि-प्रयोगः, ३४०७ सावित्रनाचिकेतचातुर्होत्रवैश्वसृजप्रयोगाः, ३६६३; सावित्राग्निनाचिकेताग्निप्रयोगः, ३४०९, सावित्रादिकाठकचयनप्रयोगः।

[2] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१४.१, स० श्रौ०, २३.३.१।

[3] आप० श्रौ०, १९.१४.४, स० श्रौ०, २३.३.२।

[4] तै० ब्रा० ३.११.९.१—तं हैके पशुबन्ध एवोत्तरवेद्यां चिन्वते.....तन्न तथा कुर्यात्।

[5] आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।

[6] तै० ब्रा०, ३.११.९.१-३; आप० श्रौ०, १९.१४.६-७; स० श्रौ०, २३.३.४-५।

[7] महादेव, प्र० च०, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२१—सौत्रामण्यामनङ्गे तु।

[8] तदेव—वाजपेये साद्यस्क्रे न षोडशिनि नैव च।

[9] तदेव—सत्रे च द्वादशाहे तु केचिदिच्छन्ति तत्र हि।

[10] आप० श्रौ०, १९.१४.३; स० श्रौ०, २३.३.१।

[11] आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव।

[12] आप० श्रौ०, १९.१४.३; स० श्रौ०, २३.३.१।

[13] आप० श्रौ०, तदेव, स० श्रौ०, तदेव।

[14] बौ० श्रौ०, १९.६; आप० श्रौ०, १९.१४.८-१३; स० श्रौ०, २३.३.५-१२।

केत चिति की रचना पंक्तिरूप में करने का नियम है। पंक्ति में पाँच-पाँच ईंटें चारों दिशाओं में तथा एक ईंट नाभिस्थान पर रखी जाती है[१]। सर्वप्रथम पूर्व में ईंटों का आधान होता है, तदन्तर दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में[२]। प्राचीन युग में गोबल वार्ष्ण ने इसी तरह नाचिकेत का चयन किया था[३]। ज्येष्ठता और कीर्ति की इच्छा में चयन त्रिवृत्त-पद्धति से सम्पन्न किया जाता है[४]। त्रिवृत्त-अग्नि के चयन में सात ईंटें पूर्व में, तीन दक्षिण में, सात पश्चिम में, तीन उत्तर में एवं एक मध्य में स्थापित की जाती हैं[५]। त्रिवृत्त-नाचिकेत का चयन प्रजापति ने किया था[६]। इन्द्र ने ज्येष्ठता[७] प्राप्त करने के लिए चिति को ऊर्ध्वमुखी बनाया था। ऊर्ध्वाचिति में क्रमशः एक के ऊपर एक ईंट को रखा जाता है। स्वर्ग की इच्छा में आदित्य ने चिति की रचना प्राङ्मुखी की थी[८]।

प्राङ्मुखी चिति में नाभिस्थान से क्रमशः एक के बाद एक सभी ईंटों का आधान किया जाता है[९]। ईंटों में विनियोजित मन्त्र तथा देवता का विवरण निम्नलिखित मानचित्र में द्रष्टव्य है। प्रत्येक ईंट में अलग-अलग अनुवाक विनियोजित किये गये हैं।

ईंट-संख्या	**ईंट की देवता**	**मन्त्र**	**सन्दर्भ[१०]**
१	अग्नि	लो॒को॑ऽसि……	तै० ब्रा० ३।११।१
२	तप	तपो॑ऽसि……	तै० ब्रा० ३।११।२
३	तेज	तेजो॑ऽसि॒……	तै० ब्रा० ३।११।३
४	समुद्र	स॒मुद्रो॑ऽसि॒……	तै० ब्रा० ३।११।४

---

[१] तै० ब्रा०, ३.११.९.३-४; बौ० श्रौ०, १९.६; आप० श्रौ०, १९.१४.९, स० श्रौ०, २३.३.७।

[२] तै० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१४.८; स० श्रौ०, २३.३.६।

[३] तै० ब्रा०, ३.११.९.३—गोबलो वार्ष्णः पशुकामः पाङ्क्तमेव चिक्ये।

[४] तै० ब्रा०, ३.११.९.४—बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१४.१०, स० श्रौ०, २३.३.८।

[५] तदेव।

[६] तै० ब्रा०, तदेव-प्रजापतिर्ज्यैष्ठ्यकामो यशस्कामः प्रजननकामः, त्रिवृतमेव चिक्ये।

[७] तै० ब्रा०, ३.११.९.६—इन्द्रो ज्यैष्ठ्यकामः, ऊर्ध्वा एवोपदधे; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१४.११; स० श्रौ०, २२.३.९।

[८] तै० ब्रा०, ३.११.९.७—आदित्यः स्वर्गकामः प्राचीरेवोपदधे।

[९] बौ० श्रौ०, १९.६; आप० श्रौ०, १९.१४.१२; स० श्रौ०, २३.३.१०।

[१०] बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१४.३; स० श्रौ०, २३.३.१।

ईंट-संख्या	ईंटों की देवता	मन्त्र	सन्दर्भ[1]
५	आप्	आप॑ः…………	तै० ब्रा० ३।११।५
६	पृथिवी	पृथि॒व्य॑सि……	तै० ब्रा० ३।११।६
७	अग्नि	अ॒ग्निर॑सि……	तै० ब्रा० ३।११।७
८	अंतरिक्ष	अ॒न्तरि॑क्षमसि··	तै० ब्रा० ३।११।८
९	वायु	वा॒युर॑सि……	तै० ब्रा० ३।११।९
१०	द्यौ	द्यौर॑सि………	तै० ब्रा० ३।११।१०
११	आदित्य	आ॒दि॒त्यो॑ऽसि··	तै० ब्रा० ३।११।११
१२	चन्द्रमा	च॒न्द्रमा॑	तै० ब्रा० ३।११।१२
१३	नक्षत्र	नक्ष॑त्राणि	तै० ब्रा० ३।११।१३
१४	संवत्सर	स॒ंव॒त्स॒रो॑ऽसि॒	तै० ब्रा० ३।११।१४
१५	ऋतु	ऋ॒तव॑ः	तै० ब्रा० ३।११।१५
१६	मास	मासा॑ः	तै० ब्रा० ३।११।१६
१७	अर्धमास	अ॒र्ध॒मा॒साः	तै० ब्रा० ३।११।१७
१८	अहोरात्र	अ॒हो॒रा॒त्रे	तै० ब्रा० ३।११।१८
१९	पौर्णमासी अष्टका अमावास्या	पौ॒र्ण॒मा॒स्य- ष्ट॑कामावा॒स्या॑	तै० ब्रा० ३।११।१९
२०	इन्द्रपत्नी	राड॑सि	तै० ब्रा० ३।११।२०
२१	अग्नि	ओजो॑ऽसि	तै० ब्रा० ३।११।२१

यदि यजमान ब्रह्मवर्चस्, तेज और यश की कामना से नाचिकेत अग्नि के चयन में प्रवृत्त हुआ हो तो उसे होत्रीत धिष्ण्य के समीप पहुँच कर पूर्वाभिमुख हो 'जो यशस्विनी देवी पूर्वमुखी होकर' आ रही है, वह मुझे तेज, यश और ब्रह्मवर्चस् से ढक दे' मंत्र का पाठ करते हुए वहाँ से आहवनीय तक उत्क्रुष्टता से जाना चाहिए[2]। यजमान यदि चाहता हो कि अधिक से अधिक लोग मेरे प्रति श्रद्धालु बनें, तो जिस समय ऋत्विज् बहुत-सी दक्षिणा ले जा रहे हों, उस समय उसे स्रुव में आज्य लेकर 'प्राङ्मुखी होकर आओ, आओ पूर्वाभिमुखी बनकर, प्रीतियुक्त हो दो तरह से आज्य पियो' मंत्र द्वारा आहवनीय में आहुति देनी चाहिए[3]।

---

१. बौ० श्रौ०, १९.६; आप० श्रौ०, १९.१४.३, स० श्रौ०, २३.३.१ ।

२. तै० ब्रा०, ३.११.९.८; बौ० श्रौ०, १९.६; आप० श्रौ०, १९.१४.१३; स० श्रौ०, २२.३.११ ।

३. तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव, आप० श्रौ०, १९.१४.१४; स० श्रौ०, २३.३.१२ ।

पुरीष-आधान[1], चिति-क्लृप्ति[2] से अभिमर्शण, अग्निप्रणयन, [3]शतरुद्रीय-होम, वसोर्धारा-होम[4], अन्न-होम[5] तथा विश्वप्री-होम[6] आदि अनुष्ठान सावित्र-चिति के समान किये जाते हैं[7]।

यहाँ कामना-भेद से चैतव्य चितियों के मानचित्र दिये जा रहे हैं।

पाङ्क्त-नाचिकेत

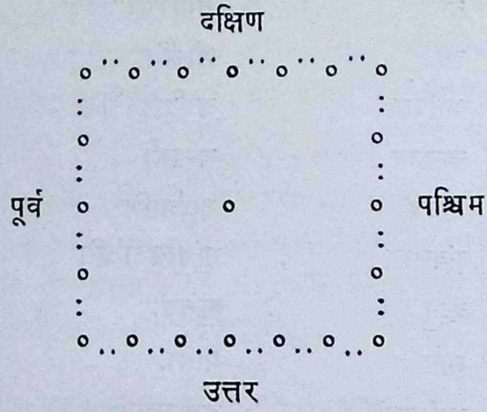
दक्षिण
पूर्व
पश्चिम
उत्तर

त्रिवृत्त-नाचिकेत

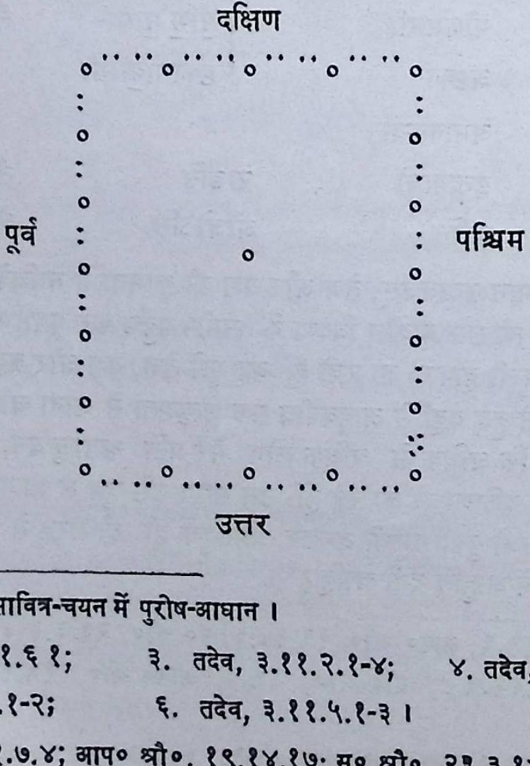
दक्षिण
पूर्व
पश्चिम
उत्तर

---

१. द्र०, पूर्ववर्णित सावित्र-चयन में पुरीष-आधान।

२. तै० ब्रा०, ३.११.६.१; ३. तदेव, ३.११.२.१-४; ४. तदेव, ३.११.३.१।

५. तदेव, ३.११.४.१-२; ६. तदेव, ३.११.५.१-३।

७. तै० ब्रा०, ३.११.७.४; आप० श्रौ०, १९.१४.१७; स० श्रौ०, २१.३.१४।

ऊर्ध्व-नाचिकेत

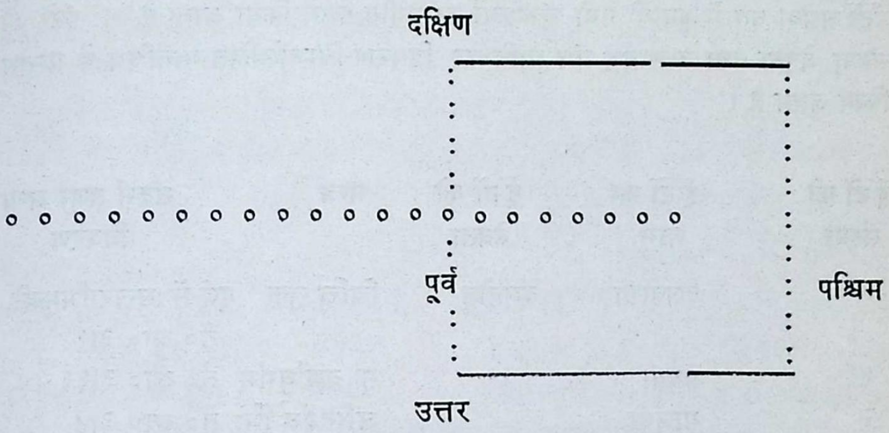

प्राङ्मुखी-नाचिकेत

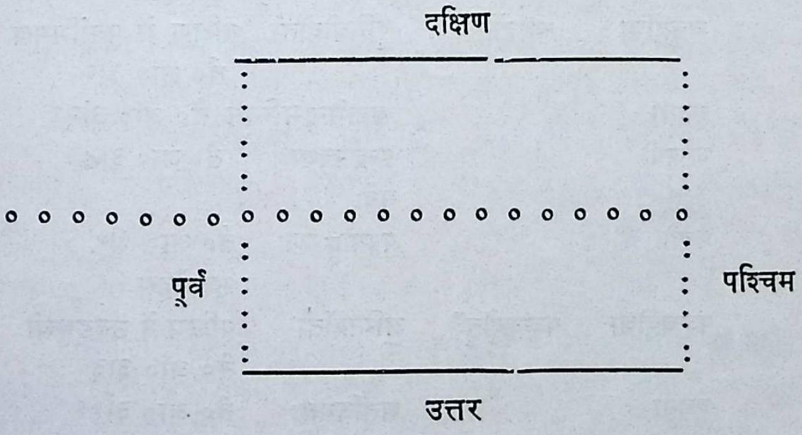

चातुर्होत्र-चयन[1]—

चातुर्होत्र अथवा ब्रह्म अग्नि का चयन पशुबन्ध, अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, अहीन अथवा सत्र में विहित माना गया है[2]। इसका चयन दो प्रकार से किया जाता है, व्यस्त अथवा समस्त[3]। सर्वप्रथम व्यस्त चातुर्होत्र का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। पूर्ववर्णित सावित्र एवं नाचिकेत अग्नि के समान सभी अनुष्ठान किये जाते हैं।

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१२.१-५; बौ० श्रौ०, १९.७-८; आप० श्रौ०, तदेव; सरस्वतीभवन-पुस्तकालय (वाराणसी), पाण्डुलिपि-संख्या, ३८५८, चातुर्होत्रप्रयोग.; ३६५८; चातुर्होमाग्निप्रयोग:; ३४०७, सावित्रनाचिकेतचातुर्होत्रवैश्वसृजप्रयोगा:; ३४०९, सावित्रादिकाठकचयनप्रयोग: ।

[2] तै० ब्रा०, ३.१२.५.६ ।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१५.१३; स० श्रौ०, २३.३.३३; सायण, तै० ब्रा०, १२.१.१ ।

अग्निक्षेत्र रथ अथवा रथचक्र के सदृश वर्तुल होता है[1]। अंगुलिपर्व के समान सोने की ईंटों अथवा घृत में डुबायी गयी कंकड़ियों का प्रयोग इसमें किया जाता है[2]। ईंटों की संख्या, देवता तथा तत्सम्बद्ध मंत्र आदि का विवरण निम्नलिखित मानचित्र में प्रस्तुत किया जाता है।

ईंटों की संख्या	ईंटों का नाम	ईंटों की देवता	मन्त्र	संदर्भ तथा अन्य विवरण
१०	दशहोत्रा	दशहोतृ[3]	चित्तिःस्रुक्	पूर्व में उत्तराभिमुखी, तै० आ० ३।१
१	हृदया		सुवर्णंधर्मम्	तै० आ० ३।११
२	याजुषी		अग्निर्यजुर्भिः	तै० आ० ३।८
२	पत्नी		सेनेन्द्रस्य	तै० आ० ३।९ सूददोहस
४	चतुर्होत्रा	चतुर्होतृ[4]	पृथिवीहोता	दक्षिण में पूर्वाभिमुख तै० आ० ३।२
१	हृदया		ब्रह्ममेन्द्रमग्निम्	तै० आ० ३।२१
२	याजुषी		इन्द्रे उक्था मदैः	तै० आ० ३।८
२	पत्नी		पथ्यापूष्णः	तै० आ० ३।९ सूददोहस
४ या २	पञ्चहोत्रा	पञ्चहोतृ[5]	अग्निर्होता	पश्चिम में उदङ्मुखी तै० आ० ३।३
१	हृदया		शतंनियुतः	तै० आ० ३।११
२	याजुषी		अंगिरसोधिष्णियैः	तै० आ० ३।८
२	पत्नी		वसूनां गायत्री	तै० आ० ३।९ सूददोहस

---

[1] तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, १९.७; स० श्रौ०; २३.३.१६।

[2] तै० ब्रा०, ३.१२.५.१२; आप० श्रौ०, १९.१४.१९—यहाँ पैर के बराबर सोने की ईंटों का विधान है—यावत्पदं हिरण्येष्टकाः; द्र०—स० श्रौ०, २३.३.१७।

[3] तै० ब्रा०, ३.१२.५.५; बौ० श्रौ०, १९.७; आप० श्रौ०, १९.१४.२०; स० श्रौ०, २३.३.१८।

[4] तै० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१४.२१; स० श्रौ०, २३.३.१९।

[5] तै० ब्रा०, ३.१२.५.५; बौ० श्रौ०, १९.७; आप० श्रौ०, १९.१४.२२; स० श्रौ०, २३.३.१९।

ईंटों की संख्या	ईंटों का नाम	ईंटों की देवता	मन्त्र	संदर्भ तथा अन्य विवरण
६	षड्होत्रा	षड्होतृ[1]	वाग्होता	उत्तर में प्राङ्मुखी तै० आ० ३।६
१	हृदया		सुवर्णकोशम्	तै० आ० ३।११
२	याजुषी		आपः प्रोक्षणीभिः	तै० आ० ३।८
२	पत्नी		वसूनां गायत्री	तै० आ० ३।९ सूददोहस
६ या २	सप्तहोत्रा	सप्तहोतृ[2]	महाहविर्होता	मध्य में–तै० आ० ३।५
१	हृदया	हृदय[3]	इन्द्रो राजा	तै० आ० ३।११
१३	याजुषी	यजुष्	अदितिर्वेद्या	तै० आ० ३।८
१८	पत्नी	पत्नी	आदित्यानां जगती	तै० आ० ३।९ सूददोहस
१	दशहोतृग्रहा	दशहोतृग्रह[4]	वाचस्पतेविधे	यथावकाश, तै० आ०,३.१
१	पंचहोतृग्रहा	पंचहोतृग्रह	वाचस्पते वाचो	तै० आ०, ३.२
१	षड्होतृग्रहा	षड्होतृग्रह	भूर्भुवः सुवः	तै० आ०, ३.६
१	सप्तहोतृग्रहा	सप्तहोतृग्रह	वाचस्पतेहृद्	सूददोहस, तै० आ, ३.५
१९ या २	प्रतिग्रहा	प्रतिग्रह[5]	देवस्य त्वा सवितुः	यथावकाश तै० आ० ३.१० सूददोहस

स्वयमातृण्णा तथा लोकम्पृणा ईंटों का चयन पूर्ववत् किया जाता है[6]।

'समस्त' चातुर्होत्र-चयन में प्रथम चिति में सावित्र अग्नि का चयन[7] निर्दिष्ट है। दूसरी चिति में केवल लोकम्पृणा ईंटों की स्थापना की जाती है[8]। तीसरी चिति में नाचिकेत अग्नि का चयन होता है और चौथी चिति में लोकम्पृणा ईंटों का प्रयोग

---

१. तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१४.२३; स० श्रौ०, तदेव।

२. तै० ब्रा०, ३.१२.५.५; बौ० श्रौ०, १९.७; आप० श्रौ०, १९.१४.२४, स० श्रौ०, २३.२.१९।

३. तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.४.२५।

४. तै० ब्रा०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव।

५. तै० ब्रा०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; द्र०, महादेव. प्र० च०, आ० ग्र० ५३, पृ० ८२३।

हृदयं तु सुवर्णं च ग्रहं वानस्पते तथा।
प्रतिग्रहं तु देवस्य ग्नास्त्वा वाससि वा भवेत्॥
अग्निर्यजुभिः संभाराः सेनेन्द्रस्येति पत्नयः।
वाग्घोता चात्र षड्होता व्याहृत्यादिग्रहो भवेत्॥

६. बौ० श्रौ०, १९.७, आप० श्रौ०, १९.१४.२७; स० श्रौ०, २३.३.२०।

७. बौ० श्रौ०, १९.८; ८. तदेव।

विहित है[1]। पांचवीं चिति में चातुर्होत्र अथवा ब्रह्म अग्नि का चयन निर्दिष्ट है[2]। समस्त चयन में सभी चितियों में स्वयमातृण्णा का आधान किया जाता है[3]। प्रत्येक चिति की रचना के बाद उसे पुरीष से आच्छादित करने का निर्देश है[4]। 'अग्ने देवा इहावह' मंत्रों से पाँचों चितियों का अभिमर्शण किया जाता है[5]। सौमिक अध्वर में यदि समस्त चयन किया जाता है, तो दीक्षणीय इष्टि के पूर्व सात दिवःश्येनी तथा पाँच अपाद्या नामक इष्टियों का विधान करना पड़ता है[6]। दिवःश्येनी तथा अपाद्या इष्टियों का विवरण निम्न मानचित्र में दिया जा रहा है :—

दिवःश्येनी इष्टि-समूह

इष्टि-नाम	देवता	द्रव्य	मंत्र अनुवाक्या याज्या	संदर्भ, अन्य विवरण
प्रथमदिवःश्येनी	काम-अग्नि	अष्टाकपाल	तुभ्य॒॑ ताः	तै० ब्रा० ३।१२।१
		पुरोडाश	अ॒श्याम॒तम्	
	आशा	चरु	आ शांनां त्वा	तदेव
	अनुमति	चरु	अनुंन॒ोऽद्यानुंमति॒ः	तदेव
द्वितीय	काम	अष्टाकपाल	कामो॑ भू॒ तस्य॒	तदेव
		पुरोडाश	काम॒स्तदग्रे॑	तदेव
	अनुमति	चरु		तदेव
तृतीय	काम अग्नि	अष्टाकपाल		तदेव
		पुरोडाश		तदेव
	ब्रह्म	चरु	ब्रह्मं जज्ञा॒नम् पि॒ता वि॒राजा॑म्	तदेव
	अनुमति	चरु		तदेव
चतुर्थ	काम-अग्नि	अष्टाकपाल		
		पुरोडाश		तदेव
	यज्ञ	चरु	य॒ज्ञो रा॒यो अयं य॒ज्ञो	तदेत
	अनुमति	चरु	गोभिरश्वैः	तदेव
पंचम	काम-अग्नि	अष्टाकपाल		
		पुरोडाश		तै० ब्रा०, ३।१२।१
	आप्	चरु	आपो॑ भ॒द्राः आदित्यंश्यामि	तदेव
	अनुमति	चरु		तदेव

---

१. तदेव; २. तदेव; ३. तदेव; ४. तदेव; ५. तदेव; ६. तदेव।

षष्ठ	काम-अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश		तदेव
	बलिमान्	चरु	तुभ्यं॑ भरन्ति॒	तदेव
	अनुमति	चतु		तदेव
सप्तम	काम-अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश		तदेव
	अनुवित्ति	चरु	पू॑वं देवा॒ अप॑रेण	तदेव
	अनुमति	चरु	प्राणापा॒नौ	तदेव

अपाद्या इष्टि-समूह

इष्टि-नाम	देवता	द्रव्य	मंत्र अनुवाक्या याज्या	संदर्भ, अन्य विवरण
प्रथम अपाद्या	अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश	अ॒ग्निमू॒र्धा भुवो॑	तै० ब्रा० ३।१२।३
प्रथम	तप	चरु	तप॑सा दे॒वा दे॒वताम॒ग्रं॑ प्र॒थ॒म॒जं दे॒वं॑ꣳहविषा॑	तदेव
	अनुमति	चरु	अनु॑नोऽद्यानु॑मति॒:	तदेव
द्वितीय	अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश		
	श्रद्धा	चरु	श्र॒द्धया दे॑वो दे॒वत्वम॑श्नुते श्र॒द्धा दे॒वी प्र॑थम॒जा	तदेव
	अनुमति	चरु		
तृतीय	अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश		
	सत्य	चरु	आगा॑त् सत्य॒ꣳहविरि॒दम् यस्य॑ प्रति॒ष्ठोर्व॑न्तरि॒क्षम्	तदेव
	अनुमति	चरु		
चतुर्थ	अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश	मन॑सो॒ वशे सर्व॑मि॒दम्	तदेव
	मन	चरु	आकू॑तीना॒मधि॑पति॒म्	
	अनुमति	चरु		
पंचम	अग्नि	अष्टाकपाल पुरोडाश	चर॑णं प॒वित्र॒॑ वित॑तं पुरा॒णं येन॑ पू॒तस्तर॑ति	तदेव
	वरुण	चरु	लो॒कस्य॒ द्वारम॑र्चि॒मत् पवित्र॑म् ।	

चातुर्होत्र-चयन दक्षिणा में एक्कीस, सौ अथवा एक सहस्र गौ दक्षिणा में देने का विधान है[१]। जितनी ईंटों का चयन किया है, उतने गौ की दक्षिणा भी दी जा सकती है[२]। गायों के अभाव में उतनी संख्या में ओदन अथवा मन्त्र भी दिया जाता है[३]। यदि दक्षिणा में गर्भिणी षष्ठौही (चार वर्ष की गाय) दी जाये, तो समस्त दक्षिणा दान का फल मिलता है[४]। सुवर्ण और वस्त्र भी दक्षिणा में यथेच्छ देय कहे गये हैं[५]। दिवः श्येनी तथा अपाद्या इष्टि-समूह के विधान के पश्चात् तुरन्त गर्भिणी षष्ठौही गायों में श्रेष्ठ गाय, कंस (कांस्यपात्र) एवं स्त्रियों के आभूषण दक्षिणा में देने का निर्देश किया गया है[६]। चातुर्होत्र चयन के अनन्तर सौत्रामणी अथवा मैत्रावारुणी द्वारा यजन करना चाहिए[७]।

वैश्वसृज्-चयन[८]—

वैश्वसृज् अग्नि का चयन पूर्ववर्णित चयनों के समान होता है। वैश्वसृज् का क्षेत्रवृत्त, अथवा मण्डलाकार बनाया जाता है[९]। वृत्त के भीतर तीन वृत्त और बनाये जाते हैं[१०]। वृत्तों की रेखाओं पर ईंटों की स्थापना की जाती है[११]। सोने की ईंटें अंगुली के पोर के बराबर होती हैं[१२]। सौवर्ण ईंटों के अभाव में घृताक्त कंकड़ियों का प्रयोग किया जाता है[१३]। कुल बयालिस ईंटों की स्थापना[१४] की जाती है। चयन से सम्बद्ध अन्य अनुष्ठान वैश्वसृज् में भी किये जाते हैं। मृत्युग्रह का प्रयोग मिलता है[१५]।

वैश्वसृज् का चयन शतरात्र, विश्वजित्, सर्व पृष्ठ, समस्त सारस्वत यज्ञों, रात्रि-सत्रों, शतरात्र के अन्त में यजनीय महाव्रतों, तीनों सारस्वत सत्रों, काठक प्रस्थान के चातुर्मास्यों, षडहर्वजित साद्यस्क्रों तथा विश्वसृजामयन में भी किया जाता है[१६]। सहस्र-सत्रों और संवत्सर सत्रों में वैश्वसृज् अग्नि का चयन अवश्यम्भावी[१७] है। पशुबन्ध और

---

[१] तै० ब्रा०, ३.१२.५.७-८; [२] तदेव, ३.१२.५.८; [३] तदेव, ३.१२.५.९।
[४] तदेव; [५] तदेव, ३.१२.५.१०; [६] तदेव, ३.१२.३.९।
[७] तदेव, ३.१२.५.१२।
[८] तै० ब्रा०, ३.१२.६-९, बौ० श्रौ०, १९.९; आप० श्रौ० १९.५; स० श्रौ०, २३.३.२२-३३, सरस्वतीभवन पुस्तकालय, (वाराणसी) पाण्डुलिपि-संख्या ३४०७, सावित्रनाचिकेत-चातुर्होत्रवैश्वसृजप्रयोगाः, ३४०९, सावित्रादिकाठकचयनप्रयोगः।
[९] बौ० श्रौ० तदेव, आप० श्रौ०, १९.१५.१; स० श्रौ०, २३.३.२२।
[१०] बौ० श्रौ०, तदेव; [११] बौ० श्रौ०, तदेव।
[१२] आप० श्रौ०, १९.१५.२; स० श्रौ०, २३.३.२३।
[१३] आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, तदेव।
[१४] बौ० श्रौ०, तदेव।
[१५] आप० श्रौ०, १९.१५.१२; स० श्रौ० २३.३.३२।
[१६] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, १९.१५.७; स० श्रौ०, २३.३.२७।
[१७] आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ०, २३.३.२८।

सोम में भी वैश्वसृज् का चयन किया जा सकता है[1]। वैश्वसृज् भी व्यस्त और समस्त रूप में करणीय है[2]।

ईंटों से सम्बद्ध मन्त्र आदि का विवरण नीचे लिखे मानचित्र में प्रस्तुत किया जा रहा है।

रेखा	ईंटों की संख्या	मन्त्र	अन्य विवरण
बाह्य तृतीय रेखा	१८	यच्चामृतं यच्च मर्त्यम्[3]	पूर्व में उत्तरमुखी तै० ब्रा० ३।१२।६ आधान के पश्चात् सूददोहस मन्त्र का पाठ।
मध्यम	१५	सर्वा दिशो दिक्षु[4]	दक्षिण में पूर्वमुखी तै० ब्रा० ३।१२।९ आधान के पश्चात् मन्त्र का पाठ।
प्रथम रेखा आभ्यन्तर	९	सर्वान् दिवं सर्वान्[5] देवान् दिवि:	तै० ब्रा० ३।१२।८, सूददोहस मन्त्र का पाठ।

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार जब अहीन, सत्र, शतरात्र अथवा सर्वपुष्ठ यज्ञ में वैश्वसृज् का चयन किया जाता है, तब दक्षिणा के समय ब्रह्मा सदस् में बैठकर 'ऋचा प्राची महती दिगुच्यते' आदि वैश्वसृज् ब्राह्मण का पाठ करता है[6]। प्रत्येक अर्धर्च के पाठ के अनन्तर अध्वर्यु प्रतिगर—ऊँ ब्रह्मन् ऋतं ब्रह्मन् सत्यं ब्रह्मन्—का उच्चारण करता है[7]।

समस्त रूप में वैश्वसृज् का चयन सौमिक अध्वर तथा पशुबन्ध में किया जाता है[8]। प्रथम चिति में सावित्री अग्नि का चयन किया जाता है। दूसरी चिति लोकम्पृणा ईंटों की होती है। तृतीय चिति नाचिकेत अग्नि की होती है और चौथी चिति की रचना

---

[1] आप० श्रौ०, १९.१५.८; स० श्रौ०, २३.३.२९; द्र० महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२५।

[2] आप० श्रौ०, १९.१५.१३; स० श्रौ०, २३.३.३०।

[3] बौ० श्रौ०, १९.९; आप० श्रौ०, १९.१५.३; स० श्रौ०, २३.३.२४।

[4] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ०, तदेव; स० श्रौ० तदेव।

[5] बौ० श्रौ०, तदेव; आप० श्रौ० तदेव; स० श्रौ० तदेव।

[6] तै० ब्रा०, ३.१२.९.१-७; बौ० श्रौ०, १९.९, आप० श्रौ० १९.१५.५; स० श्रौ०, २३.३.२६।

[7] बौ० श्रौ०, तदेव।

[8] आप० श्रौ०, १९.१५.१०; स० श्रौ०, २३.३.३०; महादेव, प्र० च०, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२५।

पुनः लोकम्पृणा ईंटों से की जाती है। पाँचवी चिति में चातुर्होत्र चयन किया जाता है तथा छठीं एवं सातवीं चिति क्रमशः वैश्वसृज् और आरुणकेतुक अग्नि के चयन से रची जाती है[1]। समस्त वैश्वसृज् में भी दिवःश्येनी तथा अपाद्या-इष्टि-समूह से यजन करना आवश्यक है। दक्षिणा का विधान पूर्ववत् है। ध्यातव्य है समस्त अग्निचयन वही कर सकता है, जिसने पहले व्यस्त चयन कर लिया हो[2]। चनय के पश्चात्[3] सौत्रामणी एवं मैत्रावरुणी आमिक्षा यजनीय हैं[4]।

आरुणकेतुक अग्नि-चयन[5]

आरुणकेतुक अग्नि का चयन अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा चातुर्मास्यों में किया जाता है[6]। कहा जाता है कि इस अग्नि की संरचना समस्त यज्ञों तथा क्रतुओं में की जा सकती है। आरुणकेतुक अग्नि के चयन का इच्छुक व्यक्ति चयन के पूर्व संवत्सरपर्यन्त अथवा दो मास तक व्रतचर्या करता है[7]। व्रतकाल में अग्निहोत्र आदि नैत्यिक कर्म करने के अनन्तर 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' आदि तीन मंत्रों से तीन औदुम्बरी समिधाओं का आधान अग्नि में किया जाता है[8]। व्रत में 'अग्निवायवे' आदि मंत्रों से व्रतहोम किया जाता है[9]। व्रती को प्रतिदिन प्रातः, दोपहर एवं सायंकाल प्रवाहित जल से स्नान करना चाहिए[10]। भिक्षा में प्राप्त खाद्य सामग्री का भोजन व्रत में उचित माना गया है[11]। इस व्रत को यजमान के लिए अध्वर्यु करता है। इसी प्रकार विद्या-प्राप्ति में शिष्य के लिए आचार्य व्रताचरण करता है[12]।

---

१. आप० श्रौ०, १९.१५.११; स० श्रौ० २३.३.३१।

२. आप० श्रौ०, १९.१५.१४; स० श्रौ०, २३.३.३३।

३. आप० श्रौ०, १९.१५.१५; स० श्रौ०, २३.३.३४।

४. वैश्वसृज् के लिये द्र०—महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२६—

> रात्रिसत्राणि यानि स्युः शतरात्रान्तकानि च।
> सव्रते विवृते वा विषुवद् व्रतयोश्चापि त्रिषु सारस्वतेषु च॥
> न साध्यानां सहस्रे च सत्रे सविश्वसृजो यथा।
> प्रजापतेः सहस्रे च ह्यग्निरेष विधीयते॥
> नान्यः काठक एष स्यात् पश्वादिषु विधीयते।
> व्यस्तं वा तु समस्तं वा पृथक् कृत्वा समस्यते॥

५. तै० आ०, १.१-३२; बौ० श्रौ०, १९.१०; आप० श्रौ०, १९.१५.१६; स० श्रौ०, २३.३.३५; सरस्वतीभवन पुस्तकालय (वाराणसी), पाण्डुलिपि संख्या, ३७४७,५० आरुणकेतुकाग्निप्रयोगः, ३७४४, आरुणकेतुकप्रयोगः; ३४५०, आरुणाग्निप्रयोगः; महादेव, प्र० च० आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२६-८३२।

६. तै० आ०, १.२२.९, महादेव, तदेव, पृ० ८२६;

७. तै० आ०, तदेव, १.२६.३;

८. तै० आ०, १.३२.१-२; महादेव, तदेव;

९. तै० आ०, तदेव; महादेव, तदेव;

१०. तै० आ०, तदेव, महादेव, तदेव।

११. तै० आ०, तदेव, महादेव, तदेव;

१२. तै० आ०, तदेव, महादेव, तदेव।

चयन-सम्बद्ध प्रारम्भिक अनुष्ठान करने के अनन्तर उत्तरवेदि के मध्य में शंकु गाड़कर १८ अंगुल की रज्जु से अग्नि क्षेत्र का वृत्त बनाया जाता है[१]। वृत्तक्षेत्र को जानु के बराबर खोदकर मिट्टी अन्यत्र हटा दी जाती है। इसी गड्ढ़े में दर्भस्तम्ब और पुष्करपर्ण, पुष्करदण्ड तथा पुष्कर डाल कर गड्ढ़े को पूर्णतया आच्छादित कर दिया जाता है[२]। गड्ढ़े में छह प्रकार का जल भरने का विधान है[३]। आतपयुक्त स्थान पर एकत्र किया गया वर्षा का जल चयनदेश में पूर्व की ओर स्थापित किया जाता है[४]। कुएँ का जल दक्षिण में डाला जाता है[५]। स्थावर जल पश्चिम में तथा प्रवहित जल उत्तरवेदि में भरने का विधान है[६]। संभार्य (घर में घड़े आदि में रखा हुआ) जल तथा पल्वल (छोटा तालाब) का जल मध्य में डाला जाता हैं[७]। इस गड्ढ़े के बीच में ही पुष्करपर्ण, रुक्म, हिरण्यपुरुष और कूर्म का आधान किया जाता है[८]। महा-अग्नि के समान आरुणकेतुक में भी पाँच चितियाँ होती हैं[९]। ईंटों के स्थान पर केवल जल का ही प्रयोग विहित माना गया है[१०]। लोकम्पृणा के स्थान पर भी जल का उपयोग होता है[११]। स्वयमातृण्णाएँ प्रत्यक्ष होती हैं[१२]। गड्ढ़े के ऊपर मंच बनाकर उस पर अग्नि प्रणयन किया जाता है[१३]। अग्नि को समाहित करने के बाद उसके चारों ओर अंजलि में जल भर विधि-विहित ईंटों के स्थान पर डालने का निर्देश है[१४]।

---

[१] महादेव, तदेव, ५.८२७।

[२] तै० आ०, १.२२.८; बौ० श्रौ०, तदेव, सायण, आ० ग्र०, ३६, पृ० ९५।

[३] तै० आ०, १.२४.१-३; बौ० श्रौ०, तदेव; महादेव, तदेव।

[४] तै० आ०, १.२४.१; बौ० श्रौ०, १९.१०; सायण, आ० ग्र०, ३६, पृ० १०७; महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२६।

[५] तै० आ०, १.२४.२; बौ० श्रौ०, तदेव; सायण, तदेव।

[६] तै० आ०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव, सायण, तदेव।

[७] तै० आ०, १.२४.३; बौ० श्रौ०, तदेब, सायण, तदेव, पृ० १०८।

[८] तै० आ०, १.२५.१-२, बौ० श्रौ०, तदेव, सायण, तदेव, पृ० ११०-१११; महादेव, तदेव, पृ० ८२६।

[९] तै० आ०, १.२५.३; महादेव, तदेव, पृ० ८२६-८३२।

[१०] तै० आ०, १.२६.१; बौ० श्रौ०, तदेव, सायण, तदेव, पृ० २-३; महादेव, तदेव, पृ० ८२६।

[११] तै० आ०, १.२६.१, बौ० श्रौ०, तदेव।

[१२] बौ० श्रौ०, तदेव।

[१३] तै० आ०, तदेव; बौ० श्रौ०, तदेव; महादेव, तदेव, पृ० ८२६।

[१४] तै० आ०, तदेव, बौ० श्रौ०, तदेव; महादेव, तदेव।

आरुणकेतुक में प्रयुक्त ईंटों का विवरण

ईंटों की संख्या	ईंटों का नाम	ईंटों की देवता	मन्त्र	सन्दर्भ तथा अन्य विवरण
१.	शान्ति	विश्वदेव[1]	भद्रं कर्णेभि:— स्वस्ति न इन्द्रो	तै० आ० १।१
५.	महानाम्नी	आप्[2]	आपमापामप: सर्वा: वायवश्वा रश्मिपतय: महानाम्नीर्महामाना: अपाश्युष्णिभया वज्र दैवीरजी तांश्च	उष्ण जल-अन्य मत में शीतोष्ण जल-महादेव चन्द्रिका, स० श्रौ० २३।३ महानाम्नी ईंटों के आधान के बाद 'या जाता ओषधय:' से उपस्थान। महादेव, तदेव।
१	शिवा	आप्[3]	शिवा न: शंतमा	'शिवा न: शंतमा' मन्त्र से अध्वर्यु को सौषधि जल दिया जाता है, उसे वह ईंट के रूप में रखता है।
१	भूमिवती	सरस्वती[4]	सुमृडीका सरस्वती	पूर्व में
९.	स्मृतिगण	स्मृतिग[5]	स्मृति: प्रत्यक्षमैतिह्यम्···· सूर्योमरीचिमादत्ते नदीव प्रभवात् काचित् एवं नाना समुत्थाना: स तै: सर्वं समाविष्ट: अणुभिश्च महद्भिश्च पटरो विक्लिधः पिङ्ग: एकं हि शिरो नानामुखे	तै० आ० १।३
१.	शुक्रा	पूषा[6]	शुक्रं ते अन्यद् यजतम्	
११.	साकंजानी	सूर्य[7]	साकंजानां सत्यथमाहु:	

---

[1] बौ० श्रौ०, १९.१०।

[2] बौ० श्रौ०, तदेव।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव।

[4] तदेव।

[5-7] बौ० श्रौ, १९.१०, महादेव, तदेव, पृ० ८२७-८२८।

			को न मर्या, यस्तित्याज सखिविदम्, ऋतुर्ऋतुना नुद् यमानः, सारागवस्त्रैर्जर- दक्षः, अमुना दयतेत्यन्यान्, एतदेव विजानीयात्, शुक्लवासा रुद्रगणः, विश्वरूपाणि वासांसि, अदुःखो दुःखचक्षुरिव ह्लादयते ज्वलतश्चैव	तै० आ० १।३ पूर्व में
७.	ऋतुमती	शरद्[1]आदि	अक्षि दुःखोत्थितस्यैव, कनकामानि वासांसि, एता वाचः प्रयुज्यन्ते, अमुतो जेतुमिषु मुखमिव, अक्रुद्धश्च भोत्स्यमानस्य, दुर्भिक्षं देवलोकेषु, इहेह वः स्वत्तपसः,	तै० आ० १।४ दक्षिण में।
४.	अतिताम्रा	विश्वेदेवा[2]	अतिताम्राणि वासांसि नैव देवा न मर्त्यः, दिव्यस्यैका धनुरात्निः, मतन्ती जलतदिन्द्रधनुरित्यज्यम्,	तै० आ० १।५
३	ऋतुमण्डला	ऋतु[3]	आत्यूर्ध्वाक्षो तिरश्चात्, अन्योन्यं तु न हिंस्रातः, त्वं करोषि न्यञ्जलिकाम्,	तै० आ० १।६
१	द्रप्सवती	द्रप्स[4]	अवद्रप्सो अंशुमतीम्,	
८	अरोगा भ्राजा पटरा पतङ्गी स्वर्णरा ज्योतिष्मती विभास्वती काश्यपी	सूर्य[5]	आरोगो भ्राजः, कश्यपोऽष्टमः सः	तै० आ० १।७

१-५. बौ० श्रौ०, १९.१०, महादेव, तदेव।

४	सौरी	सूर्य[१]	सप्तसूर्या दिवमनुप्रविष्टाः, सप्तदिशो नाना सूर्याः, यद्द्याव इन्द्र ते, चित्रं देवानामुदगादनीकम्, प्रथमचिति पूर्ण	
१	अभ्रिणी	अभ्र[२]	क्वेदमभ्रं निविशते,	तै० आ १।८ पूर्व की ओर यह ईंट रखी जाती है।
१	अर्धमासा	काल[३]	अर्धमासामुहूर्ताः,	मध्य में
२	काला	काल[४]	काला अप्सु निविशन्ते, अनवर्णे इमे भूमी,	
५	वैष्णवी	विष्णु[५]	किंस्विदत्रान्तराभूतम्, इरावती धेनुमती, किं तद् विष्णोर्बलमाहुः, वाताद् विष्णोर्बलमाहुः, अग्नयो वायवश्चैव,	
४	मृत्युमती	मृत्यु[६]	पृच्छामि त्वा परं मृत्युम्, अमुमाहुः परं मृत्युम्, अनाभोगाः परं मृत्युम्, अनाभोगाः परं मृत्युम्, ततो मध्यममायन्ति।	
४	निरयवती	यम[७]	पृच्छामि त्वा पापकृतः, कश्यपादुदिताः सूर्याः ते शरीराः प्रपद्यन्ते, मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्ते	
२	काश्यपी आग्नेयी	कश्यप[८] अग्नि[९]	आयास्मिन् सप्तवासवाः अग्ने नय सुपथा राये	
८	आग्नेयी	अग्नि[१०]	अग्निश्च जातवेदाश्च	तै० आ० १।९
११	रौद्रीया वैद्युती	रुद्र[११]	प्रभ्राजमाना व्यवदाताः	तृतीय चिति
११	रुद्राणी	रुद्राणी[१२]	प्रभ्राजमाना व्यवदाताः	
११	गन्धर्वा	गन्धर्व[१३]	स्वानभ्राट्, अङ्घारिर्बम्भारिः	

१-१३. बौ० श्रौ० १९.१०; महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२८।

१	गौरी	सरस्वती[1]	गौरीर्मिमाय सलिलाकि,	तै० आ० १।९
७	वाता	वात[2]	वराहवः स्वतपसः	
१	लोका	अक्षरबल[3]	यदक्षरं भूतकृतम्	
१	आप्यायिता		जमदग्निराप्यायते,	
१	शंयु	शंयु[4]	तच्छयोरावृणीमहे,	
८	संयानी	भूमि आदि[5]	सहस्रवृदियं भूमिः, जाया भूमिः पतिर्व्योम, शुक्रं वामन्यद् यजतम् वासात्यौ चितौ जगतो, त्यग्रो ह भुज्युमश्विनो, तिस्रः क्षपस्त्रिरहा, सवितारं वितन्वन्तम्, त्यं सुतृप्तं विदित्वैव,	तै० आ० १।१०
२	आदित्य	आदित्य[6]	स संग्रामस्तमोद्यो, अन्वेति परिवृत्यास्तः,	
४	पवित्रवती या आङ्गिरसी[7]		पवित्रवन्तः परिवाजम्, पवित्रं ते विततम्, ब्रह्मा देवानाम्, असतः सद्ये ततक्षुः	तै० आ० १।११
७	ऋक्षादि	ऋक्षादि[8]	अमी य ऋक्षा, तत्सवितुर्वरेण्यम्, तत्सवितुर्वृणीमहे, अपागूहत सविता, नाम नामैव नाम मे, मया भूतान् यक्षत्, स्त्रियः सतीः,	
५	वैश्वदेवी	विश्वेदेव[9]	अन्धो मणिमविन्दत्, ऊर्ध्वमूलमवाक् छारवम् हसितं रुदितं गीतम्, अतृष्यं तृष्यं ध्यायत्, स तं मणिमविन्दत्,	तै० आ० १।११ उत्तर में पूर्वमुखी
३	आग्नेयी	अग्नि[10]	आ तमग्ने रथं तिष्ठ, न रिष्यति न व्यथते, एकया च दशभिश्च स्वभूते	तै० आ० १।११ चतुर्थचिति

१–१० बौ श्रौ०, १९.१०; महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८२९ ।

४	ऐन्द्री	इन्द्र[1]	आतनुष्व प्रतनुष्व, इतः सिक्तं सूर्यगतम्, असंख्याताः सहस्राणि, आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिः	तै० आ० १।१२
१	ऐन्द्री	इन्द्र[2]	आमन्द्रैरिन्द्रहरिभिः	इंट का आधान यजमान करता है।
२	आणवी	इन्द्र[3]	अणुभिश्च महद्भिश्च, अग्निर्विभ्राष्टिवसनः	
१	सुब्रह्मण्या	सुब्रह्मण्या[4]	सुब्रह्मण्यों सुब्रह्मण्योम्,	
४	रेवती या मेघवती	अग्नि[5]	अरुणाश्वा इहागताः, ताम्राश्वास्ताम्ररथाः, बृहस्पतिश्च सविता च,	
४	ब्रह्मसदना	ब्रह्म[6]	ब्रह्मण उदरणमसि,	
८	दिश्या	अदिति[7]	अष्टयोनीमष्टपुत्राम्, अष्टयोन्यष्टपुत्रम्, अष्टयोनीमष्टपुत्राम्, सूत्रामाणम, अदितिर्द्यौरदितिः, अष्टौ पुत्रासो अदितेः, सप्तभिः पुत्रैरदितिः, महीमुषु,	तै० आ० १।१३
८	दिश्या	मित्र-आदि[8]	मित्रश्च वरुणश्च	तै० आ० १।१३
१	पुष्करपर्ण			
१	रुक्म		ब्रह्मजज्ञानम्	
१	हिरण्यमय पुरुष	पुरुष[9]	हिरण्यगर्भः समवर्तता	
१	कूर्म			
२	दूरोहणा		हंसः शुचिषत्, तदित् पदम्,	पुरुष के दोनों ओर पुरुष के ऊपर

१-९. बौ० श्रौ०, १९.१०; महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८३०।

८	आदित्या	वसु[1]आदि	वसूनामादित्यानाम्,	तै० आ० १।१५
			रुद्राणामादित्यानाम्,	उत्तर में पूर्वाभिमुखी
			आदित्यानामादित्यानाम्,	सभी मंत्रों में 'ॐ
			सतां सत्यानाम्,	भूर्भुवः स्वः।
			अभिधून्वतामभिघ्नताम्,	रश्मयो वो मिथुनं
			ऋभूणामादित्यानाम्,	मा नो मिथुनं रीढम्'
			विश्वेषां देवानाम्,	का संयोजन किया
			संवत्सरस्य सवितुः,	जाता है।
८			आरोगस्य स्थाने	तै० आ० १।१६
११	रौद्री	रुद्र[2]	प्रभ्राजमानानां रुद्राणाम्,	तै० आ० १।१७
११	रुद्राणी	रुद्राणी[3]	प्रभाजमानीनां रुद्राणीनाम्,	
८	दिश्या	अग्नि[4]	अग्नेः पूर्वदिश्यस्य,	तै० आ० १।१८
४	नरकवती		दक्षिणपूर्वस्यां दिशि,	तै० आ० १।१९
२	ऐन्द्री	इन्द्र[5]	यस्मिन् सप्तवासवाः,	दक्षिण में
			इन्द्रियाणि शतक्रतां,	पूर्वमुखी
६	दिश्या	इन्द्र[6]	इन्द्रघोषा वो वसुभिः,	तै० आ० १।२०
५	दिश्या	आदित्य[7]	आदित्यः सर्वोऽग्निः,	तै० आ० १।२०
६	दिश्या	अग्नि[8]	एवा ह्येव एवा ह्यग्ने,	
९	अपस्या	आप[9]	आपमापामपः।	तै० आ० १।२०
१	अपस्या	आप	अपारसमुदयसन।	तै० आ० १।२२
१	संकल्पवती	काम[10]	कामस्तदग्रे समवर्तताधि।	तै० आ० १।२३
१	ओघवती या आप्वती	प्रजापति[11]	आपो ह यद् बृहतीर्गर्भम्।	
१	स्तम्भनवती	प्रजापति[12]	विधाय लोकान्	
१	केतुमती	अरुण[13]	केतवो अरुणासश्च,	तै० आ० १।२४
			इमां नुकं भुवनासीषधेम,	तै० आ० १।२७
			यज्ञं च नस्तन्वं च,	
			आदित्यैरिन्द्रः सगणो,	पंचम चिति
१७	क्षपणी[14]		आप्लवस्व प्रप्लवस्व,	
			मरीचयः स्वायम्भुवाः,	
			उत्तिष्ठत मा स्वप्त-	

---

[1]-[14]. बौ० श्रौ०, १९.१०; महादेव, तदेव, आदि।

			अग्निमिच्छध्वं भारताः, युवा सुवासाः, अष्टाचक्रा नवद्वारा, यो वै तां ब्रह्मणो वेद, विभ्राजमानां हरिणीम्, पराडेऽत्यज्यामयी, यत कुमारी मन्द्रयते, अश्रृतासः श्रृतासश्च, सिकता इव संयन्ति, अपेत वीत च सर्पतातः, न मृणन्तु नृपात्वर्यः, रेतः पीता आण्डपीताः, शतमिन्नु शरदः अदो यद् ब्रह्म विलबम्, कामप्रयवणं मेऽस्तु,	
२			विशीर्ष्णी गृधशीर्ष्णी,	तै० आ० १।२८
३	पर्जन्या	पर्जन्य[1]	प्रजन्याय प्रगायत, इदं वचः पर्जन्याय, यो गर्भमोषधीनाम्,	तै० आ० १।२९
३			पुनर्मा मैत्विन्द्रियम्, यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीम्, यन्मे रेतः प्रसिच्यते	तै० आ० १।३०

चयन की समाप्ति में लम्बी लकड़ियों से मंच बनाकर उस पर पुरीष का आधान किया जाता है[2]। शतरुद्रिय होम तथा अनुशंसन पूर्ववत् अनुष्ठेय बताये गये हैं[3]। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार अनुशंसन के पश्चात् अग्नि-प्रणयन करना चाहिए[4]।

आरुणकेतुक चयन में वैश्रवण यज्ञ के अनुष्ठान का भी निर्देश मिलता है[5]। यह अनुष्ठान चयन से सम्बद्ध समस्त होमों की समाप्ति में किया जाता है[6]। यदि बिना अग्नि की स्थापना के केवल बलिहरण ही करना हो, तो 'अद्धस्तिरोधाजायत' आदि चार

---

[1] बौ० श्रौ०, १९.१०।

[2] बौ० श्रौ०, १९.१०; महादेव, आ० प्र०, ५३, पृ० ८३१।

[3] बौ० श्रौ०, तदेव; महादेव, तदेव;

[4] बौ० श्रौ०, तदेव।

[5] बौ० श्रौ०, तदेव, महादेव, तदेव;

[6] बौ० श्रौ०, तदेव. महादेव, तदेव।

मन्त्रों से वैश्रवण का आवाहन करना चाहिए[1]। तदनन्तर 'हिरण्यनाभये वितुदये कौबेरायायं बलिः, सर्वभूताधिपतये नमः' मन्त्र से वैश्रवण के लिये बलि-सामग्री स्थापित करने का निर्देश है[2]। बलि-आधान के बाद 'क्षत्रंक्षत्रं वैश्रवणः' से उपस्थान का[3] निर्देश है। अन्यथा 'तिरोधा भूः' मन्त्र से अग्नि की स्थापना करने के बाद उसे समिद्ध किया जाता है[4]। अग्निसमिन्धन में 'तिरोधा भूः स्वाहा' मन्त्र का विनियोग[5] है। अन्त में 'यस्ते विथातुको भ्राता' मन्त्र से बलि दी जाती है[6]। बलि के बाद 'राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने' मन्त्र से वैश्रवण के उपस्थान की विधि है[7]।

आरुणकेतुक अग्नि का जो चयन करता है, उसे कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता है[8]। अग्निचित् को वर्षा में धावन नहीं करना चाहिए। जल में मल-मूत्र के परित्याग का भी वर्जन करना चाहिए। वस्त्ररहित होकर स्नान करना भी अविहित है। पुष्करपर्ण और हिरण्य के ऊपर आरोहण करना अनुचित है[9]। कूर्म के किसी अंग का मांसभक्षण भी नहीं करना चाहिए[10]। अन्य जल-जीवों का मांस भी अभक्ष्य है[11]।

आरुणकेतुक अग्निचयन की दक्षिणा का विधान पूर्व-वर्णित सावित्र आदि चयनों के सदृश ही मिलता है[12]।

●

---

[1] तै० आ०, १.३१.१-२; महादेव, तदेव;
[2] तै० आ०, १.३१.२; महादेव, तदेव।
[3] तै० आ०, १.३१.३; महादेव, तदेव;
[4] तै० आ०, तदेव; महादेव, तदेव।
[5] तै० आ०, तदेव, महादेव, तदेव;
[6] तै० आ०, १.३१.५; महादेव, तदेव।
[7] तै० आ०, १.३१.६; महादेव, तदेव।
[8] महादेव, आ० ग्र०, ५३, पृ० ८३१;
[9] तै० आ०, १.२६.६-७;
[10] तदेव।
[11] तदेव;
[12] बौ० श्रौ०, १९.१०।

चतुर्थ अध्याय

यज्ञ की अवधारणा, प्रतीक एवम् कार्य का सिद्धान्त तथा इतिहास (मिथ) का विधिकरण (इन्ऐक्टमेण्ट्)

यज्ञ की अवधारणा : मानवविज्ञानी दृष्टि

आधुनिक विश्व में मानविकी तथा मानवविज्ञान की किसी भी शाखा का अध्ययन उसकी अन्य शाखाओं के अध्ययन से असंपृक्त नहीं रह सकता। असंपृक्त अध्ययन सदैव अधूरा एवं एकांगी ही माना जायेगा। अतएव यज्ञ की भारतीय अवधारणा के निरूपण के पूर्व यह आवश्यक एवं अपरिहार्य हो जाता है कि इस विषय में अन्य विधाओं में जो अनुसन्धानोत्तर सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं, उनकी भी वस्तुनिष्ठ परीक्षा और समीक्षा की जाये। आज के अधुनातन जगत् में धर्म तथा उसके अंग अनुष्ठानों का मानव-विज्ञान की विविध विधाओं में अध्ययन किया गया है और अध्ययन के फलस्वरूप कुछ निष्कर्ष भी निकाले गये हैं। इन निष्कर्षों से अध्येताओं ने समाज में अनुष्ठानों की मूल्यगत महत्ता का प्रतिपादन किया है। इन अध्येताओं में समाजविज्ञानी, नृतत्त्वविज्ञानी और मनोविज्ञानी प्रमुख हैं।

अनुष्ठान के अर्थ में अंग्रेजी भाषा में प्रचलित शब्द 'राइट्' का मूल लैटिन 'राइटुस्' है, जिसका अर्थ 'प्रथा' है। अनेक समाजशास्त्रियों ने इसका अर्थ किसी संगठित धर्म के पारम्परिक मार्ग को स्वीकारा है। यद्यपि 'राइट्' शब्द भारतीय अनुष्ठान शब्द के वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, तथापि कोई अन्य उपाय न होने के कारण और 'राइट्' के अर्थ में इसके सार्वजनीन प्रयोग के कारण, यहाँ 'राइट्' के अर्थ में अनुष्ठान शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा। आगे चलकर भारतीय अनुष्ठान शब्द के अर्थ और उसकी अवधारणा का विवेचन किया जायेगा।

अनुष्ठान मानव के अधिसंख्य प्रयोगों का अभिधान होने के कारण परिभाषित नहीं हो पाता है। इन विविध मानव-प्रयोगों की निहिति ही इसकी परिभाषा को एक निश्चितरूप देने में बाधक हो जाती है[1]। विश्व में कोई भी कार्य पवित्र नहीं होता है। वस्तुतः आनुष्ठानिक स्पर्श के कारण ही मानवीय कार्य पवित्र होते हैं। सभी जागतिक पदार्थ और विश्वास अपनी अनुष्ठान-निष्ठता के कारण ही पावन (सेक्रेड्) बनते हैं। यह सत्य है कि कोई भी संगठित धर्म अनुष्ठानों के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थापित नहीं कर सकता; परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि सभी अनुष्ठित कार्य धार्मिक ही होते हैं। अनेक अनुष्ठानों में केवल सामाजिक चरित्र ही

---

[1] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १-२।

दृष्टिगत होता है[१]। वस्तुतः अनुष्ठान एक प्रतीकात्मक कार्य है। आनन्दकुमार स्वामी[२] का कथन है कि प्रतीक सन्दर्भ के एक निश्चित स्तर पर अन्यत्र स्थित समतुल्य यथार्थ का प्रतिरूपण है। कोई अनुष्ठान अपनी व्याख्या स्वयं नहीं करता और न ही वह बताता है कि वह क्यों और किस लिये है। अतएव उसे परिभाषेय बनाना दुरूह हो उठता है। इस सन्दर्भ में इतना और कथ्य है कि प्रतीकात्मक कार्य सामान्य कार्यों से भिन्न होते हैं; क्योंकि समान्य कार्य तर्कमूलक प्रज्ञा का वशंवद होता है, पर प्रतीकात्मक कार्य उसकी पहुँच से परे होते हैं[३]।

हेनरी बर्गसाँ, इमैनुअल काण्ट, इमाइल दुर्खीम् : आचरण एवं अनुष्ठान के समीकरण का सिद्धान्त—

कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानों के सिद्धान्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आचरण ही अनुष्ठान है। इनकी अवधारणाओं से यह परिलक्षित होता है कि आचरण एवं अनुष्ठान समीकृत हैं। हेनरी बर्गसाँ[४] के अनुसार आचरण के दो पक्ष हैं—१, सामाजिक अथवा स्थिर (स्टैटिक्) और २. मानवीय या गत्यात्मक आचरण। आचरण इन उभय पक्षों को एकान्वित करता है। इन पक्षों में एक की अभिव्यक्ति समाज की मूल संरचना द्वारा होती है और दूसरा इस संरचना को अभिव्यक्त करनेवाले सिद्धान्त सें व्याख्यात होता है। समाज के पूर्ण स्वरूप की अविच्छिन्नता के लिये समाज के अनेक दबावों से संरचित आचरण सामाजिक है। व्यक्तिगत आचरण निषेध के रूप में प्रभावी रहता है। ईश्वर की आराधना में व्यक्ति को पाप-पुण्य, सत्य-असत्य और सामान्य-विशेष के प्रभाव से मुक्त होना पड़ता है। इस प्रकार अनुष्ठान स्वीकृति-निरपेक्ष होकर स्वतःस्फूर्त प्रभाव के द्वारा मनुष्य के ऊपर दबाव डालता है। वस्तुतः सामाजिक एवं मानवीय आचरण सामान्य तथा विशेष के समान एक दूसरे से भिन्न होते हैं, परन्तु अनुष्टान इस द्विता (डॉइक्टॉमी) से परे है। आचरण मानवीय जीवन का दास है; परन्तु अनुष्ठान जीवन का अर्थ है। अतएव यह कथन युक्तिसंगत होगा कि अनुष्ठान मानव को उदात्तता में पहुँचाकर रूपान्तरित करने के साथ-साथ आद्य परम सत्ता के साथ उसकी सम्बन्ध-इच्छा की उत्कण्ठा का शामक भी है।

जर्मन दार्शनिक इमैनुअल काण्ट[५] के अनुसार आचरण निरुपाधिक आदेश (केटागारिकल् इम्परेटिव) है। निरुपाधिक आदेश किसी शुद्ध कारण से निर्गत नहीं

---

[१] रुथबैनेडिक्ट, रिचुअल्, दि इन्सायक्लोपीडिया आफ् सोशल् साइंसेज्, १९४८, पृ० १३-१४।

[२] आनन्दकुमार स्वामी, फी० स्पी० फी० था०, से० पे०, १, पृ०, २१।

[३] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ४।

[४] हेनरी बर्गसां, दि टू सोर्सेज् आफ् मारेलिटी एण्ड् रिलीजन, डबलडे आन्चर् बुक्स, न्यूयार्क, १९३५, पृ० ५५ आदि।

[५] काण्ट, क्रिटिक आफ् प्रैक्टिकल् रीजन ऐण्ड अदर वर्क्स आन दि थियरी आफ इथिक्स्, टी० के० ऐबट द्वारा अनूदित, लांगमैन्स् ग्रीन् एण्ड कम्पनी, लण्डन, १९५४।

होता; क्योंकि वह उत्तमोत्तम तथा अनुभवातीत (ट्रान्सेडेण्टल्) है। काण्ट के इस कथन में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है; परन्तु कठिनाई यह है कि काण्ट प्रारम्भ से ही ज्ञान-मीमांसा (मेटॉफिजिक्स) की संभावना को स्वीकार्य नहीं मानता और बौद्धिक व्यायाम के द्वारा धर्म तथा आचरण के औचित्य की स्थापना करता है। अतएव वह धर्म तथा आचरण को एकत्र करने की भ्रान्ति तथा निरुपाधिक (कैटागारिकल्) एवं अनुभवातीत (ट्रान्सेडेण्टल्) की मिश्रणशीलता की त्रुटि से अपने आपको मुक्त नहीं रख सका[1]। दुर्खीम् काण्ट की आलोचना करता हुआ कहता है[2] कि निरुपाधिक आदेश (केटागारिकल् इम्परेटिव) आचरण की स्थिति का केवल एक पक्ष प्रस्तुत करता है। इसका दूसरा पक्ष इसकी अपरिहार्यता एवं वांछनीयता है। विश्व में कोई भी आचरण अपरिहार्य तथा बाधक नहीं है। काण्ट के सिद्धान्त में दूसरी न्यूनता यह है कि वह व्यवहार्य कारण की अवधारणा के द्वारा निरुपाधिक (केटागारिकल्) आदेश (इम्परेटिव) को व्याख्यात कर आचरण के साध्य के प्रश्न का समाधान करने में पूर्णतया विफल रहा। दुर्खीम् का यह भी कथन है कि आचरण के नियमों पर न चलने के कारण वही परिणाम नहीं होता. जो अन्य जागतिक नियमों का उल्लंघन करने से होता है। मनुष्य का आचरण सदैव लोकाश्रित होता है। वस्तुतः दुर्खीम् की यह स्थापना सत्य है; क्योंकि आचरण का साध्य सदैव परोन्मुखी होता है।

दुर्खीम् का सिद्धान्त काण्ट की अपेक्षा अधिक विसंगतिपूर्ण है[3]। धर्म और आचरण जड़ समाज की ही संततियाँ है। अतएव दोनों एक दूसरे के स्वभाव से संसक्त होते हैं। दोनों पवित्र एवं अवश्य करणीय होते हैं। दुर्खीम् का साधारणीकरण अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। धर्म एवं आचरण आदिकाल से परस्पर संयुक्त हैं। इन दोनों के बीच में एक दीर्घकालीन सामीप्य भी है। अतएव दोनों का पार्थक्य अनुचित है और असंभव भी।

उपर्युक्त तथ्यों से यह अवधारित करना सहज है कि आचरण अनुष्ठान से समीकृत नहीं हो सकता। परन्तु यह कहा जा सकता है कि परा आचरण (प्री मोरेल्) अनुष्ठान है।

जेम्स् जार्ज फ्रेजर : अनुष्ठान अवधारणा

अनुष्ठानों को द्विधा वर्गीकृत करनेवाला सिद्धान्त सुविदित है। यह वर्गीकरण अनुष्ठानों को सार्वजनिक और व्यक्तिगत बताता है[4]।

ध्यातव्य है कि यह विभाजन अनुष्ठान की प्रकृति की दुरवधारणा से उत्पन्न हुआ है। सभी अनुष्ठान, चाहे वे पूर्णतया धर्म निरपेक्ष ही क्यों न हों, वैयक्तिकता के

---

१. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ८।

२. सोशिऑलाजी ऐण्ड् फिलासफी, कोहेन् ऐण्ड् वेस्ट, लण्डन, १९५३।

३. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ९।

४. इन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२५।

स्पर्श से मुक्त नहीं होते और वे किसी न किसी सामाजिक उद्देश्य से अभिप्रेरित भी रहते हैं। यह भी सत्य है कि जादू प्रकृति में असमानता का उद्भव करता है। सर जेम्स जार्ज फ्रेजर का कथन है कि जादू विचारों के नियम का त्रुटिपूर्ण उपयोग है[१]। फ्रेजर यह स्पष्ट नहीं करता कि जादू विचार-सम्बन्धता के नियमों का गलत प्रयोगधर्मा होने पर भी कभी-कभार अभिलषित परिणाम की उपलब्धि को कैसे करा देता है? फ्रेजर का यह कथन भी उचित नहीं माना जा सकता कि धर्म का पराभव होने पर ही वैज्ञानिक विचारों की प्रगति वैभवशाली हुई है।

फ्रेजर के अनुसंधान का मुख्य दोष है कि वह जादू के उस मूलभूत तत्त्व की उपेक्षा करता है, जो इसे आनुष्ठानिक प्रक्रिया अथवा तत्सम्बन्धित चरित्र प्रदान करता है। जादुई प्रयोगों का उद्देश्य यद्यपि पूर्णतया भौतिक होता है, तथापि अनेक जादुई अनुष्ठान उतने ही पवित्र प्रतीत होते हैं, जितने धार्मिक अनुष्ठान।

दुर्खीम्[२] भी कई बातों में जादुई तथा धार्मिक अनुष्ठानों में समता देखता है। परन्तु वह जादुई विधाओं को निश्चयात्मकरूप में व्यक्तिगत और समाज-विरोधी मानता है। जादू एवं धर्म में एक और भी अन्तर है। जादू का संगठन नहीं होता और उसका कोई 'चर्च' भी नहीं होता। जादूगर के पास मात्र उसके प्रचारक और मुवक्किल होते हैं। इसके विपरीत धर्म का एक संगठित रूप होता है और वह समाज में ही सांस लेता है। दुर्खीम् का अभिमत है कि जादू पवित्र पदार्थों के दूषण में एक प्रकार का व्यावसायिक आनन्द लेता है। वह अपने अनुष्ठानों में धार्मिक अनुष्ठानों से विलक्षण कार्य संपन्न करता है। इस जगत् में मानव-अस्तित्व केवल स्व-निष्ठ ही नहीं रहता; अपितु वह पर-निष्ठ भी रहता है। प्रत्येक मानवीय अस्तित्व, दूसरे अस्तित्वों के प्रति, सचेत रहता है।

इस संदर्भ में हरबर्ट और मॉस[३] की यह दृष्टि उचित प्रतीत होती है कि अनुष्ठान एक पारम्परिक कार्य है और वह यान्त्रिकता विहीन रह कर प्रभावी होता है। इनमें 'माना' (गुह्य शक्ति) की धारणा अनुस्यूत रहती है और चमत्कार-विधायिका शक्ति का प्रस्फुरण भी निहित रहता है। इस प्रकार की धारणा में पवित्रता उसी प्रकार अन्तर्निहित होती है, जिस प्रकार वह यज्ञ में स्थित होती है। यद्यपि जादुई अनुष्ठान धर्म-विहीन होते हैं, तथापि उनमें उसी प्रकार के विचार सन्निहित रहते हैं।

इस प्रकार अनुष्ठान परम सत्ता को अनुभव करने की एक विशेष विधा है। वह परा-ब्रह्माण्ड एवं तन्निहित सर्वोत्तम पुरुष के पहचान की अक्षुण्ण पद्धति है।

---

१. जे० जा० फ्रेजर, दि गोल्डेन बाऊ, संक्षिप्त संस्करण, भाग १, मैकमिलन ऐण्ड् कम्पनी लिमिटेड, लण्डन, १९६०, पृ० ६५।

२. इमाइल दुर्खीम्, दि इलीमेण्टरी फ़ार्मस् आफ़् दि रिलीजस् लाइफ़, एलेन् ऐण्ड् अनविन्, लण्डन, १९५४, पृ० ४४।

३. आर० आर० मरेट् द्वारा उद्धृत, 'मैजिक', इनसायक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन ऐण्ड इथिक्स्, ८ भाग, न्यूयार्क, चार्ल्स स्क्राइबनर्स् ऐण्ड सन्स्, १९५५, पृ० २४६।

आधुनिक युग में समाज-विज्ञानियों ने अपने चिन्तन का प्रारम्भ पारम्परिक अवधारणा से अवधारित मानव की दैवी प्रतिभा के विखण्डन से किया। पारम्परिक अवधारणा की धर्मशास्त्रीय मानसिकता को पुरावशेष मानकर हेय करार दिया गया और सर्वात्मना अंगीकृत प्रत्यक्षवादी (पाजिटिविस्टिक्) अवधारणा के द्वारा मनुष्य को मनोभौतिक (सायको-फ़िजिकल्) प्राणी सिद्ध किया गया। परिणामस्वरूप पारम्परिक रूप में अनुष्ठान की अनुकृति मानवीय कार्यों को जैव-भौतिक (बायो-फिजिकल्) की गति का रूपान्तर स्वीकारा गया[1]।

इस प्रकार अनुष्ठान की आन्तर अर्थवत्ता का अपलाप कर दिया गया; क्योंकि वह ज्ञान-मीमांसा अथवा इतिहास (मिथ्) की पुनः कार्यता (रिऐक्टमेण्ट) में निहित थी। अतएव उसे हेय मानना ही श्रेयस्कर समझा गया। इसी समय धर्म का अध्ययन भी वैज्ञानिक पद्धपि का आश्रित हो गया।

कालान्तर में स्थिति में परिवर्तन हुआ। इस स्थित्यन्तर के दो कारण थे। प्रथम हेतु तो यह था कि प्राकृत (प्रिमिटिव) समाज का गहन अध्ययन हुआ। फलस्वरूप प्राकृत समाज से विद्वानों का गहन परिचय भी हुआ। दूसरा कारण था, मनोवैज्ञानिकों द्वारा मनोविश्लेषण (सायको-अनालिसिस्) कर इस प्रचलित सिद्धान्त को चुनौती देना कि प्राकृत (प्रिमिटिव) एवं आधुनिक समाज को, प्रकार (मोड) में कोई सातत्य-संपृक्ति नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सामाजिक जिजीविषा के लिये धर्म एक अत्यन्त उपयोगी साधन है। परन्तु शनैः शनैः उपयोगितावादी दृष्टि को अनुष्ठान का अर्थ समझने में अनुपयोगी पाया गया और किसी दूसरे सिद्धान्त का अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। फलस्वरूप प्रकायवाद (फंक्शनलिज़्म) सिद्धान्त का उदय हुआ।

यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रकार्यवाद सिद्धान्त का विकास समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रत्यक्षवादी (पाजिटिविस्टिक्) की परम्परा में हुआ। प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय समाज के मूल उत्स को पराभौतिक (मेटाफ़िजिकल्) नहीं स्वीकारता। इसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था कारण-सिद्धान्त के द्वारा चलती है। एतदनुसार प्रकार्यवादो (फंक्शनलिस्ट्) समाज के गोचर विषय (फिनामिना) में कारण की सम्बन्धता की खोज में दत्तचित्त हो गया। परन्तु इस दृष्टि को अनेक समाजवैज्ञानिकों ने नहीं स्वीकारा। प्रकार्यवाद (फंक्शनलिज़्म) के विरोधी समाजवैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिक गोचर-विषय (फिनामिना) अर्थों का संघात अथवा स्वजातिक (सुई जनरिस्) यथार्थ है और उसके स्तर का अवनयन कारण-कार्य सम्बन्धता की पद्धति द्वारा नहीं किया जा सकता[2]। कतिपय जर्मन इतिहासविदों तथा समाजवैज्ञानिकों के

---

[1] टालकाट पार्सन्स् और ई० शिल्ज, टूवर्डस् ए जनरल् थियरी आफ् ऐक्शन्, हार्पर् टार्च बुक्स्, दि एकेडेमी लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९६२, पृ० ५३।

[2] टालकॉट पार्सन्स, दि स्ट्रक्चर आफ् सोशल ऐक्शन्स, दि फ्री प्रेस, ग्लेनको, इलियानिस, १९४९, पृ० ४८१-४८२।

नेतृत्व में संचालित इस सिद्धान्त को आदर्शवाद अथवा प्रत्ययवाद (आइडियलिस्टिक्) अभिधान मिला है। यहाँ दो प्रमुख चिन्तकों इमाइल दुर्खीम् तथा मैक्स वेबर् के अनुष्ठान विषयक सिद्धान्तों पर विचार करने का प्रयास किया जायेगा।

समाजविज्ञानी इमाइल दुर्खीम् : अनुष्ठान-अवधारणा—

इमाइल दुर्खीम् कृत अनुष्ठान-विश्लेषण सामाजिक अवधारणा से जुड़ा हुआ है और इसका बोध उसके ज्ञान-सिद्धान्त के संदर्भ में ही किया जा सकता है। अतएव संक्षेप में दुर्खीम् के ज्ञान-सिद्धान्त का बोध आवश्यक है।

दुर्खीम् के पूर्व, यूरोप में ज्ञान की विधेयता के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुके थे। **डेकार्ट, स्पिनोजा और** लाइबनीज **सकल वंध ज्ञान** को किसी प्रागनुभव (अ-प्रायरी) सिद्धान्त से निर्गत मानते हैं। ततद्विपरीत लाक, बर्कले तथा ह्यूम का अभिमत है कि वैध ज्ञान का सही स्रोत अनुभव और केवल अनुभव है। इसके अनुसार प्रागनुभव सिद्धान्त आगमनात्मक (इन्डक्टिव) साधारणीकरण के द्वारा बनाये गये नियमों के द्वारा स्थापित हुआ है। इन दोनों सिद्धान्तों को दर्शन के इतिहास में क्रमशः तर्कबुद्धिवाद (रैशनलिज़्म) तथा अनुभववाद (इम्पिरिसिज़्म) के नाम से अभिहित किया जाता है[१]।

दुर्खीम्[२] ने उपरिनिर्दिष्ट एवं प्रचलित दोनों मतों को अस्वीकार कर दिया। तर्कबुद्धिवादी (रैशनलिस्टिक्) मत को निषिद्ध करने का हेतु उसके द्वारा अनुभवों का निषेध करना तथा अनुभववाद का निषेध उसके द्वारा प्रागनुभव (अ-प्रायरी) सिद्धान्त को अस्वीकार्य ठहराना था। दुर्खीम् के अनुसार ज्ञान के लिये 'अनुभव' एवं 'कोटियाँ' अपरिहार्य हैं। कोई भी ज्ञान अनुभव के अभाव में संभव नहीं है और 'कोटियों' के अभाव में वह बोध का विषय भी नहीं बन सकता। अतएव ज्ञान सिद्धान्त के लिये कारण एवं अनुभव दोनों ही आवश्यक है। इस प्रकार दुर्खीम् काण्ट के समान परस्पर विलक्षण दोनों सिद्धान्तों में सेतु बनाने का प्रयास करता है। उसके अनुसार प्रागनुभव (अ-प्रायरी) एवं 'कोटियाँ' सम्पूर्ण एवं परम नहीं हैं। वे किसी न किसी अनुभवात्मक यथार्थ से निःसृत हुई हैं और यह यथार्थ समाज है[३]।

दुर्खीम् ने अपने धार्मिक सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व टायलर, स्पेंसर और मैक्समूलर की पितृपूजा (स्प्रिट् वर्शिप्) एवं प्रकृतिपूजा की आलोचना की[४]। इनके विरुद्ध दुर्खीम् का मुख्य आक्षेप यह है कि इन विद्वानों ने धर्म के सतही पहलुओं को ही अपने अध्ययन द्वारा उद्घाटित किया है और उसके आन्तर एवं आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा कर दिया है। दुर्खीम् का मत है कि प्रत्येक धर्म, चाहे वह सरल हो अथवा

---

[१] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ४१।

[२] इमाइल दुर्खीम्, दि इलेमेण्टरी फार्मस् आफ् दि रिलीजस् लाइफ, कालियर् बुक्स्, न्यूयार्क १९६१, पृ० २४।

[३] तदेव, पृ० २९; [४] तदेव, २८ अध्याय।

जटिल हो, विश्वास एवं अनुष्ठान का संघात है। पवित्रता (सेक्रेड्नेस्) मनुष्यों के हृदय में अपने प्रति श्रद्धामिश्रित भय उपजाती है। सामान्य पदार्थों से पवित्र पदार्थ अगल होते हैं, जिनके चारों ओर सामाजिक विधि-निषेध का प्राकार बना हुआ है। लौकिक (प्रोफेन्) सदैव पवित्र (सेक्रेड्) से अपने सम्बन्ध की स्थापना में प्रवृत्त रहता है। धर्म में विश्वास रखनेवाले एवं अनुष्ठाताओं का एक मानव-संगठन होता है। धर्म की यही संगठनात्मक शक्ति उसे जादू से अलग करती है। जादूगरों की कोई बिरादरी नहीं होती और इनका न कोई संगठन और न ही कोई एकत्र होने का सुनिश्चित स्थान ही होता है। प्रेतात्माएँ, पिशाच और राक्षस किसी स्थिति में भी धर्म का आवश्यक अंग नहीं हो सकते। ईश्वर भी धर्म का आवश्यक तत्त्व नहीं है। निरीश्वरवादी बौद्धों का भी अपना धर्म होता है। इस दष्टि से दुर्खीम् धर्म के अति प्रारम्भिक स्वरूप को देवकवादी (टोटेमिस्टिक्) मानता है[1]।

यद्यपि विश्वास धर्म का एक प्रमुख अंग है; तथापि उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग अनुष्ठान है; क्योंकि विश्वासों की अभिव्यक्ति अनुष्ठानों के द्वारा ही होती है। ध्यातव्य है कि दुर्खीम् के सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिकतावाद का कोई स्थान नहीं है। दुर्खीम् का कथन है कि लौकिक कार्यों के समान अनुष्ठान जीवन के किसी ठोस भौतिक उपलब्धि की ओर मनुष्य को उन्मुख नहीं करते। वस्तुतः अनुष्ठान उपयोगितावाद अथवा वस्तुवाद की दृष्टि से सर्वथा अनावश्यक हैं। अनुष्ठानों के द्वारा ही समाज परा-आचरण (ट्रान्सेडेण्ट् मोरेल्) शक्ति के रूप में वैयक्तिक चेतना को अपने प्रमाद-क्षेत्र के अन्तर्गत कर लेता है। यदि लौकिक (प्रोफेन्) क्रियाकलाप आर्थिक दृष्टि से आवश्यक हैं, तो अनुष्ठान आचरण की दृष्टि से। इस प्रकार सामाजिक प्रतिबन्ध निरुपाधिक आदेश (केटागारिकल् इम्परेटिवस्[2]) हैं। वे उस श्रद्धा एवं सम्मान से निःसृत होते हैं, जो पवित्र पदार्थ में स्थित हैं और इस सम्मान की अक्षुण्णता बनाये रखना ही उनका उद्देश्य है।

इस प्रकार, दुर्खीम् के अनुसार, अनुष्ठान में दो विशेष हैं—पवित्रता और आचरण की आवश्यकता। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि अनुष्ठान को आचरण के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता और न ही आचरण को अनुष्ठान कहा जा सकता है। परन्तु दुर्खीम् के सिद्धान्त में यह अपरिहार्य हो उठा है। इसका कारण यह है कि जिस यथार्थ को अनुष्ठान प्रतीकायित करता है, वह दुर्खीम् की दृष्टि में पवित्र एवं आचरण की आवश्यकता है।

परन्तु दुर्खीम् के सिद्धान्त का सर्वाधिक गंभीर दोष यह है कि वह समाज में स्थित सभी पदार्थों को लौकिक (प्रोफेन्) एवं पवित्र (सेक्रेड्) वर्गों में विभक्त करता है। वस्तुतः वह इस विभाजन को पूर्व मान्य स्वीकारता है। इसके साथ ही दुर्खीम् लौकिक (प्रोफेन्) और पवित्र (सेक्रेड्) को समकक्ष मानने की त्रुटि भी करता है।

---

[1] री० क० रि०, पृ० ७१ आदि;

[2] दुर्खीम्, तदेव, पृ० ३३९।

दुर्खीम् का विचार है कि अनुष्ठान दो प्रकार के हैं और उन दोनों का अपना-अपना कार्यक्षेत्र है। अनुष्ठान का मुख्य उद्देश्य है मनुष्य को पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार करना। मनुष्य पवित्र के साथ संपर्क स्थापित कर देवताओं या ईश्वर के साथ संपर्क स्थापित करता है। इस प्रकार का संपर्क वस्तुतः समाज के साथ संपर्क है। इस प्रकार अनुष्ठान मनुष्य को पोषित करता है और मनुष्य पवित्रता के सिद्धान्त को। अनुष्ठान भूत और वर्तमान के बीच सम्बन्ध-स्थापना के साथ-साथ परम्परा को धारण करते हैं और समूहीकृत चेतनता के मौलिक तत्त्वों को पुनर्जीवन प्रदान करते हैं[१]।

दुर्खीम् का सिद्धान्त[२] समाज को आचरणिक यथार्थ मानता है; अतएव अनुष्ठान भी आचरण का एक आवश्यक कार्य हो जाता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि फिर प्रतीकात्मक कार्यों से इतर और अनुष्ठानों में कौन-सा सम्बन्ध होगा? दुर्खीम् इस सम्बन्ध को निरन्तर सोपानक्रमिक 'हॉयरारिकल्) चरित्र का रूप प्रदान करता है। सोपानक्रमिक चरित्र का दोष यह है कि एक उदात्त स्तर पर स्थित पदार्थ को निम्न स्तर नहीं दिया जा सकता। ऐमा प्रतीत होता है कि दुर्खीम् इस बिन्दु की उपेक्षा करता रहा। दुर्खीम् का मन्तव्य यह है कि तर्कात्मक कार्य वैयक्तिक साध्य की सिद्धि करते हैं और प्रतीकात्मकरूप में अनुष्ठेय कार्य सामुदायिक साध्य को सम्पन्न बनाते हैं।

दुर्खीम् के सिद्धान्त[३] का मुख्य बिन्दु पवित्र (सेक्रेड्) और लौकिक (प्रोफेन्) की पूर्वंकल्पित अवधारणा है। इस अवधारणा के दोनों घटकों में वह विच्छिन्नता का दर्शन करता है। परन्तु पवित्र (सेक्रेड्) की अवधारणा लौकिक (प्रोफेन्) के सातत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दुर्खीम् जब धार्मिक कार्यों के पीछे कोई तर्कपूर्ण उद्देश्य का अन्वेषण करने में असफल हो जाता है, तब उनका विश्लेषण वह प्रतीकात्मक कार्य के रूप में करने लगता है। इस दशा में वह प्रतीक सिद्धान्तों का आश्रय त्याग कर प्रतीकात्मक कार्यों की व्याख्या कार्यों के संदर्भ में करने लगता है। इस प्रकार दुर्खीम् समाज के संदर्भ में लौकिक कार्यों की व्याख्या करता है। दुर्खीम् के सिद्धान्त का सारांश यह है कि सभी लौकिक कार्यों के पीछे तर्कात्मक उद्देश्य रहता है और प्रतीकात्मक कार्यों की भी यही स्थिति है। ध्यातव्य है कि दोनों की तार्किकता में पूर्ण वैषम्य है। प्रतीकात्मक कार्य की तर्कात्मकता पूर्णतया सामाजिक होती है[४]।

---

[१] दुर्खीम्, तदेव, पृ० ३९०।

[२] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ५०।

[३] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ५०।

[४] दुर्खीम् के सिद्धान्त का खण्डन नृतत्त्वविज्ञानी अलेक्जेण्डर ए० गोल्डेनवीजर ने भी किया है: द्र०, दि जर्नल आफ फिलासफी, सॉयकालोजी ऐण्ड साइण्टिफिक मेथड्स्, २४, १९१७, पृ० ११३-१२४: रिलीजन् एण्ड् सोसाइटी: ए क्रिटिक आफ् इमाइल दुर्खीमस् थियरी आफ् दि ओरिजिन् एण्ड नेचर आफ् रिलीजन्, द्र०, री० क० रि०, पृ० ७६-८४।

समाजविज्ञानी मैक्स वेबर् : अनुष्ठान-अवधारणा

काण्ट के उत्तरवर्ती जर्मन प्रत्ययवादियों (आइडियलिस्ट्स्) ने मैक्स वेबर् के लिये मनुष्य और उसकी सम्बन्धता के अध्ययन के लिये एक उर्बरा भूमि का निर्माण कर दिया था। उसके दाय में विचारों की एक समृद्ध परम्परा उपलब्ध थी। वेबर् के समक्ष एक ऐसी अन्वेषण-पद्धति उपस्थित थी; जिससे सुचारुरूप से मनुष्य का अध्ययन किया जा सकता था। इस पद्धति का मुख्य बिन्दु बोध की अवधारणा थी। वेबर् ने इस पद्धति के द्वारा समाज विज्ञान को एक व्यवस्थित विज्ञान का रूप देने का प्रयास किया। इस विज्ञान के द्वारा वह सामाजिक कार्य का व्याख्यात्मक बोध प्राप्त कर इसकी गति और प्रभाव की कारणात्मक व्याख्या की खोज करना चाहता है[1]।

विल्हेल्म डिल्थे के समान वेबर् को भी यह मान्य है कि प्रत्येक मानवीय कार्य अर्थ-भरित होता है; परन्तु जहाँ तक डिल्थे की इस मान्यता का प्रश्न है कि अर्थ का मूल, तत्त्वविज्ञान (मेटाफिजिक्स्) की चेतनता में है, वेबर् को अस्वीकार्य है[2]। उनके अनुसार अर्थ, कर्ता के अभिप्राय अथवा उद्देश्य में निहित रहता है। अर्थ की व्याख्या करता हुआ वेबर् इस संभावना को अस्वीकार नहीं करता कि कोई कार्य अर्थवान् होते हुए भी उद्देश्य रहित हो सकता है। वेबर्[3] के मत में कर्ता की अर्थवत्ता से जुड़नेवाला कार्य समाजिक कार्य है। यह कार्य कर्ता व्यक्ति (अथवा व्यक्तियों) द्वारा समाज के अन्य घटकों के व्यवहार के प्रति उत्तरदायी रहता है और उसी से अपनी गति को अभिविन्यस्त करता है।

वेबर् के अनुसार कार्य चतुर्विध होता है[4]—(१) वह कार्य जिसका तर्कात्मक अभिविन्यास (ओरियण्टेशन) विवेकशील मानवीय साध्यों की प्राप्ति के लिये होता है, (२) वह कार्य जिसका तर्कपूर्ण अभिविन्यास परम मूल्य की उपलब्धि के लिये होता है, (३) वह कार्य जिसका प्रभावात्मक अभिन्यास होता है और (४) वह कार्य जो दीर्घकालीन प्रयोगों के द्वारा स्वभावनिहित होकर परम्परा से अभिविन्यस्त होता है। ध्यातव्य है कि पारम्परिक कार्य और परम मूल्योन्मुखी कार्य में अत्यधिक घनिष्ठता है और वे प्रायः परस्पर एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण भी करते रहते हैं। अनुष्ठानों के सन्दर्भ में इन दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेबर् ने विश्व के सभी धर्मों के सर्वेक्षण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद के विकास और उसकी स्थिरता में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है; परन्तु वह कार्ल मार्क्स और वर्नर सौम्बार्ट के विचारों के प्रभाव से मुक्त बना रहा। वेबर् ने अनुष्ठानों का अध्ययन कभी नहीं किया। अनुष्ठान के सम्बन्ध में उसकी अवधारणा को जानने के लिये उसके द्वारा प्रतिपादित धार्मिक क्रिया-कलापों के सिद्धान्त का ज्ञान

---

[1] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ५१।

[2] मैक्स वेबर्' दि थियरी आफ् सोशल् एण्ड् इकानामिक आर्गनाइजेशन्, ए० आर० हेण्डरसन् तथा टालकॉट् पार्सन्स् द्वारा अनूदित, १९४७, दि फ्री प्रेस, ग्लेनको, इलियानिस, पृ० ८८।

[3] तदेव, पृ० ८८; [4] तदेव, पृ० ११५।

आवश्यक है। दुर्खीम् के समान वेबर् भी मानता है कि प्राकृत (प्रिमिटिव) समाज में स्थित सभी पदार्थ दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग[1] में ऐसे पदार्थ आते हैं, जो चमत्कार की सृष्टि करते हैं और दूसरे वर्ग में ऐसी वस्तुएँ हैं, जो चमत्कार के विशेष से युक्त नहीं हैं। चामत्कारिक पदार्थ मनुष्य को 'माना' (गुह्य-शक्ति), ईश्वर, पितृ-आत्माओं आदि में विश्वास जगाती हैं। इन अति प्राकृतिक शक्तियों के साथ, जब मनुष्य, सम्बन्ध बनाने के लिए कोई कार्य करता है, तब वेबर् की दृष्टि में वह कार्य धार्मिक होता है। अनुष्ठान प्राकृत समाज के संगठन और उसकी कार्य-पद्धति को नियमित करते हैं। अधिक विकसित समाज में धार्मिक कार्यों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया जाता है। वेबर् की विचारधारा पर अस्पष्टरूप में ऐतिहासिक विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

वेबर् का विवेचन पूर्णतया तार्किक है[2]। तार्किकता के आधार पर जब एक विचार अस्तित्व में आ जाता है, तब वह तब तक चलता रहता है, जब तक उसके स्थान पर कोई दूसरा विचार नहीं आ जाता। जब धर्म की वर्तमान प्रथा पतनोन्मुख हो जाती है और परम्परा का आधार ढ़हने लगता है, तब तर्कात्मकता एक दूसरी प्रथा की माँग करती है, जो वर्तमान का स्थानापन्न हो सके। इसी क्षण में कोई त्राता और भविष्यद्रष्टा मंच पर उपस्थित होता है, जो मनुष्य को एक नया मार्ग सुझाता है। वेबर् ऐसे व्यक्तित्व को मसीहा (प्राफेट्[3]) कहता है।

परम्परा में सदैव पैगम्बर की शिक्षाओं तथा आदेशों को कार्यान्वित किया जाता है। कोई भी पैगम्बर चमत्कारों का विधाता होता है और वह समाज में भय तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार धर्म एक विश्वास है, जिसमें चमत्कारों की बहुलता रहती है। फलस्वरूप अनुष्ठान एक ऐसा कार्य है, जो चमत्कारोन्मुखी होता है। इस प्रकार पारम्परिक तथा आनुष्ठानिक कार्यों में कोई भेदक नहीं रहेगा और दोनों समकक्ष भी हो जाते हैं। वेबर् के अनुसार परम्परा पर अनुष्ठान का इतना गहरा प्रभाव है कि आचरण को परम्परा से अलग करना कठिन हो जाता है। यद्यपि वेबर् पारम्परिक कार्य और धार्मिक कार्य के बीच अन्तर रखना चाहता है; परन्तु अपने विश्लेषण में, वह इसकी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है[4] कि वेबर् पारम्परिक व्यवहार को अनुष्ठान के अन्तर्गत निहित करने की प्रक्रिया को तार्किक परिणति नहीं प्रदान कर सका। ऐसा प्रतीत होता है कि वह परम्परावाद, प्रतीक वाद और अनुष्ठान की त्रयी में विश्वास रखता है। उसका मन्तव्य है कि पारम्परिक कार्य आनुष्ठानिक होते हैं, और अनुष्ठान आवश्यकरूप से प्रतीकात्मक पद्धति से विधेय होते हैं। परम्परा को पवित्रता प्रदान

---

[1] दि थियरी आफ् सोशल ऐण्ड् इकॉनामिक् आर्गनाइजेशन्, हेण्डर्सन तथा पार्सन्स् द्वारा अनूदित, पृ० ६६२।

[2] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ५९ आदि।

[3] वेबर्, तदेव, पृ० ५६८;

[4] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ६३-६४।

करने की शक्ति, उसके आनुष्ठानिक चरित्र में है। इस प्रकार सामाजिक कार्य में अनुष्ठान की समस्या से सम्बन्धित जो दृष्टि दुर्खीम् की थी, वही दृष्टि वेबर् की भी है। वेबर् प्रतीकात्मक कार्य की अर्थवत्ता खोजने में असफल रहा और अर्थ तथा तार्किकता के द्वन्द्व को भी हल नहीं कर सका।

नृतत्त्वविज्ञानी ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की : अनुष्ठान अवधारणा

समाज-वैज्ञानिकों की चिन्तन परम्परा में प्रकार्यवाद (फंक्शन्लिज्म) के आगमन का विवरण पहले दिया गया है। प्रकार्यवाद के अनुगामी सामाजिक नृतत्त्व-वैज्ञानिकों में ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की अग्रगण्य हैं। अब उसके आनुष्ठानिक सिद्धान्तों के विषय में विचार किया जायेगा।

मैलिनाउस्की संस्कृति के सम्बन्ध में विचार करता हुआ आनुष्ठानिक सिद्धान्त के विषय में भी अपना विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार संस्कृति एक ऐसी अनुकूली क्रियाविधि है, जो मानव-समुदाय को उसके पर्यावरण में व्यवस्थित सामाजिक जीवन जीने के लिये योग्य बनाती है। यह अनुकूली क्रियाविधि सर्वदा साध्य की ओर उन्मुख रहती है। मानवीय साध्य की सिद्धि उसकी मुख्य तथा गौण आवश्यकताओं की पूर्ति में निहित है। अतएव संस्कृतिनिष्ठ सकल कार्य-कलाप उस साध्य की उपलब्धि में साधन बनते हैं[1]।

प्रत्येक संस्कृति दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभक्त रहती है। प्रथम क्षेत्र जादू एवं धर्म का तथा दूसरा क्षेत्र विज्ञान का होता है। दूसरे शब्दों में इन क्षेत्रों को पवित्र (सेक्रेड्) एवम् लौकिक (प्रोफेन्) कहा जाता है। सभी अनुष्ठान पवित्र (सेक्रेड्) क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अनुष्ठान तर्क की अपेक्षा विश्वास पर अधिक निर्भर है[2]। मैलिनाउस्की जादुई कार्य और आनुष्ठानिक कार्य में अन्तर प्रदर्शित करता हुआ बताता है कि अनुष्ठान एक विशेष कार्य है और यह साधन-साध्य योजना से परे है। इसके विपरीत जादुई कार्य पवित्र (सेक्रेड्) के क्षेत्र में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकते। जहाँ पर प्राकृतिक विज्ञान और तकनीक असफल हो जाती है, जादुई कार्य वहीं सन्निविष्ट होते हैं। जादुई कार्य सोद्देश्य होते हैं। मैलिनाउस्की के इस कथन में अन्तर्विरोध अत्यन्त स्पष्ट है। वह जब जादू की उद्देश्यपरकता सिद्ध केर देता है, तब यह प्रतीत होता है कि जादू उद्देश्यपूर्ण दैनिक कार्य-कलापों की ही एक शाखा है। परन्तु वह इस बात का निरन्तर ध्यान रखता है कि कहीं जादू को दैनिक क्रिया-कलापों के अन्तर्गत न मान लिया जाये। मैलिनाउस्की धर्म और जादू के वैलक्षण्य में पूरी निष्ठा रखता है। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह इस बिन्दु को अवहित करने में चूक गया। उसका यह भी मत है कि अनुष्ठान अनुद्देश्य-परक होने पर भी उद्देश्यपरकता में परिवर्तित

---

१. ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की, ए साइण्टिफिक् थियरी आफ कल्चर् एण्ड् अदर एसेस, ए गैलेक्सी बुक, न्यूयार्क आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६०, ४ अध्याय, पृ० ३८।

२. तदेव, मैजिक् साइन्स ऐण्ड् रिलीजन् ऐण्ड् अदर एसेस्, दि फ्री प्रेस आफ ग्लैनको, इलिया-निस, १९४८।

हो सकता है। यह कथन उसकी विचार-सरणि में भ्रान्ति का कारक बनता है।

मैलिनाउस्की[1] संस्कृति एवं समाज में अनुष्ठान की भूमिका निश्चित करने में प्रतीकवाद की भूमिका का भी विवेचन करता है। उसका कथन है कि जिस संदर्भ में प्रतीक का प्रयोग किया जाता है, उसी में उसका अर्थ भी सन्निहित रहता है। परम्परा के निर्देशों का अनुगमन करते समय प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह दैवी अथवा अति प्राकृतिक (सुपर नेचुरल्) शक्तियों के आदेश का अनुपालन कर रहा है। धार्मिक अनुष्ठानों का कार्य प्राकृत (प्रिमिटिव) समाज में परम-शक्ति और परम्परा के मूल्य को व्यक्त करना और सुदृढ़ बनाना है।

मैलिनाउस्की[2] अन्ततः धर्म के कार्य का निरूपण करता हुआ कहता है कि धार्मिक विश्वास परम्परा के प्रति श्रद्धा, पर्यावरण के साथ समरसता और कठिनाइयों के साथ संघर्ष में तथा मृत्यु के दृश्य होने पर साहस एवं विश्वास जैसी समस्त मूल्यनिष्ठ मानस वृत्तियों को स्थापित, सुनिश्चित और उदात्त करता है। सम्प्रदाय और प्रथा से समाविष्ट एवं संधारित यह विश्वास अपरिमित जैविक मूल्य रखता है और इस प्रकार वह शब्द के विस्तृत उपयोगी आशय में निहित सत्य को, प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य के समक्ष, उजागर करता है।

जादुई अनुष्ठान भी सांस्कृतिक कार्य को संपन्न करता है। वह प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य में संदेह एवं अनिश्चयात्मकता को अतिक्रान्त करनेवाले विश्वास को प्रबल बनाता है, आशावाद की सृष्टि करता है और उसे अपने आवश्यक कार्यों को विश्वास के साथ करने के क्रोध के आवेग में और घृणा, अप्रतिदत्त प्रेम, निराशा तथा उत्सुकता की व्यथा में अपने संतुलन एवं मानस एकाग्रता को संधारित करने के योग्य बनाता है।

ध्यातव्य है[3] कि मैलिनाउस्की भी अन्ततः उसी निष्कर्ष का प्रणेता बनता है, जिसके प्रणेता दुर्खीम् और वेबर् हैं। मैलिनाउस्की भी अनुष्ठान को प्रतीकात्मक कार्य बताता है; परन्तु वह इसमें साधन-साध्य का अन्तर बताने में असमर्थ है। दुर्खीम् के समान मैलिनाउस्की भी इस पर बल देता है और सिद्ध करता है कि संस्कृति में धार्मिक कार्य का प्रकार्य है। इस कथ्य में दोनों सहमत हैं कि अनुष्ठान उपयोगी मूल्य से युक्त होते हैं। परन्तु मैलिनाउस्की दुर्खीम् के इस मत का विरोधी है कि समाज अन्तिम यथार्थ है और धर्म की पवित्रता का उत्स समाज में है। मैलिनाउस्की के अनुसार धर्म को पवित्रता का उद्भव प्राकृत (प्रिमिटिव) जन की परिस्थिति एवं मानसिकता से होता है।

मैलिनाउस्की[4] दुर्खीम् के सदृश समाज को धर्म का उत्स नहीं मानता।

---

[1] तदेव, पा० टि० १, पृ० १५०।

[2] ए सायन्टिफिक् थियरी आफ् कल्चर ऐण्ड् अदर एसेस्, पृ० ६९।

[3] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ७२-७३;

[4] तदेव, पृ० ७३।

उसके धर्म का उद्भव व्यक्ति-स्रोत से होता है। यह युक्तियुक्त है कि धर्म स्वभाव से सामाजिक है। अतएव दुर्खीम् की यह धारणा कि समाज अन्तिम यथार्थ है और धर्म समाज का प्रतीक है, पूर्णतया भ्रान्ति पर आधृत है। मैलिनाउस्की के अनुसार धर्म का सिद्धान्त प्रमुखतया जैव मनोवैज्ञानिक (बायो सायकिक्) है, न कि सामाजिक।

नृतत्त्वविज्ञानी अल्फ्रेड रेगीनाल्ड रैडक्लिफ ब्राउन् : अनुष्ठान-अवधारण—

नृतत्त्वविज्ञान के जिस क्षेत्र के अध्येता मैलिनाउस्की हैं, उसी क्षेत्र में अल्फ्रेड रेगीनाल्ड रैडक्लिफ ब्राउन् ने भी चिन्तन किया है। संस्कृति[1] के सम्बन्ध में उसकी पद्धति एवं पहुँच भी मैलिनाउस्की के सदृश है। परन्तु उसका अनुष्ठान-सिद्धान्त मैलिनाउस्की की मुख्य दुर्बलताओं की बहुत-सी सीमाओं से मुक्त है। रैडक्लिफ ब्राउन् अनुष्ठान के अध्ययन में अर्थवैज्ञानिक (सिमान्टिक्) दृष्टि को अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मानता है। इसका आशय यह है कि वह सामाजिक संरचना के मौलिक घटक प्रतीकात्मक कार्य के अर्थ की व्याख्या तथा बोध में अनुष्ठान की समस्या को निहित समझता है। अतएव रैडक्लिफ ब्राउन की अनुष्ठान-अवधारणा के बोध के लिये उसके सामाजिक संरचना (सोशल स्ट्रक्चर) के सिद्धान्त का बोध आवश्यक है।

रैडक्लिफ़ ब्राउन् के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों के नियमित अनुक्रम का नाम 'सामाजिक संरचना' है। यदि दो या अधिक व्यक्तियों की व्यक्तिगत अभिरुचि में सामरस्य रहता है, तो उससे निर्मित सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है। जब कोई यह कहता है कि चैत्र और मैत्र में सामाजिक सम्बन्ध है, तो इसका अर्थ यह होता है कि चैत्र की अभिरुचि, मैत्र में है और मैत्र की अभिरुचि, चैत्र में। 'चैत्र, मैत्र से सम्बन्धित है' इस कथन का अर्थ यह होता है कि मैत्र का चैत्र के पास कोई मूल्य है और चैत्र का मैत्र के पास मूल्य है। प्रत्येक सामाजिक सम्बन्ध में एक व्यक्ति के लिये दूसरा व्यक्ति कुछ-न-कुछ मूल्यवान् है। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक सम्बन्धों के मूल में व्यक्तियों के बीच कतिपय अभिरुचियों की समंजसता अथवा कतिपय मान्य मूल्यों के सम्बन्ध में मतैक्य रहता है। यदि इसे दूसरी तरह व्यक्त किया जाये तो सामाजिक सम्बन्ध सम्बन्धत्रय पर निर्भर करता है—तृतीय अस्तित्व देवदत्त के संदर्भ में चैत्र और मैत्र का सम्बन्ध। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के नियमित अनुक्रम से युक्त 'सामाजिक संरचना'[2] मूल्यों की एक पद्धति है।

यह मूल्य सकारात्मक एवं नकारात्मक होता है। 'चैत्र' और 'मैत्र', अभिरुचि-साम्य के कारण ही, परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं; अपितु वे दोनों 'गालव' के विरुद्ध होने के कारण भी सम्बन्धित हैं। समाज में अनेक मूल्य मान्यता प्राप्त करते हैं। सभी मूल्य 'सामाजिक संरचना' के घटक होते हैं। इन मूल्यों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज में

---

[1] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ७४।

[2] अ० रे० रैडक्लिफ ब्राउन्, स्ट्रक्चर् ऐण्ड् फंक्शन इन् प्रिमिटिव सोसाइटी, कोहेन् एण्ड वेस्ट लिमिटेड, लण्डन, १९५२, पृ० १९३।

एक अन्य मूल्य भी संस्थित है। रैडक्लिफ ब्राउन्[1] इस अन्य मूल्य को 'आनुष्ठानिक' मूल्य' (रिचुअल् वैल्यू) के रूप में अभिहित करता है। उसका कथन है कि जिनके सम्बन्ध में आनुष्ठानिक वर्जना है, अथवा जो पदार्थ 'टैबू'[2] (वर्जना) है, वे सभी आनुष्ठानिक मूल्य से युक्त होते हैं। आनुष्ठानिक वर्जना 'टैबू' के क्षेत्र में कोई वस्तु हो सकती है। व्यक्ति, भौतिक पदार्थ, स्थान, शब्द अथवा नाम, उत्सव या घटना, सप्ताह का कोई दिन अथवा वर्ष का कोई काल-विशेष, सभी 'टैबू' हो सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रैडक्लिफ ब्राउन् ने जादू और धर्म, पवित्र (सेक्रेड्) और लौकिक (प्रोफेन्) की द्विता से बचने के लिये एक नये मुहावरे का सृजन कर लिया। इस प्रकार 'आनुष्ठानिक मूल्य' जादू और धर्म तथा पवित्र और लौकिक की द्विता को अपना संस्पर्श प्रदान करता है।

उपरितन निर्दिष्ट व्याख्या यह प्रमाणित करती है कि आनुष्ठानिक मूल्य कतिपय सुनिश्चित विषयों के प्रति एक निश्चयात्मक वृत्ति है, जो तदभिमुखी आचरण में प्रतिभासित होती है। यह आचरण सकारात्मक और नकारात्मक उभयविध हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह आचरण वर्जनानिष्ठ अथवा आसक्तिनिष्ठ है। ध्यातव्य है कि यह द्विविध आचरण किसी भी तरह तर्कनिष्ठ नहीं हो सकता। आनुष्ठानिक मूल्य में किसी प्रकार का व्यतिक्रम 'अनुष्ठान-प्रतिष्ठा[3]' (रिचुअल् स्टैटस्) के परिवर्तन में परिणत होगा। यह परिवर्तन विभिन्न समुदायों में विभिन्न रीति से अवधारित होगा; परन्तु सर्वत्र यह विश्वास किया जायेगा कि व्यक्ति के ऊपर कोई न कोई वज्रपात होने वाला है[4]।

आनुष्ठानिक[5] कार्य तकनीकी कार्य से सर्वथा भिन्न होते हैं। तकनीकी कार्यों के विवरण में उनकी व्याख्या और उद्देश्य स्पष्टतया विद्यमान रहता है। परन्तु आनुष्ठानिक कार्य प्रतीकात्मक होने के कारण उनसे सर्वथा भिन्न होते हैं। अतएव इनकी व्याख्या में प्रतीक-सिद्धान्त का प्रयोग आवश्यक है। दूसरे शब्दों में उनकी अर्थवत्ता का निरूपण ही उनके अर्थ का प्रकाशन कर सकता है। रैडक्लिफ ब्राउन् स्पष्टतया कहता है कि आनुष्ठानिक कार्यों के अर्थों का निर्धारण उनके सामाजिक शरीरक्रियाविज्ञान (सोशल् फिजिओलाजी) के अध्ययन से ही सम्भव है। इसका यह अर्थ होता है कि अनुष्ठान के कार्यों का यह अध्ययन उनके संरचनात्मक सन्दर्भ में ही करणीय है।

इस प्रकार रैडक्लिफ ब्राउन् की दृष्टि से अनुष्ठानों की व्याख्या अर्थ-विज्ञान के अनुसार ही सम्भव है। इतिहास (मिथ्) और अनुष्ठान केवल जीवन के प्रतीक नहीं हैं,

---

[1] तदेव, पृ० १३९; तदेव, टैबू, री० क० रि०, पृ० १०३।

[2] वर्जना का सिद्धान्त द्र० सिगमुण्ड् फ्रायड्, टोटेम ऐण्ड टैबू, दि बेसिक राइटिंगस् आफ् सिगुमण्ड् फ्रायड्, सं०, ब्रिल, माडर्न लाइब्रेरी, १९३८ अथवा, टैबू, री० क० रि०, पृ० २१३-२१६। [3] द्र०, नगेन्द्र, तदेव, पा० टि० ३, पृ० ७६।

[4] तदेव; [5] रैडक्लिफ ब्राउन्, तदेव, पृ० १४३।

जैसा कि रैडक्लिफ ब्राउन् संकेतिक करता है। अन्य सामाजविज्ञानियों के समान ही रैडक्लिफ ब्राउन् का भी सिद्धान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षवादी (पाज़िटिविस्टिक्) अभिविन्यास (ओरियण्टेशन्) के द्वारा अर्थ एवं कार्य की व्याख्या में तर्क का आश्रय लेता है[1]। परन्तु यह मानना उचित होगा कि वह मैलिनाउस्की के सिद्धान्त में प्रभावपूर्ण संशोधन करता है।

मनोविज्ञानी सिगमुण्ड् फ्रायड् : अनुष्ठान-अवधारणा—

मनोवैज्ञानिकों में अग्रपुरुष सिगमुण्ड् फ्रायड् ने एक निबन्ध[2] में धार्मिक अनुष्ठानों का विवेचन किया है। उसके अनुसार सभी धार्मिक अनुष्ठान मनोग्रस्ति-मनस्ताप (आबसेसनल् न्यूरोसिस्) की एक उपजाति (स्पीशिज़) हैं। फ्रायड् का मत है कि यह मनोग्रस्ति मनस्ताप मनुष्य के अन्तर में संस्थित रहता है। जिन शक्तियों के कारण यह है, उनसे मनुष्य सर्वथा अपरिचित रहता है। जिन इच्छाओं और आकांक्षाओं से सभी मानवीय कार्य अभिप्रेरित होते हैं, वे उसकी चेतनता से उद्भूत नहीं होतीं। वस्तुतः उनका उद्भव स्थान 'अचेतन' (अनकांसस्) है। फ्रायडीय मनोविज्ञान में मनोवेग अथवा मानसिक आवेग का तकनीकी अभिधान सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट) है। यह सहज प्रवृत्ति अथवा मूल प्रवृत्ति द्विधा होती है—अहम्-प्रवृत्ति (इगो इन्स्टिक्ट्) और काम-प्रवृत्ति (सेक्सुअल् इन्स्टिक्ट्)[3]। उसने इन दोनों को संमिश्र अभिधान जीवनप्रवृत्ति (इरोस्) दिया है। फ्रायड् इस प्रवृत्ति के साथ मृत्यु-प्रवृत्ति (थैन्टोस्) की भी स्थिति निश्चित करता है। अचेतन में भी दो प्रक्रियाएँ होती हैं—अचेतन (अन्कांसस्) और अग्रचेतन (प्रीकांसस्)। इन दोनों के मध्य एक तीसरी प्रक्रिया भी है, जो किसी भी अस्तित्व के परिवर्तन को प्रभावित करती है। इसे अग्रचेतन (प्रीकांसस्) में स्थित प्रवृत्ति कहा जा सकता है।

'अहन्ता' (इगोइज्म) के विकास में परा-अहन्ता (सुपर् इगो) अस्तित्व में आती है। अहम् (इगो) परा-अहम् (सुपर् इगो) में उत्कृष्ट शक्ति से सम्पन्न एक सहयोगी एवं निर्देशक की उपलब्धि करता है और यह अहम् (इगो) वहीं से मूलप्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट्)—परक 'इदम्' (इड) की अन्ध प्रवृत्तियों को दबाने के लिये आदेश प्राप्त करना प्रारम्भ कर देता है। परा-अहम् (सुपर् इगो) के सहयोग से अहम् (इगो) मूल-प्रवृत्ति-परक 'इदम्' (इड) को विनष्ट होने से बचाने में क्षम होता है। अचेतन (अन्कांसस्) 'इदम्' (इड) चेतन अहम् या नैतिक परा-अहम् से सम्बन्धित रूपों से

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ७९-८०।

[2] सिगमुण्ड् फ्रायड्, आबसेसिव ऐक्टस ऐण्ड् रिलीजस् प्रैक्टिसेस्, कलेक्टेड पेपर्स, जोन खिरी (५ भाग, लण्डन : होगार्थ प्रेस एण्ड दि इन्स्टीट्यूट आफ् सायको-अनालिसिस्, १९४८-५०), २ भाग, पृ० २५-३५।

[3] तदेव, इन्सिटंक्ट ऐण्ड् दियर् विसीट्यूडस्, पृ० ६७।

सर्वथा परे है[1] ।

पवित्र (पायस्) और मनस्तापग्रस्त (न्यूरोटिक्) के व्यवहार से यह प्रतीति होती है कि वे दोनों अपराध-भावना से पीड़ित हैं। अतएव वे दण्ड से मुक्ति पाने के लिये सांस्कारिक अथवा आनुष्ठानिक कार्यों का सम्पादन आत्म-रक्षार्थ करते हैं। ये उभयविध प्रयोग मूलप्रवृत्ति (इनस्टिंक्ट)[2] के संतोष के परित्याग की व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन दोनों में एक अन्तर भी है। मनस्तापी (न्यूरोटिकल्) मूल-प्रवृत्ति कामप्रवृत्तिमूलक होती है। इसके विपरीत धर्म का वशंवद अहम्‌वादी (इगोइस्ट्) है।

फ्रायड् टोटेम् (देवक) और 'टैबू' (वर्जना का सिद्धान्त) का अध्ययन करते समय पुनः 'टैबू' एवं बाध्यकारी मनस्ताप (न्यूरोसिस्) में समानता का दर्शन करता है[3]। उसका कथन है आदिकाल में टैबू प्राकृत (प्रिमिटिव) जनों के ऊपर बलात् आरोपित किये गये। इन वर्जनाओं[4] का दबाव पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना रहा। उत्तराधिकार में प्राप्त सभी टैबू मानसिक संपदा के घटक बन गये। इनमें दो टैबू अति प्राचीन प्रतीत होते हैं— देवक-पशु (टोटेम् एनीमल्) के वध की वर्जना और अपने देवक (टोटेम्) की स्त्री के साथ संभोग का निषेध (यहाँ स्वगोत्र की स्त्री से संभोग की वर्जना से अर्थ है)।

फ्रायड[5] अपने मनोवैज्ञानिक आधारों के द्वारा भूत एवं वर्तमान धर्म की मीमांसा से ही संतुष्ट नहीं होता; अपितु उसके भविष्य के दर्शन की भी चेष्टा करता है। उसके अनुसंधान के अनुसार मनुष्य असहाय अथवा विवश होकर धर्म का आश्रित होता है. जिससे वह अपनी जिजीविषा में आनेवाले संघर्षों से जूझ सके। मनुष्य को अपने एक प्रमुख शत्रु 'इदम्' (इड) से ही युद्ध नही करना पड़ता; अपितु प्रकृति की दयाविहीन तथा क्रूर अमानवीय शक्तियों का भी सामना करना पड़ता है। सभी अति प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य की समस्त विदग्धता का उपहास करती रहती हैं। सर्वाधिक दुर्दम मृत्यु के भय से मानव प्रतिक्षण आतंकित रहता है। मरण की पहेली को सुलझाने में मनुष्य अपने-आपको अक्षम पाता है। इस प्रकार[6] सर्वथा असहाय स्थिति में संस्थित मनुष्य आत्म-रक्षार्थ संस्कृति की शरण में पहुँचता है। संस्कृति मनुष्य को प्रकृति का वंशवद बनाने एवं अधिकृत करने के उपायों का अनुदान देती है। प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिये और उन्हें वरद बनाने के लिए विविध उत्कोच-दान एवं प्रयोगों के द्वारा मनुष्य प्रयास करता है और उन पर विजय प्राप्त

---

१. तदेव; कलेक्टेड् पेपर्स, भाग ४, 'दि अन्कांसस्' पृ० १०६।

२. फ्रायड, ऑबसेसिव ऐक्ट्स् ऐण्ड् रिलीजस् प्रैक्टिसेस्, तदेव।

३. नगेन्द्र, तदेव, पृ० ८८।

४. फ्रायड् टोटेम् एण्ड टैबू, बेसिक राइटिंगस् आफ् सिगमुण्ड् फ्रायड्, सं० ब्रिल. मार्डन लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९३८, पृ० ८२९-८३१।

५. फ्रायड्, दि फ्यूचर आफ् ऐन् इल्यूज़न्, होगार्थ प्रेस, लण्डन, १९२८, पृ० ३२।

६. नगेन्द्र, तदेव, पृ० ९१।

करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार आत्माएँ (स्प्रिटिस्), शैतान (डैमन्) और देवता अस्तित्व में आते हैं। प्रौढ़ होने पर मनुष्य जिस स्थिति का सामना करता है, वह बाल्यकाल से ही उसकी संगिनी है। बाल्यस्थिति में मनुष्य को अपने पिता से यद्यपि भय बना रहता है, तथापि वह उसके संरक्षण में रहकर अनेक कष्टों से मुक्ति भी प्राप्त करता है। असहायता की यह वृत्ति मनुष्य को प्रौढ़ावस्था में भी बनी रहती है। इस स्थिति का सामना वह एक अन्य वैकल्पिक पिता के अन्वेषण से करना चाहता है। इस प्रकार वह ईश्वर को उपलब्ध करता है। यह सिद्धान्त देवकवादी (टोटेनिस्टिक्) एवं ईश्वरवादी(थीस्टिक्) धर्मों में समानरूप से दृष्टिगत होता है। फ्रायड् के अनुसार इसकी उद्‌भूति के मूल में पिता के लिये अचेतन मानवीय अभिलाषा है[1]।

यदि यह सत्य है[2], तब तो धर्म न अच्छा है, न बुरा है; अपितु वह एक कपोल-कल्पना है। इस प्रकार के धर्म के पीछे कोई तर्काश्रित प्रज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि इसका उद्देश्य मानवीय इच्छाओं के सन्दर्भ में निखिल विश्व को परिणत करना है। भय के आतंक से ग्रस्त मनुष्य आत्मरक्षार्थ पिता का आश्रित होकर अनुवर्ती काल में यावज्जीवन असहाय एवं विवश बना रहता है। अतएव वह अपने पिता को ईश्वर की प्रतिभा (इमेज) में आविष्कृत करता है। तब तो यह कहना चाहिए कि अन्य अनेक धार्मिक विश्वासों के समान ईश्वर से सम्बन्धित विचार भी एक भ्रान्ति है। इस प्रकार फ्रायड् धर्म को एक महान् भ्रान्ति करार देता हुआ अपनी पुरानी स्थापना का विस्मरण कर बैठता है कि धार्मिक अनुष्ठान मनोग्रस्ति-मनस्ताप (आबसेसिव न्यूरोसिस्) की एक उपजाति है। वस्तुत फ्रायड् पुनः यह सिद्ध करना चाहता है कि बालक विना मनस्ताप के हो ही नहीं सकता है और विकसित होने पर भी मनुष्य-जाति अनेकविध मनस्ताप के मार्ग से चलकर जीवन जीता है। बालक में मनस्ताप की सृष्टि मूलवृत्ति-परक (इंस्टिक्टयुअल) आवेगों को अवरुद्ध करने से होती है। उसके विकास के साथ-साथ उसका मनस्ताप (न्यूरोसिस्) शनैः शनैः अपने-आप शमित हो जाता है। यदि कुछ अवशिष्ट भी रहा हो तो उसका समापन चिकित्सा से हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति भी अपनी मूलवृत्ति (इन्स्टिक्ट्) को तर्कहीन रीति से दमित कर प्रकृति के साथ सामरस्य स्थापित करने की चेष्टा करती है। इसका कारण है, मानव-जाति की अज्ञानता और बौद्धिक हीन-भावना। फ्रायड्[3] का कथन है कि धर्म मनुष्यता का सार्वभौम मनोग्रस्ति-परक (आबसेसनल्) मनस्ताप (न्यूरोसिस्) है। यह ओडिपसीय ग्रन्थि में उत्पन्न बालक का पिता के साथ होनेवाले सम्बन्ध के समान है। इस अवधारणा के अनुसार कोई भी भविष्यवाणी कर सकता है कि विकास की सौभाग्यशीला निष्ठुरता की प्रक्रिया के साथ-साथ धर्म भी परित्याज्य होना चाहिए। हम सब इस विकास के मध्यवर्ती स्तर पर संस्थित हैं।

---

[1] फ्रायड्, तदेव।

[2] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ९२।

[3] फ्रायड्, तदेव, पृ० ७६।

अपने एक दूसरे ग्रन्थ[1] में भी फ्रायड् की उपरितन कथित विचार-सरणि दृष्टिगत होती है। इसके अनुमार मूसा (मोज़ेज़्) इस्रायलियों द्वारा मार दिया गया था। उसके स्थान पर जिस व्यक्ति को नेतृत्व प्रदान किया गया, उसे अपने मूल नेता का अभिधान मूसा प्रदान कर दिया गया। इस दूसरे मूसा ने ही इस्रायलियों को यहूदी धर्म दिया। फ्रायड् का अनुमान है कि मूसा की हत्या, आद्य पिता की हत्या है। मूसा के द्वारा प्रवर्तित धर्म यहूदियों के 'अचेतन' (अन्कांसस्) में एक प्रभावी शक्ति के रूप में विद्यमान है। यहूदियों का एकेश्वरवाद पिता मूसा की हत्या की अपराध भावना से जनित परिणाम है।

फ्रायडीय अवधारणा के अनुसार अनुष्ठान के सिद्धान्त के मुख्य बिन्दु वक्ष्यमाण[2] हैं। अनुष्ठान अवश्यमेव मनोग्रस्तिमूलक (आबसेसनल्) मनस्ताप (न्यूरोसिस्) है। यह मनस्ताप (न्यूरोसिस्) जीवन-प्रवृत्ति (इरोस्) और मृत्यु-प्रवृत्ति (थैण्टोस्) के मध्म अनिर्णीत संघर्ष से उद्‌भूत होता है। मानवजाति इसका सदैव से अनुभव करती रही हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य अविच्छिन्न रूप में परिगामी मार्गों से चेतना में प्रवेश करने की इच्छुक दमित मूलप्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट्) से अहम् (इगो) की रक्षा करना है। मनुष्य सदैव अपराध की एक अचेतन भावना के मनस्ताप (न्यूरोसिस्) से ग्रस्त रहा है। उसने प्रारम्भ में अपनी मूलप्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट्) की संतुष्ट करने के लिये अपने पिता की हत्या की। इसी के परिशोधन हेतु मनुष्य, पश्चात्ताप के रूप में, अनुष्ठान करता है और इसे पुनः अपनी स्मृति में स्थान देता है। अनुष्ठान में प्रतिबिम्बित चिन्ता और बचाव के लिये इसकी अपेक्षा अधिक अन्य तर्कमूलक साधन हैं, अतएव इसके विधि-निषेध की स्वोकार्यता अनावश्यक है। आज की जो सभ्यता मूलप्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट्) के तर्कहीन त्याग पर आधृत है, उसे मनस्तापग्रस्त (न्यूरोटिकल्) होने के लिये विवश है। अतएव यह आवश्यक है कि सभ्यता स्वयं इस पुरातन रोग से मुक्त होने के लिये धर्म के आश्रय का परित्याग कर दे।

फ्रायडीय विचार-सरणि में[3] जीवन पीड़ा और आनन्द संतुलन की प्रक्रिया का रूप है। परन्तु पीड़ा से परित्राण एवं आनन्दातिरेक की सृष्टिप्रक्रिया का नाम जीवन है। फ्रायड् के अनुसार जीवन का प्रत्येक अंश जीवन-प्रवृत्ति (इरोस्, काम अथवा प्रेम की प्रवृत्ति) की अथवा मृत्यु-प्रवृत्ति (थैण्टोस् = घृणाप्रवृत्ति) की अभिव्यक्ति है। फ्रायड् के परामनोविज्ञान (मेटासॉयकॉलाजी) की यह महत्तम परासंरचना (सुपर्स्ट्रक्चर्) के मूल में प्राणी का भौतिकवादी सिद्धान्त अथवा सुखवादी (हेडोनिस्टिक्) नीति है। फ्रायड् के मनोविश्लेषण का चिकित्साशास्त्रीय (थेरापिटिक्) मूल्य एवं महत्त्व चाहे जो हो, परन्तु उसका मानवीय व्यवहार का विश्लेषण द्विविधाग्रस्त है। अचेतन के व्याख्यात्मक कार्य का बोध तो दुरूह है ही; अपितु यह भी बोध का विषय

---

[1] तदेव, मोज़ेज़् ऐण्ड् मोनोथीज़्म, होगार्थ प्रेस, लण्डन, द्वितीय संस्करण, १९४०।

[2] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ९३-९४।

[3] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १२४।

नहीं बन पाता कि फ्रायड् अपनी स्वप्न-सामग्री के द्वारा वहाँ तक कैसे पहुँच सका ? ऐसा प्रतीत होता है कि अचेतन (अन्कांसस्) की अवधारणा अन्तःक्षेपण (इण्टर्-पोलेशन्) है। फ्रायड् की अवधारणा में अन्तःक्षिप्त (इण्टरपोलेशन्) अचेतन उपयोज्य है अथवा नहीं, इसका कोई महत्त्व नहीं है। फ्रायडीय सिद्धान्त के समुचित मूल्यांकन हेतु अचेतन (अन्कांसस्) के सिद्धान्त की अपेक्षा उसकी मीमांसा के सिद्धान्त पर ध्यान देना चाहिए।

फ्रायड् सकल तर्करहित व्यवहार-रूपों का आदर्श (माडल्) मनस्ताप (न्यूरोसिस्) को मानता है। इस दृष्टि से सभी धार्मिक, कलात्मक एवं साहित्यिक-प्रतीक अन्तःप्रेरक दमित काम के स्थानापन्न हैं। लेवी[1] भी फ्रायड् के मानव-जीवन के प्रति मनस्तापी (न्यूरोटिकल्) दृष्टि की आलोचना करता है। निश्चय ही, फ्रायडीय सिद्धान्त में यदि विरोधाभास न होता, तो किसी प्रकार की आलोचना का स्वयं निरसन हो जाता। काम और आनन्द जीवन के सर्वोच्च मूल्य नहीं हैं, यदि होते तो मानव-जीवन की फ्रायडीय योजना में उन्हें संप्रभुता की उपलब्धि नहीं होती। फ्रायड् का सिद्धान्त एक अन्य विरोधाभास से[2] युक्त है। परा-अहम् (सूपर् इगो) को एक अत्यधिक शक्तिशाली अभिकरण (एजेन्सी) के रूप में निरूपित किया गया है; परन्तु फ्रायड् जब धर्म के रूप में अवस्थित सार्वभौम मनस्ताप (न्यूरोसिस्) के समापन हेतु तर्कात्मकता पर बल देता है, तब वह अपनी धारणा को निरस्त करता हुआ प्रतीत होता है। फ्रायडीय विचार से मनुष्य तर्क के विकास से अपने धार्मिक विश्वासों को उसी प्रकार निरस्त करता हुआ प्रतीत होता है, जिस प्रकार अहम् (इगो) के विकास के साथ-साथ बाल्यावस्था में उद्भूत मनस्ताप (न्यूरोसिस्) स्वयं लुप्त हो जाता है।

फ्रायड् के अनुष्ठान-सिद्धान्त में दो अन्य गंभीर[3] दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि उसने अनुष्ठान एवं मनुष्य के मनस्तापी (न्यूरोटिक्) व्यवहार का सादृश्य-विधान किया है और दूसरा दोष है, प्रतीक एवं यथार्थ के प्रति उसकी त्रुटिपूर्ण धारणा। धार्मिक प्रतीकवाद की प्रकृति के विषय में फ्रायड् की भ्रान्तियों की जननी उपरि-निर्दिष्ट सदृशता ही है। फ्रायड् प्रतीक को रोग के लक्षण के समान समझता है। यह सही है कि लक्षण रोग को अभिव्यक्त करता है: परन्तु रोग एवं लक्षण के सम्बन्ध के समान प्रतीक तथा तद्द्वारा संकेतित पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है। इन उभय सम्बन्धों में स्तरपरक तारतम्य है।

इस प्रकार फ्रायड् का सिद्धान्त अनेक दोषों से युक्त है[4]। वस्तुतः उसकी त्रुटियों

---

[1] डब्ल्यू० लेवी, फिलासफी ऐण्ड् दि माडर्न वर्ल्ड इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, ब्लमिन्गटन, १९५९, अध्याय ५।

[2] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १२७।

[3] आस्टिन फेरर् उद्धृत, फ्रेडरिक् फेरर्, लैंग्वेज, लाजिक् ऐण्ड् गॉड्, हार्पर ऐण्ड् ब्रादर्स्, न्यूयार्क।

[4] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १२९-१३०।

का मुख्य स्रोत उसके द्वारा त्रुटिपूर्ण रीति से मीमांसित ओडिपस् आख्यान है। महत्त्वाकांक्षा एवं काम-लोभ से भरा हुआ ओडिपस् आधुनिक मनुष्य का अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) है। वह अन्ततः नैराश्य से व्याकुल होकर मरण का वरण कर विनष्ट हो जाता है। हो सकता है कि यह दृष्टि भी भ्रान्ति पर आधृत हो और त्रुटिहीन न हो; परन्तु यह सत्य है कि फ्रायड् ने मानव जीवन के जिस पहलू का भी संस्पर्श किया, उसे उपहास एवं व्यंग्य-चित्रण का पात्र बना कर छोड़ दिया।

कार्ल गुस्ताव युंग : अनुष्ठान-अवधारणा—

कार्ल गुस्ताव युंग[1] धर्म को, मूलभूत मानस (सायकिक्) यथार्थ के रूप में, प्रस्तुत करता है। यद्यपि युंग का सिद्धान्त मानसिक प्रक्रियाओं से स्वतन्त्र है; तथापि वह उनकी एकता की आवश्यक भूमि है। उसके सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु, अचेतन (अन्कांसस्) की अवधारणा है। अचेतन द्विधा होता है—वैयक्तिक और सामूहिक। अचेतन के विषय मूल प्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट्) तथा अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) हैं। यह एकीकृत अचेतनता (अन्कांसस्नेस्) और अग्रप्रतिमान की अवधारणा युंगीय आनुष्ठानिक सिद्धान्त की कुंजी है।

युंग के अनुसार[2] धर्म दैवीभाव का सावधान होकर सूक्ष्मदृष्टि से किया गया निरीक्षण है, और यह एक ऐसा गतिशील अभिकरण अथवा प्रभाव (एजेन्सी) है, जो इच्छा (विल्) के मनमाने कार्य से कभी प्रभावित नहीं होता। उसका कथन है कि इस दैवीभाव का अनुभव सार्वभौम है और यह मनस्तापी (न्यूराटिक्) तथा सामान्य, उभयविध मानवों में विशेष का आधायक है।

युंग अनेक स्वप्नों तथा प्राचीन दार्शनिक संदर्भों के द्वारा यह सिद्ध करता है कि चतुष्पदीय वृत्त देवता के प्रतीकरूप में मान्य[3] था। सैद्धान्तिक धर्मों में (डाग्मेटिक् रिलीजन्) ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य से बाहर रहता है। रहस्यमयता के कारण मनुष्य के अन्तर में उसकी स्थिति का विचार नहीं किया जाता। युंग अपनी व्याख्या के द्वारा, ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये कोई मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं देता। वह केवल अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) ईश्वर की अथवा ईश्वर की प्रतिमा (इमेज) को प्रमाणित करना चाहता है। ईश्वर केवल दैवीभाव का प्रतीक है, जो स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-आपको, मनुष्य के स्वप्नों के द्वारा प्रस्तुत करता है। जो प्रतीक अचेतन द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं तथा मनुष्य स्वप्नों में जिनका साक्षात्कार

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १२९; युंग, दि स्ट्रक्चर् ऐण्ड् डायनमिक्स् आफ् दि सॉयक्, दि कलेक्टेड् वर्क्स आफ् सी० जी० युंग, भाग ८, रटलेज ऐण्ड् क्रीगन पॉल, लण्डन, १९६०, पृ० १३८।

[2] युंग, सॉयकॉलोजी ऐण्ड् रिलीजन्, कलेक्टेड् वर्क्स, भाग २, रटलेज् ऐण्ड् कीगन पॉल, लण्डन, १९५८, पृ० ७।

[3] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ९५-९७।

करता है, वे सभी अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) हैं[१] ।

युंग के अनुसार अनादिकाल से अस्तित्व में स्थित सार्वभौम प्रतिभाएँ (इमेजस्) अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप)[२] हैं। यदि काण्ट[३] को स्वीकारा जाये, तो अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) प्रतिभा (इमेज) का परमार्थसत् (नाउमिनान्) होगा, जिसे अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन्) ग्रहण कराती है और उसी समय सिरजती भी है। जिस प्रकार इतिहास (मिथ्) का अग्रप्रतिमान अचेतन की स्वतन्त्र रचना है, उसी प्रकार[४] सैद्धान्तिक प्रतीक भी अचेतन की स्वच्छन्द सृष्टि है। सम्पूर्णता (होलनेस्) अचेतन का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रभावी अग्रप्रतिमान है।

धार्मिक तथा युंगीय[५] वैज्ञानिक दृष्टि में मूलभूत अन्तर है। धार्मिक दृष्टि, विचार-अंकन के विचार-अंकक की प्रक्रिया को समझती है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि में प्रतीक, किसी अज्ञात, अव्याख्येय विचार-तत्त्व (कान्टेण्ट) के रूप में समझा जाता है। सम्पूर्णता (होलनेस्) के अग्रप्रतिमान के अतिरिक्त और बहुत से ऐसे तत्त्व हैं, जो उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न तथा मौलिक हैं। परन्तु वे सम्पूर्ण (होल) के अंशों को ही अभिव्यक्त करते हैं, न कि सम्पूर्ण को। अतएव उनका चरित्र सीमित है, परिमित है। स्वप्नों तथा इतिहासों (मिथ्स्) में अग्रप्रतिमान प्रकट होता है और उनके अस्तित्व का अनुमान प्रायोजना (प्रोजेक्शन्) से सम्भव है।

वस्तुतः दैवीभाव का अनुभव चेतन (कांसस्) को होता है और अहम् (इगो) का अचेतन (अन्कांसस्) अग्रप्रतिमानों (आर्कीटाइप्स्) के समक्ष एक प्रतियोद्धा होकर उपस्थित होता है। सभी अग्रप्रतिमान द्विध्रुवोय चरित्र से युक्त होते हैं। वे लाभप्रद एवं हानिकारक होते हैं। अतएव धार्मिक अनुभव में खतरा बना रहता है। समाज को इस खतरे का भलीभाँति अहसास रहता है। अतएव वह अपनी सुरक्षा के लिये अपने चारों ओर "टैबू" का प्राकार बना लेता है। इसके साथ-ही-साथ समाज नोति-नियम, धार्मिक अनुष्ठान और संस्कारों को सिरज लेता है, जिससे धार्मिक खतरों से, उसका त्राण हो सके। इस तथ्य को स्पष्टतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि अचेतन चेतन की जननी है[६]। निश्चय ही अनुक्रम में माता का अस्तित्व अपनी संतति का पूर्ववर्ती है। जिस प्रकार जननी अपने शिशु को पालती-पोसती है और यथावसर उसे दण्डित भी करती है, ठीक उसी प्रकार अचेतन (अन्कांसस्) चेतन (कांसस्) का परिपोषण करता है और समयानुसार उसे दण्ड भी देता है। माता को

---

[१] नगेन्द्र; तदेव, पृ० ९७-९८।

[२] युंग, दि आर्कीटाइप्स ऐण्ड दि कलेक्टिव अनकांसस् पृ० ५।

[३] कीगन पॉल, सॉयकॉलॉजिकल टाइप्स्, ट्रेन्च ट्रूब्नर् ऐण्ड कम्पनी लिमिटेड १९१३, पृ० ५०७-५०८।

[४] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १०३; तदेव।

[५] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १०३।

[६] युंग, दि आर्कीटाइप्स् ऐण्ड् दि कलेक्टिव अनकान्सस्, पृ० २८१।

बच्चे की आवश्यकता होती है और बच्चे को माता की। इसी तरह चेतन को भी अचेतन की आवश्यकता रहती है, अन्यथा अचेतन चेतन के अनुभव का विषय ही नहीं बनता। परन्तु जब चेतन अचेतन के अधिकार को नकारता है, तब वह चेतन को अपनी प्रभुशक्ति दिखाता है। जो अचेतन लाभप्रद है, वह हानिकर भी हो सकता है।

मानवीय चेतनता[1] (कॉन्सस्नेस्), दैवी शक्ति के साथ साझेदारी निभाने में, दुर्बल पड़ जाती है। मनुष्य बिना अनुष्ठानों और संस्कारों के, अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में, दैवीभाव के नृशंस आक्रमणों से, अपना त्राण करने में असमर्थ रहता है। अतएव वह अनुष्ठान आदि की शरण का वरण करता है। इस प्रकार अनुष्ठान का कार्य अचेतन की विध्वंसक अभिव्यक्ति (डिस्ट्रक्टिव मैनीफैस्टेशन्) से मनुष्य की रक्षा करना है। इस आनुष्ठानिक कार्य का, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, अहम् (इगो) की अनहम् (नॉन्-इगो) के साथ संपृक्ति का विधान करना। इस प्रकार अनुष्ठान अपने औपचारिक अथवा कार्यात्मक पहलुओं में आवश्यकरूप से व्यष्टीयन (इन्डिविडुएशन्) की प्रक्रिया का पुनरुत्पादन है। यज्ञ कार्य का विधायक स्वयं ईश्वर होता है। वह यजमान तथा यजनीय दोनों है। यही स्थिति मनुष्य की भी है।

अनुष्ठान परमरहस्य का कार्यान्वयन है। इसमें प्रतीक का जीवन्त चरित्र भागीदार रहता है। यह वक्ष्यमाण मनोवैज्ञानिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है—(पुरोहित और धर्मसभा के द्वारा प्रतिहित) मानवीय चेतनता का उस स्वायत्त घटना से सामना होता है, जो 'दैवी' तथा 'अकाल' (टाइमलेस्) 'प्लैनेट्'[2] की प्रागनुभवनीय (ट्रान्सेन्डेन्स्) चेतनता में घटित हो रही है और किसी तरह से भी मानवीय कार्य पर निर्भर नहीं है; परन्तु वह मनुष्य को बलात् साधन के रूप में कार्य करने के लिये प्रणोदित करती है, जिससे वह दैवी घटना का भागीदार हो सके। मानवीय चेतनता की कोटि से बाहर स्थित एक स्वायत्त तथा अनादि (इटर्नल्) अभिकरण के रूप में कार्यरत शक्ति के हाथों में मनुष्य, अनुष्ठान-कार्य में, स्वयं को समर्पित कर देता है। सौन्दर्य अनुष्ठान-कार्य की एक आवश्यक सम्पद् है। अतएव मनुष्य जब तक ईश्वर की सेवा सौन्दर्य में नहीं करेगा, तब तक यही बोध्य होगा कि उसने ईश्वर की सेवा ठीक ढंग से नहीं की। अतएत अनुष्ठान की कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं है; क्योंकि यदि इसका कोई उद्देश्य होगा तो यह शुद्धरूप से मानवी कोटि में पहुँच जायेगा[3]। इस प्रकार यदि युंगीय परिभाषा में कहा जाये, तो खीस्त 'आत्मा' का प्रतीक है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वर में रूपान्तरित होता है और काल अनादिता (इटर्निटी) में। यह व्यष्टीयन (इन्डिविडुएशन्) की पद्धति है।

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १०६।

[2] खीस्ती धर्म का एक अनुष्ठान जिसे 'मास' भी कहा जाता है।

[3] सायकालोजी ऐण्ड् रिलीजन्: ट्रान्सफार्मेशन् सिम्बालिज्म इन दि मास, पृ० २४९-२५०।

दूसरी दृष्टि से यदि यजनीय कार्य को देखा जाये, तो स्थिति यह होगी[1]—जब कोई व्यक्ति देवता अथवा ईश्वर को यजनीय पदार्थ प्रदान करता है, तब वह पदार्थ तो उसी का रहता है। जो पदार्थ किसी के अधिकार में रहता है, वह उपहृत होने पर भी 'ममता' (माइननेस्) से युक्त रहता है। अब जो पदार्थ जिसके पास रहता है, वह यजनीय नहीं हो सकता, क्योंकि वह सद्यः उस व्यक्ति को अनुभवातीतता में पहुँचा देता है। अतएव व्यक्ति उस पदार्थ के किसी भाग को ही यजन में प्रयुक्त कर सकता है; क्योंकि वह उसे अपना समझता है। इस प्रकार उस व्यक्ति की अनुभूति अथवा अहम्-चेतनता (इगो-कांससनेस्) विषयी (सब्जेक्ट्) और विषय (आब्जेक्ट्) के अचेतन तादात्म्य की मूल अवस्था से उत्पन्न हो जाती है। जन्म लेने के बाद अहम् (इगो) को अपने-आप पर छोड़ दिया जाता है कि वह ऐसी कार्य-पद्धति (मोडस् आपरेण्डी) का अन्वेषण करे, जिसके द्वारा वह अपने प्रजनयिता (प्रोजेनिटर्) अचेतन से सम्बन्ध स्थापित कर सके। बाह्य विश्व में खोये हुए तादात्म्य को अचेतनतापूर्वक प्रक्षिप्त करता हुआ वह सर्वप्रथम अपनी अपराग-अनुभूति (फीलिंग आफ इस्ट्रैन्जमेण्ट) के ऊपर तादात्म्यीकरण के द्वारा अधिकार करता है। इस प्रकार अचेतन कौटुम्बिक तादात्म्य माता-पिता के साथ होने वाले तादात्म्य की उद्भूति होती है। परिणामतः वस्तुवों के ऊपर 'ममता' (माइन्नेस्) के स्वत्व की माँग, अहम् (इगो) और अनहम् (नान्-इगो) के अतीतकालीन अचेतन-तादात्म्य का पुरावशेष है।

'सम्पूर्ण' (होल) के साथ अपने एकीभवन के निमित्त अथवा आत्मानुभूति (सेल्फ-रिआलिजेशन्) की अवस्था की उपलब्धि के निमित्त अहम् (इगो) को इस तादात्म्य से ऊपर उठना चाहिए। यह अन्ततः 'ममता' के स्वत्व की मांग को विनष्ट कर देता है। आनुष्ठानिक कार्य का निर्गलित अर्थ यह है कि यजमान उसके बदले में किसी प्रकार के फल की इच्छा न करे। व्यष्टीयन (इन्-डिविडुएशन्) की पद्धति के विषय में यह विवरण बहुत ही प्रशंसनीय एवं उपयुक्त है। इस दृष्टि से पुरोहित एवं धर्मसभा अहम् (इगो) के लिये होते हैं, जो अनुष्ठान में वस्तुतः तत्त्वान्तरित होते हैं। रोटी, मदिरा और सभी पदार्थ उसके चेतन के प्रयत्न एवं उद्योग से उत्पादित होते हैं और वे उसके अंग हैं। इस प्रकार सभी पदार्थों को अनुष्ठान में समर्पित करना ईश्वर के प्रति स्वयं-समर्पण है। परन्तु अनुष्ठान को रहस्यमय बनानेवाला तथ्य यह है कि इसमें ईश्वर यजमान और यजनीय दोनों है। जब तक कोई ईश्वर और मनुष्य की द्विता को समझता रहता है, तब तक मानवीय बोध को किसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। ईश्वर मानव को अपने आदेश में रखता है, जिससे वह स्वयं को उसके प्रति समर्पित करे। मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'आत्मा' (सेल्फ्) का अहं को आदेश देना कहा जा सकता है, जिससे वह अपने-आपको उसके प्रति उपहृत कर सके। परन्तु जब 'प्रभु' (लार्ड) स्वयं द्विता में पहुँचता है, तब वह अव्याख्येय हो जाता है; परन्तु इसे चेतन एवं अचेतन के वैयक्तिक द्वैत के ऐक्य के द्वारा सम्पूर्णता (होलनेस्) का अनुभव करनेवाली आन्तर मौलिक मानस की प्रेरणा के प्रक्षेपण के

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ११०;

रूप में, भलीभाँति, समझा जा सकता है[१]।

अनुष्ठान से सम्बन्धित मनोविश्लेषक (सॉयको-अनॉलिटिक्) सिद्धान्तों का केन्द्रीय बिन्दु 'अचेतन' (अन्कांसस्) की अवधारणा है। इसका बोध वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर किया जा सकता है। फ्रायड् के सिद्धान्तों की समीक्षा पहले की जा चुकी है। युंग के सिद्धान्त में 'अचेतन' को प्रमुखतया सामूहिक स्तर पर देखा गया है। यहाँ अनुष्ठान की प्रतीकात्मकता को निरन्तर 'अग्रप्रतिमान' के रूप में समुपस्थापित किया गया है। फ्रायड् अनुष्ठानों को निरर्थक कार्य होने के कारण अस्वीकारता है; परन्तु युंग इसे मानव की मौलिक आवश्यकता के रूप में समझता है[२]।

युंग की दृष्टि एक सीमा तक सही प्रतीत होती है। कम-से-कम यह तो कहा ही जा सकता है कि उसका सिद्धान्त गंभीर प्रत्ययसत्तावादी (ऑनटॉलाजिकल्) पूर्व मान्यताओं पर आधृत है और संकीर्ण मनोवैज्ञानिक उपागम (एप्रोच्) की हानियों से पीड़ित नहीं है। निश्चय ही यह अत्यधिक उचित है कि युंग बलपूर्वक प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा (मेटॉफिजिक्स) तथा मनोविज्ञान में विरोध को मान्यता नहीं देता। परन्तु युंग के अनुष्ठान-सिद्धान्त में कई महत्त्वपूर्ण न्यूनताएँ हैं। युंग की व्यष्टीयन (इन्डिविडुएशन्)-अवधारणा ज्ञानमीमांसीय शुद्ध कार्य की अवधारणा का प्रतिरूप है, अथवा वह भारतीय निष्काम कर्म के सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति है। परन्तु इन दोनों में कदाचित् उसी प्रकार का अन्तर है, जिस प्रकार का अन्तर योग की भारतीय अवधारणा और युंगीय व्यष्टीयन-अवधारणा[३] में है। वस्तुतः योग ज्ञानमीमांसीय निष्काम कर्म की अवधारणा का प्रतिरूप है। युंग योग का निरसन इसलिये करता है कि वह उसे चेतन के दमन का अप्राकृतिक प्रयत्न मानता है। युंग तो यह त्रुटि करता ही, क्योंकि वह सम्पूर्ण तथा उसके अंश के सम्बन्ध को, चेतन एवं अचेनन के बीच संस्थित सम्बन्ध का पूर्ण उपमान मानता है। उसकी सम्पूर्ण-अंश की सम्बन्धता की अवधारणा तो बोधगम्य है; परन्तु सम्पूर्ण को अचेतन की वश्यता में पहुँचाना विस्मयावह है। युंग की दृष्टि में मानस का केन्द्र आत्मा है, जो सम्पूर्णता का अग्रप्रतिमान है, वह सामूहिक अचेतन में स्थित है। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यष्टीयन (इन्डिविडुएशन्) सम्पूर्ण एवं अंश के ऐक्य का विधायक न होकर, अचेतन के साथ चेतन के मिलन की सरणि है। मिलन की इस प्रक्रिया में चेतन अपनी पहचान खो देने के लिये बाध्य है। निश्चय ही इस तथ्य को युंग नकारेगा। यदि प्रतीक का चरित्र मौलिक है, तो वह अचेतन से उद्भूत नहीं हो सकता[४]।

फ्रायडीय अचेतन की अवधारणा के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी युंग की समूहस्थ अवधारणा के विरुद्ध भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं[५]। यह कोई कठिन बात नहीं है कि अग्रप्रतिमान की सहायता से मानस-विकास की प्रक्रिया की व्याख्या की जा सकती है। इस व्याख्या में अचेतन के विचार की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

---

१. तदेव, पृ० १११; २. तदेव। ३. तदेव, पृ० १२९-१३०; ४. तदेव, पृ० १३०।
५. तदेव।

ऐसा प्रतीत होता है कि युंग, मानस-जीवन की व्याख्या, परायांत्रिकता-निष्ठ कारणता के सिद्धान्त द्वारा, करना चाहता है। उसकी दृष्टि में मानसिक प्रक्रिया का संतुलन उत्क्रममाप (इन्ट्रॉपी) के नियम का मानस प्रतिरूप है। दूसरे शब्दों में वह ऊर्जा का संतुलन हैं। उसने मानसिक ऊर्जा एवं भौतिक ऊर्जा को पृथक् करने का प्रयास किया है। इससे उसके सिद्धान्त में अन्तर्निहित प्रतिषेध उजागर होते हैं। मानस-जीवन भौतिक जीवन से सर्वथा भिन्न है।

युंग के मानसिक उद्‌विकास (इवोल्यूशन्) के सिद्धान्त में एक और कमी है। उसके अनुसार यह उद्‌विकास विषयी और विषय के तादात्म्य की अचेतन अवस्था से प्रारम्भ होता है। इसका परिणाम इन दोनों का एकीभाव अथवा मिलन है। यह मिलन का स्तर मौलिक समरसता के स्तर से कहीं अधिक ऊँचा है। युंग के मूल अनुसन्धान में चेतन एवं अचेतन, समप्रतिरूपी होकर, जीवन की महान् लीला में भागीदार बनते है[1]।

युंग के अनुसार अनुष्ठानों का प्रयोग मानव-जीवन में प्रक्षेपण है। निश्चय ही यह किसी नियम-कानून के अन्तर्गत नहीं आ सकता। युंग को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह स्पष्टतया प्रतीक के गंभीर सिद्धान्त पर आधृत होकर अपनी अनुष्ठान-अवधारणा को निरूपित करता है। संज्ञामीमांसीय (सेमिओटिक्) रूपक-कथीय (एलॉगारिकल्) और प्रतीकात्मक स्तरों पर युंग के द्वारा भी की गयी व्याख्या अनन्य होकर उसकी योग्यता को व्यक्त करती है[2]। अर्थ के सिद्धान्त में युंग का यह महत्त्वपूर्ण अवदान है। उसकी दृष्टि के संबन्ध में कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब वह 'अज्ञात' (प्रतीक का संदर्भ-बिन्दु) का समीकरण 'अचेत' के साथ करता है। जब तक इसे प्राग्-अनुभवीय स्तर पर न समझा जाये, तब तक अचेतन प्रतीक के संदर्भ का बिन्दु नहीं बन सकता, क्योंकि युंग की अपनी ही दृष्टि में प्रतीक का चरित्र अग्रप्रतिमानीय है।

गोचरवादी . अर्न्स्ट कसारिर् : अनुष्ठान-अवधारणा—

गोचरवादी (फेनॉमेनॉलॉजिस्ट) विचारक अर्न्स्ट कसारिर् ने इतिहास (मिथ्) एवं अनुष्ठान के सम्बन्ध में प्रौढ़ मनन के अनन्तर एक अवधारणा प्रस्तुत किया है। कसारिर् की इस अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। उसने अपने इतिहास (मिथ्) के दर्शन को, शेलेंगी (शेलेन्जियन्) एवं फायरबाखी (फायरबाखियन्) इतिहास—(मिथ्) रूपों के सिद्धान्त को अतिक्रान्त करने के पश्चात्, प्रस्तुत किया है। शेलिंग तथा फायरबाख् के सिद्धान्त एक दूसरे के पूर्णतया विपरीत हैं। इनमें से एक ऐतिहासिक (मिथिकल्) विश्व की व्याख्या परमतत्त्व (आब्सोल्यूट्) के सार के द्वारा करता है तथा दूसरा प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक शक्तियों की परस्पर-क्रिया (इण्टर्प्ले) के द्वारा करता है। शेलिंग के समान कसारिर् भी रूपक-कथीय (एलागॉरिक) सिद्धान्त को निरस्त कर उसके स्थान पर पुनरुक्ति (टाटे-

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १३१; [2] तदेव, पृ० १३२।

गॉरिकल्)-सिद्धान्त का सृजन करता है[१]। वह कहता है—"देव-वंश-वृक्षीय (थियोगॉनिक्) प्रक्रिया के समान ऐतिहासिक (मिथिकल्) प्रक्रिया में ईश्वर स्वयम्, स्वयं का सृजन करता हुआ शनैः शनैः सत्य ईश्वर बनता है[२]।

आधुनिक युग में फायरबाख़ और उनके अनुयायियों ने इतिहास (मिथ्) को ज्ञानमीमांसा (मेटाफिज़िक्स्) और देव-वंश-वृक्षीय (थियोगॉनिक्) अवधारणा के बन्धन से मुक्त कर इसे आवश्यकरूप से मानव-विज्ञान (ऑन्थ्रॉपालजी) के कारागार में डाल दिया। इनके अनुसार विभिन्न ऐतिहासिक (माइथॉलॉलिकल्) प्रतिरूपों के विविध रूपों का एकीकरण होता है। यह परम (आबसोल्युट्) के साथ तादात्म्य नहीं है; अपितु मानव-प्रकृति के साथ तादात्म्य है।

कसारिर् इन दोनों मतवादों को निरस्त करता है। शेलिंग के मत का तो वह इसलिये निषेध करता है कि उसमें परम (आब्सोल्यट्) के एकीकरण में सभी ठोस एवं विशेष विभिन्नताओं को समाहित करने की अन्तर्निहित प्रवणता है और फायरबाख के मत को तो इस कारण से ठुकराता है कि उसमें मानव-प्रकृति को अधरीकृत बनाने की प्रक्रिया है। वह इसके विरुद्ध इतिहास (मिथ्) के लिये समीक्षाशील गोचरवादी (फेनामैनॉलॉजिकल) उपागम (एप्रौच) को स्वीकारता है। इस उपागम का प्रारम्भ पराभौतिक (मेटाफिज़िकल्) मौलिक तथ्य के रूप में स्थित न तो ईश्वरता से और न ही प्रत्यक्ष मौलिक तथ्य के रूप में स्थित मनुष्यता से होगा। वह इतिहास (मिथ्) को बोध्य बनाने के लिये सांस्कृतिक प्रक्रिया के विषय मानवीय आत्मा की पूर्णतया शुद्ध कार्यावस्था और विविध समरूपणों को आधार बनाता है और उसके प्रमुख मानकों को निश्चित करने का प्रयत्न करता है[३]। कसारिर् की इस समीक्षात्मक दृष्टि से ज्ञात होता है कि वह इतिहास (मिथ्) की व्याख्या में ज्ञानमीमांसा (मेटाफिजिक्स्) तथा प्रत्यक्षवादी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग का विरोध करता है और निर्धारित करता है कि इतिहास (मिथ्) स्वयं क्या है और वह जिसे व्यवहार तथा रूप के विषयीकरण के द्वारा निष्पन्न करता है, उसकी उपलब्धि[४] क्या है ? इस विधा से इतिहास (मिथ्) की व्याख्या सम्भव है।

कसारिर् का यह गोचरवादी (फेनामेनॉलॉजिकल्) उपागम (एप्रोच्) इतिहास (मिथ्) की एक नूतन अवधारणा को जन्म देता है[५], जो चेतनता के आत्म-विषयीकरण की प्रक्रिया से उद्भूत होनेवाले प्रतीकात्मक अर्थों का अद्वितीय आत्मनिहित समरूपण है। उसके अनुसार ऐतिहासिक (मिथिक्) चेतनता का एकीभाव विमर्शात्मक

---

[१] द्र०, नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ३०, पा० टि० १; दि फिलासफी आफ् सिम्बालिक् फार्म्स्, भाग २, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन, १९५५, पृ० २।

[२] कसारिर्, दि फिलासफी आफ् सिम्बालिक् फार्म्स्, पृ० ६-७; तु०, ऋ० सं० १.१२.६, अग्निनाग्निः समिध्यते; १०.९०.१६, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

[३] तदेव, पृ० १३;

[४] तदेव।

[५] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ३१।

(डिस्कर्सिव) अथवा प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक चेतनता से भिन्न है। यह सही है कि इन दोनों का उद्भव मन की संश्लेषण प्रक्रिया से समान रूप से होता है। मन की प्राथमिक संश्लेषण-प्रक्रिया इतिहासीय (मिथिक्) चेतनता में अधिक नमनशील, प्रवाही एवं सत्कार्य-व्यवहार से युक्त होती है; परन्तु विमर्शात्मक (डिस्कर्सिव) चेतनता की यह स्थिति नहीं है। मानवीय बोध के संस्थान दिक्, काल, अंक, कारण और गुण आदि जो संवेदनात्मक विश्व में धारणाओं की विशृङ्खलता को ऐक्यभाव प्रदान करते हैं, वे सभी ऐतिहासिक (मिथिक्) जगत् में उतनी ही प्रभविष्णुता से कार्य करते हैं। परन्तु इन दोनों के कार्य की प्रतिमानता में मौलिक अन्तर है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऐतिहासिक (मिथिकल्) विश्व में संश्लेषणात्मक एकत्व का नितान्त अभाव है; परन्तु यहाँ विश्व के सभी घटकों के सहवर्धन अथवा सम्पात का एकीभवन होता है। कारणता की ऐतिहासिक (मिथिकल्) अवधारणा सम्पूर्ण भावग्रन्थि में किसी एक साधन को 'उपाधि' (फैक्टर)-युक्त नहीं करती। ऐतिहासिक (मिथिकल्) चिन्तन-धारा में प्रत्येक युगपदता, प्रत्येक स्थानिक सह-अस्तित्व अथवा सम्पर्क एक यथार्थ दैवी या 'आस्मिक' महत्त्व का संयोजन[1] करता है। उदाहरणार्थ खंजन पक्षी शरद् ऋतु को लाने वाला समझा जाता है। इसका कारण यह है कि वह पक्षी यहाँ शरद् ऋतु में ही दृष्टिगत होता है। ऐतिहासिक (मिथिकल्) दृष्टि के अनुसार तो कोई पदार्थ किसी पदार्थ से निःसृत हो सकता है। ऐतिहासिक जगत् दिक् की ज्यामितीय अवधारणा अथवा कालविषयक गणित-भौतिकीय अवधारणा से सर्वथा अपरिचित है। दैव तथा दाय के अस्वीकार ने सहानुभूतिक या सम्मोहक (सिम्पैथैटिक्) जादू का निर्माण किया है। जो भोजन के उच्छिष्ट का परित्याग करता है अथवा भक्षित पशुओं की अस्थियों को छोड़ता है, वह स्वयं को गम्भीर खतरे में डालता है; क्योंकि प्रत्यर्थी (होस्टाइल्) जादू से कुछ इन अवशिष्ट अंशों के विषय में खतरा उत्पन्न किया जा सकता है, वही उस खाद्य वस्तु के विषय में सम्भावित है और वह व्यक्ति भी खतरे में पड़ सकता है, जिसने उसे खाया है[2]।

ऐतिहासिक (मिथिक्) चेतनता का विशिष्ट चरित्र इतना उद्भासित अन्यत्र नहीं है, जितना ऐतिहासिक (मिथिक्) कार्य अथवा अनुष्ठान या यज्ञ में है। अनुष्ठान या यज्ञ के महत्त्व के सही बोध के लिए ऐतिहासिक (मिथिक्) चेतनता के अन्य घटकों—इसकी उपलब्धि और कार्य, सभी प्रतीकात्मक रूपों का कार्य—की परीक्षा आवश्यक है। कसारिर् के अनुसार इतिहास (मिथ्) की चेतनता आन्तर (इन्साइड्) तथा बाह्य (आउट्साइड्) दोनों छोरों को प्रभावित करती है। कसारिर् आन्तर चेतनता को 'अस्मि' (आई) तथा बाह्य चेतनता को 'यथार्थ' (रियलिटी) के नाम से अभिहित करता है; परन्तु यह तथ्य स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि इनमें प्राक्तन ऐक्य की स्थिति नहीं है, जिसकी ओर जाने के लिये प्रतीकात्मक रूप प्रवृत्त होता है। एतद्विपरीत प्रतीकात्मक रूप ने स्वयं इस ऐक्य को सीमित कर दिया है और प्रत्येक

---

१. कसारिर्, दि फिलासफी आफ् सिम्बालिक् फार्म्स्, पृ० ४५।

२. तदेव, पृ० ५२।

प्रतीकात्मक रूप इसे विविध विधाओं के द्वारा संरचित करता है[१]। 'अस्मि' (आई) एवं 'अनस्मि' (नाट्-आई) के रूप में स्थित चेतनता का वैविध्य ऐतिहासिक (मिथिकल्) चिन्तन के विकसित स्तर पर ही उपजता है। इसकी स्थिति प्रारम्भ में द्रव के रूप में रहती है। सम्पूर्ण (होल) अभिन्नरूप में रहता है, जिसमें विषय एवं विषयी में कोई भेदक नहीं होता है[२]। शनैः शनैः 'अस्मि' (आई) अथवा व्यक्ति के विचार की कोटि उभरने लगती है, फलस्वरूप 'अस्मि' (आई) एवं यथार्थ का स्पष्ट विलगाव होने लगता है। इस स्थिति में 'अस्मि' (आई) एवं 'अनस्मि' (नाट्-आई) के तादात्म्य (आइडेण्टीफिकेशन्) का न्याय (डाइलेक्टिक्स्) आरब्ध होता है। इस तादात्म्य के कम-से-कम दो रूप हैं, जिन्हें ऐतिहासिक (मिथिकल्) चेतनता के दो स्पष्ट स्तर कहा जाता है। इन्हें जादुई एवं धार्मिक नाम से अभिहित किया गया है। जादुई स्तर[३] पर 'अस्मि' (आई) यथार्थ के ऊपर अपने असीमित प्रभुत्व के लिये प्रयास करता है और वह सम्पूर्ण यथार्थ को परावर्तित कर आत्मनिहित कर लेता है। जादुई दृष्टि के अनुसार यथार्थ केवल एक वस्तु है। यह वस्तु बाह्य है और यह मनुष्य के भीतर शैतानी शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। यदि व्यक्ति को जीवित रहना है, तो वह इसे जादुई साधनों से दूर हटाने का आवश्यक प्रयत्न करता है। ऐतिहासिक (मिथिकल्) चेतनता, इतिहास-आचार (मिथॉस्) में क्रमशः रूपान्तरित होने पर, उत्पन्न होती है। इस स्थिति में मनुष्य शैतानी भय से मुक्त होकर ईश्वर-पूजा की ओर अग्रसर होता है और पितृ-पूजावाद (एनिमिज़्म्) ईश्वरवाद (थीज़्म) के लिये स्थान रिक्त कर देता है। धार्मिक विश्वदृष्टि स्वयम् अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। यह रूप बहुदेववादी (पालीथीस्टिक्) हो सकता है; परन्तु इसका विशेष चरित्र, 'अस्मि' (आई) और यथार्थ के बीच सम्बन्ध के एक नये रूप को गढ़ता है[४]।

मनुष्य अपने और यथार्थ के बीच ऐतिहासिक (मिथिकल्) प्रतिमाओं को मध्यस्थ बनाकर जिस सम्बन्ध को सिरजता है, वह प्रत्यक्ष नहीं; अपितु परोक्ष होता है। अतएव धार्मिक अनुभूति के द्वारा विषयीकृत वास्तविक रूप ऐतिहासिक (मिथिकल्) प्रतिभा नहीं होती; अपितु वह सम्प्रदाय अथवा अनुष्ठान होता है, जो इसे सम्बोधित है। वस्तुतः मनुष्य किसी सम्प्रदाय में ही रहकर देवों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करता है। सम्प्रदाय में देव परोक्षरूप में प्रतिनिधायित नहीं होते; अपितु व्यक्ति उन्हें प्रभावित करने के लिये प्रत्यक्ष प्रभाव डालने का उद्योग करता है। अतएव इस प्रभाव के रूप में—अनुष्ठान के प्रभाव के रूप में—धार्मिक चेतनता की सर्वव्यापक प्रगति अत्यन्त स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होगी[५]। कसारिर् कहता है कि वस्तुतः अनुष्ठान इतिहास (मिथ्) का पूर्ववर्ती है। ऐतिहासिक (मिथिकल्)

---

[१] तदेव, पृ० १५६;

[२] नगेन्द्र, तदेव पृ० ३२।

[३] कसारिर्, दि फिलासफी आफ् सिम्बालिक् फार्म्स्, पृ० १५७।

[४] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० ३३।

[५] कसारिर्, तदेव, पृ० २१९।

व्याख्या तो बाद में आयी, अतएव वह अनुवर्ती[१] है।

जादुई तथा धार्मिक विश्व-दृष्टि में ऐतिहासिक (मिथिक्) चेतनता का अलगाव वस्तुतः अनुष्ठान के विलगाव की सहवर्ती अवस्था है। अनुष्ठान के दो प्रभावी लक्षण है : एक 'अस्मि' (आई) को केन्द्र में रखता है तथा दूसरा 'यथार्थ' को। प्रथम जादुई विश्व-दृष्टि का रूप है, और तत्स्थ 'अस्मि' (आई) यथार्थ के लिखित जगत्-प्रकृति, शैतान और देवताओं—को अपनी इच्छा में समाहित करने का उद्योग करता है। दूसरे की तो अपनी इच्छा ही नहीं होती, जिसे मनुष्य अपना दास बना सके। मानवीय इच्छा से प्रवहित होनेवाला कार्य जादुई सम्मोहन प्रकृति का अधिपति है। परन्तु धार्मिक दृष्टि में 'अस्मि' (आई) धीरे-धीरे अपने-आपको जवनिका के पीछे कर लेता है। ऐसी स्थिति तब आती है, जब मनुष्य अपनी सीमाओं को पहचान लेता है और विवशता की अनुभूति कर देवों के प्रति स्वयं समर्पण कर देता है। अनुष्ठान जिस उदात्ततमरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह उसकी अभिव्यक्ति को यजनीय कार्य में उपलब्ध कर लेता है। कसारिर् कहता है कि प्रत्येक यज्ञ मूलतः एक नकारात्मक तत्त्व को संकेतित करता है, जो संनेदनात्मक अभिलाषा को सीमित बनाता है, जो एक परित्याग है और जिसे 'अस्मि' (आई) अपने ऊपर आरोपित करता है। यहीं यज्ञ का आवश्यक लक्षण निहित है[२]। इसका बाह्य रूप चाहे जो है; परन्तु इसकी आत्मा यही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यज्ञ के कार्य में मनुष्य देवताओं के साथ दाता-प्रतिग्रहीता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। वैदिक यज्ञों में दाता-प्रतिग्रहीता का भाव असामान्यरूप में दृष्टिगत होता है। परन्तु इस नियम के अन्तर में प्रविष्ट होकर जब इसके महत्त्व का आकलन किया जाता है, तब यह ज्ञात होता है कि यह नियम यज्ञ का प्राण है। इस दाता-प्रतिग्रहीता नियम में दाता यजमान तथा प्रतिग्रहीता देवता दोनों के बाह्य रूप का तिरोधान हो जाता है और इस प्रकार दोनों अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार[३] हिन्दुओं का धार्मिक विश्वास अत्यधिक अन्तर-प्रायोजित हो जाता है। अतएव उपनिषदों में आत्मत्याग के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है और तदभिप्रथित गीता में भी इसी का प्रतिपादन उपलब्ध होता है।

जिस यज्ञ-अवधारणा की व्याख्या होनी है, वह कसारिर् के इतिहास (मिथ्) एवं सम्प्रदाय के सिद्धान्त से परिपोषण पा रहा है। कसारिर् के गोचरवाद (फेनामेनॉलॉजी) में भी वही अन्तर्दृष्टि विद्यमान है। वह भी प्रतीकात्मक रूपों के विश्लेषण में उसी अन्तःप्रज्ञा को प्रकट करता है, जो अनुष्ठान को महनीय बनाती है।

धर्म-इतिहासविद् मर्सिया इलियाड्: अनुष्ठान-अवधारणा—

धर्म के इतिहासकारों में मर्सिया इलियाड् का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण[४] स्थान है।

---

[१] इस दृष्टि के सम्बन्ध में आगे विवेचना की जायेगी।

[२] कसारिर्, तदेव, पृ० २२१।

[३] नगेन्द्र, तदेव, पृ० ३४;

[४] तदेव, पृ० २९।

इलियाड् के द्वारा तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की एक दीर्घ परम्परा है। इसने इतिहास (मिथ्) के विघिकरण (इन्ऐक्ट्मेण्ट्) के रूप में अनुष्ठान के पारम्परिक अध्ययन के सिद्धान्त को पुनर्जीवन्त बनाया है। अतएव इसके अध्ययन का अपलाप असम्भव है। यहाँ इनके विचारों का संक्षेप में उल्लेख किया जायेगा।

इलियाड् के अनुसार अनुष्ठान अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप)[1] की अनुकृति (इमीटेशन्) है। दूसरे शब्दों में कहा जाये, तो देवों ने जिस कार्य को 'पहले अ-काल' में किया था, अनुष्ठान उसी की पुनरावृत्ति[2] है। पुनर्जन्म अथवा पुनरुज्जीवन (रिसरेक्शन्) से सम्बन्धित अनुष्ठान, जैसे दीक्षा-अनुष्ठान सभी आद्य (आर्काइक्) समाजों में विश्व-सृष्टि-विषयक सृष्टि-इतिहास (मिथ्) की पुनरावृत्ति है। इसी प्रकार नववर्ष के प्रारम्भ से सम्बन्धित अनुष्ठान भी पुनरावृत्तिपरक दृष्टिगत होते हैं। इन सभी अनुष्ठानों की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। इस प्रक्रिया में मनुष्य सृष्टि की पूर्ववर्ती दशा-अरूपता, विशृंखलता में प्रतोकात्मकरूप में प्रत्यावर्तित होता है, तदनन्तर पुनः उसका प्रतीकात्मक आवर्तन विश्वसृष्टीय (कॉस्मोगॉनिक्) पुनरावृत्ति में होता है। दीक्षा-अनुष्ठान मानव-आत्मा के उदात्तरूप में रूपान्तरण के लिये प्रतीकात्मक साधन है। दीक्षित मनुष्य प्रतीकात्मकरूप में नये रूप में जनमता है। यह रूप साधारण अस्तित्व की अपेक्षा उदात्ततम होता है। यह अनुष्ठान व्यक्ति को संस्कृति, आत्मा, ब्रह्माण्ड अथवा ईश्वर के कार्यों में भाग लेने के लिये अधिकृत करता है। यह लाभ उन व्यक्तियों को किसी भी स्थिति में नहीं उपलब्ध होता, जो दीक्षा-अनुष्ठान से अभिसंस्कृत नहीं हुए हैं। इस प्रकार दीक्षा जन्म एवं मृत्यु दोनों की विधायिका है। यह सृष्टिपूर्व की अनाम-अरूप दशा में पहुँचना और सृष्टि विषयक पुनरावृत्ति दोनों है। आनुष्ठानिक दृष्टिसे दीक्षित को मार दिया जाता है और उसे पुनः अस्तित्व में आवर्तित किया जाता है[3]। इस बोध की दृष्टि से अनुष्ठान एक विश्व-सृष्टि-विषयक कार्य है, अन्य सभी जागतिक कार्य उसके अनुवर्तन मात्र हैं।

भारतीय यज्ञ-अवधारणा—

भारतीय वाङ्मय में धर्म के कार्यों से सम्बन्धित प्रयोगों के लिए तीन शब्द हैं : अनुष्ठान, चरण और यज्ञ। आज साधारण धर्म-विधियों को बताने के लिए अनुष्ठान तथा वेदविहित धार्मिक कार्यों के लिए यज्ञ शब्द का प्रचलन है। धर्मविधि को द्योतित करने के लिए बहुत दिनों से चरण शब्द का प्रयोग लुप्त हो चुका है। अब इन तीनों

---

[1] ध्यातव्य है कि इलियाड् का अग्रप्रतिमान मनोविज्ञानी युंग के अग्रप्रतिमान से सर्वथा अलग अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, द्र० इलियाड्, कास्मास ऐण्ड् हिस्ट्री: दि मिथ् आफ् दि इटर्नल् रिटर्न, (हार्पर ऐण्ड् ब्रादर्स, न्यूयार्क, १९५९), भूमिका, पृ० ८-९।

[2] तदेव, पृ० ३-६।

[3] मर्सिया इलियाड्, राइट्स् ऐण्ड् सिम्बल्स् आफ् इनीशियेशन्: दि मिस्ट्रीज् आफ् बर्थ ऐण्ड् रिबर्थ, हार्पर् टार्चबुक्, न्यूयार्क, १९६५।

शब्दों की अर्थवत्ता का विचार करना समुचित प्रतीत होता है। निश्चय ही यह बोधं भारतीय यज्ञ-अवधारणा के बोध का साधक है।

अनुष्ठान का अर्थ—

अनुष्ठान शब्द 'अनु' तथा 'स्थान' का संयुक्त रूप है। करणव्युत्पत्ति में अनुष्ठान का शाब्दिक अर्थ होगा—जिस कार्य में धर्मविधि को सम्पन्न किया जाय। भावव्युत्पन्न होने पर इसका अर्थ होगा—जिस कार्य में धर्मविधि को सम्पन्न किया जाय[1]। अनुष्ठान शब्द में उपसृष्ट 'अनु'[2] अनुगमन, अनुवरण एवं अनुकरण को अभिव्यक्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले कोई स्थान अस्तित्व में है, जिसका अनुष्ठान कार्य में अनुकरण अथवा अनुगमन किया जा रहा है। स्थान शब्द भी करण तथा भावव्युत्पत्ति के द्वारा जिसमें स्थिति हो अथवा जिसके द्वारा स्थिति हो, अर्थों का अभिधायक[3] है। इस दृष्टि से विचार करने पर अर्थ यह होता है कि इस निखिल ब्रह्माण्ड की स्थिति उस परमसत्ता के द्वारा है और उसी परमसत्ता में है। अतएव उस 'स्थान'–परमसत्ता और तत्सम्बन्धित सृष्टि-विधान की अनुकृति अथवा अनुगति अनुष्ठान है। इसी दृष्टि से वैदिक आर्ष प्रज्ञा ने 'विष्णु के परम पद में मध्व उत्स' का अन्वेषण किया था[4]।

ब्राह्मणग्रन्थों में अनुष्ठान शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु 'अनुष्ठ्या'[5] शब्द का प्रयोग अनेकत्र मिलता है। शतपथब्राह्मण में अनुष्ठ्या शब्द विधिपूर्वक कार्य करने के अर्थ में प्रयुक्त है[6]। दर्शपौर्णमास इष्टि में प्रयुक्त निविदों की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि इन देवताओं को बुलाओ तथा विधिपूर्वक-अनुष्ठ्या—इनका यजन करो[7]। अनुष्ठान के सजातीय दो शब्दों—संस्था तथा उपस्थान का प्रयोग ब्राह्मणों में बहुल है। यज्ञ पूर्ण होने पर 'संस्था' कहा जाता है। यज्ञ विशेषतः सोमयाग, संस्था कहे गये है[8]। अनुष्ठानपूर्वक किया गया यज्ञ संस्था होता है। यजमान

---

[1] अनुष्ठीयतेऽनेनेति, अनुष्ठीयतेऽस्मिन्निति वा, अष्टाध्यायी, ३.३.११७—करणाधिकरणयोश्च। ल्युट् च, ३.३.११५।

[2] विश्वकोष, उद्धृत, भानुजिदीक्षित, सुधा, अ० को० ३.३.२४८; शब्दकल्पद्रुम, भाग १, पृ० ४७; वाचस्पत्यम्, भाग १, पृ० १६९; मो० वि० डिक्शनरी, पृ० ३१ द्र०, यास्क, निरुक्त, १.४, अन्विति सादृश्यापरभावम्।

[3] अष्टाध्यायी, तदेव; अ० को०, ३.३.२१७।

[4] ऋ० सं०, १.१५४.५—विष्णो॑: प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्स॑ः। तु०, मै० सं० ४.१२.१, १७.९.५; तै० ब्रा०, २.४.६.२।

[5] श० ब्रा०, १.४.२.१७; २.१.२.१२, २.४.१७, १२.४.१.७; ऐ० ब्रा०, १.८, २.६; तै० ब्रा०, ३.३.६.३१, द्र० ऋ०सं०, ४.४.१४।

[6] श० ब्रा०, तदेव।

[7] श० ब्रा०, १.२.४.१७; ५.१.६।

[8] कर्क, का० श्रौ० (वेबर्), पृ० ६२६; विद्याधर शर्मा; का० श्रौ०, भूमिका, पृ० ४३।

यज्ञ का विधान ही इस दृष्टि से करता है कि वह यज्ञ की संस्था[1] में पहुँच जाय। अनेक सन्दर्भों में याज्ञवल्क्य ने इस शब्द का प्रयोग किया है। दर्शपौर्णमास इष्टि के समाप्त होने पर यजमान प्रारम्भ में गृहीत व्रत का जब विसर्जन करता है, तब वह कहता है कि अग्नि ! व्रत[2] के स्वामी ! (मैंने) व्रतचर्या की, उसे कर सका, वह मेरे द्वारा आराधित हुआ। इस सन्दर्भ की व्याख्या करता हुआ शतपथब्राह्मण[3] कहता है कि यजमान यज्ञ की संस्था में पहुँच गया, अतएव मन्त्र द्वारा वह उपरिनिर्दिष्ट बात अग्नि से कहता है। यज्ञ को संस्था कहने का यही अभिप्राय है कि यज्ञ वह कर्म है, जिसमें ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्माण्ड की प्राण-सत्ता की भलीभाँति स्थापना की जाती है। यजमान भी यज्ञ की संस्था में पहुँच कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं उसे परिचालित करने वाले परम सत् से, स्व के विच्छेद के साथ; तादात्म्य की अनुभूति करता है। इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त 'उपस्थान' शब्द है। सामान्यतः उपस्थान का अर्थ किसी देवता की मन्त्रों द्वारा स्तुति करना है; परन्तु अभिधेय अर्थ तथा तद्द्वारा व्यंजित अर्थ सर्वथा भिन्न है। उपस्थान का अर्थ है, किसी के समीप पहुँच कर स्थित होना अथवा किसी के स्थान को उपगत[4] करना। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकत्र इस शब्द का प्रयोग मिलता है—'गार्हपत्य[5] का उपस्थान करता है', 'आहवनीय का उपस्थान[6] करता है', 'वात्सप्र (मन्त्रों) के द्वारा उपस्थान[7] करता है'। शतपथब्राह्मण दर्शपौर्णमास इष्टि के समापन में कहता है कि यजमान जब यह जान लेता है कि यज्ञ मेरे सामने उपसंस्थित है, उसका अनुष्ठान विधिपूर्वक हो चुका है, तब वह आहवनीय का उपस्थान[8] करता है। इस प्रकार √ष्ठा धातु का उपरितन शब्दों में प्रयोग कर ब्राह्मणग्रन्थ यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि वैयक्तिकता का अपलाप यज्ञ अथवा अनुष्ठान के द्वारा ही सम्भव

---

[1] श० ब्रा०, १.१.१.३, यज्ञस्य संस्थामगन्, १.७.२.२४—शंयुर्ह वै बार्हस्पत्यो यज्ञस्य संस्था विदाञ्चकार। १.७.२.२३—यज्ञस्यैवैतत् संस्थां गत्वा नमो देवेभ्यः करोति; का० सं० ब्रा० संस्थितेन यज्ञेन संस्थो गच्छति।

[2] वा० सं, २.२८।

[3] श० ब्रा०, तदेव।

[4] श० ब्रा०, २.३.२.४—यदेव सायं प्रातराहवनीयमुप च तिष्ठत, उप चास्ते, तदेव तस्योपस्थानम्, अथ यदेव प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमास्ते वा शेते वा तदेव तस्योपस्थानम्, अथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्, तदेव तं मनसोपतिष्ठेत, तदेव तस्योपस्थानम्।

[5] श० ब्रा०, १.९.४.१८—गार्हपत्यमुपतिष्ठते; द्र० तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.३; मै०सं०ब्रा०, ३.२.४।

[6] श० ब्रा०, १.९.४.२२—आहवनीयमुपतिष्ठते; द्र०, का०सं०ब्रा०, २०.२; क०सं०ब्रा०, ३१.२।

[7] श० ब्रा०, ६.७.४.१–वात्सप्रेणोपतिष्ठते; तै० सं० ब्रा०; ५.२.१.६; का० सं० ब्रा०, १९.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.२; क० सं० ब्रा०, ३१.१।

[8] श० ब्रा०, १.९.४.२२, प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठातै।

है। किसी व्यक्ति का परमसत्ता के साथ तादात्म्यीकरण का और कोई उपाय नहीं है। √ष्ठा धातु का अर्थ गति की निवृत्ति[1] है। इन शब्दों के अर्थ का विचार करते समय इसका भी ध्यान रखना चाहिए। सकल जागतिक गति की निवृत्ति होने के पश्चात् ही मनुष्य अ-गतिक होकर उस गति में प्रतिष्ठित होता है, जिसके अतिरिक्त कोई गम्य नहीं है। वस्तुतः अनुष्ठान परम सत् के साथ मनुष्य का स्थानिक (सालोक्य) तादात्म्यीकरण है।

चरण का अर्थ—

चरण शब्द √चर् धातु[2] से करण एवं भाव दोनों अर्थों में निष्पन्न होता है। चरण का अर्थ[3] गति, अनुष्ठान दोनों होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यह शब्द मिलता है। यद्यपि चरणशब्द ऋग्वेद में भी दृष्टिगत होता है; परन्तु अनुष्ठान अथवा यज्ञ के अर्थ में नहीं मिलता। √चर् धातु का प्रयोग अत्यधिक है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो कहीं कहीं चर् का प्रयोग अनुष्ठान को इंगित करता है। ऋषि उषा से प्रार्थना करता है—विश्ववारे[4] तुम व्रत का अनुगमन करती हुई चलती हो। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि अग्नि सूर्य के 'चरण' की रक्षा[5] करता है। इन दोनों स्थानों पर चरण का अर्थ अनुष्ठान है। वाजसनेयिसंहिता के एक मन्त्र में वर्णित है कि प्रजापति गर्भ के भीतर गतिशील (चरति)[6] रहता है। दर्शपूर्णमास इष्टि में सर्वप्रथम यजमान व्रतचर्या ग्रहण करता है[7]। तद्विषयक मन्त्र के द्वारा यजमान अग्नि से प्रार्थना करता है : व्रतपति, अग्नि ! मैं व्रत का अनुष्ठान कर रहा हूँ, उसे कर सकूँ, वह मुझसे आराधित हो'[8]। यहाँ स्पष्टतः चरण का अर्थ अनुष्ठान है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकत्र यह कहा गया है कि मनुष्य देवों के 'चरण' का अनुसरण करता है[9]। वेदों का विभाजन, कृष्णद्वैपायन ने 'चरण' को दृष्टि

---

[1] क्षीरतरंगिणी, तदेव पृ० १३६; माधवीया धातुवृत्तिः, तदेव, पृ० २४८, भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, तदेव, पृ० ५३१ तु०, वा० पाकनी, स्ता; जू० पाकर्नी, लैतिन, स्ताँ(स्तारे, स्तेनी), गाथिक स्ताँप। आस्था तथा व्यवस्था शब्द के अर्थ पर भी इस सन्दर्भ में ध्यान देना चाहिए। उपासना शब्द भी इसी अर्थ से सम्बन्धित है, द्र० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, धात्वर्थ-विज्ञानम्, सरस्वतीभवन-अध्ययनमाला, २८, १९८०, पृ० १०।

[2] क्षीरतरंगिणी; तदेव, पृ० ८२; माधवीया धातुवृत्तिः तदेव, पृ० १५१, पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, तदेव, पृ० १८३।

[3] धात्वर्थविज्ञानम्, तदेव, पृ० १०,७३-७६।

[4] ऋ० सं०, ३.६१.१—अनु॑व्र॒तं च॑रसि विश्ववारे; सायण, तदेव—अनुयज्ञकर्माभिलक्ष्य, चरसि यष्टव्यतया वर्तसे।

[5] ऋ० सं०, ३.५.५—पाति॑ य॒ह्वश्चरण॒ं सूर्य॑स्य।

[6] वा० सं०, ३१.१९, प्र॒जापति॑श्चरति॒ गर्भे॑ अ॒न्तः।

[7] श० ब्रा०. १.१.१.१।

[8] वा० सं०, १.५; द्र०, तै० सं०; १.५.१०.३, का० सं०, ४.१४, मै० सं० १.४.१।

[9] श० ब्रा०, १.३.१.१,९.२.२७,३.४.५, तै० ब्रा० ३.१२.३.४; ऐ० ब्रा०, २.२।

में रखकर ही किया था। अतएव वेद की शाखाओं का वर्णन करने के लिए शौनक ने 'चरणव्यूह' नामक ग्रन्थ की रचना की। चरण का जो लोग अध्ययन करते थे, वे जब एकत्र होकर कहीं 'चरण' से सम्बन्धित विचार करते थे, तब उस सभा को भी उपचारवशात् लोग चरण[१] कहने लगे। इससे स्पष्ट है कि सुदूर पुराकाल में चरण का अर्थ अनुष्ठान था।

तैत्तिरीयब्राह्मण[२] में 'चरण' एक देवता है और उसके लिए हवि का विधान किया जाता है। अपाद्या नामक इष्टि-समूह में पाँचवीं इष्टि के तीन देवता हैं: अग्नि, अनुमति और चरण। पाँचवीं इष्टि का इतिहास (मिथ्) वक्ष्यमाण है; चरण देवता ने प्रजापति से कहा कि तुम 'चरण' की विधा का प्रयोग करने के कारण श्रान्त हो जाते हो। मैं चरण हूँ, मेरा यजन करो, तुम्हारा सारा 'चरण' (अनुष्ठान, यज्ञ) सत्य होगा। तुम स्वर्गलोक के वेत्ता बन जाओगे। फलस्वरूप प्रजापति ने 'चरण' देवता के लिए चरु बनाया। जो यजमान इस प्रकार चरण देवता को हवि देता है, उसका अनुष्ठान, यज्ञ सत्य होता है। स्वर्ग के पाँच द्वार होते हैं[३]। प्रत्येक द्वार का एक-एक अधिपति है। इन अधिपतियों में तप, श्रद्धा, सत्य, मन तथा चरण हैं। इस इतिहास (मिथ्) का निर्गलित अर्थ यह हुआ कि 'चरण' (यज्ञ) की पूर्णता के लिए तप, श्रद्धा, सत्य एवं मन की आवश्यकता है। इसके द्वारा ही स्वर्गरूप परमसत्ता के साथ व्यक्ति का तादात्म्यीकरण होता है। यज्ञकर्म का यही मुख्य लक्ष्य है। इस प्रकार चरण परम सत्ता के साथ व्यक्ति का साहचारिक (साहचर्य) तादात्म्यीकरण है[४]।

यज्ञ का अर्थ—

यह शब्द √यज्[५] धातु से निष्पन्न होता है। √यज् धातु के अनेक अर्थ हैं। परन्तु अनेक वैदिक साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि सर्वाधिक प्राचीन अर्थ संगतिकरण है। यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है; क्योंकि इस ब्रह्माण्ड का सारा अस्तित्व

---

१. यास्क, निरुक्त, सर्वचरणानां पार्षदानि; शिवनारायण शास्त्री, निरुक्त के पाँच अध्याय, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, दिल्ली—वाराणसी, १९७२, पृ० १४३-१४४।

२. तै० ब्रा०, ३.१२.१४.६।

३. तै० ब्रा०, ३.१२.४.७।

४. 'चरण' की अर्थवत्ता को दृष्टि में रखकर ही बौद्धधर्म ने 'चरिया' (चर्या) और 'चारिक' (चारिका) जैसे शब्दों को महत्त्व दिया, द्र० अट्ठचरिया, पटिसम्भिदामग्ग, २५४, २५५, ४८९, ४९०; विरियिन्द्रियस्स चरिया, सतिन्द्रियस्स चरिया, सद्धिन्द्रियस्स चरिया, समाधिन्द्रियस्स चरिया, तदेव, २५२-२५४, चारिकं चरन्ति अन्तोवस्स, पाचित्तिय, ४०५; चारिक पक्कमनवत्थु, पाराजिक, २९०—उद्धृत, पालितिपिटकसद्दानुक्कमणिका, पालिग्रन्थमाला, ४, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७९, पृ० ३८१-३८२।

५. क्षीरतरंगिणी, तदेव, पृ० १५८; माधवीया धातुवृत्ति, तदेव, पृ० २९५; अ० को० २.७.१३; शब्दकल्पद्रुम, भाग ४, पृ० ६; वाचस्पत्यम्, भाग ६, पृ० ४७६८, मो० वि०, डिक्शनरी, पृ० ८३८-८३९।

यज्ञ में ही संगत होता है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद[१] यज्ञ को सम्पूर्ण विश्वसत् का केन्द्र कहता है। याज्ञवल्क्य[२] के अनुसार इसका परोक्ष अभिधान 'यञ्ज' है; क्योंकि निरन्तर गतिशील रहकर ब्रह्माण्ड-सत्ता यहीं से उद्भव प्राप्त करती है। शतपथब्राह्मण[३] के अनुसार मनुष्य का जन्म त्रिधा होता है। प्रथम जन्म व्यक्ति माता-पिता से प्राप्त करता है, दूसरा जन्म यज्ञ से होता है तथा तीसरा जन्म मृत्यु से उपलब्ध करता है। यज्ञ की दीक्षा[४] में यजमान पुनः गर्भ में पहुँच जाता है। उस समय उसके जितने संस्कार किये जाते हैं, वे सब गर्भस्थ शिशु के चरित्र की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः दीक्षा में पूर्व जीवन का समापन हो जाता है। अबतक का जिया हुआ जागतिक जीवन समाप्त हो जाता है। अतएव जैमिनि[५] का कथन है कि वह मर जाता है। उसके दाढ़ी-मोछ बना दिये जाते हैं, नख काट दिये जाते हैं। उसके शरीर को नवनीत से अभ्यञ्जित कर दिया जाता है। पूरे दीक्षाकाल में दीक्षित अंगुलियों को मोड़े रहता है। न होमता है, न यजन करता है, न पत्नी से संपर्क करता है और सामान्य मनुष्य के समान बात भी नहीं करता। तब उसकी रूप-सज्जा मृत व्यक्ति की सी रहती है। गर्भस्थ शिशु एवं मृत व्यक्ति की पूर्ण समानता प्रदर्शित की गयी है। जब तक व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, तब तक उसका वस्तुतः जन्म नहीं होता। यज्ञ से जन्म लेने पर ही मनुष्य का सांस्कृतिक-धार्मिक जन्म होता है। इसी दृष्टि से वेदविद्या को जातविद्या[६] या भाववृत्त[७] कहा गया है और इस विद्या के मूल साधन तथा साध्य होने के कारण अग्नि जातवेदा नाम से अभिहित है।

यज्ञ मनुष्य को इस लोक में तथा स्वर्गलोक में, दोनों स्थानों में, लाभ[८]

---

[१] ऋ० सं०, १.१६४.३५—अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

[२] श० ब्रा०, ३.९.४.२३—स यञ्जायते तस्माद्यञ्जो, यञ्जो ह वै नामैतद् यज्ञः।

[३] श० ब्रा०, ११.२.१.१—त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। जै० उ० ब्रा०, ३.३.१।

[४] श० ब्रा०, ३.१.२-४, २.१-२; तै० सं० ब्रा०, ६.१.२-४; का० सं० ब्रा०, २३.१-७; मै० सं० ब्रा०, ३.६, क० सं० ब्रा०, ३५.७-९, ३६.१-४; ऐ० ब्रा०, १.१.३।

[५] जै० उ० ब्रा०, ३.२.४; तु०, द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ; सेल्फ सैक्रीफाइस से० पे०, भाग २. पृ० १०८; खोंदा, चेंज ऐण्ड-काण्टीन्यूइटी, अध्याय १०, तदेव, सवयज्ञस्, एमस्टर्डम, १९६५, पृ० ३९३, कीथ, रिलीजन् ऐण्ड् फिलासफी, तदेव, पृ० ३००; पाण्डुरंग वामन काणे, हिस्ट्री आफ दि धर्मशास्त्राज्; २,२, पृ० ११३७, आदि; मर्सिया इलियाड, राइट्स् ऐण्ड् सिम्बल्स् आफ् इनीशियेशनः दि मिस्ट्रीज आफ् बर्थ ऐण्ड् रिबर्थ, हार्पर् टार्च बुक्स्, न्यूयार्क, १९६५।

[६] ऋ० सं०, १०.७१.११, ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्; द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, ए न्यू एप्रोच्, टू दि वेदाज, लुजाक ऐण्ड् कम्पनी, लण्डन्, १९३२, पृ० ५२।

[७] बृहद्देवता, २.१२०; आनन्दकुमारस्वामी, तदेव, पा० टि०, ९३।

[८] तै० सं० ब्रा०, ६.६.४.१ —उभयोर्लोकयोरभिजित्यै, आदि; द्र०, वी० एस० भण्डारी, सेक्यूलर् ऑस्पेक्ट् आफ दि यजुर्वेद, नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, ९८,१९६६-६७, पृ० ६३ आदि।

पहुँचाता है। वसोर्धारा[१] की विधि इसी तथ्य को द्योतित करती है। यज्ञ में यजमान स्वयं को हवि के रूप में प्रस्तुत करता है। दर्शपौर्णमास इष्टि में वह प्रस्तर[२] के रूप में अग्नि को समर्पित होता है। पशुयागों में पशु परिणामतः यजमान ही है[३]। यजमान सदैव इस पर बल देता है कि पहले देवों ने जैसा किया है, वैसे ही मैं भी करूँगा। वस्तुतः सभी यज्ञ निदर्शनात्मक हैं[४]। यह तथ्य मंत्रों में भी पारिलक्षित होता है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि पौरुष-यज्ञ में पुरुष स्वयं[५] पशु था। देवों ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का यजन[६] किया। 'तुम अपना स्वयं विसर्जन[७] करो', 'वर्धमान तुम अपने शरीर से यजन[८] करो', 'अपने शरीर को यज्ञ[९] में समर्पित करो'। ऋग्वेद के ये सारे कथन स्पष्ट करते हैं कि यज्ञ में स्वयं को ही समर्पित करना पड़ता है। इस प्रकार यजमान भी अपने-आप के द्वारा ही यज्ञ करता है।

हवियाँ समर्पित करना, अथवा अग्नि में आहुति डालना मात्र यज्ञ नहीं है। जो यज्ञविधि की जा रही है, उसके 'धियालम्ब' तथा बोध से यज्ञ[१०] पूरा होता है। इस दृष्टि से शतपथब्राह्मण का यह विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि देवयाजी श्रेष्ठ है अथवा आत्मयाजी ?[११] देवयाजो वह है, जो यह विचारता है कि मैं देवों का यजन कर रहा हूँ। इस प्रकार का चिन्तन उसी प्रकार का है, जैसे कोई पापी, हीनपुरुष श्रेष्ठ राजा को उपहार देता है। आत्मयाजी वह है, जो यह मनन करता है कि यज्ञ में इस विधि से मेरा यह अंग उपहित हो रहा है और जिसे यह बोध है कि इस यज्ञ-कर्म से मेरा यह अंग अभिसंस्कृत हो रहा है। इस प्रकार की यज्ञ-प्रक्रिया यजमान को आद्य, सार्वभौम एवं अमृत बनाती है। यज्ञ प्रतीकात्मक कार्यों की असमाप्य शृंखला[१२] है। इन कार्यों को प्रज्ञा या धी का आलम्ब जानना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि इस 'धियालम्ब' के द्वारा प्रत्येक यज्ञ

---

[१] श० ब्रा०, ९.३.२-३, तै० सं० ब्रा०, ५.४.८; का० सं० ब्रा०, २१.११; मै० सं० ब्रा०, ३.४.१-२; आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ; सेल्फसैक्रीफाइस्, सं० ५०, पृ० १०७।

[२] श० ब्रा०, १.९.२.१५, १७; का० सं० ब्रा०, ३१.११; मै० सं० ब्रा०, ४.१.१४; तै० ब्रा० २.३.९.२-६।

[३] ऐ० ब्रा०, ११.११।

[४] आनन्दकुमारस्वामी, तदेव, वेदिक इक्जम्पलरिज्म्, पृ० १७७-१९७।

[५] ऋ० सं०, १०.९०.१५—देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्; वा० सं०, ३१ १५।

[६] ऋ० सं०, १०.९०.१६; वा० सं०, ३१.१६।

[७] ऋ० सं०, ६.११.२।

[८] तदेव, १.१४२.११।

[९] तदेव, १०.७.६; ६.११.२।

[१०] आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ—तदेव, पृ० १३१।

[११] श० ब्रा०, १०.२.६.१३-१४; द्र०. आनन्दकुमारस्वामी, तदेव।

[१२] आनन्दकुमारस्वामी, तदेव, पृ० १३७।

अपने आपमें एक समतुल्य सिद्धान्त धारण किये रहता है और उसे व प्रदान भी करता है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि अग्निचयन में सभी कर्म निहित हैं, वह यजमान को आदि यजमान इन्द्र के साथ संगत कर देता है, समीकृत कर देता है। इन्द्र स्वयं विश्वकर्मा[1] है, प्रजापति अग्नि भी विश्वकर्मा है। यदि यज्ञ विहित रीति से किया जाये, तो यह संपूर्ण सामाजिक संरचना को निर्धारित कर सकता है। ध्यातव्य है कि विधिपूर्वक यज्ञ करने के लिये अत्यधिक कौशल की आवश्यकता है, अतएव इसमें विविध कुशल तथा प्रवीण कलाकारों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इसका यह अर्थ हुआ कि पूर्णतया पारम्परिक समाज में शरीर तथा आत्मा एक साथ संतुष्ट होते हैं। यज्ञ जीवन के प्रतिक्षण में निरन्तर गतिशील रहता है; क्योंकि उसका सम्बन्ध विश्व के अणु-परमाणु से अविच्छिन्नरूप में बना[2] रहता है। अतएव यज्ञकर्ता प्रत्येक दैनन्दिन कर्म को, अपनी प्रज्ञा के कारण, यज्ञ मान कर चलता है। यज्ञ-मार्ग का पथिक सब में परोक्षरूप में पुरुषसूक्त के पुरुष के समान आत्महुत होता रहता है। वस्तुतः कर्म का 'विधिकरण' (इन्एक्शन्)[3] ही नहीं हुआ, अन्यथा आधुनिक विश्व, अधिसंख्य भौतिक सुख-सुविधाओं का पारिपार्श्वक तथा सूत्रधार होकर भी, विनाश के आवर्त में न फँसता और न वहाँ उसके डूब मरने का भय ही रहता।

यज्ञ शब्द का विवेचन करते समय यह कहा गया है कि यज्ञ का अर्थ है, संगतीकृत कर्म। यहाँ समापन में एक-दो वाक्यों में उसकी व्याख्या अपेक्षित है। उभय शुक्राणुओं के संगमन से ही सृजन होता है और कोई पदार्थ अस्तित्व में आता है। परन्तु विश्व अपने मूल की अपनी स्थिति को विस्मृत कर बैठता है। वस्तुतः वह इस धरा का संस्पर्श पाते ही उसे विपर्यस्त कर देता है। आनन्दकुमारस्वामी[4] का कथन है कि यज्ञ इतिहास का प्रतिमान है। यह अपने सकल प्रतिमानों को प्रतीप स्थिति में पहुँचा देता है। जनन होते ही विभाजन की प्रक्रिया का समारम्भ हो जाता है। इस स्थिति को यज्ञ उलट देता है; फलस्वरूप पुनर्जनन एवं संयोजन की प्रक्रिया गतिशील हो उठती है। संगतिकरण का आयाम उद्घाटित हो जाता है। वस्तुतः यज्ञ व्यक्ति का परम यथार्थ के साथ सजातीकरण (सारूप्य) तादात्म्य है।

प्रतीक-सिद्धान्त एवं प्रतीक का अर्थविज्ञान—

आनन्दकुमारस्वामी[5] के अनुसार प्रतीक वह है, जो किसी अन्य स्तर पर स्थित समतुल्य यथार्थ के द्वारा सन्दर्भ के एक सुनिश्चित स्तर पर स्थित यथार्थ को प्रतिरूपायित करता है। अतएव प्रतीक उसी स्तर पर स्थित अनुक्रमणी (इन्डिसिस्) से सर्वथा भिन्न होता है। प्रतीक के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह न

---

१. श० ब्रा०, ९.५.१.४२।

२. तै० सं० ब्रा०, तेषु परोक्षं जुहोति।

३. आनन्दकुमारस्वामी, तदेव, १३३।

४. तदेव, हिन्दुइज़्म् ऐण्ड् बुद्धिज़्म्, दिल्ली, १९७५, पृ० १९।

५. आनन्दकुमारस्वामी. फी० स्पी० फो० था०, से० पे०, १, पृ० २१।

तो किसी यथार्थ को बलपूर्वक प्रदर्शित करता है और न ही किसी को अस्वीकारता[1] है। वस्तुतः प्रतीक अर्थद्योतन के कतिपय नियमों द्वारा अनुशासित होता है। अतएव प्रतीक के अर्थ बोध के लिए तदनुशासक नियमों का बोध आवश्यक है। भाषा अर्थ-बोध की प्रक्रिया का एक अत्यन्त स्पष्ट एवं निर्णायक साधन है। भाषा के अन्तर्गत वाक्य-योजना और शब्द-राशि है, अतएव वह संप्रेषण की सर्वोत्कृष्ट विधा है। प्रतीक का सम्बन्ध इतिहास (मिथ्), अनुष्ठान एवं विविध कलाओं से है। प्रतीक जिस भाषा के द्वारा इनमें निहित अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं, उस भाषा का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं है। अतएव संप्रेषण के साधन के रूप में भाषा की अपेक्षा प्रतीक-विधान एक जटिल प्रक्रिया है। सभी प्रतीक अवाचिक (नान् वर्बल्) होते हैं। अतएव अर्थ-विज्ञानी इस विधा को मिथ्या-प्रतीकवाद (सूडोसिम्बालिज़्म) कह कर निरस्त कर देते हैं।

कुमारी सूसन के० लैंगर[2] ने विमर्शात्मक (डिस्कर्सिव) तार्किकता का आश्रय लेकर इतिहास (मिथ्), अनुष्ठान और कला की अर्थवत्ता का निरूपण करने का प्रयास किया है। उसी प्रकार की तार्किकता के द्वारा गोचरवादी (फेनामेनालाजिस्ट्) कसारिर् ने भी सम्प्रदाय (कल्ट्), इतिहास (मिथ्) और अनुष्ठान का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में यह अवधातव्य है कि वाचिक (वर्बल्) तथा अवाचिक (नान्वर्बल्) प्रतीकवाद में स्वरूप-निष्ठ भेद नहीं है। वस्तुतः इन दोनों में प्रतीकायन के स्तर पर प्रयोग-निष्ठ अन्तर है। कुमारी लैंगर का सिद्धान्त यहीं पहुँच कर लड़खड़ा जाता है और त्रुटियों के आवर्त में फँस जाता है। कुमारी लैंगर की प्रतीक-योजना का एक ही आधार है, जबकि हमारा प्रतीकवाद अनेकस्तरीय है।

बर्टाण्ड रसेल का प्रतीकवाद चतुर्विध समस्याओं से आक्रान्त[3] है—१. जब व्यक्ति भाषा का प्रयोग करता है, तब उसके मस्तिष्क में क्या घटित होता है? इसका सम्बन्ध मनोविज्ञानसे है; २.विचारों, शब्दों तथा वाक्यों और तद्द्वारा संकेतित विषयों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इसका सम्बन्ध ज्ञान-मीमांसा (इपेस्टेमोलॉजी) से है; ३. वाक्यों का प्रयोग एवंविध हो कि वे मिथ्या के स्थान पर सत्य का प्रकाशन करें;

---

१. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १३५।

२. सूसन के० लैंगर, फिलासफी इन् ए न्यू की, ए मेण्टॉर्बुक, न्यूयार्क, १९५२; नगेन्द्र, तदेव, पृ० ३४-३९,१३६, इस प्रबन्ध में स्थानाभाव के कारण अर्थविज्ञानी लेंगर तथा फिलिप् ह्वीलराइट् की अनुष्ठान-मीमांसा की समीक्षा नहीं की गयी और इनकी विचार-सरणि अस्वीकार्य भी है। ह्वीलराइट् के सिद्धान्त के लिए द्र०, दि बर्निग् फाउण्टेन्, दि इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५४।

३. लुड्विग् वित्तग्न्सिताइन्, भूमिका, त्रैक्तातुस्-लाजिको-फिलासफिकुस्, रट्लेज ऐण्ड् कीगन-पॉल, लण्डन, १९६०; रसेल के मत की समीक्षा के लिये द्र०, बदरीनाथ शुक्ल, रसेलमहाशयस्य वाक्यसंरचनानां तद्घटकीभूतावयवानाञ्च भारतीयवाक्यविचारदृष्ट्या समीक्षणम्—तत्र विदुषां वादश्च, गाण्डीवम्, टंकार २०-२१, शर ५-६, सं० २०४०, पृ० ३ आदि, पृ० ८ आदि।

और ४. प्रतीक होने के लिये एक का दूसरे से कौन सा सम्बन्ध है ? यह समस्या तर्कशास्त्र से सम्बन्धित है। प्रथम समस्या का निदान सम्भव नहीं है। भाषा का प्रयोग संकेतिक अर्थ के परिज्ञान के लिये होता है। वक्ता भाषा के प्रयोग के समय यह विचार नहीं करता कि उसके मस्तिष्क में क्या घटित हो रहा है ? उसे तो केवल अर्थेप्सा ही रहती है।

शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध की मीमांसा के पूर्व यह ज्ञातव्य है कि अर्थ, प्रस्तुतीकरण-परक एक आवश्यक कार्य है और वह प्रस्तुतीकरण के जगत् में ही उत्पन्न होता है। उसकी सीमा भी यही है। जो वस्तु प्रस्तुतीकरण में नहीं है, उसका कोई अर्थ भी नहीं होता। सामान्यतः अर्थ का प्रतीक, अवधारणा एवं निर्देश्य के साथ एक सम्बन्ध रहता है[१]। जब हम 'गो' का उच्चारण करते हैं, तब श्रोता सर्वप्रथम 'गो' की सामान्य विशेषताओं का आकलन करता है और तदनन्तर वह 'गो-व्यक्ति' के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्रकार यह विधा प्रतीक और तन्निर्दिष्ट पदार्थ के बीच मध्यस्थ बनती है। प्रतीक-संकेतित विषय ही निर्देश्य है।

अर्थ के उपरितन विश्लेषण में एक गम्भीर दोष है। यदि यह अवधारणा प्रतीकात्मक कार्य में प्रविष्ट होती है, तो उसकी स्थिति को परिभाषित होना चाहिए। इसका निष्कर्ष यह है कि विचार-धारा किसी पदार्थ से निःसृत नहीं होती, ज्यों ही प्रतीक व्यक्त होता है, त्यों ही वह इससे जुड़ जाती है। परिणामतः इससे यह भी सिद्ध होता है कि 'गो' की विशेष अवधारणा सामान्य 'गोत्व' का पूर्वानुमान कराती है। परन्तु प्रश्न यह है कि सामान्य एवं प्रतीक के बीच कौन सा सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का बिना समाधान किये प्रतीक एवं यथार्थ के सम्बन्ध का प्रश्न भी समाहित नहीं हो सकता। सामान्य किसी विशेष विषय का सामान्यीकरण होता। अतएव यह कहा जा सकता है कि सामान्य के अर्थ में 'परासामान्य' (मेटासिम्बालिक्) अथवा परोक्ष (अटेम्पोरल्) तत्त्व अवश्य निहित[२] रहता है।

प्रत्येक प्रतीक अपने अर्थ का एक पृथक् विश्लेषण करने में असमर्थ है। प्रतीक जब तक अपनी पद्धति से जुड़ा नहीं रहेगा, उसका कोई अर्थ नहीं होता। प्रतीक भाषापरक जटिलता से संपृक्त रहता है, जिसे वाक्य कहा जाता है। वाक्य-संरचना एवं वाक्य-विधान के पीछे तर्क की प्रक्रिया रहती है। इन्हीं नियमों पर आश्रित होकर प्रतीक का अर्थ भी बोध का विषय बनता है।

प्रत्येक अर्थ मिथ्या अथवा सत्य के साथ संपृक्त है। इस स्थिति में विचारणीय यह है कि वाक्य किस प्रकार. मिथ्यात्व की अपेक्षा सत्यता से संपृक्त हों। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर प्रतीक एवं यथार्थ के बीच स्थित सम्बन्ध में निहित है। इसे इस

---

१. लैंगर, फिलासफी इन् ए न्यू की; सी० मारिस्, दि फाउण्डेशन्स् आफ् दि थियरी आफ् साइन्स इण्टरनेशनल् इन्सायक्लोपीडिया आफ यूनाइटेड साइन्स, न्यूरठ, कार्नप् ऐण्ड् मारिस्, दि युनिवर्सिटी आफ् शिकागो प्रेस, १९५५।

२. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १३९-१४०।

प्रकार से बोध्य बनाया जा सकता है। यदि 'अ' 'ब' का प्रतीक है, तो यह जानना आवश्यक है कि 'अ' तथा 'ब' में कौन सा सम्बन्ध है ? यदि 'ब' को अज्ञात रहने पर भी 'अ' ज्ञातव्य होता, तो इन दोनों के सम्बन्ध को सरलता से जाना जा सकता था। परन्तु स्थिति यह है कि हमारा 'ब' का ज्ञान 'अ' के द्वारा ही है। इसका निर्गलितार्थ यह हुआ कि यथार्थ का ज्ञान पूर्णतया भाषा पर[1] निर्भर है। यद्यपि यह तर्कवाक्य (प्रपोज़ीशन) स्वयं में स्पष्ट नहीं है; तथापि अखण्डनीय प्रतीत होता है। यदि यथार्थ का तात्कालिक संज्ञाम (काग्निशन्) संभव हो, तो न तो भाषा, न सत्य, न मिथ्या और न ही अर्थविचार की कोई स्थिति होगी; क्योंकि ऐसे सभी विचार प्रस्तुतीकरण से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान के प्रस्तुतीकरण में उनकी कोई प्रासंगिकता नहीं है। अतएव वित्तगिन्स्ताइन्[2] का कथन है कि उपरितन निर्दिष्ट सम्बन्ध का अर्थ है, भाषा तथा यथार्थ की 'समरूपता' (इसामार्फिज़्म्) अथवा 'सधस्थता' (कान्सबस्टेन्शियल्टी)। इसका अर्थ हुआ कि भाषा की संरचना एवं यथार्थ में साम्य है। इस सिद्धान्त में स्थित विरोधाभास बहुचर्चित है। यह भाषा और यथार्थ की 'समरूपता' में सत्य की प्रतिभा है, तो इन दोनों का सम्बन्ध भी 'समरूप' होगा और तब तर्कवाक्य की सत्यता एवं असत्यता का निर्णय करना कठिन हो जायेगा। कोई तर्कवाक्य तभी सत्य होता है, जब तदर्थ के अनुरूप कार्य होता है। यदि कार्य दूसरे तर्कवाक्य में निहित अर्थ के अनुकूल किया जाता है, तो वह तर्क-वाक्य त्रुटिपूर्ण[3] है। सत्यापन की यह परिभाषा वृत्ताकार होने के अतिरिक्त अनुष्ठान के प्रतीक-कार्य की अवधारणा को निष्प्रभ बना देती है। अतएव इस परिभाषा की वृत्तात्मकता का निषेध करना आवश्यक है, जिससे यह प्रतीकात्मक कार्य के रूप में स्थित अनुष्ठान का संगोपन न कर सके। इस दृष्टि से भाषा के प्रत्यक्ष (टेम्पोरल्) तथा परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयामों का विवेचन आवश्यक है[4]।

भाषा का आरम्भ अनुभव से होता है, अतएव समस्त ज्ञान इसी से आरब्ध होते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा का उद्भव अनुभव से होता है। भाषा के पास निरन्तर अनुभव का संदर्भ बना रहता है। यही संदर्भ अस्तित्व को प्रत्यक्षवृत्त प्रदान करता है, और इसी को भाषा का प्रत्यक्ष आयाम कहा जाता है। परन्तु अनुभव सततप्रवाही होने के कारण किसी विन्यास या संघटन के सिद्धान्त की सृष्टि नहीं कर सकता। अतएव भाषा परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयाम में अन्तर्निहित हो जाती है[5]।

---

१. तदेव, पृ० १४०-१४१।

२. वित्तगिन्स्ताइन, ट्रैक्तातुस्-लाजिको-फिलासफिकुस्।

३. जे० आर० वाइनबर्ग, ऐन् इक्जामिनेशन् आफ् लाजिकल् पाजिटिविज्म्, लिटिलफील्ड ऐडम्स् ऐण्ड् कम्पनी, न्यू जरसी, १९६०, पृ० ४८-४९।

४. नगेन्द्र, तदेव, पृ० १४४।

५. तदेव, पृ० १४४-१४५।

भाषा के परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयाम का सम्बन्ध सामान्य के साथ होता है और प्रत्यक्ष (टेम्पोरल्) आयाम का सम्बन्ध सामान्यगत एक विशेष पदार्थ के साथ होता है। सामान्य के साथ सम्बन्ध होने पर ही अर्थ बोध्य होते हैं, अतएव सामान्य, अर्थ में प्रमुखतया निहित रहता है। परन्तु सामान्य स्थिर रहता है, पर अर्थ विभिन्न होता है, अतएव पुरोवर्ती अपने पश्चवर्ती के लिये अनुभवातीत बना रहता है। इस सम्बन्ध को न्यायवैशेषिक[१] दर्शन में 'समवाय' कहा गया है। सामान्य अधिसंख्य होते हैं, अतएव उनमें सोपानक्रम (हॉयरॉर्की) होता है और वे जिसमें समवेत रहते हैं, वह पर सामान्य होता है[२]।

जब कार्य के संदर्भ में सत्यापन को तथा अर्थ के संदर्भ में कार्य को परिभाषित किया जाता है, तब यह परिलक्षित होता है कि अर्थ और कार्य दोनों भाषा के परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयाम से निर्गत होते हैं। यदि और स्पष्टरूप में कहा जाये, तो ये दोनों परसामान्य से उद्भूत होते हैं। इस प्रकार सत्यापन परोक्ष (अटेम्पोरल्) के समतुल्य तथा परोक्ष विहित कार्य के समतुल्य सिद्ध होता है[३]।

अब यह विचारणीय है कि सत्यापन के संदर्भ में अनुष्ठान का क्या अर्थ होता है? जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वहाँ ऐसा कोई तर्कवाक्य नहीं है, जो अनुष्ठान की समतुल्यता प्राप्त करे। इस प्रकार अनुष्ठान असत्यापित, अतएव अर्थविहीन हो जाता है। अनुष्ठान परसामान्य का सम्पादन है; क्योंकि यह विश्व के तत्त्व को अभिव्यञ्जित करने का प्रयास करता है। यदि प्रत्यक्ष की दृष्टि से विचारा जाये, तो अनुष्ठान का अर्थ स्पष्ट रहता है। अनुष्ठान असत्यापित है, क्योंकि उसकी अर्थवत्ता का निर्धारण नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि अर्थ की अवधारणा इसे अवधारित करने में असमर्थ है। अनुष्ठान जिसे अभिव्यक्त करता है, वह अकथ्य होता है, अतएव प्रज्ञाप्य होता है। परन्तु जिसे यह प्रज्ञापित करता है, वह अर्थ का मूलाधार है, अतएव इसे कोरी बकवास कह कर निरस्त करना सम्भव नहीं है[४]। अर्थ के स्तरों का सिद्धान्त

---

१. विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य, कारिकावली; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९१५, १.११, पृ० ६।

२. तदेव, १.८ पृ० ५-६; नगेन्द्र, तदेव, पा० टि० १२-१३, पृ० १४५-१४६; भर्तहरि ने परसामान्य को महासत्ता कहा है—वाक्यपदीयम्, ३.३४, हेलाराज, तदेव; सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७४, भाग ९१; रामसुरेश त्रिपाठी, संस्कृत व्याकरण-दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७२, पृ० १५४-१५५; रामचन्द्र पाण्डेय, दि प्राब्लम् आफ् मीनिंग इन् इण्डियन् फिलासफी, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली, १९६३।

३. द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, ट्रान्सफार्मेशन् आफ् नेचर् इन् आर्ट, डोवर पब्लिकेशन्स्, न्यूयार्क, १९५६ पृ० १२, नगेन्द्र, तदेव, पा० टि० १४, पृ० १४६।

४. तु०, मार्टिज् श्लिक्, मीनिंग ऐण्ड् वेरीफिकेशन्,—फ्रिलासफी इन् दि ट्वण्टियथ् सेन्चुरी, पृ० २८.३१; ए० जे० अयेर, इलीमिनेशन् आफ् मेटॉफिजिक्स्, तदेव, नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १४७, पा० टि० १५, तदेव।

यह बताता है कि प्रज्ञापन की विधा संकेत विधा के समान हो सकती है। प्रतीक के सिद्धान्त में कार्य की अवधारणा केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह करती है, अतएव यह बोध्य नहीं होना चाहिए कि यह सिद्धान्त उपयोगितावादी (प्रैगमेटिस्ट) सिद्धान्त का एक अन्य प्रकार है। उपयोगितावादी सिद्धान्त में सफलता केन्द्र में स्थित है; परन्तु प्रतीक का सिद्धान्त इसकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करता है।

यद्यपि ऋग्वेद में परोक्ष शब्द का उल्लेख नहीं है; तथापि ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं, जिस पर आधृत होकर यह कहा जा सकता है कि परोक्ष-विधान[1] की प्रक्रिया का आरम्भ हो चुका था। ऋग्वेद[2] कहता है कि सम्पूर्ण वाणी चार भागों में विभक्त है; जिसे वेदवित् मनीषी जानते हैं। उनमें तीन गुहा निहित है, स्पष्टरूप से ज्ञेय नहीं हैं। मनुष्य-व्यवहार्य वाणी सम्पूर्ण वाणी का केवल चौथाई भाग है। एक अन्य[3] स्थल पर वर्णन है कि द्युलोक के पृष्ठ पर देव गुप्त मन्त्रणा करते हैं। उस मन्त्रणा को कोई जान नहीं सकता। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतीक-बोध के लिये अनेकत्र परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ है[4]। वैदिक अवधारणाएँ परोक्ष से ही अभिव्यक्त होती हैं। मानुषी-वाणी प्रत्यक्ष को ही अभिव्यक्त कर सकती है और दैवी-वाणी परोक्ष[5] को। दैवी वाणी के प्रयोक्ता परोक्षकाम देव परोक्षप्रिय[6] हैं। परोक्षप्रिय शब्द में प्रयुक्त शब्द प्रिय देवों की परोक्ष में आसक्ति का द्योतन नहीं करता; अपितु यह संकेत करता है कि परोक्षता उनकी प्रकृति में है।

यास्क का कथन[7] है कि जिस ऋचा का उच्चारण प्रथम पुरुष में किया जाता है, उसे परोक्ष कहते हैं और जिसका वर्णन मध्यम पुरुष में होता है, वे ऋचाएँ प्रत्यक्ष-परक हैं। परोक्ष का प्रयोग सदा देवों के निमित्त ही किया जाता है और वैदिक

---

[1] प्राचीन वैदिक साहित्य में परोक्ष की अवधारणा के लिये द्र०—आनन्दकुमारस्वामी, दि ट्रान्सफार्मेशन् आफ् नेचर् इन् आर्ट, डोवर पब्लिकेशन्स्, न्यूयार्क, १९५६, अध्याय ५, पृ० १२१-१३८।

[2] ऋ० सं०, १.१६४.४५—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तु०, अ० सं०, ९.१०.२७; श० ब्रा०, ४.१.३.१७; तै० ब्रा०, २.८.८.५; जै० उ०, १.७.३; द्र०, कपिलदेव, 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'....', विश्वसंस्कृतम्, ३ (२), फरवरी, १९६६, पृ० १४४ आदि।

[3] ऋ० सं०, १.१६४.१०—मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्; तु०, अ० सं०, ९.९.१०, सायण, तदेव, मन्त्रयन्ते गुप्तं भाषन्ते।

[4] श० ब्रा०, १४.६.११.२। बृ० उ०, ४.२.२।

[5] द्विधा वाणी के लिये द्र०, श० ब्रा०, ७.१.२.१८-द्वयं वाचो रूपं दैवं मानुषं च।

[6] श० ब्रा०, ६.१.१.२,७.४.१.१०,१०.५.२.१४ आदि; तै० ब्रा०, १.५.९.२,२.३.११.१-४; ३.१२.२.१ आदि; गो० पू०, १.१.१।

[7] यास्क, निरुक्त, ७.१.१-२।

व्याख्याता इसे 'अधिदैवत' कहते हैं। मनुष्य एवं यज्ञ के विषय में कथन को क्रमशः अध्यात्म एवं अधियज्ञ कहा गया है[१]। आचार्य दुर्ग[२] वैदिक शब्दों के अर्थ-बोध के लिये तीन वृत्तियों का विधान करते हैं—प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति एवं अति परोक्ष-वृत्ति। अति परोक्षवृत्ति के द्वारा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष वृत्तियों से अबोध्य शब्दों का अर्थ बोध्य बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में जिसे परोक्ष कहा गया है, दुर्ग के अनुसार वही अति परोक्ष है। अतएव इसी सन्दर्भ में अनुवर्ती भारतीय अर्थ-विज्ञान को समझना चाहिए।

भाषा के प्रत्यक्ष (टेम्पोरल्) तथा परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयाम की विसदृशता अर्थों के विविध स्तरों को उद्घाटित करती है। भारतीय अर्थविज्ञान की परम्परा त्रिविध अर्थ-विधाओं को स्वीकारती है। जयदेव[३] का कथन है कि वाक् गंगा के प्रवाह के समान त्रिधा है। वह कहीं गम्भीर, कहीं कुटिल और कहीं सरल है। इस प्रकार सरस्वती कहीं अथाह है, कहीं थहाई जा सकती है और कहीं स्वच्छन्दरूप में अवगाहनीय है। अर्थ के इन त्रिविध[४] स्तरों का अभिधान अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना है। अभिधा सामान्य अर्थ का अभिधान करती है। लक्षणा, अभिधेय से सम्बन्धित अर्थ का तब प्रकाशन करती है, जब अभिधा उसे बताने में अक्षम हो जाती है। अभिधेय एवं लक्ष्य अर्थ के असफल हो जाने पर व्यञ्जना के कार्यक्षेत्र का आरम्भ हो जाता है। वाक्य का व्यञ्जित अर्थ ध्वनि है. जिसका यह ध्वनन करता है। इस प्रकार व्यञ्जित अर्थ तब उद्भासित होता है. जब निर्देश्य प्रतीक दूसरे के रूप में प्रयुक्त होता है और इस प्रक्रिया का पर्यवसान आनन्त्य में होता है। प्रतीक को अग्रिम प्रतीक के रूप में प्रयुक्त कर व्यञ्जनात्मक अर्थ की उपलब्धि की जा सकती है।

प्रत्येक प्रतीक अपनी शक्ति के कारण एक तथ्य है। व्यञ्जनात्मक व्याख्या में यह प्रतीकरूप में प्रयुक्त होता है, न कि तथ्य के रूप में। जब हम इसके अर्थ का अवगम करते हैं, तब हम परावर्तित होकर इस अर्थ को तथ्य न मानकर अग्रेतन प्रतीक के रूप में स्वीकारते हैं और इस प्रकार हम अर्थ के एक नूतन स्तर का बोध करते हैं। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ की विधा भाषा के परोक्ष (अटेम्पोरल्) आयाम का संस्पर्श करती है। इससे स्पष्ट है कि व्यञ्जित अर्थ के स्तर पर ही अनुष्ठान द्वारा संकेतित अर्थ बोध का विषय बन सकता है। इस प्रकार बोध्य होने पर अनुष्ठान सम्पूर्णता (होलनेस्) का स्वीकार है।

इस विश्लेषण के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि प्रत्येक कार्य प्रतीकात्मक होता है। उपरितन निर्दिष्ट त्रिविध अर्थ, अर्थ ही हैं, यह असंदिग्ध

---

[१] श० ब्रा०, १०.५.२.५-७।

[२] दुर्ग, निरुक्त, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५२, पृ० ४-५।

[३] जयदेव, चन्द्रालोक, हरिदास संस्कृत सीरीज्, ५७, १९५०, ७.१।

[४] मम्मट, काव्यप्रकाश, आ० ग्र०, ६६, १९११, पूना, २.८-२०; नगेन्द्र, तदेव, पृ० १४८-१४९ पा० टि० १७, पृ० १४८।

है; परन्तु उनकी गंभीरता में तारतम्यभाव है। यहाँ केवल यह कथ्य है कि व्यञ्जित अर्थ अवधारणा का प्राण है, अतएव वह गहनतम है। दिक्-काल-सापेक्षता के कारण उदात्ततम तथा गहनतम अर्थ की प्रक्रिया से बोध का समारम्भ नहीं हो सकता। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक कार्य की अर्थवत्ता अनुष्ठान के रूप में निहित है[1]; परन्तु उससे प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। जब यह कहा जाता है कि अनुष्ठान एक प्रतीकात्मक कार्य है, तब इसका सर्वप्रथम यह अर्थ होता कि यह एक ऐसा कार्य है, जिसका विधान यथार्थ के भीतर नहीं किया जा सकता; परन्तु अनुष्ठान निश्चितरूप से अनुष्ठेय है, अन्यथा जिसका विधान यथार्थ के स्तर पर किया जायेगा, वह अवधार्य नहीं होगा। इसके साथ ही अनुष्ठान एक ऐसा कार्य है, जो एक सिद्धान्त को बलपूर्वक अभिहित करता है, जिसका कथन अन्यथा दुष्कर है।

उपरिवर्णित अभिप्राय के अनुसार यदि प्रतीकात्मक कार्य अनुष्ठान का कोई कार्य है, तो वह सभी प्रतीकों का सार्वभौम कार्य हो सकता है तथा वह विचार की सहायता के द्वारा उपयोगी भी बन सकता है। प्रत्येक अनुष्ठान और कार्य का अन्तिम अर्थ है अवाच्य को व्यञ्जित करना[2]।

अतएव स्पष्ट रूप से[3] मानव-जीवन और समाज अपने सातत्य तथा संधारण, सम्पूर्ण प्रयोजन के अनुबोध और विचार तथा आद्य सिद्धान्त के लिये इस अनिर्वचनीय आवश्यकता में प्रतिष्ठित होकर इस अवाच्य का केवल विचार कर सकता है। यद्यपि यह विचार भी अन्ततः अनुभवातीत ही रहेगा। अनुष्ठान एतदतिरिक्त कुछ भी नहीं करता।

क्रिया का सिद्धान्त : यज्ञ एक प्रतीकात्मक क्रिया—

पूर्व विवेचन से यह प्रमाणित हो चुका है कि अनुष्ठान एक प्रतीकात्मक क्रिया है। अनुष्ठान के अर्थ-बोध की प्रक्रिया के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि क्रिया के सिद्धान्त के संदर्भ में सत्यापन के सिद्धान्त का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुतः क्रिया के सिद्धान्त की व्याख्या प्रतीक के सिद्धान्त का पूरक है।

अद्यतन आधुनिक विश्व में सभी सामाजिक, सांस्कृतिक अनुशासन इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि उनके अध्ययन का समुचित क्षेत्र मानव-क्रिया है। प्रतीकवाद का सिद्धान्त और क्रिया का सिद्धान्त अन्योन्याश्रित है। ये दोनों ज्ञानमीमांसा एवं सैद्धान्तिक अधीति के सोपानक्रम से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः यह कथ्य नहीं है; परन्तु इसे

---

[1] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो० पृ० १५१।

[2] आनन्दकुमारस्वामी, हिन्दुइज्म ऐण्ड् बुद्धिज्म, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, १९७५, पृ० ११, नगेन्द्र, तदेव, पृ० १५१, पा० टि० १९, तदेव।

[3] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १५१।

संकेतित किया जा सकता है, अथवा नकारात्मकरूप में इसका अनुभव किया[1] जा सकता है।

टालकॉट पार्सन्स् तथा एडवर्ड शिल्ज़ ने सम्मिलित[2] रूप में क्रिया के सिद्धान्त का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यह विश्लेषण अद्यतन है। इनका विवेचन जीवशास्त्र के अभिविन्यास से युक्त प्रत्यक्षवाद के परिसर में स्थित है। इनके अनुसार प्रतीकवाद की कार्य-पद्धति प्रत्यक्षवाद का एक घटक है। इनकी दृष्टि में प्रतीकात्मक पद्धति के रूप में निर्धारित सांस्कृतिक पद्धति अति महत्त्वपूर्ण है। इस पद्धति के ज्ञान के पश्चात् यह जिज्ञास्य हो जाता है कि विचार और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? विचार और कार्य भाषा तथा यथार्थ के संदर्भ में ही अस्तित्व में स्थित होते हैं। अतएव भाषा तथा यथार्थ के विवेचन से उत्पन्न निर्गलितार्थ के सदृश ही विचार तथा कार्य का भी निष्क्रुष्टार्थ होगा। भाषा की अवधारणा से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रस्तुतीकरण किसी-न-किसी यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है। यह प्रस्तुतीकरण तभी सही हो सकता है, जब प्रस्तुतीकृत तथा प्रस्तुतीकरण में अर्थानुरूप्य हो[3]। इसका यह अर्थ हुआ कि विचार और क्रिया के मध्य परस्पर अनुरूपता आवश्यक है। वस्तुतः यह परस्पर-अनुरूपता दोनों के तादात्म्योकरण की पद्धति है। यदि इस सरणि को अस्वीकारा जाता है, तो विकल्प यह होगा कि विचार एवं क्रिया को मन तथा शरीर के संदर्भ में अवधारित किया जाये, अथवा दूसरे स्तर पर इन्हें आत्मनिहित द्वितत्त्वीय पदार्थ के रूप में निर्धारित किया जाये और इनकी व्याख्या अति प्राकृतिक (सुपर्नेचुरल्) के हस्तक्षेप पर आश्रित होकर की जाये। परन्तु ये दोनों विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकते[4]। द्वितत्त्वीय सिद्धान्त को स्वीकारने पर मानव-व्यक्तित्व को निर्धारित करने में गम्भीर कठिनाई उत्पन्न होगी; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मन एवं शरीर से युक्त होता है। ये दोनों एक साथ क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। इस सिद्धान्त के रहने पर आन्तर क्रिया (इन्टर्ऐक्शन्) तथा समायोजन (काम्बीनेशन्) के नियम का भी अपलाप करना पड़ेगा।

उपरितन विवेचन से स्पष्ट है कि क्रिया अर्थ के सन्दर्भ में ही परिभाषित होगी। पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त—अर्थ, क्रिया के सन्दर्भ में परिभाषित होता है—का यह प्रतीपीकरण है। समाजविज्ञानियों की दृष्टि में प्रत्येक क्रिया उद्देश्य-परक होती है। उद्देश्यपरक गति सर्वदा अर्थ के प्रति निरन्तर अभिविन्यास से संपृक्त रहती है।

---

१. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो० पृ० १५३।

२. पार्सन्स और शिल्ज़ टुवर्डस् ए जनरल् थियरी आफ् ऐक्शन्, हार्पर्, टार्च बुक्स्, न्यूयार्क, १९६२।

३. नगेन्द्र, तदेव, पृ० १५४। द्र०, ऐ० ब्रा०, १.५, एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धम्, यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।

४. गिल्बर्ट रिले, दि कान्सेप्ट् आफ् माइण्ड्, पेम्गुइन् बुक्स, १९६३। अध्याय ७; नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १५४।

गति स्थानिक-प्रत्यक्ष (स्पेशिओ-टेम्पोरल्) की कोटि में है और क्रिया दिक्काल-सापेक्ष होती है। परन्तु इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि काल क्रिया की भूत-शृङ्खला को प्रस्तुत करता है, जिसे प्रत्येक क्रिया पूर्वमान्य स्वीकारती है। इसी प्रकार इस संदर्भ में दिक् का अर्थ है काल के प्रवाह की विभिन्नता और विभिन्न क्रिया-शृंखलाओं का अन्तःसम्बन्ध। इस प्रकार दिक्-काल क्रिया के स्तर पर एक परिस्थिति या दृश्य के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस बोध के होने पर स्पष्ट है कि परिस्थिति क्रिया का प्रथम तर्कमूलक घटक है।

"निरन्तर अभिविन्यास" कथ्य का विवेचन करने पर ज्ञात होगा कि प्रत्येक क्रिया की दिशा भविष्य के संदर्भ की ओर उन्मुख रहती है। दिशा की अवधारणा क्रिया के बाहर स्थित 'सातत्य' (कान्सटेण्ट) अथवा 'सामान्य' (यूनीवर्सल्) को व्यक्त करती है, अतएव क्रिया की दृष्टि में अनुभवातीत होती है। इसी सातत्य (कान्स्टेण्ट) को क्रिया का अर्थ कहा जाता है। क्रिया के प्रत्यक्ष स्तर पर यह सातत्य अथवा सामान्य क्रिया का 'साध्य' बन जाता है। यह क्रिया का दूसरा तर्कमूलक घटक है। तीसरी स्थिति में प्रत्येक क्रिया का एक कर्ता होता है, जो बाहर रहता है अथवा 'अभिविन्यास' करता है। चौथी स्थिति में प्रत्येक क्रिया में एक 'कर्मपात्र' (पेशेण्ट) भी भागीदार रहता है, जिसे वेबर् ने 'अन्य'[1] और पार्सन्स ने 'परिवर्तित' (आल्टर) कहा है। यह 'अन्य' कर्ता की क्रिया से प्रभावित होता है। पाँचवीं स्थिति यह है कि क्रिया में 'साधन' भी रहता है, जो कर्ता एवं साध्य के मध्य मध्यस्थता करता है। क्रिया के ये पाँच विश्लेषणात्मक घटक एक तर्कमूलक अन्तःसम्बन्धित आकार को प्रस्तुत करते हैं। क्रिया, साधन और साध्य में एक तर्काश्रित सम्बन्ध है।

क्रिया के 'अभिविन्यास' (ओरिएण्टेशन्) की प्रक्रिया के विवेचन के पूर्व उसके सामाजिक तथा वैयक्तिक आयाम की चर्चा आवश्यक है। क्रिया को परिभाषित करता हुआ मैक्स वेबर् कहता है कि सामाजिक क्रिया एक ऐसी क्रिया है, जो दूसरी क्रिया की ओर अभिविन्यस्त रहती है। इस स्थिति में प्रत्येक क्रिया सामाजिक हो जायेगी और इसका सामाजिक विशेषण भी निरर्थक होगा[2]। वस्तुतः यह एक विरोधाभास है, मैक्स वेबर् ने सामाजिक क्रिया के साथ वैयक्तिक क्रिया की संपृक्ति की उपेक्षा कर दी। यह इसलिए हुआ; क्योंकि उसने क्रिया के सन्दर्भ में स्थित 'अन्य' का विवेचन नहीं किया।

दुर्खीम्[3] का मत है कि सामाजिक रूप में 'क्रिया करने का मार्ग' वैयक्तिकता से बाहर है, वह व्यक्ति की क्रियाओं को नियन्त्रित करती है, उसे अनुभवन के क्षेत्र में पहुँचाती है और उसकी क्रियाओं को प्रभावित भी करती है। दुर्खीम् व्यक्ति को 'जैवमानस' (बायोसायकिक्) मानता है; परन्तु उसके सिद्धान्त में एक तर्कमूलक

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, अध्याय, ४;

[2] तदेव।

[3] दुर्खीम्, दि रूल्स् आफ् सोशिआलाजिकल् मेथड्, दि फ्री प्रेस, ग्लेनको, इलीनियास्, १९५८, पृ० ३-८।

व्यक्ति की उपस्थिति निहित है। दुर्खीम् की दृष्टि में प्रत्येक सामाजिक कार्य प्रतिबन्धों तथा व्यवस्थाओं से नियन्त्रित रहता है। प्रतिबन्ध स्वतन्त्रता को अतिक्रान्त करता है। एतद् विपरीत वैयक्तिक कार्य सामाजिक प्रभावों के परिवेश में भी स्वतन्त्र रहता है। इस प्रकार का मुक्त कार्य अन्ततः अर्थहीन होगा।

क्रिया के 'अभिविन्यास' (ओरिएण्टेशन्) के चार प्रमुख तर्कमूलक घटक[1] हैं : १, 'साध्याभिविन्यस्त क्रिया' (इण्ड्–ओरिएण्टेड् ऐक्शन्), इसमें साध्य केन्द्रस्थ होता है और उसके चतुर्दिक् क्रिया रहती है; २. 'साधनाभिविन्यस्त क्रिया' (मीन्स-ओरिएण्टेड् ऐक्शन्), इसमें साधन नभ्य होता है और उसके चारों ओर क्रिया रहती है; ३. 'कर्मपात्राभिविन्यस्त क्रिया' (पेशेण्ट-ओरिएण्टेड् ऐक्शन्), इसमें 'कर्मपात्र' (पेशेण्ट्) मध्यवर्ती होता है और इसके चारों ओर क्रिया रहती है; ४. 'कर्त्रभिविन्यस्त क्रिया' (ऐक्टर्-ओरिएण्टेड् ऐक्शन्), इसमें कर्ता स्वयं केन्द्र में अवस्थित रहता है और उसके चहुँ ओर क्रिया रहती है।

'कर्त्रभिविन्यस्त क्रिया' में साध्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। साधन, 'कर्मपात्र' और कर्ता इसके अधिकार में सहायकरूप में रहते हैं। 'कर्मपात्राभिविन्यस्त क्रिया' में कर्ता का ध्यान 'कर्मपात्र' (पेशेण्ट्) की ओर रहता है। ध्यातव्य है कि 'कर्त्रभिविन्यस्त क्रिया' सामाजिक नहीं होती। 'कर्मपात्राभिविन्यस्त क्रिया' भावनात्मक होती है। यज्ञ अथवा अनुष्ठान 'कर्त्रभिविन्यस्त क्रिया' की कोटि में स्थापित किया जाता है। 'अभिविन्यास' के इन नियमों से क्रिया को पद्धति का एक 'प्ररूप-विज्ञान' (टाइपॉलॉजी) की संरचना की जा सकती है[2]।

प्रत्येक सामाजिक क्रिया अन्य क्रियाओं में निहित है, अतएव 'एकक क्रिया' (यूनिट् ऐक्ट्) को उससे पृथक् करना कठिन है। इस कठिनाई से दो परिणाम निकलते हैं। प्रथमतः तो यह कठिनाई है कि क्रिया के विशेष प्रवाह के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता, कारण, इसके परिणाम पूर्व अवधारित नहीं हैं। इस स्थिति की गम्भीरता के कारण यज्ञ अथवा अनुष्ठान में भी सभी क्रियाएँ सन्निहित हो जाती हैं। इसके दो हेतु हैं : १. साध्य-साधन का अन्तर, अवधारणा और क्रिया का अन्तर है; २. साधन-साध्य के मध्य तर्कमूलक सम्बन्ध होने के कारण अनुकूलन है, अतएव उनके भेद का लोप हो जाता है। इस प्रकार तर्कमूलक विचार अर्थहीनता में पहुँच जाता है। इसी प्रकार अपनी क्रियाओं के मूल्यांकन की भी कठिनाई है। इस मूल्यांकन से गलत-सही विचारों की वैधता भी प्रभावित होगी। अतएव इसका एक ही निदान है कि सभी क्रियाओं को यज्ञ में समाहित कर लिया जाये। इस प्रकार उच्च स्तर पर तार्किकता और नैतिकता को भी परिभाषित किया जा सकेगा।

सभी क्रियाओं का त्रिविध विभाजन संभव है[3]—'आर्थतकनीकी क्रिया' (टेक्निक्-इकॉनामिक्); २. 'राजनैतिक-विधिक' (पोलिटिकल्-लीगल्), और

---

[1] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १५८; २. तदेव, पृ० १५९, पा० टि० ८।

[3] नगेन्द्र, तदेव, पृ० १६१।

३. 'सांस्कृतिक-धार्मिक' (कल्चरल्-रिलीजस्)। ध्यातव्य है कि सोपानक्रम (हॉयरार्की) में सांस्कृतिक-धार्मिक क्रिया सबके ऊपर है, तकनीकी-आर्थिक क्रिया सबसे नीचे और राजनैतिक-विधिक क्रिया मध्यवर्ती है[1]। अध्ययन की दृष्टि से यहाँ सांस्कृतिक-धार्मिक क्रिया ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव इसी का विवेचन वांछित हैं। यह सही है कि अपने संदर्भ-जैवी अथवा जागतिक तथा कानून एवं व्यवस्था में इनका अपना महत्त्व है, पर ये क्रियाएँ मानव को मानव बनाने, विश्व के साथ उसका तादात्म्य स्थापित कराने और ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु से नित्य, सतत, अखण्ड, अकाल, अभेद्य, अच्छेद्य एवं पारमार्थिक सम्बन्ध स्थापित कराने में अशक्त हैं, अतएव परमार्थिक दृष्टि से हेय हैं।

वाजसनेयिसंहिता की प्रथम कण्डिका में प्रयुक्त 'श्रेष्ठतम कर्म'[2] की व्याख्या करते हुए महीधर[3] ने क्रिया का चतुर्धा विभाजन किया है: अप्रशस्त, प्रशस्त, श्रेष्ठ ओर श्रेष्ठतम। लोकविरुद्ध हत्या, चोरी आदि कार्य अप्रशस्त कर्म है। लोक में प्रशंसित बन्धु-बांधवों का पालन-पोषण प्रशस्त कर्म है। धर्मशास्त्रों में वर्णित वापी, कूप, तालाब आदि लोकोपकारी कार्य श्रेष्ठ कर्म के अन्तर्गत आते हैं। वेदविहित यज्ञ का कार्य श्रेष्ठतम है। ब्राह्मणग्रन्थों[4] में भी उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में यज्ञकर्म को

---

१. आर्थतकनीकी तथा राजनैतिक-विधिक कार्य की समीक्षा हेतु द्र०, नगेन्द्र, तदेव, पृ० १६२-१६५; द्र०, ज्याँ प्रिज़िलुस्की, ला ग्रांद देस्से इन्ट्रोद्युक्सों आ ले त्यूदे कम्परातिव दे रिलीजिओं, पेयात्, पारो, १९५०—प्रिज़िल्स्की के अनुसार मानवीय उद्विकास के तीन चरण हैं: १, आर्थिक, २, सामाजिक और ३, आध्यात्मिक। मनुष्य प्रारम्भिक अवस्था में 'होमो फबर' था। वह औजारों को बनाकर अपने आर्थिक पर्यावरण में ही बना रहा। आत्माओं अथवा ईश्वर के चक्र में वह नहीं था। मनुष्य दूसरे चरण में 'होमो सेपियन्स्' हुआ। उसने इस काल में सामूहिकरूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार मनुष्य ने सामाजिक पर्यावरण में रहना सीखा। इसी समय जादुई अनुष्ठान, इतिहास (मिथ्)-चेतना आयी। फलस्वरूप इतिहास (मिथ्) और अनुष्ठानों की पद्धति बनी। मनुष्य अपनी यात्रा के तीसरे चरण में आध्यात्मिक बना। फलस्वरूप वह आत्मचेतन एवं नैतिक हुआ। स्वतन्त्र व्यक्तित्व से युक्त होकर वह आध्यात्मिक पर्यावरण में आया। प्रिज़िलुस्की के इस उद्विकास का सिद्धान्त क्रिया के सिद्धान्त पर भी पूर्णतया लागू होता है। उद्विकास की यह त्रिधा स्थिति आज के आधुनिकतम समाज में दृष्टिगत होती है। अतएव मनुष्य के कार्यों का भी विभाजन प्रिज़िलुस्की के सिद्धान्त के संदर्भ में किया जा सकता है।

२. वा० सं०, १.१, तु०, तै० सं०, १.१.१; का० सं०, १.१; मै० सं० १.१.१; क० सं०, १.१।

३. महीधर, वा० सं०, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली, १९७१ पृ० ५।

४. श० ब्रा० १.७.१.५; तु०, का० सं० ब्रा०, ३०.१०; मै० सं० ब्रा०, ४.१.१; क० सं० ब्रा०, ४५.८, तै० ब्रा०, ३.२.१.४; द्र०, सायण, श० ब्रा०, तदेव-साक्षात् स्वर्गसाधनत्वादितरकर्मभ्यः श्रेष्ठतमम्।

सर्वातिशायी बताया गया है। महिदास[१] ऐतरेय का कथन है कि यज्ञ एक ऐसी सुन्दर तथा सुदृढ़ नौका है, जिससे व्यक्ति की चेतना स्वनिष्ठ यथार्थ के महोदधि को पारकर परम यथार्थ की चेतना से तादात्म्य की स्थापना कर सकती है। ध्यातव्य है कि ऋक्-संहिता[२] यज्ञ को 'प्रथम'[३] धर्म कह कर इसी अर्थ को अभिव्यक्त करती है।

सभी सांस्कृतिक-धार्मिक क्रियाएँ कर्त्रभिविन्यस्त (ऐक्टर्-ओरिएण्टेड्) होती हैं और उनके पीछे एक तर्क भी होता है। ये क्रियाएँ परम साध्य के प्रति अभिविन्यस्त होती हैं, क्योंकि परोक्षरूप में सभी क्रियाओं का अभिविन्यास इसी को लक्ष्य बना कर किया जाता है। अन्तिम साध्य नकारात्मक होता है, अतएव सांस्कृतिक-धार्मिक क्रिया को काल एवं जीवन की अपेक्षा नहीं रहती। परिणामतः वह उन्हें निरस्त करती है। वस्तुतः यह क्रिया जीवनोन्मुख न होकर निरन्तर जागतिक जीवन से अलग होने की चेष्टा में लगी रहती है।

जोसेफ् पीरर्[४] के अनुसार सभी सांस्कृतिक क्रियाएँ धार्मिक क्रियाएँ हैं। इनका उद्देश्य उपयोगितावादी विश्व के परे जाना है अथवा यह कहा जा सकता है कि ये उपयोगितावादी अर्थ को पहचानने एवं महसूसने का उद्देश्य रखती हैं। सांस्कृतिक-धार्मिक क्रिया के अन्यतम उदाहरण यज्ञ कला और काव्य हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि कला की साधना ईश्वरसाधना के समान है। आनन्दकुमार स्वामी[५] के अनुसार इसे मन स्वयं अपने-आपसे उत्पन्न करता है अथवा बहुत दूर से 'खींचता' (आकर्षति) है। अन्ततः इसे वह द्युलोक से लाता है, जहाँ कला की सभी प्रतिमाएँ यथानियम कार्य-रत रहती हैं, परन्तु सद्यः तो वह इसे अपने हृदयस्थ दिक्-काल (अन्तर्हृदयाकाश) से आकृष्ट करता है। द्रष्टा एवं दृश्य का संस्तव तो वहाँ होता है, जहाँ यथार्थ का अनुभव संभावित होता है। पवित्र तत्त्व से आपूरित शुद्ध ज्ञान (ज्ञान-सत्त्व-रूप) इस प्रकार अधिगृहीत होता है और अन्तर में ज्ञान का विषय (अन्तर्ज्ञेय) बनता है। इस स्थिति में वह स्वयं को प्रतिबिम्ब तथा स्वप्नदृष्ट के समान कल्पित दिक्काल के विरुद्ध अनुभव का विषय बनाता है। कल्पना करनेवाले को चाहिए कि वह इसके साथ पूर्ण आत्मतादात्म्य (आत्मानं ध्यायात् अथवा भावयेत्) स्थापित करे। इस देवत्व का चाहे जो नाम अथवा लक्षण हो, चाहे वह विपरीत लिंगी ही हो, अथवा स्वयं अतिप्राकृतिक भयानक चरित्र से ही युक्त होकर क्यों न आये,

---

[१] ऐ० ब्रा० १.१३—यज्ञो वै सुतर्मा नौः।

[२] ऋ० सं०, १.१६४.५०, १०.९०.१६—य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्; तु०, अ० सं, ७.५.१; वा० सं०, ३१.१६; तै० सं०, ३.५.११.५; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.३, आदि।

[३] यास्क, निरुक्त, २.२२— प्रथम' इति मुख्यनाम, प्र-तमो भवति।

[४] जोसेफ् पीपर्, लेज़र, दि बेसेस् आफ् कल्चर, फेबर् ऐण्ड् फेबर्, लण्डन, पृ० ५२।

[५] आनन्दकुमारस्वामी, दि ट्रान्सफार्मेशन् आफ् नेचर् इन् आर्ट्, डोवर् पब्लिकेन्स्, न्यूयार्क, १९५६, पृ० ९।

परन्तु उसका ज्ञान हो जाने पर अविभक्त कार्य के रूप में उसे समझकर निरन्तर उसके प्रादुर्भूत रूप की विभावना करनी चाहिए। वस्तुतः यही प्रतिमान है, जिसे कलाकार पाषाण, वर्णक, धातु अथवा किसी अन्य पदार्थ में उरेहता है। इसी स्थिति में होकर वह अपने कार्य का प्रारम्भ करता है।

चाहे यज्ञ हो, चाहे कला हो, चाहे कविता हो, यजमान, कलाकार और कवि उसी महत् देवता से, इन विधाओं के द्वारा संवाद करता है, स्व-संप्रेषण करता है। यह संवाद सदैव परोक्षरूप में होता है; क्योंकि वह[1] दुर्विज्ञेय है। परोक्षरूप में विश्वजित् यज्ञ महाव्रत[2] है। वह इन साधनों के द्वारा प्रत्यक्षरूप में अन्न प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य जो स्वयं प्रत्यक्षरूप से पाता है, वह परोक्षतः देवताओं को मिलता है, तथा वह देव जिसे स्वयं परोक्षरूप से मानवों को प्रदान करता है, वह प्रत्यक्षतः देवताओं को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से सभी वैदिक यज्ञ रहस्य एवं अनुकृति हैं। नृतत्त्वविज्ञानी जिसे प्रत्यक्षतः सहानुभूतिक (सेम्पेथेटिक्) जादू कहते हैं, वह परोक्षतः संमोहन या इन्द्रजाल है, न कि धार्मिक सेवा अथवा प्रार्थना। वस्तुतः सांस्कृतिक जीवन धार्मिक जीवन की प्रदीप्ति है तथा धार्मिक जीवन संस्कृति का शीर्षबिन्दु है।

प्रत्येक क्रिया तभी तक[3] उचित एवं नैतिक है, जब तक वह यज्ञ अथवा अनुष्ठान की भावना से की जाती है। अतएव शुद्ध तथा सत्यशील जीवन का अर्थ उसके प्रत्येक क्रिया का अनुष्ठान में परिवर्तन है। इस प्रकार अनुष्ठान या यज्ञ पूरी सामाजिक व्यवस्था का आधार है। व्यक्ति दिक्काल सापेक्ष होता है, प्रत्येक अस्तित्व की यही स्थिति है, अतएव जीवन को अर्थवत्ता की प्रतिमाओं से आच्छादित कर उसे सार्थकता प्रदान करने के लिए एक ही—केवल एक उपाय है, कि इसके प्रत्येक अणु को अनुष्ठान के द्वारा शाश्वत सत् में परिवर्तित कर दिया जाये। काल का आनुष्ठानिक उन्मूलन कर जीवन का प्रतीकात्मक निषेध प्राकृत (आर्केइक) एवं प्राचीन विश्व का एक सार्वभौम, अमृतमय[4] चित्र है। यदि आधुनिक विश्व प्राचीन मानसिकता का उपहास करता है, तो वह इसलिए कि वह याज्ञिक या आनुष्ठानिक प्रक्रिया के संस्पर्श से वंचित है।

इतिहास (मिथ्) : इतिहास (मिथ्) का विधिकरण यज्ञ—

यज्ञ के दो स्वरूप संभावित हो सकते हैं : ज्ञानमीमांसीय (मेटाफिजिकल्) अथवा ऐतिहासिक (मिथिकल्)। ज्ञानमीमांसा के स्तर पर यज्ञ का अर्थ होता है

---

[1] श० ब्रा०, ११.५.५.१३—दुर्विज्ञानं काव्यं देवतानाम्; काव्य के अर्थ के लिये द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, वैदिक इक्जम्प्लरिज्म, से० पे० २, पृ० १७९, पा० टि० २।

[2] तदेव, पृ० १२४-१२५।

[3] नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १६९।

[4] मर्सिया इलियाड, कॉस्मास् ऐण्ड् हिस्ट्री : दि मिथ् आफ् दि इटर्नल् रिटर्न, हापर् ऐण्ड् ब्रादर्स, न्यूयार्क, १९५९, पृ० २७२८।

विना किसी इच्छा के मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का पालन करना। ऐतिहासिक (मिथिक्) कार्य के रूप में यह अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) का परिसीमन है।

प्रतीकवाद के सिद्धान्त के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञ इतिहास (मिथ्) का विधिकरण (इनुऐक्टमेण्ट) है। भाषा में ऐसी कोई अवधारणा नहीं है, जो यज्ञ के समतुल्य हो, अतएव संधा भाषा (मेटॉलैंग्वेज) के सन्दर्भ में इसका बोध हो सकता है। इसका कारण यह है कि 'परम सत्' (अल्टीमेट् यूनिवर्सल्) के इतिहास (माइथॉस्) का विधिकरण ही अनुष्ठान अथवा यज्ञ है[१]।

निश्चितरूप से अभी तक कोई ऐसी पद्धति नहीं उपलब्ध है, जिसके द्वारा इतिहास (मिथ्) की व्याख्या की जा सके। इतिहास (मिथ्) के अर्थ का प्रतिपादन किसी ऐसी रीति से करना संभव नहीं है, जिसमें विरोधाभास की स्थिति[२] न हो। फ्रेज़र के अनुसार इतिहास (मिथ्) प्राकृत (प्रिमिटिव) जनों के द्वारा प्रकृति के संसार की व्याख्या करने का एक फूहड़ प्रयत्न है। मूलर का अभिमत है कि प्रागैतिहासिक काल से अनुवर्ती युग तक अयथार्थ रूप से समझा गया काव्यात्मक कल्पना इतिहास (मिथ्) है। दुर्खीम्[३] के मत में मनुष्य को अपने समूह में सुघड़ बनाने के लिये रूपकीय निर्देशों का संग्रहालय इतिहास (मिथ्) है। कैम्पबेल[४] के अनुसार इतिहास (मिथ्) रहस्य का उद्घाटक है, जो ब्रह्माण्ड की अक्षय ऊर्जा को मानव की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में उड़ेल देता है। कैरेनी[५] का कथन है कि इतिहास (मिथ्) एक ऐसी कला है, जो अपनी बुनावट को स्वयं प्रकट करती है और उस विशेष सामग्री को भी प्रकट करती है, जो इससे सम्बन्धित है। यह अपने नियमों के द्वारा उसी एक प्रत्यक्ष वस्तु की अविभाज्य एकता को एकत्र संघटित करता है।

संस्कृत-भाषा के अव्यय-समूह में उपलब्ध 'मिथो', 'मिथस्'[६] शब्द अंग्रेजी 'मिथ्, मिथास्' के सजातीय हैं। संस्कृत में ये दोनों शब्द संगति एवं रहस्य के वाचक हैं[७]।

---

[१] नगेन्द्र का मत हैं कि यज्ञ का स्रोत इतिहास (मिथ्) है। का० रि० मा० सो०, पृ० १७० अन्य अनेक नृशास्त्रविज्ञानी (इथ्नोग्राफर्) तथा धर्म-दार्शनिक (फिलासफर् आफ् रिलीजन्) के अनुसार इतिहास (मिथ्) अनुष्ठान की व्याख्या है। द्र०, अर्नस्ट कसारिर्, दि फिलासफी आफ् सिम्बालिक् फार्मस् भाग २, न्यू हैवेन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५; राबर्टसन स्मिथ, दि रिलीजन् आफ् दि सेमाइटस्, मेरेडियन् बुक्स, न्यूयार्क, १९५६, एस० एच० हूक, (मिथ्) रिचुअल ऐण्ड् किंगशिप्, ऑक्सफर्ड, १९५८, लाब रेगलैन, दि हीरो, दि थिंकर्स लाइब्रेरी, १९५९; इन सबके विरुद्ध मत के लिये द्र०, फ्रेन्जबोआस, उद्धृत, क्लाइड क्लूखोन, मिथ् ऐण्ड् रिचुअल्, री० क० रि०, पृ० १३७।

[२] फ्रेंक्फोर्ट ऐण्ड अदर्स, बिफोर फिलासफी, ए पैलिकन बुक्, १९५९, पृ० १६।

[३] तु०, जोसेफ कैम्पबेल, दि हीरो विद् ए थाउजेण्ड् फेसेस्, मेरेडियन् बुक्स्, न्यूयार्क, १९५६।

[४] तदेव; [५] तदेव।

[६] भट्टोजि दीक्षित, सिद्धान्तकौमुदी, निर्णयसार, बम्बई, १९२९, पृ० १७।

[७] भिक्षु ज्ञानेन्द्र सरस्वती, तदेव; अ० को०, ३.४.२५६, मिथोऽन्योन्यं, रहस्यपि, वाचस्पत्यम्, भाग ६, पृ० ४७५३; मो० वि०, पृ० ८१७।

धातुपाठों में √मिथ्, √मिट्टी, √मिधृ, धातुएँ मिलती हैं[1]। इनका अर्थ विभिन्न आचार्यों के अनुसार अलग-अलग हैं[2]। कुछ लोग इनका अर्थ गति, अन्य लोग हिंसा एवं दूसरे आचार्य मेधा अर्थ मानते हैं। रहस्यार्थक 'मिथो','मिथस्' अंग्रेजी शब्द मिथ् (इतिहास) से ध्वनिसाम्य के साथ-साथ अर्थसाम्य भी रखते हैं। इस प्रकार मिथ् की, यज्ञ की रहस्यमयता अत्यन्त स्पष्टरूप से 'मिथो', 'मिथस्' के अर्थ की सीमा के भीतर आ जाती है। विचार करने पर मिथ् के अर्थ के संदर्भ में अन्य धात्वर्थ भी उसी अर्थ का अभिधान करते हैं, जिसके अवधारण में अंग्रेजी 'मिथ्' शब्द का प्रयोग हुआ है। संस्कृत-वाङ्मय में मिथो, मिथ्स् का प्रयोग अंग्रेजी मिथ् के अर्थ में कहीं नहीं उपलब्ध है। उपरितन निर्दिष्ट शब्दों का सजातीय मिथ्या शब्द भारतीय वाङ्मय में झूठ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निश्चय ही किसी कथ्य की गोपनीयता तथा रहस्यमयता के कारण ही उसे मिथ्या विशेषण उपलब्ध हुआ होगा। युग्म-वाचक मिथुन शब्द भी मिथो, मिथ्स् का सजातीय है। अतएव मिथुन-कर्म मैथुन एकान्त, संगोपन एवं रहस्य का कार्य है। ध्यातव्य है कि संगत्यर्थक मिथ ऋग्वेद[3] में भी प्रयुक्त है।

उपरितन कथित सभी परिभाषाएँ सत्य, असत्य दोनों हो सकती हैं। व्यंजना का यह चरम सौन्दर्य है कि उससे व्यंजित इतिहास (मिथ्) चरम सत् को द्योतित करता है। सामान्य बुद्धि की पहुँच अभिधा और लक्षणा तक ही सीमित रहती है, व्यंजना तक नहीं पहुँच पाती। अतएव विभिन्न अर्थ इतिहास से (मिथ्) जुड़े हुए हैं और इसी कारण विद्वान् अपनी दृष्टि के अनुसार अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक अर्थवती सम्पूर्णता संतोष का विधान करती है, ठीक इसी प्रकार इतिहास (मिथ्) भी अपने विभिन्न अर्थों के द्वारा सबको संतुष्ट कर देता है; परन्तु इतिहास (मिथ्) का जो प्राणभूत अर्थ है, उसे भाषीय स्तर पर व्यक्त करना असंभव है। इसकी अभिव्यक्ति केवल अति परोक्षवृत्ति से ही संभव है।

इतिहास (मिथ्) में देवों की, असुरों की, राजाओं की, अप्सराओं की तथा अन्य विविध कथाएँ अथवा वर्णनाएँ भरी पड़ी हैं। बहुत ऐसे इतिहास (मिथ्) ऐसे हैं, जो छद्म इतिहास हैं। मनुष्य को इनसे क्या लेना-देना है। प्राकृत तथा प्राचीन समाजों में जीवन-दर्शन का मूलाधार इतिहास (मिथ्) है। संभवतः आज का आधुनिक मनुष्य भी इतिहास (मिथ्) के बंधन से मुक्त नहीं है[4]।

---

[1] भागीरथप्रसाद त्रिपाठी, पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला, शकाब्द, १८८७, पृ० ३६०।

[2] दैवम्, सं० युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, दिल्ली, सं० २०१९, पृ० ७३–ऋदितो मेदतेर्मेदनमेधाहिंसनयोर्द्वयोः; क्षीरतरंगिणी, सं०, तदेव, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, सं० २०१४, पृ० १२५, माधवीया धातुवृत्तिः, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४, पृ० २२४; द्र० पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, तदेव।

[3] ऋ० सं०, ४.२९.३-४, आदि।

[4] द्र०, मर्सिया इलियाड, मिथ् ऐण्ड् रियलिटी, हार्पर् टार्च जूक्स्, न्यूयार्क, १९६३, पृ० १८१-१८४।

विचारणीय यह है कि 'माइथॉस', जिसका अर्थ शब्द था, कैसे इसका अर्थ कहानी या वर्णना हुआ। इस सम्बन्ध में केनेथ[1] बर्क का कथन अवधातव्य है—एक शब्द जिसका अर्थ शब्द होता है; परन्तु वह विस्तृत होकर अनेक शब्दों के संहतरूप कथा को द्योतित करनेवाले एक शब्द तक पहुँचता है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एक नाटक का वाचक शब्दमात्र है; परन्तु उस नाटक में अनेक शब्द हैं, तथा अन्य विशेषताएँ भी हैं, उन सबको मात्र एक शब्द 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' द्योतित करता है। इस प्रकार नाटक का शीर्षक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एक तत्त्व को बताता है। इसी प्रकार इतिहास (मिथ्) भी एक कथा अथवा वर्णना के रूप में केवल 'तत्त्व' का विस्तार है। इस प्रकार जब तत्त्व वर्णना का रूप ग्रहण करता है, तब वह 'प्रत्यक्षाभास-कल्प' (क्वैसीटेम्पोरल्) हो जाता है। अतएव यह इतिहास (मिथ्) एक देवकथा के रूप में जब दृश्यमान होता है, तब इसका सम्बन्ध उन घटनाओं से जुड़ जाता है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि वे घटनाएँ समय में कभी नहीं घटीं।

इस प्रकार ज्ञात यह हुआ कि इतिहास (मिथ्) का दर्शन बाह्य जगत् में न कर आन्तर जगत् में करना चाहिए। अनेक नृतत्त्वविज्ञानियों तथा लोकगाथाविदों का इतिहास (मिथ्) से सम्बन्धित अध्ययन मुख्यतया इसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित है। कहाँ से इतिहास (मिथ्) निकला, वे नियम जिससे इसका फैलाव हुआ और इसमें क्या परिवर्तन हुए आदि सतही स्तर तक ये अध्ययन सीमित हैं। इस प्रकार के भी अध्ययन दृष्टिगत होते हैं, जिनमें इतिहास (मिथ्) के कार्यों की व्याख्या मात्र है। इस प्रकार यह इतिहास (मिथ्) का अध्ययन नहीं; अपितु इसका उन्मूलन है। कैनेथ् बर्क का मत है कि इतिहास (मिथ्) का अध्ययन तभी उचित रीति से होगा, जब तन्निहित अभिप्ररणा (मोटिव) का अध्ययन किया जायेगा[2]।

इतिहास (मिथ्) की संरचना तर्काश्रित नहीं होती; अपितु इसकी संरचना अग्रप्रातिमानिक (आर्कीटाइपल्) होती है। आनन्दकुमारस्वामी का कथन है कि यह पारम्परिक चक्र मनुष्य की अत्यन्त गम्भीर अन्तर्दृष्टि है। जिसे आनन्दकुमारस्वामी[3] पराभौतिकीय अन्तर्दृष्टि कहते हैं, उसे ही युंग तथा इलियाड अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) नाम से अभिहित करते हैं। युगों से मानव-चिन्तन के मूल में संघटित ये आद्य प्रतिमाएँ ही अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) बनती हैं। प्रत्येक मानवी कार्य का एक अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) आदर्श होता है। इस प्रकार विना आदर्श के कोई भी कार्य अर्थविहीन संकेत मात्र होगा। इसीलिए प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य अपने-आपको तभी तक यथार्थ मानता है, जब तक वह अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) रहता है। आधुनिक मनुष्य ने इतिहास (मिथ्) को हटाकर इतिहास का वरण किया है। इसका

---

१. कैनेथ् बर्क, मिथ् पोएट्री ऐण्ड् फिलासफी, जर्नल् आफ् अमेरिकन् फॉकलोर, भाग ७३, नं० २९०, अक्तूबर-दिसम्बर, १९६०।

२. नगेन्द्र, का० रि० मा० सो, पृ० १७५।

३. नगेन्द्र, तदेव।

अर्थ यह हुआ कि अब मनुष्य ऐतिहासिक (मिथिकल्) जीवन का परित्याग कर ऐतिहासिक जीवन जी रहा है। आज का ऐतिहासिक मनुष्य अमरता चाहता है, परन्तु उसने 'आनन्त्य' (इटर्निटी) को सीमित कर दिया है। प्राकृत (प्रिमिटिव) जिन संस्थाओं की संरचना करता है, वे तभी तक स्थिर अथवा अमर मानी जाती हैं, जब तक वे अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) रूप में अनुकृत रहती हैं।

इतिहास (मिथ्) के द्वारा प्रकटित अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) अनेक तथा विविध हो सकते हैं। यदि कोई इतिहास (मिथ्) को वर्गीकृत करना चाहे, तो यह वर्गीकरण प्रतिमाओं की विविधता के कारण ही संभव होगा। निश्चय ही ये प्रतिमाएँ अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) में ही सन्निहित हैं; परन्तु कोई अग्रप्रतिमान, जो सकल इतिहासों (मिथ्स) के मध्य से गुजरता है, वह सम्पूर्णता (होलनेस्) का ही अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) है और यही न्यायवैशेषिक का 'परसामान्य' है। यह अग्रप्रतिमान ही है जो सभी अग्रप्रतिमानों में अवस्थित रहता है और यह द्वितारहित होकर अद्वैत का वरण करता है। सम्पूर्णता का अग्रप्रतिमान इतिहास (मिथ्) होता है। इसके बोध के लिये मार्कण्डेय इतिहास (मिथ्) को एक निदर्शन मानना[1] चाहिए।

इस प्रकार इतिहास (मिथ्) आनन्त्य (इटर्निटी) के कालरूप में होने की, मानव के ईश्वर होने की तथा मानव के मानव होने की गाथा है। इलियाड का कथन है कि यह मानव के सकल क्रियाकलापों का निदर्शनात्मक आदर्श (माडल) है। इसमें नैतिक, अनैतिक, गलत, सही सभी कार्यों को स्वीकृति मिली है। समस्त ज्ञान की वैधता को भी इसी में स्वीकृति प्राप्त हुई है। शास्त्र, भविष्य-कथन, तर्क, इतिहास (मिथ्) में ही प्रतिष्ठित हैं। कार्य के स्तर पर यज्ञ ठीक कार्य की कसौटी है। अतएव यज्ञ का बोध केवल इतिहास (मिथ्) की प्रतिच्छाया के रूप में ही सम्भव है।

वैदिक यज्ञों का अग्रप्रतिमान इतिहास (मिथ्)—

ध्यातव्य है कि केवल एक वैदिक इतिहास (मिथ्) है, जो सभी यज्ञों का अग्रप्रतिमान है। सृष्टि के पूर्व जब परमसत्ता अभिव्यक्त नहीं हुई थी और आद्य सार्वभौम सलिल अप्रकेत (व्यक्त होने का सामर्थ्य रखता हुआ भी अव्यक्त)[2] था। विना वायु के भी वह महान् अस्तित्व उच्छ्वसित हो रहा था[3], अथवा विना ईन्धन के भी जब आद्य सलिल में अग्नि (परमसत्ता) देदीप्यमान[4] हो रहा था, तब न सत्

---

[1] हैनरिख त्सिमर, मिथ्स् ऐण्ड सिम्बल्स् इन इण्डियन आर्ट ऐण्ड् सिविलाइजेशन्, बोलिंगन सीरीज, ६, पैन्थियन् बुक्स् न्यूयार्क, १९५७, पृ० ४६-४७, नगेन्द्र, का० रि० मा० सो०, पृ० १७७।

[2] ऋ० सं०, १०.१२९.३—अप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।

[3] तदेव, १०.१२९.२—आनी॑द॒वातं स्व॒धया॒ तदेक॒म्। द्र०, १०.२७.१९—अप॑श्यं ग्राम॒ वह॑मानमा॒राद॑च॒क्रया॑ स्व॒धया॒ वर्त॑मानम्।

[4] ऋ० सं०, २.३५.४—दी॒दाया॑नि॒ध्मो घृ॒तनि॑र्णिग॒प्सु। १०.३०.४—यो अ॑नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्वन्तः।

था, न असत्, न कोई दिन का न रात्रि का ही प्रज्ञापक[१] था। उस समय स्वधा एवं 'तत्' के मानस में काम[२] (अग्नि) रेत के रूप में आया[३], वही क्षण सृष्टि का प्रारम्भिक क्षण था। उसी समय परम सत्ता द्विता में आयी। उसके अस्तित्व-ग्रहण करने के पश्चात् ही अनेक द्विधापरक पदार्थ भी अस्तित्व में आये। यह द्वैधापात जिस परमसत्ता का होता है, उसके विविध रूप तथा नाम हैं। वही पुरुष[४] है, प्रजापति है, पर्वत और महान् ऊर्ध्वशाखी अश्वत्थ भी वही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सर्वव्यापक (आभु) परमतत्त्व एक साधारण (तुच्छ्य) से अपिहित रहता है। इस विधान को विना दूर किये अव्यक्त का व्यक्त होना, सृष्ट होना कभी संभव नहीं है। ऋषि इसे जानते हैं, यह सत् का बन्धक असत्[५] था। वस्तुतः यह असत् और कोई नहीं, सकल संरचनात्मक शक्ति का प्रतिबन्धक एवं आवरक वृत्र ही था। अतएव आनन्दकुमारस्वामी[६] का कथन है कि यह अहिवृत्र परमसत्ता से अपत्य अथवा अनुज के स्तर पर सम्बन्धित है। वस्तुतः वृत्र सृष्टि के पूर्व की विश्रृङ्खलता एवं अरूपता[७] है। इन्द्र ने जब इसे अपने वज्र से मारा, तब यह अतृप्त, नियमविहीन, अचेत, अविभक्त, सुषुप्तिरत, और सृष्टिक्षम सलिल को घेर कर टाँग पसारे पड़ा हुआ था[८]। वृत्र की ये सारी विशेषताएँ उसकी सृष्टि-प्रतिबन्धकता को उजागर करती हैं। संरचना करने के लिये तथा स्वयं अभिव्यक्त होने के लिये इसका वितर्दन आवश्यक है।

सभी वैदिक यज्ञों का उद्देश्य इसी वृत्र का वध है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो यज्ञ वृत्र-वध के इतिहास (मिथ्) को प्रतीकायित करते हैं। अतएव आनुष्ठानिक स्तर पर प्रत्येक यज्ञ की विधि प्रतीकात्मकरूप में इसके विनाश को प्रस्तुत करती है। इन्द्र ने पौर्णमास हवि से वृत्र का वध किया है[९]। दर्श इष्टि के सम्बन्ध में दो कथ्य हैं। इन्द्र ने जब वृत्र का वध किया, तब वह पुनः महेन्द्र होकर जनमा[१०]। इसका अभिप्राय यह है कि पौर्णमास हवि के द्वारा इन्द्र ने वृत्र का वध किया और उसने

---

१. ऋ० सं०, १०.१२९.१—नास॑दासी॒न्नो सदा॑सीत् त॒दानी॒म्; तदेव २—न रात्र्या॒ अह्न॑ आसीत् प्रके॒तः।

२. काम-अग्नि के समीकरण के लिये द्र०—वेबर, इण्डिश्शे स्टूडियन, ५,२२५ आगे; मॉरिस ब्लूमफील्ड, से० बु० ई०, ४२, टि० ९.२, पृ० ५९१।

३. ऋ० सं०, १०.१२९.४—काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्तताधि॒ मन॑सो रेत॑ः प्रथ॒मं यदासी॑त्।

४. आनन्दकुमारस्वामी, हिन्दुइज्म् ऐण्ड् बुद्धिज्म्, पृ० ६।

५. ऋ० सं० १०.१२९.४—स॒तो बन्धुमस॑ति॒ निर॑विन्दन् हृ॒दि प्र॒तीष्या॑ क॒वयो॑ मनी॒षा।

६. आनन्दकुमारस्वामी, हिन्दुइज्म ऐण्ड् बुद्धिज्म, पृ० ६।

७. मर्सिया इलियाड, कास्मास् ऐण्ड् हिस्ट्रीः दि मिथ् आफ् इटर्नल रिटर्न, पृ० ४९।

८. ऋ० सं०, ४.१९.३—अतृ॑ष्णुवन्तं॒ विय॑तमबु॒ध्यमबु॑ध्यमानं सुषुप्॒ाणमि॑न्द्र।
स॒प्त प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒मर्हि॒ वज्रे॑ण॒ विरि॑णा अप॒र्वन्॥

९. श० ब्रा०, १.६.४.१२।

१०. तदेव, १.६.४.२१।

स्वयं यजमान के रूप में अपने प्रत्येक अंग की संरचना कर यज्ञ से नव उद्भव पाया। चन्द्र वृत्त है, अतएव अमावस्या के दिन इन्द्र उसका पूर्णतया विनाश कर देता है। इसीलिए चन्द्र इस दिन अदृष्ट रहता है। इस प्रकार दर्श हवि भी वार्त्रघ्न[1] हो जाती है। सोम-यागों में प्रयुक्त सोम अथवा तत्प्रतिनिधि कोई अन्य पदार्थ की कुटाई-पिटाई वृत्रवध का अनुकरण है[2]। ध्यातव्य है कि सोम वृत्र है। सोमरस वृत्र का सारभूत ऐश्वर्य है, जिसकी उपलब्धि के लिए पौरुषयाग[3] में पुरुष को स्वयं पशु बनना पड़ा। इस निदर्शन को स्वीकार कर यजमान भी यज्ञ के द्वारा इस श्रेष्ठतम कर्म का विधान करता है।

अग्निचयन महाव्रत में अवश्य करणीय है। यह तथ्य पहले भी निर्दिष्ट हुआ है। इन्द्र ने इसके द्वारा वृत्र का वध किया था, अतएव इसका नाम महाव्रत[4] है। महान् देवता[5] का यह वृत्रवधरूप व्रत है, इसलिए भी यह महाव्रत है। इस व्रत को कर इन्द्र महान् बनता है। अतएव महाव्रत है। इन सभी व्याख्याओं से ज्ञात होता है कि महाव्रत वृत्रवध इतिहास (मिथ्) का अनुकरण है। महाव्रत गवामयन सत्र के उपान्त्य दिवस की विधि है। यहाँ गवामयन की व्याख्या न कर इतना कथ्य ही पर्याप्त होगा कि गायें सृष्टि-समर्थ जल की प्रतीक हैं, जिन्हें इन्द्र बल के बाड़े से बाहर करता है[6]। इस प्रकार सभी वैदिक यज्ञों में वृत्र-वध कर यजमान सम्पूर्ण सृष्टि रचकर स्वयं सृष्ट होता है। यह पुनर्जनन ही उसका सत्यशील मानव-जन्म है।

इन्द्र ने महाव्रत के द्वारा वृत्र का वध किया तथा महान् बना इसका अग्निचयन से क्या सम्बन्ध है? इसके बोध के लिये त्रिपुर के इतिहास का बोध आवश्यक है। ऋग्वेद में असुरों के पुरों का वर्णन मिलता है: 'जिस (इन्द्र) ने शम्बर के सैकड़ों पुरों का भेदन[7] किया' (इन्द्र ने) वज्र से दस्युओं का हनन कर उनके लोहे के पुरों को बिलकुल नष्ट कर दिया[8]', 'इन्द्र तथा अग्नि ने दासों (विनाशक असुर) द्वारा पालित नब्बे पुरों को कंपा[9] दिया', 'दुष्प्रधर्ष, बलवान् अग्नि (तुमने असुरों के) पुरों के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को जीत कर देदीप्यमान[10] हो रहे हो'। इन पुरों को विनष्ट कर देवों ने प्रतिपुरों

---

[1] तदेव, १.६.४.१३।

[2] आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ, से० पे०, भाग २, पृ० ११५-१२०।

[3] ऋ० सं०, १०.९०।

[4] ऐ० आ०, १.१.१—इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवत्, यन्महानभवत्, तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्; तु०, तै० ब्रा०, १.२.६.१।

[5] सायण, ऐ० आ०, तदेव; तै० ब्रा०, तदेव।

[6] ऋ० सं०, २.१२.३—यो गा उ॒दाज॑दप॒धाब॒लस्य। द्र०—तदेव, ६.१८.५, पुरो वि दु॒रो॑ अस्य॒ विश्वा॑ः।

[7] ऋ० सं०, २.१४.६—यः श॒तं शम्ब॑रस्य॒ पुरो॑ वि॒भेद।

[8] ऋ० सं०, २.२०.८—ह॒त्वी दस्यून पुर॒ आय॑सी॒र्नि ता॑रीत्।

[9] ऋ० सं०, ३.१२.६—इन्द्राग्नी नव॒ति पुरो॑ दा॒सपत्नीरधू॑नुतम्।

[10] ऋ० सं०, ३.१५.४—अष्पा॑ळ्हो अग्ने वृषभो दिदीहि॒ पुरो॒ विश्वा॒ः सौभ॑गा संजिगी॒वानम्।

(उन पुरों के विरुद्ध पुर) का निर्माण किया। इन प्रतिपुरों का वर्णन अथर्ववेद में किया गया है[1]। किसी व्यक्ति या बालक को मणि (ताबीज) पहनाने का यहाँ वर्णन है। उसमें विनियुक्त मन्त्र का कथन है: 'द्युलोक[2] से पीला (सुवर्ण) तुम्हारी रक्षा करे, अन्तरिक्ष से अर्जुन (रजत) तुम्हारी रक्षा करे और पृथ्वी से लोहा तुम्हारी रक्षा करे। ध्यातव्य है कि यह मणि उपरितन मन्त्र-वर्णित धातुओं के तारों से बनता था। इस प्रकार असुरों ने सारी सृष्टि की विभूति को ऐसी चहारदीवारी के भीतर बन्द कर रखा था, जो अभेद्य थी। उसके भेदन के लिये—संरचना-शक्ति को घेरनेवाली इस त्रिधातु से मुक्त होने के लिये—देवों ने निश्चय ही देवपुर-प्रतिपुर की संरचना की और जैसा पूर्वनिर्दिष्ट ऋचा में कहा गया है कि इन्द्र ने, अग्नि ने शम्बर, वृत्र अथवा उनकी अवधारणा से संपृक्त अन्य असुरों को पुर-सहित विनष्ट कर वि-भूति (विभिन्न अस्तित्वों को उस माया-जाल से मुक्त किया, जिससे आवृत्त होने पर व्यक्ति की संचेतना विधि-करण से समन्वित कर्म से विहीन हो जाती है।

आनुष्ठानिक स्तर पर त्रिपुर का इतिहास (मिथ्) प्रतीकायित किया गया है। अग्निष्टोम यज्ञ तथा अन्य महायज्ञों में उपसद नामक इष्टियों का विधान किया जाता है[3]। सामान्यतः एक याग में तीन उपसद् विहित हैं। इसके अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) का यजुर्वेदीयब्राह्मणों में समान वर्णन उपलब्ध है। असुरों ने द्युलोक में स्वर्णिम, अन्तरिक्ष में रजतमय तथा पृथ्वी पर लोहे का पुर बनाया[4]। इन पुरों के भेदन के लिए देवताओं नें एक इषु का निर्माण किया है। तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण के अनुसार इसकी अनी अग्नि, सोम फल और तेजन (बाण के पिछले भाग में लगी हुई बाँस की डंडी) विष्णु[5] था। शतपथब्राह्मण, काठकसंहिता-ब्राह्मण, मैत्रायणीयसंहिता-ब्राह्मण, कठसंहिता-ब्राह्मण में भी बाण का यही स्वरूप है[6]। शतपथब्राह्मण[7] में इसे बाण न कहकर वज्र बताया गया है। ऐतरेयब्राह्मण[8] में वर्णित शर में वरुण देवता

---

[1] अ० सं०, ५ २८.९—इ॒मास्ति॒स्रो दे॑वपुराः।

[2] अ० सं, ५.२८.९—दि॒वस्त्वा॑ पातु हरित॒ं॑ मध्या॑त् त्वा पा॒त्वर्जुनम्।

[3] श० ब्रा०, ३.४.४; तै० सं० ब्रा०, ६.२.३; का० सं० ब्रा, २४.१०,२५.१; मै० सं० ब्रा०, ३.८.१, क० सं० ब्रा०, ३८.४।

[4] श० ब्रा०, ३.४.४.३—देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे, ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे, अयस्मयीमेवास्मिल्लोके, रजतामन्तरिक्षे, हरिणीं दिवि। तु०, तै० सं० ब्रा०, ६.२.३.१; का० सं० ब्रा०, २४.१; मै० सं० ब्रा०, ३.८.१; क० सं० ब्रा०, ३८.४; ऐ० ब्रा०, १.२३।

[5] तै० सं० ब्रा०, तदेव।

[6] श० ब्रा०, का० सं० ब्रा०, मै० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव।

[7] श० ब्रा०, ३.४.४.१४ वज्रमेवैतत् संस्करोति।

[8] ऐ० ब्रा०, १.२५। ध्यातव्य है कि इस शर में प्रयुक्त अनीक आदि पारिभाषिक शब्दों के अर्थ में विभिन्न मत हैं। द्र०, अ० सं०, ४.६.७,५.१८.८.१५;५.३१.४; वेबर, इण्डिश्शे स्टूडियन, १८.२९.२८६; त्सिमर; आल्ट्-इण्डिशेस् लेबेन, ३००; हापकिन्स, जर्नल,

भी है। वे सबसे अन्त में, बाण में जहाँ पंख बाँधा जाता है, वहाँ स्थित थे। इस शर का संधान रुद्र[१] ने किया। इन पुरों का रुजन (भंग) करने के कारण ही इनका नाम रुद्र पड़[२] गया। जिस मन्त्र[३] का उपसद् में विनियोग है, उसमें द्युलोक में अग्नि की तनु हरिशया (स्वर्णस्थित), अन्तरिक्ष में रजतस्थ एवं पृथ्वी में लौह में स्थित बतायी गयी है। इस इतिहास (मिथ्) से स्पष्ट है कि इन पुरों का विनाश अग्नि के द्वारा रुद्र ने किया। ध्यातव्य है कि वज्र अथवा बाण के अग्रभाग में स्थित होने के कारण ही पुर-भेदक होने का श्रेय अग्नि को मिला। देवों में उपसद् इष्टियों में—जो उपरितन वर्णित वज्र या बाण है—पुर का विनाश करने के बाद प्रतिपुरों की भी संरचना की। द्युलोक से हविर्धान (हवि रखने की गाड़ी), अन्तरिक्ष से आग्नीध्र (वेदि के दक्षिण में स्थित अग्नीध्र नामक ऋत्विज् की अग्नि) तथा पृथ्वी से सदस् (सदोमण्डप जहाँ होता आदि ऋित्वज् रहते हैं तथा उनका अग्नि भी स्थित रहता है) की संरचना[४] की। इस प्रकार उन असुरों के पुरों का विनाश एवं प्रतिपुरों का निर्माण कर देव जयशील हुए। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण[५] का कथन है कि इस प्रकार पुरविनाश के पश्चात् देवों ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से आसुरी विभूति को निकाल बाहर कर दिया। शतपथब्राह्मण[६] ने इसका बहुत अच्छा व्याख्यान दिया है। उपसद् में यजमान पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण में इष्टि करता है। पूर्वाह्ण में वह पुरों को नष्ट कर विजय प्राप्त करता है और अपराह्ण में जीते हुए को 'सुजित' बनाता है[७]। सायण[८] व्याख्या करता हुआ कहता है कि यह उपसद् होम जीती हुई विभूति का स्वाधीनीकरण है।

आफ् अमेरिकन् ओरियण्टल् सोसाइटी, १३.२७५, आगे; २५, ३३७; कीथ, आ० ओ० सी०, भाग १९, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७, भाग २, पृ० ५०४; एगलिंग्, से० बु० ई०, भाग ४४, पृ० १०८; मैकदोनेल और कीथ, वैदिक् इण्डेक्स, भाग १, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ पृ० ८१-८२, सूर्यकान्त, वैदिककोश, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, १९६३, पृ० ५०-५१।

[१] तै० सं० ब्रा०, ६.२.३.२, का० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव।

[२] का० सं० ब्रा०, २५.१-पुर समरुजद्, यत् समरुजत्, रुद्रस्य रुद्रत्वम्; तु०, क० सं० ब्रा०, ३८.४।

[३] वा० सं०, ५.८, तै० सं०, १.२.११; का० सं०, २.८; मै० सं०, १.२.७; क० सं०, २.३।

[४] का० सं०, २५.१; मै० सं० ब्रा०, तदेव, ऐ० ब्रा०, १.२३।

[५] तै० सं० ब्रा०, ६.२.३.२—स तिस्रो पुरः भित्त्वैभ्यो लोकेभ्योऽसुरान्, प्राणुदत; तु०, श० ब्रा०, ३.४.४.१६; का० सं० ब्रा०, क० सं० ब्रा०, तदेव।

[६] श० ब्रा०, ३.४.४.१९।

[७] श० ब्रा०, ३.४.४.२२—स० यत्प्रचरति, तद्युद्धयति, यत् सन्विष्ठते, तज्जयति, यज्जुहोति स्वामेवैतत् सतीं प्रतिपद्यते।

[८] सायण, तदेव—योऽयमुपसद्धोमः, स जितस्य स्वाधीनत्वसम्पादनात्मकः।

याज्ञवल्क्य के अनुसार यह उपसद् होम संवत्सर-वज्र है; क्योंकि संवत्सर अग्नि-वज्र है। यजमान जिस समय आहुति देता है, उस समय दिन आग्नेय, रात्रि सौमिकी तथा दिवा-रात्रि का मध्यकाल वैष्णव रहता है। उपसद् की इस देवत्रयी से ही संवत्सर वज्र की संरचना होती है[1]। उपसद् तीन हैं, ऋतुएँ भी तीन हैं। इस प्रकार उपसदों को यज्ञकर्ता संवत्सर का रूप[2] देता है। कतिपय यज्ञों में छह, बारह अथवा चौबीस उपसदों का विधान है। छह उपसदों की स्थिति में छह ऋतुओं, द्वादश उपसदों की स्थिति में बारह मासों तथा चतुर्विंशति उपसदों की स्थिति में चौबीस अर्धमासों के द्वारा संवत्सर को प्रतीकात्मकरूप में वज्र का रूपाकार प्रदान किया जाता है[3]। इस प्रकार उपसदों का विधायक सम्पूर्ण दिक्काल को स्वाधीन कर संरचना के प्रतिबन्धक तत्त्वों को आनुष्ठानिक स्तर पर समाप्त करता है।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य विधि के द्वारा संरचित प्रतिपुर का उल्लेख कर इस व्याख्या को समापन में पहुँचाने का प्रयास किया जायेगा। अग्नि-चयन-सुपर्णचयन में ईंटों को बनाने के लिये जब मृद्-आहरण अनुष्ठान किया जाता है, उस समय (पूर्व-संचित एवं इस अनुष्ठान के लिये संस्थापित) मृत्तिका के ऊपर अश्व की टाप को रखवाया जाता है। अश्व की टाप के द्वारा गीली मिट्टी पर बने हुए पदस्थान पर आहुति देकर दक्षिण से उत्तर की ओर पूर्वाभिमुखी तीन रेखाएँ खींची जाती हैं[4]। ध्यातव्य है कि आज भी धार्मिक अनुष्ठानों में वेदि-संस्कार के समय इस विधि को करने की परम्परा विद्यमान है। याज्ञवल्क्य इसकी व्याख्या करता हुआ इसका इतिहास बताता है। देव भयभीत थे कि कहीं विनाश का बीज बोने वाले राक्षस हमारे इस कार्य को विनष्ट न कर दें। अतएव उन्होंने इस मिट्टी पर वज्र-रूप अभ्रि के द्वारा तीन रेखाएँ खींच कर प्राकार से घिरे हुए पुर की संरचना की[5]। इत प्रकार देवों ने आत्म-रक्षार्थ अभ्रि (वज्र) को अभिगोप्ता तथा इस त्रि-प्रतिपुर को अपना गोप्ता बनाया। अतएव रेखाकरण के मंत्र[6] में कहा गया है कि हे दुष्प्रधर्ष अग्नि तुम विनाशकों (भङ्गुरवताम्) के विनाशक हो, तुम्हारा रूप असह्य है, तुम मेधावी हो, हम इस पुर के चारों ओर (परि) तुम्हें रक्षक के रूप में स्थापित (धीमहि) कर रहे हैं। अतएव

---

१. श० ब्रा०, ३.४.४.१५; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ६.२.२.४; का० सं० ब्रा०, २४.१; मै० सं० ब्रा०, ३.८.१; क० सं० ब्रा०, ३८.३।

२. तदेव, ३.४.४.१७।

३. तदेव, ३.४.४.१८-२०, द्र०, तै० सं० ब्रा०, ६.२.३.५; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

४. तदेव, ६.३.३.२२-२४; तै० सं० ब्रा०, ५.१.३; का० सं० ब्रा०, १९.३; मै० सं० ब्रा०, ३.१.३; क० सं० ब्रा०, ३०.१।

५. श० ब्रा०, ६.३.३.२४।

६. वा० सं०, ११.२६; तै० सं०, ४.१.२.५; का० सं०, १६.२; मै० सं० ब्रा०, २.७.२; द्र० ऋ० सं०, १०.८७.२; अ० सं०, ७.११.१,८.३.२२।

याज्ञवल्क्य[1] का कथन है कि ये तीनों रेखाएँ अग्निपुर हैं, जो देदीप्यमान होकर स्थित हैं। यह त्रिपुर (प्रतिपुर के रूप में रूपायित) पुरों का परम रूप है। 'परिवती'[2] ऋचाओं के द्वारा वस्तुतः यह वर्म ही बनाया जाता है। देवों ने, इस प्रकार राक्षसों-असुरों के प्रतिरोधक त्रिपुर का, आत्म-अभिगोपन के लिये निर्माण किया, जिसका संरक्षक परमतत्त्व देदीप्यमान, दुष्प्रधर्ष्य अग्नि है।

महाव्रत का, अग्निचयन, आवश्यक अंग है। अग्निचयन में ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह किसी-न-किसी रूप में सृष्ट होता है। अग्निचयन में जिस अग्नि की स्थापना की जाती है, उसे रुद्र बनाकर महावज्र बनाया जाता है[3]। यद्यपि अग्नि के रुद्रभाव का शमन भी किया जाता है। शतरुद्रिय कर्म का यही अभिप्राय है[4]। इस प्रकार जिस पुर (ब्रह्माण्ड) की अग्नि के रूप में रचना की जाती है, वह ब्रह्माण्ड होने के साथ उसमें स्थित पुरुष भी है[5]। अग्नि का संवत्सरपर्यन्त उखा में सम्भरण तथा तदनन्तर संवत्सर अग्नि की स्थापना[6], संवत्सर-वज्र की संरचना है, जिसका उपरितन

---

१. श० ब्रा०, ६.३.३.२५।

२. उपरितन, पा० टि० २।

३. श० ब्रा०, ९.१.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.३; का० सं० ब्रा०, २१.७; मे० सं० ब्रा०, ३.३.५-६, क० सं० ब्रा०, ३१.२१।

४. श० ब्रा० ९.१.१.७—तद् यदेतं शतशीर्षाणं रुद्रमेतेनाशमयन्, तस्माच्छशीर्षरुद्रशमनीयम्, ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्।

५. श० ब्रा० बृ० उ० २.५.२८, १४.५.५.१८—स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः, तु०, तदेव, १३.६.२.१, गो० पू०, १.३९।

६. श० ब्रा०, ९.१.१.२६,४३. अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) अथवा परमसत्ता की महागाथा विभिन्न रूपों में निरन्तर प्रतिरूपायित होती रहती है। यदि कोई संस्कृति जीवन्त है, तो निश्चय ही प्रत्येक युग में वह अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप्) या सृष्टिकथा पुनरावर्तित होगी। मर्सिया इलियाड का यह पुनरावर्तन-सिद्धान्त अत्यन्त समुचित है। अनुवर्ती भारतीय साहित्य में त्रिपुर और तत्सम्बन्धित वृत्र-अहि की अवधारणा बारम्बार दुहरायी गयी है। इसी प्रकार अनुष्ठानों में भी हुआ है। शिव का त्रिपुरारि, त्रिपुरघ्न अभिधान तथा उनकी शक्ति त्रिपुरा अथवा त्रिपुरसुन्दरी चिरंतन वैदिक अवधारणा से अधिक्रान्त है। पुराणों में, महाभारत में, अनेकशः त्रिपुर-कथा कही गयी है—द्र०, महाभारत, (मूलमात्र) गीताप्रेस, गोरखपुर, भाग ३, वि० २०१४, कर्णपर्व, ३४ अध्याय; सोमपति शाल्व का गगनचारी पुर—भागवतपुराण, वि० १९९९ (गीताप्रेस, गोरखपुर) १०.७६; पुरञ्जन-आख्यान, तदेव, ४.२५ आदि भी इसी अवधारणा से सम्बन्धित हैं। त्रिपुर के लिये द्र०, ब्रह्माण्डपुराण, पद्मपुराण, वायुपुराण आदि, उद्धृत, पुराणपञ्चलक्षणम्, विलीबाल्ड किर्फल, अनुवाद, सूर्यकान्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७९, पृ० ४९०।

वृत्र-अहि की अवधारणा से सम्बन्धित, श्रीकृष्ण द्वारा कालिय-दमन—भागवत, तदेव, १०.१६ आदि, जनमेजय का सर्पसत्र, महाभारत, तदेव, आदिपर्व, ५१ अध्याय आदि,

त्रिपुर के प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने वर्णन किया। इसी पुर को अथर्ववेद 'अयोध्या'[1] तथा 'अपराजिता'[2] नाम देता है। इसी 'हिरण्मयी' पुरी के हिरण्यमय कोश में ब्रह्म, पुरुष, प्रजापति, सुपर्ण, विश्वकर्मा आदि विविध नामों से अभिहित परम सत्ता[3] स्थित रहती है। यजमान भी अपने अंगों को, अग्नि के रूप में, प्रतीकात्मक पद्धति से आत्मनिहित करता है और इस प्रक्रिया से निर्वैयक्तिक होकर सकल चर-अचर को अपने-आप में तथा विश्व-ब्रह्माण्ड में स्वयं का संवीक्षण करता है। वस्तुतः यही भाव किसी भी सामाजिक संरचना का मूल है। आधुनिक विश्व ने इसे विस्मृति के अतल में तिरोहित कर दिया, अवरोहित कर दिया है।

●

नागपञ्चमीपर्व-श्रवण कर्म में सर्प-आहुति सर्पबलि—द्र०, पारस्करगृह्यसूत्र, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९१७; २.१४, कथाएँ एवं अनुष्ठान हैं। मर्सिया इलियाड के पुनरावर्तन-सिद्धान्त के लिये द्र०, कास्मास् ऐण्ड् हिस्ट्रीः दि मिथ आफ् दि इटर्नल् रिटर्न, पृ० १७ आदि।

[1] अ० सं०, १०.२.३१—अ॒ष्टाच॑क्रा॒ नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या। द्र०, वासुदेवशरण अग्रवाल, देवपुरी अयोध्या, कल्याण,, ३९ (४), अप्रैल, १९६५, पृ० ८४७ आदि।

[2] तदेव, १०.२.३३—पु॑रीं हिर॒ण्ययीं ब्रह्मावि॑वे॒शाप॑राजिताम्।

[3] तदेव, १०.२.३१—तस्यां॑ हिरण्ययो॒ः कोश॑ः स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः, १०.२.३३
प्र॒भ्राज॑मानां हरि॑णी॒ं यश॑सा संपरी॑वृताम्।

पंचम अध्याय

सुपर्णचिति की प्रतीक-संरचना

पूर्व-भाग

फ्रेडरिख मैक्समूलर का वैदिक-धर्म का सिद्धान्त—

सुपर्णचिति की प्रतीक-संरचना की व्याख्या के पूर्व वैदिक देववाद की अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है, अन्यथा प्रतीकों की अर्थवत्ता के बोध में अनावश्यकरूप से भ्रान्ति एवं सन्देह उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहेगी। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर[1] ने १८५६ में वैदिक-धर्म के ज्ञान के लिये प्रकृतिवाद सिद्धान्त को प्रवर्तित किया। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति मनुष्यों में धार्मिक भावना के उभार के लिये स्वयं उत्तरदायी है। प्रकृति की शक्तियाँ प्रायः रहस्यमय, अव्याख्येय, भीषण, अपरिचित तथा आतंकजनक रहती हैं। वे मनुष्य के भीतर भावुकता को जन्म देती हैं। फलस्वरूप धार्मिकता का उदय होता है। इस स्थिति में पड़कर मनुष्य अमूर्त प्राकृतिक शक्तियों को एक मानवी अभिकर्ता के रूप में देखता है। वह अभिकर्ता आत्मा (स्प्रिट्) होती है। मनुष्य के भीतर यह विचार भाषा-दोष (डिसीज़ आफ् लैंग्वेज) से उत्पन्न होता है। अब मनुष्य इन नवज्ञात प्राकृतिक शक्तियों के कर्म को मानवी कर्म से उपमित करने लगता है। जिन अभिव्यक्तियों के द्वारा अब तक मनुष्य के कार्यों का कथन होता था, अब उनका प्रयोग प्राकृतिक शक्तियों के कार्यों के लिये होने लगता है। एतदनन्तर आत्माओं का उनमें आधान किया जाता है और उन्हें अभिधान दिया जाता है। इस प्रकार देवपन्थ अस्तित्व में आ जाता है। इन शक्तियों के विषय में इतिहास (मिथ्) गढ़ने की प्रक्रिया का आरम्भ होता है और उन देवों का चरित्र एवं चरित भी बन जाता है। इस प्रकार मैक्सम्यूलर की दृष्टि में धर्म त्रुटियों का, भूलों का, प्रमाद का एक ताना-बाना है। अपने सिद्धान्त की संरचना करता हुआ मैक्सम्यूलर अपने पूर्ववर्ती चिन्तक टॉयलर् के पितृपूजावाद (एनिमिज़म) का विस्मरण नहीं करता। धर्म-सरचना की प्रक्रिया में उसने मानवी विचार के धार्मिक सोपानक्रम (हायरार्की) में पितृपूजा को दूसरा स्थान दिया। अनुवर्ती सैद्धान्तिकों मे इसके समथक

---

[1] मैक्सम्यूलर्, कम्परेटिव मॉइथॉलॉजी, आक्सफर्ड् एसेज़, २,१८५६, सेलेक्टेड् एसेज़, फिलासफी आफ मॉइथॉलॉजी, १,१८८१, चिप्स् फ्राम् ए जर्मन् वर्क्शाप्, ४,१५५-२०१; फिजिकल् रिलीजन्, २७६-२७८; मैक्सम्यूलर, दि वेदज़, कलकत्ता, १९५६, पृ० ८२-१०३ (दि रिलीजन् आफ् वेद)।

कुह्‌न्[1] मैकदोनेल[2], कीथ[3], अनेक जर्मन और भारतीय वेदविद् बन गये।

मैक्सम्यूलर के मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि जैसे प्रारम्भ में प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य ने प्रकृति के विविध तत्त्वों का अवलोकन तथा विश्लेषण वैज्ञानिक बुद्धि से किया हो। कहने का अभिप्राय यह है कि प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य में तर्क-मूलक प्रज्ञा थी, अन्यथा वह प्राकृतिक तत्त्वों का विश्लेषण ही नहीं कर पाता। इस प्रकार उसमें तर्काश्रित संज्ञान (काग्‌निशन्) की स्थिति थी। अतएव संज्ञानात्मक (काग्‌निटिव) त्रुटि के कारण प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य में 'भाषा-दोष' (डिसीज़ आफ् लैंग्वेज) का प्रादुर्भाव हुआ; परन्तु कदाचित् प्राकृत (प्रिमिटिव) मनुष्य के भीतर इस प्रकार की विश्व-दृष्टि नहीं थी। इस प्रकार की दृष्टि सांस्कृतिक विकास की स्थिति में ही संभव है[4]। अतएव मैक्सम्यूलर का सिद्धान्त वदतोव्याघात-दोष से परिच्छिन्न है।

फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर का देववाद का सिद्धान्त—

मैक्सम्यूलर की दृष्टि में वैदिक मनुष्य का प्रकृति-धर्म बहुदेववादी है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि धर्म का प्रकृतवादी तथा बहुदेववादी सिद्धान्त स्वयं उनके चिन्तन का वैचारिक उदय नहीं था। सर्वप्रथम १७५७ ई० में स्काटलैण्ड के प्रसिद्ध संशयवादी दार्शनिक डेबिड ह्यूम ने इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था[5]। प्रसिद्ध फ्रेञ्च विद्वान् वाल्टेयर ने ह्यूम के इस मत का १७६४ ई० में खण्डन भी कर दिया था[6]। १७६४ ई० में ही ज्याँ जेकस् रूसो[7] ने पुनः ह्यूम के मत का मण्डन किया। मैक्स-म्यूलर[8] ने १८५६ ई० में ह्यूम के सिद्धान्त को अपना बनाकर भारत के वैदिक-धर्म पर साभिप्राय आरोपित कर दिया। परन्तु इस सिद्धान्त के निरूपण में अत्यन्त कौशल के साथ मैक्सम्यूलर ने एक नूतनता उत्पन्न करने की चेष्टा की। उसके मत में वैदिक-

---

१. ए० कुह्‌न्, उबेर् एण्टबिक्‌लुन्‌ग्स्टफेन डेर मिथेन्‌बिलडुन्‌ग् बेर्लिनर अकाडेमी डेर विसने-शाप्न्टेन, १८७३, पृ० १२३-१५१; पाश्चात्य विचारकों के विचारों के लिए द्र०, रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर, वैदिक दैवतशास्त्र, प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन, वेदशास्त्रोत्तेजक सभा ६, पूना, १९७८, पृ० १-२३।

२. मैकदोनेल, वैदिक मॉइथॉलॉजी, इन्‌सायक्लोपीडिया आफ् इण्डो-आर्यन् रिसर्च, सं०, जी० ब्यूह्‌लर, भाग ३, खण्ड १ ए, इण्डोलाजिकल् बुक हाउस्, वाराणसी, १९६३, पृ० १।

३. आर्थर बेरिडेल कीथ, दि रिलीजन् ऐण्ड् फिलासफी आफ् दि वेद ऐण्ड् उपनिषद्स्। हा० ओ० सी० ३१, आक्सफर्ड् यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२५, ५.३७-७६।

४. तु०, विलियम ऑर्‌माण्ड्‌लेस्सा तथा इवान् ज़र्तमान वोग्त्, री० क० रि०, पृ० ११।

५. डेविड ह्यूम, दि नेचुरल् हिस्ट्री आफ् रिलीजन्, १७५७।

६. वाल्टेयर, डिक्शनयरी फिलासफीक़, १७६४।

७. ज्याँ जेकस् रूसो, इमाइल, १७६४।

८. हिबर्ट लेक्चर, ६, आन् हेनोथीज्म, पालीथीज्म, मोनोथीज्म, दि वेदज़्, तदेव, पृ० ८५, आगे।

धर्म की बहुदेववादिता सामान्य बहुदेववाद से सर्वथा अलग है। इसमें सभी देव विभिन्न हैं और वे अपनी स्थिति में पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न हैं। इसे मैक्सम्यूलर एकैकाधिदेववाद (हेनोथीज़्म) कहता है। ह्यम के सिद्धान्त में इस प्रकार एक अन्यदीय मत के चातुर्य पूर्ण संनिवेश के कारण वह धर्म के इतिहासविदों में अपनी एक अलग प्रतिष्ठा बनाने में सफल रहा। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एकैकाधिदेववाद (हेनोथीज़्म) की अवधारणा भी, मैक्सम्यूलर ने ग्रीक बहुदेववाद के अध्येता शेलिंग से उधार[१] ली थी। एण्ड्र्यूलांग[२] तथा फादर विल्हेल्म[३] श्मिट् ने प्राकृत (प्रिमिटिव) धर्मों में भी एकेश्वरवाद का अन्वेषण किया है। शेलिंग के सिद्धान्त के विरुद्ध वेल्कर[४] ने ग्रीक-धर्म को, अपने सुदृढ़ तर्कों से, एकेश्वरवादी सिद्ध किया है।

प्रसिद्ध फ्रेञ्च समाजविज्ञानी इमाइल दुर्खीम् ने १९१२ ई० में मैक्सम्यूलर के सिद्धान्त को ठुकरा दिया था[५]। उसका कहना था कि इस सिद्धान्त में धर्म का सतही अध्ययन किया गया है, साथ ही इसमें अन्तःस्पर्शी चिन्तन का नितान्त अभाव है। किसी भी धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में बहुदेववाद की स्थिति असंभाव्य है। वस्तुतः सामान्य विवेक और तर्कमूलक प्रज्ञा के अनुसार एक से अनेक का उद्भव ही सत्य प्रतीत होता है। एक बीज से एक वृक्ष उगता है, अनेक बीजों से नहीं। स्टीफन हर्बर्ट लैंगडन[६] सामी इतिहास (मॉइथॉलॉजी) के अध्ययन के प्रसंग में कहता है कि सुमेरी-अक्कादी धर्म के देवों के विभिन्न स्वरूप प्रकृति पर पुरुषत्व का आरोप तथा नैतिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के प्रतीकात्मक रूप हैं। लोकधर्म की स्वीकृति के कारण सुमेरी-अक्कादी धर्म के पण्डितों को इस व्यवस्था को स्वीकारना पड़ा। वहाँ आकाश-देवता 'अनु' से सभी देवों की उत्पत्ति बतायी गयी है। 'अनु' का शाब्दिक अर्थ महान्

---

१. रैफली पेट्टाजोनी, एसेज़ आन् दि हिस्ट्री आफ् रिलीजन्, अनुवाद, एच० जे० रोज़, ई० जे० ब्रिल, लाइडेन, १९५४, अध्याय १; तदेव, दि फार्मेशन् आफ् मोनोथीज़्म, री० क० रि०, पृ० ४३-४४।

२. एण्ड्र्यू लांग, दि मैकिंग आफ् रिलीजन, १८८९।

३. फादर विल्हेल्म श्मिट्, दि ओरीजिन् ऐण्ड् ग्रोथ आफ् रिलीजन्: फैक्ट्स् ऐण्ड् थियरीज़, डायल प्रेस, मैथ्यूएन् ऐण्ड् कम्पनी लिमिटेड, अध्याय १६; तदेव, दि नेचर, आट्रीब्यूट्स् ऐण्ड् वर्शिप् आफ् दि प्रिमिटिव हाईगाड्, री० क० रि०, पृ० २५-३९।

४. वेल्कर, डी० ग्रीखिशे गोयट्रलेयरे, ३ भाग, १८५७-६२।

५. दुर्खीम्, दि इलीमेण्टरी फार्मस् आफ् दि रिलीजस लाइफ, अनुवाद जोसेफ वार्ड स्वेन, जार्ज एलेन ऐण्ड् अनविन् लिमिटेड, लण्डन, १९१५; द्र०, री० क० रि०, पृ० ६६ आगे, अलेक्जेण्डर गोल्डेनवीज़र, तदेव, पृ० ७६, आगे।

६. लैंगडन, सेमेटिक मॉइथॉलॉजी, पृ० ८९, उद्धृत, आनन्दकुमारस्वामी, ए न्यू एप्रोच् टू दि वेद्ज़, तदेव, टिप्पणी ९५; आनन्दकुमारस्वामी, तदेव; पृ० ५३-५४; तु० ज्यॉं प्रिज़िलुस्को, ब्रह्मणस्पति, जर्नल् एसियातीक़, २०५, १९२४, पृ० १५५-१६३।

होता है[1]। अतएव यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि सुमेरी-अक्कादी धर्म-याजकों ने विचारपूर्वक अपने पंथ की संरचना की थी। निश्चय ही वे एकेश्वरवादी (मोनोथीस्ट) थे। सुमेरी-अक्कादी धर्म का उद्भव प्राकृत (प्रिमिटिव) धर्म से नहीं उत्पन्न हुआ; अपितु वह आध्यात्मिकता तथा नैतिकता के विचार से प्रारम्भ से ही अनुप्राणित था।

यास्क[2] के अनुसार एक ही महान् आत्मा है, जो अपने महान् ऐश्वर्य के कारण बहुधा स्तुत होती है। उसी महान् आत्मा के अन्य सभी अंग होते हैं। वे एक दूसरे के जनक एवं जन्य होते हैं। इन सब देवों की प्रकृति भी परस्पर संश्लिष्ट दृष्टिगत होती है। एक ही महान् आत्मा उनका उद्भवस्थान है। इसी तथ्य को आचार्य शौनक[3] भी उपस्थित करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैसे एक ही प्रकृति-तत्त्व जगत् में अपने कार्य के कारण भिन्न-भिन्न नाम और रूप धारण करता है, ठीक उसी प्रकार देवता तो एक ही है, जिसे महान् आत्मा या ईश्वर कहा जाता है; परन्तु अपने कर्म के कारण तत्तत् स्थानों में, उसे भिन्न-भिन्न नाम और रूप मिलता है। देवताओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का भी अभाव है। ऋग्वेद में अग्नि के सम्बन्ध में कथन है कि अग्नि! तुम वरुण होकर उत्पन्न होते हो और समिद्ध होने पर मित्र हो जाते हो[4]। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि अग्नि[5] रात्रि में सृष्टि की मूर्धा पर पहुँच जाता है, और प्रातःकाल वही सूर्य होकर उदित होता है। अथर्ववेद भी कहता है कि अग्नि सायम् वरुण हो जाता है तथा प्रातःकाल[6] मित्र।

वैदिक देव अथवा देवियाँ उभयलिंगी हैं। दैवी उभय-एकता के लिये दैवी उभयलिंगता सामान्यतः एक प्राकृत विधि है। यह इतिहास (मिथ्) तथा धार्मिक विचार के स्तर पर दृष्टिगत होती है। इस दैवी अद्विता में द्विता की अवधारणा को

---

[1] लैंगडन, तदेव; डोनाल्ड ए० मैकेन्ज़ी, मिथ्स् आफ् बैबीलोनिया ऐण्ड् असीरिया, दि ग्रैशम पब्लिशिंग कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, लण्डन, पृ० ३८।

[2] यास्क, निरुक्त, ७.४—महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यगानि भवन्ति, इतरेतरजन्मानो भवतीतरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः।

[3] शौनक, बृहद्देवता, १.७०-९४; ऋक्सर्वानुक्रमणी, २.१३.१८; तु०, शाट्यायन, जै० ब्रा०, १.२२८; वेंकटमाधव, ऋग्वेदानुक्रमणी, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ हरियाणा, १९७९। ६.१४.१७।

[4] ऋ० सं०, ५.३.१—त्व॑मग्ने, वरु॑णो जाय॑से यत्, त्व॑मित्रो भ॑वसि यत् समि॑द्धः; द्र०, मैकदोनेल, वैदिक मॉइथॉलॉजी, तदेव, पृ० २९, कीथ, रिलीजन् ऐण्ड् फिलासफी, तदेव, पृ० ६७।

[5] ऋ० सं०, १०.८८.६७ मैकदोनेल, कीथ, तदेव।

[6] अ० सं०, १३.३.१३—स वरु॑णः सायमग्निर्भ॑वति, स मित्रो भ॑वति प्रातरुद्यन्; द्र०, मैकदोनेल, कीथ, तदेव।

ज्ञानवादी (सत्, असत्) अथवा धर्मशास्त्रीय (श्रुत, अश्रुत) रूप में परिभाषित करने के पूर्व प्रथमतः जैविकी उभयलैंगिकता के रूप में अभिव्यक्त किया गया है[१]। प्राकृत (प्रिमिटिव) चिन्तन में लौकिक मिथुन तथा प्रसवप्रक्रिया के सदृश ब्रह्माण्ड की प्रवर्तन-प्रक्रिया को भी माना गया है। इस प्रकार के मनन की पद्धति अनेक प्राचीन इतिहासों (मिथ्स्) में दृष्टिगत होती है[२]। वैदिक देवताओं में भी परस्पर जन्य-जनक भाव वर्तमान है, जो उभयलिंगता का भी निदर्शन है। ऋग्वेद का कथन है कि अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति[३]। अन्य स्थल पर वर्णन है कि दक्ष की दुहिता ने दक्ष को जनमाया[४]। शतपथब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद् के अनुसार[५] प्रारम्भ में आत्मा पुरुष के रूप में था। उस समय उसकी स्थिति परिष्वक्त स्त्री-पुरुष के समान थी। आत्मा ने स्वयं को द्विधाकरण के द्वारा पति-पत्नी के रूप में अभिव्यक्त किया। ऋग्वेद में पुरुष से विराज् (नारीतत्त्व) के उद्भव का वर्णन[६] है और उससे पुरुष का। शतपथब्राह्मण के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रजापति अग्नि का पिता और पुत्र दोनों है[७]। इसी प्रकार वही प्रजापति देवों के पिता और पुत्र के रूप में भी वर्णित हुआ है[८]। ध्यातव्य है कि उर्वरता तथा वनस्पति जगत् से सम्बन्धित सभी देवता उभयलिंगी होते हैं[९]। इस सन्दर्भ में वरुण देवता भी उभयलिंगता से परिच्छिन्न है[१०]। वैदिक ऋषियों के अनुसार परमसत्ता यथाकामी है। अपनी इच्छा के अनुसार वह जब जैसा चाहती है, वैसा रूप धारण करती है[११]। पर्जन्य स्वेच्छा से

---

[१] मर्सिया इलियाड, पैटर्नस् इन् कम्प्रेटिव रिलीजन, लण्डन—न्यूयार्क, १९५८, पृ० ४२० आदि।

[२] आ० ब्रेथोलेट, डास् गेश्लेरवट डेर गोट्हाइट्, ट्यूबिन्गेन, १९३४; एच० लीसगान्ग, डीग्नोसिस, १९२४, पृ० १३८ आदि; यॉट्० यॉट्० मेयर, ट्रिलोगी आल्ट-इण्डिशर मैख़्टे उण्ड फेस्टे डेर वेगेटात्सिओन्. १, पृ० ८८; यॉट्० डे यूरीस्, ह्याण्डबूख़ डेर गेर्मानिशे रेलीगिओन्स गेशिख़्टे, २, लाइप्त्सिग, १९३७, पृ० ३०६; मर्सिया इलियाड, पैटर्नस् इन् कम्परेटिव रिलीजन्, पृ० ४२० आदि; उद्धृत, खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० ३४२ आदि।

[३] ऋ० सं०, १०.७२.४—अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।

[४] तदेव, १०.७२.५—अदितिर्ह्यजनिष्ट् दक्ष या दुहिता तव।

[५] श० ब्रा० बृ० उ०, १४.४.२, २.५, १.४।

[६] ऋ० सं०, १०.९०.५—तस्माद्विराळजायत, विराजो अधि पूरुषः; तु०, वा० सं०, ३१.५; तै० आ०, ३.१२.२।

[७-८] श० ब्रा०, ६.१.२.२६ स एष पिता पुत्रः, यदेषोऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेः पिता; यदेतमग्निः समदधात् तेनैतस्याग्निः पिता; यदेष देवानसृजत, तेनैष देवानां पिता, यदैतद्देवाः समदधुस्तेनैतस्य देवाः पितरः। उभयं हैतदभवति पिता च पुत्रश्च, प्रजापतिश्चाग्निश्च, अग्निश्च प्रजापतिश्च, प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च, ए एवं वेद।

[९-१०] यॉट्० यॉट्० मेयर, तदेव, ३, रजिस्टर, पृ० २८८।

[११] ऋ० सं० ३.४८.४—यथावशं तन्वं चक्र एषः; तु०, ७.१०३.३, द्र० एन० जे० शिन्दे, दि मॉइथॉलॉजी आफ़ यजुर्वेद, बम्बई, १९५९, पृ० ९।

धेनु बनकर बरसता है[1]।

इस प्रकार उपरितन वर्णनों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि वैदिक देवता परमसत्ता को ही अभिव्यक्त करते हैं। वह[2] सकल विश्व का अकेला प्रतिमान और प्रत्येक रूप का प्रतिरूप है। अपनी शक्ति के कारण वह अनेक अस्तित्वों में अभिव्यक्त होता रहता है। एक से अनेक और अनेक से एक होना उसका स्वभाव[3] है। अकेला सूर्य सकल चर-अचर की आत्मा[4] है। हिरण्यगर्भ सकल अस्तित्वों को प्रदान[5] करता है। इसी दृष्टि से अग्नि को शतात्मा कहा गया[6]। परम सत् को वेद में एक ही माना गया है और उसी[7] को लोग भिन्न-भिन्न अभिधानों से अभिहित करते हैं। एक ही सुपर्ण[8] है, जिसे मेधावी जन अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि वेद में एकेश्वरवाद है, न कि बहुदेववाद अथवा एकैकाधिदेववाद (हेनोथीज़्म)।

प्रत्यक्षतः तो मैक्सम्यूलर भारत एवं वेद की प्रशंसा करता रहा; परन्तु परोक्ष रूप में वैदिक देववाद की अवधारणा को उसने साभिप्राय स्व-अर्थ से प्रेरित होकर

---

१. ऋ० सं०, ७.१०.१-३—स्त॒रीरु॑ त्व॒द्भ॑वति, सूत॑ उत्वद्, यथावशं त॒न्वं॑ चक्र ए॒षः। इन तथ्यों के सन्दर्भ में डा० सूर्यकान्त (वैदिक देवशास्त्र, भूमिका, पृ० २७) की यह स्थापना, "वैदिक देव-विकास का काल ऐसे युग में रखना चाहिए, जबकि देवियों की पूजा ह्रास पर थी और पुंदेवताओं की पूजा उत्कर्ष पर" उचित नहीं प्रतीत होती। ऋषियों की दृष्टि में सभी देवता जब उभयलिंगी थे, तब निश्चय ही तत्कालीन समाज भी इस सिद्धान्त को मानता रहा होगा। आधुनिक सुधियों के समान कम-से-कम वह मिथ्या-दृष्टिक नहीं था। देवों की उभयलिंगता के लिये द्र०, खोंदा, सवयज्ञज़, पृ० २९१, ३०३, ३१३,३२३, ३४०, आदि, वासुदेवशरण अग्रवाल, दि थाउज़ेण्ड—सिलाविल्ड स्पीच, पृ० ८३ आदि।

२. ऋ० सं०, २.१२.९—यो विश्व॑स्य प्रति॒मानं॑ ब॒भूव॒; ६.४७.१८-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तु० श० ब्रा०, १.४.५.५, १९; बृ० उ०, २.५.१९; कौ० ३; ५.९.१०; जै० उ० ब्रा०, १.४४.१,२; इन्द्रो मा॒याभिः पुरु॒रूप॑ इयते, ऋ० सं० तदेव; तु०, तदेव।

३. आनन्दकुमार स्वामी, वैदिक् इक्ज़म्प्लरिज़्म, से० पे० २, पृ० १७७-१९७।

४. ऋ० सं०, १.११५.१—सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च; तु० अ० सं०, १३.२.३५; २०.१०७.१४; तै० सं०, १.४.४३.१; वा० सं०, ७.४२; का० सं०, ४.९; २२.५; मै० सं०, १.३.३७; श० ब्रा०, ४.३.४.१०; तै० ब्रा०, ३.८.७.४; ऐ० आ०, २.२, ४.७, ३.२, ३.१०; तै० आ०, १.७.६, २.१३.१।

५. ऋ० सं०, १०.१२१.२; अ० सं०, ४.१.२, १३.३.२४; वा० सं०, २५.१३; तै० सं०, ४.१.८.४, ७.५.१७.१; तै० ब्रा०, ३.८.१८.५।

६. ऋ० सं०, १.१४९.३।

७. ऋ० सं०, १.१६४.४६—एक॒ं सद्विप्रा॑ बहुधा व॑दन्ति। तु०, अ० सं०, १३.३.१७। एक॒ ज्योतिर्बहुधा वि॒भाति॑।

८. ऋ० सं०, १.११४.५—सुपणं विप्रा॑ः कवयो वचो॑भिरेकं सन्तं॑ बहुधा कल्पयन्ति।

अपने भ्रमपूर्ण मतवाद से आच्छादित किया। आनन्दकुमार स्वामी[1] का कथन है कि वैदिक-मन्त्रों अथवा यज्ञ-कर्मों में आज के समान पद्धतिमूलक दर्शन की उपलब्धि नहीं हो सकती; परन्तु यदि मन्त्रों एवं यज्ञ-विधियों का अन्तरंग परीक्षण किया जाये और केवल उन्हीं के अन्तःसाक्ष्यों पर निर्भर किया जाये, तो निश्चय ही उसमें अनन्त ज्ञान का उत्स मिलेगा। कीथ[2] का कथन है कि हमारी स्वाभाविक इच्छा है कि उस बर्बर युग में प्रवर्तमान तर्क का अन्वेषण करें। इस प्रकार वैदिक ऋषियों को जब 'बर्बर' का विरुद दे दिया गया, तब यह विचार करना कि बर्बरों में एकेश्वरवाद की अवधारणा रही होगी, आकाशकुसुम के समान है। इमाइल[3] मेल के अनुसार ईसाई-प्रतीकात्मकता 'गणना-विधि' (कलकुलस्) के समान है। ठीक यही उक्ति वैदिक विचार अथवा प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। बीज-गणित के ज्ञान के लिये गणित का अध्ययन करना सैकत-तेल के अन्वेषण के समान है। कीथ ने जो उक्ति वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की है, क्या इसे वे अपने धर्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त कर सकते थे? यदि किसी को वेदार्थ का बोध नहीं होता, तो यह वेद का दोष नहीं है। ऐसे लोगों के बारे में यास्क[4] का कथन है—'नैष स्थाणोरपराद्धो यदेनमन्धो न पश्यति'।

सुपर्णचिति का प्रथम अग्रप्रातिमानिक इतिहास (आर्कीटाइपल् मिथ्)—

सृष्टि के पूर्व केवल असत्[5] था। ऋषि ही असत् थे। प्राणों का ही अभिधान[6] ऋषि है। प्राणों के मध्य में स्थित प्राण इन्द्र है। वस्तुतः इसका परोक्ष अभिधान 'इन्ध' है; क्योंकि यह मध्यवर्ती प्राण के रूप में सभी प्राणों को समिद्ध करता है। इस 'इन्ध' को ही प्रत्यक्षरूप में इन्द्र शब्दद्वारा अभिहित किया जाता है[7]। मध्यवर्ती

---

[1] आनन्दकुमार स्वामी, वैदिक् मोनोथीज्म, से० पे०, २, पृ० १७५;

[2] उद्धृत, तदेव।

[3] उद्धृत, आनन्दकुमार स्वामी, वेदिक् मोनोथीज्म, से० पे०, पृ० १७५।

[4] निरुक्त, १.१६—यह ठूँठ पेड का अपराध नहीं है कि इसे अंधा नहीं देखता।

[5] श० ब्रा०, ६.१.१.१; तु० ऋ० सं०, १०.१२९.४–स॒तो बन्धु॒ स॑ति निर॑विन्दन्; तै० ब्रा०, २.४.१.१०; ८.९.५, तै० आ०, १.२३.२; नृ० पू० उ०; ऋ० सं०, १०.७२.३—अस॑त॒ः सद॑जायत; अ० सं०, १७.१.१९—अस॑ति॒ सत् प्रति॑ष्ठितम्, स॒ति भू॒तं प्रति॑ष्ठितम्, तै० आ०, ८.७.१; तै० उ०, २.२७.१ आदि।

[6] श० ब्रा०, तदेव; तु०, मै० सं० ब्रा०, १.५.११—प्राणा वै सप्त ऋषयः; ऐ० ब्रा०, २.२७–प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः; वा० सं०, १५.१०—ऋषयः प्रथमजाः; का० सं०, १७.८; मै० सं०, २८.९; क० सं०, २६.७।

[7] श० ब्रा०, ६.१.१.२—स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः, एष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध, तस्मादिन्धः, इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। तु०, तदेव, १४.६.११.२; एबे बर्गेन्य, वैदिक् रिलीजन्, अनुवाद, वी० जी० परांजपे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८, २.१६६; ग्रासमान, बोर्टरबुख; आनन्दकुमार स्वामी—तदेव, से० पे०, २, मेजर्स आफ् फायर, पृ० १६०।

प्राणों के द्वारा प्रदीप्त होने पर सातों प्राणों ने सात पुरुषों का सृजन किया। उन प्राणों ने विचार किया कि हम सभी प्रजनन करने में असमर्थ हैं, अतएव उन्होंने स्वयं को एक पुरुष बना दिया। इस एक पुरुष में सात पुरुषों को इस प्रकार संस्थापित किया गया—नाभि के ऊपर दो पुरुष, नाभि के नीचे दो पुरुष और दोनों पार्श्वों में एक-एक पुरुष। एक पुरुष उस पुरुष की प्रतिष्ठा बना। इन सातों पुरुषों की जो श्री-रस था, उसका ऊर्ध्वमुखी दोहन किया गया। फलस्वरूप वह श्री-दोह पुरुष का शिर हुआ। शिर में सभी प्राण आश्रय पाते हैं, अतएव इसे शिर कहते हैं। आश्रय-ग्रहण करने के कारण प्राण श्री हैं। इस शरीर में सभी प्राण आश्रय-ग्रहण करते हैं, अतएव वह शरीर शब्दद्वारा अभिहित होता है। यही पुरुष प्रजापति[1] हुआ। वह यही है, जो अग्नि के रूप में अग्नि-चयन में चित[2] होता है।

इस पुरुष प्रजापति ने कामना की कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। श्रान्त एवं तप्त प्रजापति ने सर्वप्रथम 'ब्रह्म' का सृजन किया, जो त्रयी विद्या[3] है। त्रयी विद्या उसकी प्रतिष्ठा बनी। प्रतिष्ठित प्रजापति ने तप किया और वाणी के स्थान (मुख) से जल का सृजन किया[4]। यह जल सर्वत्र व्याप्त हो गया (आप्) और इसने सबको आवृत कर लिया[5] (वार्)। उसने पुनः कामना की कि इस जल को आधार बनाकर मैं उत्पन्न होऊँ। वह त्रयी विद्या के साथ जल में प्रविष्ट हो गया। उससे एक अण्डा अस्तित्व[6] में आया। प्रजापति ने अण्डे का अभिमर्शण कर कहा—होओ, खूब होओ। उस सुनहले अण्डे के भीतर जो गर्भ था, वह अग्नि होकर सृष्ट हुआ[7]। सकल अस्तित्वों के पहले सृष्टि में आने के कारण अग्नि का परोक्ष अभिधान 'अग्रि' है[8]। उस अण्डे के 'अश्रु' (जल) से अश्व अस्तित्व में

---

१. श० ब्रा०, ६ १.१.३-५-स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। तु०, तदेव, ६.१.२.१३; ६.१.२.२१; ६ २.१.२३।

२. श० ब्रा०, ६.१.१.५—स पुरुषः प्रजापतिरभवद्, अयमेव स योऽग्निश्चीयते।

३. तदेव, ६.१.१.८—स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रयीमेव विद्याम्, तु० ऋ० सं०, १०.९०.९, वा० सं०, ३१ ९—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजु स्तस्मादजायत।

४. श० ब्रा०, ६.१.१.९—सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकात्।

५. तदेव, सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च, यदाप्नोत् तस्मादापः; यद्वृजोत् तस्माद्वाः; तु०, तदेव—१.१.१ १४, २.१.१.४, ४.५ ७.७; गो० पू०, १.२।

६ श० ब्रा०, ६.१.१.१०—तत आण्डं समवर्तत; तु० तदेव, ११.६.६ १, द्र०, एफ्० डी० के० बार्श, गोल्डेन् जर्म, हेग, नीदरलैण्डस्। १९६०।

७ श० ब्रा०, ६.१.१.११—यो गर्भोऽन्तरासीत्, सोऽग्निरसृज्यत।

८ तदेव,—स यदस्य सर्वस्याग्रममृज्यत, तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्, तु०, तदेव, २.२.४२; ऋ० सं०, ६.१६ ४८—अग्नि देवासो अग्रियमिन्धते वृत्रहन्तमम्, तु०, ऋ० सं०, १०.१२१ ७, आपो ह यद्बृहती-विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्, वा० सं०, २७.२५; तै० सं०, ४.१.८.५; का० सं०, ४० १; मै० सं०, २.१३.२३;

आया[1]। उसमें जो 'रसन' (फूटने के शब्द) हुआ, उससे रासभ उत्पन्न हुआ[2]। अण्डे के छिलके में लगे रस से अज का उद्भव[3] हुआ और स्वयं छिलका पृथ्वी बना[4]। प्रजापति ने पुनः कामना की कि इस पृथ्वी को आधार बना कर मैं होऊँ। उसने पृथ्वी को चूर-चूर कर जल में फेंक दिया। वहाँ जल में पृथ्वी से रस क्षरित होकर[5] कूर्म बना। पुनः प्रजापति ने कामना की कि मैं और बहुत बनूँ। उसने श्रम किया, तप किया। श्रान्त और तप्त होने के पश्चात् उसने फेन का सृजन किया। उसने देखा कि इसका तो कुछ और ही रूप है। अतएव मैं श्रम करूँ, तपूँ। उसने श्रम किया, तप किया। तदनन्तर प्रजापति ने मिट्टी, सूखा कीचड़, ऊषा (खारी मिट्टी), सिकता, शर्करा (कंकड़) पत्थर, लोहा, सोना, ओषधि तथा वनस्पतियों का सृजन किया और इस सृष्टि से सम्पूर्ण पृथ्वी को प्रच्छादित कर दिया[6]। इस प्रकार यह नौ सृष्टि हुई और यह पृथ्वी बनी। यह पृथ्वी सृष्टि का आधार होकर अस्तित्व[7] में आयी और फैली। पृथ्वी अपने को पूर्ण समझ कर गाने लगी। गाने के कारण ही इसका एक अभिधान गायत्री[8] है। इसके ऊपर बैठकर अग्नि भी स्वयं को परिपूर्ण मानकर गाने लगा, अतएव इसका नाम भी गायत्र[9] है।

तै० आ०, १.२३.८; अ० सं०, ४.२.८—आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒ गर्भ॒म॒ग्रे समै॑रयन्। तस्यो॒त जाय॑मान॒स्योल्ब आसीद्धिर॒ण्यय॑ः।

[1] श० ब्रा०, ६.१.१.११—यदश्रु संक्षरितमासीत्, सोऽश्रुरभवद्, अश्रुर्हं वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्; तु०, तदेव, ६.३.१.२८; द्र०, तदेव, ५.१ ४.५; ७.५.२.१८; तै० ब्रा०, ३.८.४.३, ८.१९.२; ८.२०.४।

[2] श० ब्रा०, ६ १.१.११—यदरसदिव स रासभोऽभवत्; तदेव, ६.३.१.२८।

[3] श० ब्रा०, तदेव—यः कपाले रसो लिप्त आसीत्, सोऽजोऽभवत्; तु०, तदेव, ६.३.१.२८।

[4] तदेव—यत् कपालमासीत्, सा पृथिव्यभवत्।

[5] तदेव, ६.१.१.१२—तां संविलश्याप्सु प्राविध्यत्, तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्मोऽभवत्, तु०, तदेव, ७.५.१.१।

[6] तदेव, ६-१.१.१३—स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत, ...मृदं शुष्कापमूषसिकतं शर्कराश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत, तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।

[7] श० ब्रा०, ६.१ १.१४—ता वा एताः नव सृष्टयः। इयमसृज्यत, ६.१ १.१५—तदभूमिरभवत्, तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्; भूमि के लिये द्र०, तदेव, ६.१ ३.७; तै० ब्रा०, १.१.३.७, ता० ब्रा०, २०.१४ २; पृथिवी के लिये द्र०, ऋ० सं०, १.१०३.२ स धारयत पृथि॒वीं प॒प्रथ॑च्च; तु०, तदेव, ६.७२.२; ५.८७.७, २.११ ७; १०.६२.३; श० ब्रा०, ६.१.३.७; निरुक्त, १ १३।

[8] श० ब्रा०, ६.१.१.१५—इयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायद्, यदगायत्, तस्मादियं गायत्री, तु०, तदेव, १.४.१.३४; ७.२.१५; ४.३.४.९, ५ २.३.५; ता० ब्रा०, ७.३.११, १४.१.१४।

[9] श० ब्रा०, तदेव—अग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायद्, यदगायत्, तस्मादग्नि-

प्रजापति ने पुनः कामना की—यह पृथ्वी और अधिक हो, और अधिक जनमे। यह विचारने के अनन्तर उसने अग्नि और पृथिवी का मिथुन बनाया। उस मिथुन का एक अण्डा[१] बना। उसका प्रजापति ने अभिमर्शण किया और कहा—पुष्ट बनो, पुष्ट बनो और अधिक[२] बनो। इस अण्डे का गर्भ वायु बना[३]। इससे जो अश्रु संक्षरित हुआ, उससे पक्षी[४] बने। अण्डे के छिलके में लगे हुए रस से मरीचियाँ अस्तित्व में आयीं[५]। छिलका अन्तरिक्ष[६] बना।

प्रजापति ने पुनः कामना की कि यह बहुत बने, अधिक होकर जनमे। वह वायु के माध्यम से अन्तरिक्ष के साथ मिथुन[७] बना। वह मिथुन एक अण्डा हुआ। प्रजापति ने उसका अभिमर्शण किया और कहा कि तुम यश का भरण करो। उससे आदित्य सृष्ट हुआ[८]। उस अण्डे से संक्षरित अश्रु से अश्मापृश्नि (चित्तीदार पत्थर) अस्तित्व में आया[९]। अण्डे के छिलके में लगा हुआ रस रश्मियाँ हुआ और छिलका द्यौस्[१०] बना।

प्रजापति ने पुनः कामना की कि यह बहुत बने, अधिक होकर जनमे। उसने आदित्य के माध्यम से द्यौस् के साथ मिथुन बनाया[११]। उस मिथुन से एक अण्डा अस्तित्व में आया[१२]। प्रजापति ने उसका अभिमर्शण किया और कहा कि तुम रेत को धारण करो। उससे चन्द्रमा सृष्ट हुआ[१३]। उस अण्डे से जो अश्रु संक्षरित हुआ, उससे नक्षत्र अस्तित्व में आये[१४]। अण्डे के छिलके में जो रस लगा हुआ था, उससे अवान्तर

गयित्रः, तु०, श० ब्रा०, १६.१.१ १५; कौ० ब्रा०, १.१; ३.२; ९.२; १९.४; तै० ब्रा०, १.१ ५.३।

१. श० ब्रा०, ६ १.२.१—सोऽग्निना पृथिवी मिथुनं समभवत्, तत आण्डं समवर्तत।

२. तदेव—तदभ्यमृशत्, पुष्यत्विति पुष्यतु, भूयोऽस्तु।

३. श० ब्रा०, ६.१.२ २—यो गर्भोऽन्तरासीत्, स वायुरसृज्यत।

४. तदेव—यदश्रु संक्षरितमासीत्, तानि वयांस्यभवन्।

५. तदेव—यः कपाले रसो लिप्त आसीत्, ता मरीचयोऽभवन्।

६. तदेव—यत् कपालमासीत्, तदन्तरिक्षमभवत्।

७. तदेव, ६.१.२.३—स वायुनान्तरिक्षं मिथुनं समभवत्।

८. तदेव—ततोऽसावादित्योऽसृज्यत।

९. तदेव—यदश्रु संक्षरितमासीत्, सोऽश्मापृश्निरभवद्, अश्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षम्।

१०. तदेव—यः कपाले रसो लिप्त आसीत्, ते रश्मयोऽभवन्, अथ यत् कपालमासीत्, सा द्यौरभवत्।

११. तदेव, ६.१.२.४—स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्।

१२. तदेव—तत आण्डं समवर्तत।

१३. तदेव—ततश्चन्द्रमा असृज्यत।

१४. तदेव—यदश्रु संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन्।

दिशाएँ बनीं और जो छिलका था, वह सभी दिशाएँ बना[१]।

प्रजापति ने इन लोकों को सिरजने के पश्चात् इनमें रहने वाली अपनी प्रजा को सिरजा। उसने मन के माध्यम से वाक् के साथ मिथुन बनाकर गर्भ में आठ द्रप्सों (बूँदों) को धारण किया और उनसे वसुओं को सिरजकर इस पृथ्वी में आहित कर दिया[२]।

प्रजापति ने पुनः मन होकर वाणी के साथ मिथुन बनाया। उस मिथुन के गर्भ में ग्यारह द्रप्स (बूँदें) स्थित हुए। उससे ग्यारह रुद्रों की सृष्टि हुई। प्रजापति ने उन्हें अन्तरिक्ष में स्थापित कर दिया[३]।

एतदनन्तर प्रजापति ने मन बनकर पुनः वाक् के साथ मिथुन बनाया और बारह द्रप्सों को धारण कर वह गर्भी हुआ[४]। वे द्रप्स बारह आदित्य हुए, उसने उन्हें द्युलोक में उपहित कर दिया।

प्रजापति ने पुनः मन होकर वाक् के साथ मिथुन बनाया। उसने गर्भ-धारण किया। उससे सभी देव सृष्ट हुए। उसने उन्हें दिशाओं में उपहित[५] किया।

कुछ लोगों के अनुसार[६] अग्नि, वायु तथा आदित्य की सृष्टि के पश्चात् क्रमशः वसु, रुद्र तथा आदित्य, विश्वेदेव एवं चन्द्र का सृजन हुआ। प्रजापति ने वसुओं को पृथिवी में, रुद्रों को अन्तरिक्ष में, आदित्यों को द्युलोक में तथा विश्वेदेवों एवं चन्द्रमा को दिशाओं में उपहित किया।

---

[१] तदेव—यः कपाले रसो लिप्त आसीत्, ता अवान्तरदिशोऽभवन्, यत् कपालमासीत्, ता दिशोऽभवन्।

[२] श० ब्रा०, ६.१.२.६—स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्, सोऽष्टौ द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, तेऽष्टौ वसवोऽसृज्यन्त, तानस्यामुपादधात्। मन एवं वाक् के मिथुन के लिये द्र०, का० सं० ब्रा० १२.५—प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्य वाग् द्वितीयासीत्, ता मिथुनं समभवत्; मै० सं० ब्रा०–२.३.७—वाचि वा एतत् प्रजापतिमप्यस्राट् प्रजननाय, तन्मिथुनम्, मन एवं प्रजापति के समीकरण के लिये द्र०, श० ब्रा०, ४.१.१.२२—प्रजापतिर्वै मनः; तु०, तै० ब्रा०, ३.७ १.२, २.२.१.२; कौ० ब्रा०, १०.१, २६.३; जै० उ०, १.३३.२; दे०, आनन्द-कुमार स्वामी, तदेव, से० पे० २, मनस्, पृ० २०९–२१९; वैदिक इक्जम्पलरिज्म, पृ० १९५, पा० टि० ४३; लीला, पृ० १४८, पा० टि० १, वसुओं के लिये द्र०, श० ब्रा०, ४.५.७.२; ऐ० ब्रा०, २.१८; द्र० मैकदानेल, वै० मा०, तदेव, पृ० १९।

[३] श० ब्रा०, ६.१ २.७—स मनसैव वाचं मिथुनं समभवत्, स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, त एकादश रुद्रान् असृज्यन्त, तानन्तरिक्ष उपादधत्, तु०, श० ब्रा०, ऐ० ब्रा०, तदेव; द्र० मैकदोनेल, वै० मा०, तदेव।

[४] श० ब्रा०, ६.१.२ ८—दाद्वश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, तें द्वादश आदित्या असृज्यन्त, तान् दिव्युपादधात्, तु० श० ब्रा०, ऐ० ब्रा०, तदेव०; मैकदोनेल, वै० मा०, तदेव।

[५] श० ब्रा०, ६.१.२.९—गर्भ्यभवत्, स विश्वान् देवानसृजत, तान् दिक्षूपादधात्।

[६] श० ब्रा०, ६.१.२.१०।

अन्य लोगों के मत में[१] प्रजापति इन लोकों की सृष्टि के पश्चात् पृथ्वी में प्रतिष्ठित हुआ। इसके लिये औषधियों ने अन्न को पकाया। प्रजापति ने उसे खाया। तदनन्तर उसने गर्भ-धारण किया। तदनन्तर प्रजापति ने अपने ऊर्ध्व प्राणों से दैवी प्रजा को तथा अवाङ् प्राणों से मर्त्य प्रजा का सृजन किया।

इस विवाद के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य[२] का मत है कि स्थिति चाहे जो रही हो; परन्तु यह तथ्य सुनिश्चित है कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, उसकी संरचना प्रजापति ने ही की है।

प्रजापति ने सारी सृष्टि कर ली, आजि-जय कर लिया। एतदनन्तर वह विस्रस्त हो गया। उसका मध्य प्राण उत्क्रान्त हो गया। फलस्वरूप प्रजापति को अन्य प्राणों ने भी छोड़ दिया[३]। उसने अग्नि से कहा कि तुम मुझे संहित करो। अग्नि ने कहा इससे मेरा क्या होगा? प्रजापति ने उत्तर दिया कि लोग मुझे तुम्हारे नाम[४] से जानेंगे। अग्नि ने कहा तथास्तु। अग्नि ने प्रजापति का संधान किया, अतएव उसे अग्नि-नाम से अभिहित किया जाता है[५]।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि प्रजापति ने विस्रस्त होने के पश्चात् देवों से कहा कि तुम लोग मुझे संहत करो[६]। इस स्थिति के आने पर देवों ने अग्नि से निवेदन किया कि हम लोग तुम्हारे द्वारा पिता प्रजापति[७] की चिकित्सा करेंगे। अग्नि ने उत्तर दिया ठीक है, मैं इस ब्रह्माण्ड के सकल अस्तित्वों में प्रवेश करूँगा, तुम लोग तब पिता प्रजापति की चिकित्सा करना[८]। देवों ने एतदर्थ अग्नि के निवेदन को स्वीकार कर लिया। परिणामतः देवों ने विस्रस्त प्रजापति को अग्नि में संहत किया। इसीलिये प्रजापति को अग्नि अभिधान मिला।

---

१. तदेव, ६.१ २.११।

१ तदेव—प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च।

३. श० ब्रा०, ६.१.२.१२—स प्रजाः सृष्ट्वा, सर्वमाजिमित्वा व्यरुंसत, तस्माद् विस्रस्तात् प्राणा मध्यत उदक्रामत्, तस्मिन्नुत्क्रान्ते देवा अजहुः, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.५.२.१; का० सं० ब्रा०, २२.७; मै० सं० ब्रा०, ३,४.८; द्र० एग्लिंग, से० बु० ई०, ४०, पृ० १५०, पा० टि० ३; आनन्दकुमार स्वामी, तदेव, से० पे० १, आर्ट् इन् इण्डियन् लाइफ, पृ० ८२-८३, पा० टि० ४४।

४. श० ब्रा०, ६ १.२.१३—सोऽग्निमब्रवीत्, त्वं मां संधेहि, किं मे ततो भविष्यति, त्वया माचक्षन्ते।

५. तदेव—प्रजापतिं सन्तमग्निरित्याचक्षते; तु०, तदेव, २ ३ ३.१८; तै० ब्रा०, १.१ ५.५।

६. तदेव, ६ १.२.२१—प्रजापतिरेव विस्रस्तो देवानब्रवीत्, सं मा धत्त।

७. तदेव—त्वयीमं पितरं प्रजापतिं भिषज्यामः।

८. तदेव—अहमेतस्मिन् सर्वस्मिन्नेव विशानि।

सुवर्णचिति का द्वितीय अग्रप्रतिमानीय इतिहास (आर्कीटाइपल मिथ्)—

सृष्टि के प्रारम्भ[१] में केवल प्रजापति था। उसने कामना की कि मैं जनमूँ। उसने श्रम किया, तप किया। श्रान्त एवं तप्त प्रजापति से जल का सृजन हुआ। जल ने प्रजापति से पूछा कि मैं कहाँ होऊँ? प्रजापति ने कहा तप करो। उसने तप किया और फेन को उत्पन्न किया[२]। फेन ने प्रजापति से पूछा कि मैं कहाँ होऊँ? प्रजापति ने कहा तप करो। उसने तप किया। तदनन्तर फेन ने मिट्टी को सिरजा[३]। मिट्टी ने प्रजापति से पूछा कि मैं कहाँ होऊँ? प्रजापति ने उसे भी तप करने को कहा। उसने तप कर सिकता[४] की सृष्टि की। सिकता ने शर्करा की सृष्टि की[५]। शर्करा (कंकड़) से पत्थर बना और पत्थर से अयस् की सृष्टि[६] हुई। लोहे से सुवर्ण का सृजन किया[७]। वस्तुतः यह सृष्टि क्षरित हुई। क्षरित होने से अक्षर उत्पन्न हुआ। आठ बार क्षरण होने के कारण आठ अक्षरों वाली गायत्री सृष्ट[८] हुई। गायत्री होकर यह भूमि कही गयी। इस भूमि को फैलाया गया, अतएव वह पृथिवी बनी। यह प्रतिष्ठा बनी[९]।

प्रतिष्ठा भूमि पर उस समय 'भूतपति' भूत एवं उषा ने यज्ञ करने के लिये सांवत्सरिक दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा में भूतपति गृहपति था और उषा भी गृहपत्नी[१०]। वस्तुतः भूतपति संवत्सर ही था, भूत ऋतुएँ थीं और गृहपत्नी उषा[११] ही थी। संवत्सर भूतपति ने गृहपत्नी उषा में वर्ष भर रेतोधान किया। वर्ष के अन्त में 'कुमार' उत्पन्न हुआ[१२], वह रोने लगा। प्रजापति ने उससे पूछा कुमार, क्यों रो रहे

---

[१] श० ब्रा०, ६.१.३.१; [२] तदेव, ६.१.३.२; [३] तदेव, ६.१.३.३।

[४] तदेव, ६.१.३.४, सा सिकतासृजत; तु०, तदेव, ३.५.१.३६; तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.२; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३; क० सं० ब्रा०, ३१.३।

[५] श० ब्रा० ६.१.३.५—सिकताभ्यः शर्करामसृजत; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.६.२.२।

[६] श० ब्रा०, तदेव—शर्कराया अश्मानम्। अश्मनोऽयः।

[७] तदेव—अयसो हिरण्यम्।

[८] तदेव, ६.१.३.६–तद् यदसृज्यताक्षरत्, तद् यदक्षरत् तस्मादक्षरम्, यदष्टौ कृत्वाऽक्षरत्, सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्।

[९] तदेव, ६.१.३.७–अभूद् वा इयं प्रतिष्ठा, तद्भूमिरभवत्, तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्; तु० तदेव, १.७.२.१५, १.४.१.३४, ता० ब्रा०, ७.३.११, १४.१.४; जै० उ०, १.५.३।

[१०] श० ब्रा०, तदेव–अस्या प्रतिष्ठायाम्, भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरायादीक्षन्त, भूतानां पतिर्गृहपतिरासीदुषाः पत्नी।

[११] तदेव, ६.१.३.८—तद् यानि तानि भूतानि, ऋतवस्ते, यः स भूतानां च पतिः संवत्सरः, यां सोषः पत्न्योषसी सा।

[१२] तदेव—भूतानां च पतिः संवत्सर उषसि रेतोऽसिञ्चन्, स संवत्सरे कुमारोऽजायत, सोऽरोदीत्।

हो ? कुमार ने उत्तर दिया कि बालक के उत्पन्न हो जाने पर उसका नामकरण होता है; परन्तु अभी तक मेरा नाम नहीं रखा गया। प्रजापति ने कहा अच्छा, जाओ तुम्हारा नाम रुद्र है; क्योंकि तुमने रुदन किया है[1]। अतएव अग्नि रुद्र नाम से अभिहित होता है। कुमार ने पुनः प्रजापति से कहा कि मैं तो इस नाम से बड़ा हूँ, अतएव मेरा कोई नाम रखो। प्रजापति ने कहा ठीक है, मैं तुम्हारा नाम 'सर्व' रखता हूँ। सर्व ने जल का रूप धारण कर लिया[2]। इस प्रकार कुमार-अग्नि के निरन्तर आग्रह किये जाने पर प्रजापति ने क्रमशः उसका नाम पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान[3] रखा। कुमार-अग्नि ने इन छह नामों के द्वारा क्रमशः औषधि, वायु, विद्युत्, चन्द्रमा एवं आदित्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार अग्नि के आठ रूप हैं[4]। कुमार-अग्नि स्वयं नवम है। अग्नि की यही त्रिवृत्ता है। कुमार-अग्नि विश्व के सभी रूपों में प्रविष्ट हो गया।

प्रजापति ने अग्नि के इन सभी रूपों को पाने की इच्छा की। जब अग्नि को यह ज्ञात हुआ कि पिता प्रजापति मेरा अन्वेषण कर रहा है, तब वह पुरुष, अश्व,

---

[1] श० ब्रा, ६.१.३.१०—यदरोदीत्, तस्मादुद्रः, तै० सं० ब्रा०, १.५.१.१; अग्नि-रुद्र के समीकरण के लिये द्र०, ऋ० सं, १.२७.१०; एम० जे० शिन्दे, मॉइथॉलाजी आफ यजुर्वेद, २, पृ० ६१,१,२१।

[2] तदेव, ६.१.३.११—सर्वोऽसि, तद्यदस्य तन्नामाकरोदापस्तद्रूपमभवत्। चिन्नस्वामी ने 'सर्व' पाठ माना है; चौखम्भा संस्करण; श० ब्रा०, इसे एगलिंग भी स्वीकार करता है, से० बु० ई०, भाग ४१, पृ० १५९,१, इसके विपरीत गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास संस्करण बम्बई में 'शर्व' पाठ है। दोनों में व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ के भेद होने पर भी प्रतीकार्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। द्र०, यॉट्० वाकेरनागेल, आल्ट इण्डिशे ग्रमाटीक् १.२२६।

[3] श० ब्रा०, ६.१.३.१२-१७; अग्नि और पशु के सम्बन्ध के लिये द्र०, श० ब्रा० ४.३.४.११—अग्निर्वै पशूनामीष्टे, तु०, ऐ० ब्रा० २.६; तै० ब्रा० १.१.४.३; अग्नि-वायु, कौ० ब्रा०, ३.३; अग्नि अशान—तै० ब्रा० १.१.३.१२; वग्नि-पर्जन्य—श० ब्रा०, १४.९.१.१३।

[4] श० ब्रा०, ६.१.३.१८—तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि, कुमारो नवमः, सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता; द्र०, इस इतिहास (मिथ्) का दूसरा संस्करण, कौ० ब्रा०, ६.१-९—प्रजापति ने अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा उषा की सृष्टि कर उन्हें तप करने के लिये कहा। उषा के अतिरिक्त वे सभी देव तप में प्रवृत्त हुए। जब वे तप कर रहे थे, तब उषा उनके सामने अप्सरा के रूप में प्रकट हुई। उसे देखकर उन्होंने रेतोधान किया। तत्पश्चात् देवों ने प्रजापति के पास जाकर कहा कि इस वीर्य को यहाँ न रहने दिया जाये। प्रजापति ने एक हिरण्य-चमस का निर्माण कर उसमें वीर्य रख दिया। कालान्तर में उससे सहस्राक्ष, सहस्रपात् और सहस्रेपु पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने प्रजापति से अपना नाम रखने के लिये कहा। प्रजापति ने उसके आठ, भव, शर्व, रुद्र, आदि नाम रखा।

वृषभ, अवि और अज में प्रविष्ट हो गया[१]। प्रजापति ने इन पाँचों पशुओं में अग्नि को देखा और उसने विचार किया कि ये ही अग्नि[२] हैं; क्योंकि जिस प्रकार अग्नि समिद्ध होकर प्रदीप्त होता है, उसी प्रकार इनका नेत्र प्रदीप्त हो रहा है, जिस प्रकार अग्नि से धूम निकलता है, उसी प्रकार इनकी गरम-गरम सासें निकल रही हैं, जिस प्रकार अग्नि अपने सामने पड़े हुए पदार्थ को भस्म कर देता है, उसी प्रकार ये भी सामने रखी हुई वस्तु को खाकर समाप्त कर देते हैं और जैसे अग्नि की राख अवशिष्ट रहती है, उसी प्रकार इनका पुरीष (गोबर) होता है[३]। अतएव अग्निरूप इन पशुओं के द्वारा मैं अपना संस्कार[४] करूँ। फलस्वरूप प्रजापति ने विश्वकर्मा के लिये पुरुष वरुण के लिये अश्व, इन्द्र के लिये वृषभ, त्वष्टा के लिये भेंड़ तथा अग्नि के लिये अज का संज्ञपन किया। प्रजापति ने पुनः विचार किया कि मैं तो अग्निरूपों की कामना कर रहा हूँ, अतएव इन सब पशुओं का संज्ञपन अग्नि के लिये ही करूँ। उसने अपने विचार को चरितार्थ[५] किया।

प्रजापति ने विचार किया कि मैंने जिस श्री का ध्यान किया था, वह इन पशुओं के सिर में है। अतएव मैं इन पशु-शिरों को उपहित करूँ[६]। उसने शिरों को रख कर पशुओं के कुसिन्धो (धड़ों) को जल में बहा दिया और अज के द्वारा यज्ञ को संस्था में पहुँचा दिया[७]; परन्तु ऐसा करने पर भी प्रजापति अग्नि का अन्त नहीं प्राप्त कर सका[८]। एतदनन्तर उसने पुनः विचार किया कि मैंने पशुओं के जिन शरीरों को जल में बहा दिया है, अब उनका अन्वेषण करूँ[९]। तब उसने उस जल को तथा वहीं से मिट्टी का संभरण किया, जहाँ पशु-शरीरों को प्रक्षिप्त किया था। इस प्रकार

---

[१] तदेव, ६.२.१.१—प्रजापतिरग्निरूपाण्यभ्यध्यायत्, सोऽग्निखेदनु वै मा पिता प्रजापतिरिच्छन्ति, हन्त तद् रूपमसानि, यन्म एष न वेद।

[२] तदेव, ६.२.१.४-५—स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्—इमे वा अग्निः। तु०, तै० सं ब्रा०, ५.२.१०.१—पशुर्वा एष यदग्निः; का० सं० ब्रा०, २०.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१०; श० ब्रा०, ७.२.४.३०; ऐ० ब्रा०, २.६; तै० ब्रा०, १.१.४.३।

[३] श० ब्रा०, तदेव।

[४] श० ब्रा०, ६.२.१.५—इमानेवात्मानमभिसंस्करवै...., नाना देवताभ्य आलिप्सत, वैश्वकर्मणं पुरुषं वारुषमश्वम्, ऐन्द्रमृषभम्, त्वाष्ट्रमविम्, आग्नेयमजम्।

[५] श० ब्रा०, ६.२.१.६—अग्नेर्वहं रूपाणि कामये, हन्तैनानग्निभ्यः कामायालभै, तानग्निभ्यः कामयालभन्त।

[६] श० ब्रा० ६.२.१.७—स ऐक्षत, या वै श्रीरभ्यध्यासिषमिमास्ताः शीर्षसु, हन्त शीर्षाण्येवोपदधा इति।

[७] श० ब्रा०, तदेव।

[८] श० ब्रा०, तदेव—प्रजापतिरपश्यत्, यथैस्याग्नेरन्तं न पर्यत्।

[९] श० ब्रा०, ६.२.१.८—स ऐक्षत, यमिममात्मानमप्सु प्रापिप्लवं तमन्विच्छानि।

प्रजापति ने ईंटों की संरचना की[१]। पुनः प्रजापति ने विचार किया कि यदि मैं कच्ची ईंटों से ही स्वयं को अभिसंस्कृत करूँगा, तो मर्त्य कुणप (मांसभोजी) बन जाऊँगा, अतएव इन्हें अग्नि में पका लूँ[२]। इस प्रकार प्रजापति ने ईंटों को अग्नि में पकाकर उन्हें अमृत बनाया और अपनी विघटित तनु को पुनः संघटित किया[३]।

उपरितन वर्णित दोनों इतिहासों (मिथ्स्) में प्रथम सृष्टि की महागाथा है। दूसरा इतिहास सृष्टि के क्रम में अग्नि-चयन की उत्पत्ति का वर्णन करता है। सृष्टि-गाथा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सृष्टि का आरम्भ पृथ्वी स्थानीय अग्नि देवता तथा पृथिवी और उसपर विद्यमान अनेक पदार्थों की उत्पत्ति के सर्वप्रथम वर्णन से कहा गया है[४]। तदनन्तर अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की तथा उनमें रहनेवाले देवताओं और विभिन्न पदार्थों का उद्भव वर्णित है। निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि परमसत्ता ने पृथिवी पर स्थित होकर सकल ब्रह्माण्ड की रचना ऊर्ध्वमुखी की है। वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि सदैव अधोमुखी होती है। परमसत्ता द्युलोक के परे स्थित है और वहीं से सृष्टि करती है। भगवत् तत्त्व का सदैव अवतार होता है, उत्तार नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिये 'प्रतीपतरु' (इन्वर्टेड्ट्री) अश्वत्थ की अवधारणा तथा यज्ञ की आरोहण-प्रक्रिया से अवगत होना आवश्यक है[५]।

मनुष्य मर्त्य होता है। वह स्वयं को अमर्त्य बनाने के लिये यज्ञ करता है और यज्ञ कर वह जो दूसरा जन्म धारण करता है, वह अमर्त्य[६] होता है। यह

---

[१] श० ब्रा०, तदेव—ता अपः समभरदथ यदस्यां तां मृदम्, तदुभयं सम्भृत्य मृदं चापश्चेष्टकामकरोत्।

[२] श० ब्रा०, ६.२.१.९—स ऐक्षत, यदि वा इदमित्थमेव सदात्मानमभिसंस्करिष्ये, मर्त्यः कुणपोऽनहतपाप्मा भविष्यामि, हन्त, एतदग्निना पचानि।

[३] तदेव—तदग्निनापचत्, तदेनदमृतमकरोत्।

[४] इसी अध्याय में सृष्टि-वर्णन के सन्दर्भ द्रष्टव्य।

[५] आनन्दकुमार स्वामी, दि इनवर्टेड् ट्री, से० पे०, १; पृ० ३७६-४०४; एफ़० डी० के० बास, गोल्डेन जर्म, १९६०, पृ० ६७ आदि; एम० बी०, एमेन्यू, दि स्ट्रैंग्लिंग फिग्स् इन् संस्कृत लिट्रेचर, यूनिवर्सिटो आफ कैलीफोर्निया पब्लिकेशन्स् इन क्लासिकल 'फिलालाजी', यूनिवर्सिटी आफ् कैलीफोर्निया प्रेस, बर्कली और लॉस ऐन्जिलिस्, १९४९, पृ० ३४५-३७०।

[६] श० ब्रा०, १.९.२.१९—आहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छात्; ४.६.१.१—सर्वतनू एव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके संभवति; ५.१.२.७—एतेन रसमुज्जयति; ५.१.६.१०—सर्वो भवति, सर्व एता गतिं गच्छानि; ऐ० ब्रा०, १.२२—ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वेदमयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद यश्चैवं, विद्वानेतेन यज्ञक्रतुना यजते। ३.४९—एतस्य ह सायुज्यसरूपतां सलोकतामश्नुते, य एवं वेद; जै० ब्रा०—१.९१—विश्वमेवैतेन काव्यमवरुन्धे; १.२१९—अश्नुते प्रजापतिना य एवं वेद। जै० उ०, १.६.३.८—यजमानं चामृतत्वं गमयति।

स्थिति केवल मनुष्य की ही नहीं है। सभी देवों तथा परमसत्ता के अभिधायक प्रजापति की भी एक आत्मा (शरीर) मर्त्य होता है[१]। विधिविहित श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ के द्वारा ही देव और प्रजापति दोनों अमर्त्य[२] बनते हैं। इस अमर्त्य बनने की प्रक्रिया को आरोहण[३], आक्रमण, विक्रम आदि शब्दों के द्वारा सभी वैदिक ग्रन्थों में अभिव्यक्त किया गया है। इस प्रक्रिया में ऊपर स्थित परम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये अधोमुखी सृष्टि को ऊर्ध्वमुखी बना लिया जाता है। प्रतीपतरु (इन्वर्टेड्‌ट्री) को ऊर्ध्वमुख कर लेना पड़ता है। किसी तरु पर आरोहण मूल की ओर से ही संभव है। शाखाओं की ओर से किसी वृक्ष पर चढ़ना अशक्य है। इसी दृष्टि से सृष्टि की गाथा का आरम्भ द्युलोक से न कर, ऋषियों ने पृथिवी से किया है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अश्वत्थ का वर्णन है[४]। ऋग्वेद में ऋषि प्रश्न करता है कि वह कौन-सा दारु है और वह कौन-सा वृक्ष है, जिससे इस द्यावा-पृथिवी की संरचना[५] हुई है ? इसका उत्तर तैत्तिरीयब्राह्मण में दिया गया है कि ब्रह्मतरु के दारु से पृथिवी और द्युलोक का निर्माण किया गया है[६]। इसी प्रकार की जिज्ञासा अथर्ववेद में स्कम्भ के सम्बन्ध में की गयी है, जहाँ ऋषि प्रश्न करता है कि इसके किस अंग से अग्नि दीप्त होता है और किस अंग में वायु गतिशील रहता है ? किस अंग से चन्द्रमा बनता है ? आदि[७]। इसका उत्तर स्कम्भ के वर्णन में है[८]। ध्यातव्य

---

१. श० ब्रा०, ११.१.२.१२—मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः, ११.२.३.६—तदेव। १०.१.३.२—तस्य ह प्रजापतेः, अर्धमेव मर्त्यमासीत्ः, १०.१.४.१—उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास, मर्त्यं चैवामृतं च।

२. श० ब्रा०, १.६.२.२—यज्ञेन ह वै देवाः, इमां जितिं जिग्युः, ६.२.३—तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः, श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमास। द्र०, ऋ० सं०, १०.९०.१६—य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वाः, ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒। ६.२.१.४–५—स एतान् पञ्च पशूनपश्यत, स ऐक्षत इमे वा अग्निरिमानेवात्मानमभिसंस्करवै; १०.२.१.१—प्रजापतिः स्वर्गं लोकमजिगांसत, ए एतं वयोविधमपश्यदग्निं तं व्यधत्त। तै० ब्रा०, ३.११.९—एनं प्रजापतिर्ज्यैष्ठकामो यशस्कामः……त्रिवृतमेव चिक्ये।……ततो वै स प्र यशो ज्यैष्ठ्यमाप्नोत्।

३. द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, दि एनशिएण्ट्‌ इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन्, भूतो ऐण्ड्‌ कम्पनी, हैग, १९५७, पृ० १२-१३।

४. आनन्दकुमार स्वामी, तदेव, एमेन्यू, तदेव।

५. ऋ० सं०, १०.३१.७—किं स्वि॒द्वनं॒ क उ॒ वृक्ष आ॑स॒, यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षुः। तु०, तै०, ब्रा०, २ ८.९ ६।

६. तै० ब्रा०, २.८.९.६-७—ब्रह्म॒ वनं॒, ब्रह्म॒ स वृ॒क्ष आ॑सीत, यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षुः।……ब्रह्मा॒ध्यति॑ष्ठद् भुव॑नानि धा॒रयन्।

७. अ० सं०–१०.७.२–कस्मा॒दङ्गा॑द् दीप्यते अ॒ग्निर॑स्य कस्मा॒दङ्गा॑त् पवते मात॒रिश्वा॑। कस्मा॒दङ्गा॒द् वि मि॑मीतेऽधि च॒न्द्रमाः॑।

८. अ० सं०, १०.४.७, ४.८।

है कि ब्रह्मतरु तथा स्कम्भ एक ही हैं। केवल नाम का भेद है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में इसे 'नैचाशाख' कहा गया है[१]। इस मन्त्र में इन्द्र से कहा गया है कि नीची शाखाओं वाले तरु को हमारे लिये साधित करो। कठ-उपनिषद्, मैत्रायणीय-उपनिषद् तथा भगवद्गीता में इस प्रतीप अश्वत्थ का वर्णन है[२]। इस तरु का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह सनातन अश्वत्थ है। इसके सभी पत्ते छन्द हैं। इसे जो जानता है, वही वेदवित् है। इसी वृक्ष पर वे चिरन्तन दो सुपर्ण (मर्त्य आत्मा और अमर्त्य आत्मा) एक साथ निवास करते हैं[३]। बृहत्, अच्छाय एवं अपाद अश्वत्थ[४] परमसत्ता का अधिष्ठान और सकल वैश्विक पदार्थों की नाभि है। यह जीवन ज्ञान, विद्या, अमृतत्व एवं मृत्यु का उत्स[५] है। इसकी अवधारणा विश्व के अन्य धर्मों में भी उपलब्ध होती है[६]।

---

१. ऋ० सं०; ३.५३.१४—नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः। इस प्रसंग में जे० शार्पेण्टियर के 'नैचाशाख', ज० रा० ए० सो०, १९३०, पृ० ३३५ आदि के अर्थ न्यग्रोध (वट) से सहमति है; परन्तु उसकी स्थापना वट-पथ या वटपूजक से सहमत होना कठिन है। इसी प्रकार सायण तथा प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, नैचाशाख, स्टडीज इन् वैदिक् ऐण्ड् इण्डो-ईरानियन् रिलीज़न् ऐण्ड् लिट्रेचर, सं० विद्यानिवास मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी—देहली, १९७६, पृ० २०१-२०५ के अर्थ 'पतित' (नीच कुल में उत्पन्न) एवं 'अनार्य' से भी सहमत होना कठिन है। यहाँ केवल यह कथ्य है कि 'गवाशिर' (सोम में मिलाने के योग्य दूध) तथा 'धर्म' (महावीर पात्र-प्रवर्ग्य इष्टि में प्रयुक्त अथवा उसमें पकाया जानेवाला दूध) के साथ अनार्य का साहचर्य युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। अश्वत्थ अथवा न्यग्रोध इस देश का अत्यन्त पुराना वृक्ष है। मोएन-जो-दरो में भी यह मिला है। यह (पीपल) पूज्य होने के साथ-साथ कला के अभिप्रायों में भी उकेरा गया है। द्र०, ननिमाधव चौधुरी, ए प्री-हिस्टारिक् ट्री कल्ट्, इ० हि० क्वा०, १९ (४), दिसम्बर १९४३। नैचाशाख के साथ तु०, अ० सं०, १०.७ २१—अवंरे॒ ये ते॒ शाखां॑मु॒पासंते।

२ क० उ०, २.३.१—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। द्र०, मै० आ०। मै० उ०, ६.१०; श्रीमद्भगवद्गीता, हरिहरकृपालु द्विवेदी द्वारा अनूदित तथा ब्रह्मदत्त द्विवेदी द्वारा संपादित, विनोदकुमार मुरारका, कलकत्ता, १५.१—छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। तु०, तै० आ० १.११ ५।

३. ऋ० सं० १ १६४.२०; अ० सं, ९.९.२०; मु० उ०, ३.१.१; तु० श्रीमद्भागवत, गीता-प्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, १९९९; ११.११.६-७।

४. ऋ० सं०, १०.२७.१४; १२१.२, १३५.१; ६.१६.३८; द्र० मरे फाउलर्, ऋग्वेद १०.२७ १५: बृहन् अंच्छायो अंपलाशो अर्वा, ज०अ०आ०सो०, ६७, पृ० २७०-२७३।

५. द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, तदेव।

६. अवेस्ती परम्परा में सोम दो प्रकार का होता है : एक धवल, दूसरा पीत, जो स्वर्गीय तथा पृथिवीय है। 'गोकत' अथवा 'गओकरेन' (श्वेत सोम) वो-उरो-कश (समुद्र) के मध्य में

वैदिक अवधारणा में अग्नि का अश्वत्थ से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार अग्नि अश्व का रूप धारण कर जिस तरु में स्थित हुआ, उसका नाम अश्वत्थ[१] है। अन्यत्र तैत्तिरीयब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने अश्व बन कर अश्वत्थ में निवास किया, अतएव अश्वत्थ का नाम, अश्वत्थ[२] (अश्व+ √स्था) है। ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में अग्नि को वनस्पति[३] कहा गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार इन्द्र का गौरव स्रुत होकर अश्वत्थ वनस्पति[४] हुआ। अश्व का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अध्वा[५] को व्याप्त करनेवाला। यज्ञ-वाचक अध्वर शब्द से सम्बन्धित है[६]। इसी दृष्टि से आनन्दकुमार स्वामी ने यज्ञ को कर्म का मार्ग कहा है[७]। अग्नि यज्ञ का

उत्पन्न होता है, तु० ऋ० सं०, १.१८२.७—वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसः। अवेस्ती सन्दर्भों के लिए द्र०, डब्ल्यू० एच० वार्ड, सील सिलिण्डर्स आफ् वेस्टर्न एसिया. वाशिंगटन, डी०सी०, १९१०, पृ० २३२-२३६; इस 'सोम को अवेस्ता में निखिल-बीज-वृक्ष कहा गया है। सामी परम्परा में इस प्रकार के वृक्ष के लिए द्र०. जेनेसिस ३.२.९, कब्बाली वृक्ष के लिये द्र० आनन्दकुमार स्वामी, तदेव, पृ० ३८२-३८३, प्लेटो ने मनुष्य को स्वर्गीय वृक्ष कहा है, जो प्रतीप है। इसकी जड़ें स्वर्गोन्मुखी हैं, तथा शाखाएँ धरोन्मुखी हैं, द्र०, आनन्दकुमार स्वामी. तदेव पृ० ३९५। इस आदिवृक्ष का चित्रण अनेक सिक्कों पर भी हुआ है, द्र० क्लासिकल् डिक्शनरी, विलियम स्मिथ, लण्डन, १८८'१. इस सन्दर्भ में सोम की विश्ववृक्षता के लिये द्र० क्यूइपे, रिव्यू आफ् वासन्स सोम, इण्डो इरानियन् जर्नल् १२. पृ० २७९-२८५, एफ्० ए० नोडे. दि ट्री आफ् लाइफ्, जर्नल् आफ् आन्थ्रापॉलिजिकल् सोसाइटी ९ (१), पृ० ३९ आदि।

[१] तै० ब्रा०, १ १ ३.९—अग्निर्देवेभ्यो निलायत, अश्वो रूपं कृत्वा, सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्, तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्। तु० उहलेनबेक; कुहन उद्धृत, एम० बी० एमेन्यू, दि स्ट्रैंगलिंग फिगस इन संस्कृत लिट्रेचर, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया पब्लिकेशन्स इन् क्लासिकल् फिलोलाजी, १३, न० १०, पृ० ३६९, पा० टि० २६-२७; पृ० ३७०; एमेन्यू द्वारा स्वीकृत व्युत्पत्ति 'अ+स्व+स्थ', जो स्वयं में स्थित न हो, अश्वत्थ प्रायः अन्य वृक्षों के ऊपर अंकुरित होकर बढ़ता है और अवस्थित रहता है। अश्वत्थ की इसी भौतिक प्रकृति को दृष्टि में रखकर एमेन्यू की व्युत्पत्ति प्रतिपादित की गयी—तदेव, पृ० ३७०। परन्तु यह व्युत्पत्ति अश्वत्थ की पराभौतिक स्थिति तथा उसकी वैदिक अवधारणा को अर्थवान् बनाने में सर्वथा अक्षम है, अतएव इसे स्वीकारना सम्भव नहीं है।

[२] तदेव, ३.८.१२.२।

[३] ऋ० सं०, ३ ८.११—वनस्पते शतवल्शो वि रोह।

[४] श० ब्रा०, १२.७ १.९।

[५] निरुक्त, २.२७—अश्नुतेऽध्वानम्।

[६] खोंदा, अध्वर ऐण्ड अध्वर्यु, वि० इ० ज०, भाग ३, खण्ड २, सितम्बर. १९६५, पृ० १६३-१७७, अन्य विभिन्न सन्दर्भों के लिये द्र०, तदेव, १६३, पा० टि ७।

[७] आनन्दकुमार स्वामी, हिन्दुइज्म ऐण्ड् बुद्धिज्म्, तदेव, वे आफ् वर्कस्, पृ० १९-२५।

वाहक है, यह एक सुविदित तथ्य है। अपने वैदिक[1] सन्दर्भों में या तो अग्नि को अश्व कहा गया है या उसे अश्व से तुलित किया गया है। परमसत्ता के रूप में इस अश्व अग्नि के विराट् रूप का वर्णन तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद् में उपलब्ध होता है[2]।

अथर्वसंहिता में वर्णित चमस[3] (काठ का बना हुआ एक यज्ञ-पात्र) अश्वत्थ की अवधारणा से संपृक्त है। वह न केवल किसी यज्ञीय-वृक्ष से निर्मित होने के कारण अश्वत्थ से सम्बन्धित है; अपितु अश्वत्थ के समान ही वह भी ऊर्ध्वमूल है और उलटा हुआ लटका है। उस औंधे लटके हुए चमस के तीर पर सात ऋषि आसीन हैं। साधारण अन्तर के साथ यही 'ऊर्ध्वबुध्न' (जिसका पेंदा ऊपर की ओर हो) चमस शतपथब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद् में भी वर्णित है[4]। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस औंधे मुँह चमस के तीर पर बैठे हुए ऋषि वे ही हैं, जो पूर्व वर्णित सृष्टि-गाथा[5] के आरम्भ में असद्रूप में स्थित सात प्राण या सात पुरुष हैं और जो एक होकर पुरुष, प्रजापति और अग्नि बने।

याज्ञिक-कर्म का उद्देश्य न केवल आदि यजमान का अनुकरण है; अपितु उसका पुनः संघटन एवं स्थिर होना भी है। जागतिक दृष्टि से इसका अर्थ होगा जगत् पुनः संरचित करना और उसे विधीकृत मार्ग से संचालित करना। आरोहण-क्रम में वह एक अन्य विश्व में पहुँचता है, जो विधीकृत है, जो प्रकाश का समुद्र है और यह क्रिया अग्नि द्वारा ही सम्पन्न होती है; क्योंकि वही इस कार्य को करने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह अश्वत्थ एकीकृतरूप में स्तब्ध स्तम्भ का अक्षदण्ड है और अनेकीकृतरूप में यह प्रतीप[6] है। यज्ञ में सदैव इस प्रतीप-तरु को सीधा एवं स्तब्ध किया जाता है। अन्यथा यजमान न आरोहण कर पायेगा और न ही पारमार्थिक सत्ता से, विश्व के अणु-परमाणु से अपना तादात्म्य संस्थापित कर सकेगा[7]। ऐसी स्थिति में वैश्विक विशृङ्खलता बनी ही रहेगी।

---

[1] तै० सं०, १.७.८.३; श० ब्रा०, ३.६.२.५; तै० सं० ब्रा०, २.२.४.६; ५.५.१०.६; आदि।

[2] तै० सं० ब्रा०, ७.५.२५; श० ब्रा०, बृ० उ०, १०.६.४.१; १.१.१; तु०, वा० सं०, ११.१२, २०; तै०सं०, ४.१.२१, ३; का० सं०, १६.१-२; मै० सं०, २७.२।

[3] अ० सं०, १०.८.९–ति॒र्यग् बि॑लश्चमस ऊ॒र्ध्वबु॑ध्न॒स्तस्मि॒न् यशो॒ निहि॑तं वि॒श्वरूपम्। तदा॑सत ऋष॑यः स॒प्त सा॒कं ये अ॒स्य गोपाम॒हतो ब॑भूवुः ॥

[4] श० ब्रा०, बृ०उ०, १४.५.२.४।२.२.–अर्वाग् बिलश्चमसः—वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। द्र०, 'वासुदेवप्रकाशिका, वासुदेवब्रह्म, श०ब्रा०, तदेव; शंकर, बृ०उ० तदेव।

[5] श० ब्रा०, ६ १.११-५।

[6] आनन्दकुमार स्वामी, तदेव, पृ० ३९७-३९८।

[7] अश्वत्थ की अर्थवत्ता एवं अवधारणा को दृष्टि में रखकर अनुवर्ती साहित्य में अनेकशः इसे दुहराया गया है। रामायण (वाल्मीकि), २.३.१५ में राम को धर्मवृक्ष कहा गया

यह कहा जा चुका है कि यज्ञ एक आरोह-प्रक्रिया है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि शतपथब्राह्मण न्यग्रोध का परोक्ष-अभिधान 'न्यग्रोह' बताता है[1]। 'न्यग्रोह' का

है—'मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः। पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरो जनाः' और रावण को—६.१०९.९–में 'राक्षसराजवृक्ष' बताया गया है, (वा० रा०, निर्णय-सागर, बम्बई, १८८८)। रामायण स्वयं एक वृक्ष है, अतएव उसका विभाजन काण्डों (तनों अथवा पोरों) में हुआ है। महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर वि० सं० २०१३ आदि पर्व, १.८८-९२, महाभारत को 'अक्षयभारतद्रुम' बताया है, जिसके दो तने हैं—'धर्मभयमहाद्रुम' युधिष्ठिर, आदिपर्व १.११०; उद्योगपर्व २९.५२; तथा मन्युमय-महाद्रुम' दुर्योधन आदिपर्व, १.१११; उद्योगपर्व २९.५३। महाभारत के द्रुम न होने के कारण ही इसका विभाजन 'पर्व' (पोर) में किया गया है। अश्वमेधपर्व ४७. १२-१६ में सनातन ब्रह्मवृक्ष का वर्णन है, जो सभी भूतों का आजीव्य है—आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। अश्वमेधपर्व. अध्याय ९२ (वैष्णव धर्मपर्व) में भगवान् अश्वत्थ को अपना साक्षात् प्रतिरूप बताते हैं—अहमश्वत्थरूपेण पालयिष्यामि जगतत्त्रयम्। अश्वत्थो न स्थितो यत्र नाहं तत्र प्रतिष्ठितः॥ यत्राहं संस्थितो राजन्नश्वत्थश्चापि तिष्ठति। यस्त्वेन-मर्चयेद् भक्त्या स मां साक्षात् समर्चति॥ पद्मपुराण, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५७; उत्तरखण्ड, १९८.५१ में श्रीमद्भागवत का सुरतरु के रूप में वर्णन है—श्रीमद्भागवता-भिधः सुरतरुस्ताराकुरः सज्जनिः, स्कन्धैर्द्वादशभिस्ततः प्रविलसद् भक्त्यालवालोदयः। द्वात्रिंशशतं च यस्य विलसच्छाखाः सहस्राण्यलं पर्णान्यिष्ट……दोऽतिसुलभो वर्वर्ति सर्वोपरि॥ तदेव, १९७.१११ में वृन्दावन के न्यग्रोध का भी वर्णन है, जहाँ श्रीकृष्ण गोपियों के साथ निवास करते हैं। श्रीमद्भागवत-माहात्म्य, श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० १९९९, ६.८ में श्रीमद्भागवत को 'निगमकल्पतरु' कहता है। श्रीमद्भागवत, तदेव, १०.२.२७ में 'आदिवृक्ष' तथा ११.१२ २१-२४ 'संसारतरु' का सांगोपांग वर्णन है। महाप्रलय में मार्कण्डेय ने बालकृष्ण को वट के पर्णपुट पर स्थित देखा था—तस्मिन् पृथिव्याः ककुदिप्ररूढ वटं च तत्पर्णपुटे शयानम्-तदेव, १२.९.३१। बौद्धधर्म का बोधिवृक्ष, हिमालय को बदरिकावन, वृन्दावन का निधिवन, सेवाकुंज आदि अश्वत्थ की अवधारणा से ओत-प्रोत हैं। अशोक के स्तम्भ, मिहिरावली (मेहरौली) का लौह-स्तम्भ (कुतुबमीनार) एवं बौद्ध-स्तूप उस प्रतीकीय अर्थवत्ता से अनुप्राणित हैं, जो अश्वत्थ तरु से अभिव्यक्त होती है। यहाँ न तो उनकी व्याख्या के लिये अवसर है और न स्थान है। केवल संकेत किया जा रहा है।

[1] श०ब्रा०, १३.२.७.३—यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त, त एतांश्चमसान् न्यौब्जन्, ते न्यंचोऽरोहन् तस्मान् न्यंचो न्यग्रोधा रोहन्ति। तु०, ऐ० ब्रा०, ७.३०; आनन्दकुमार स्वामी का कथन है कि कुरुक्षेत्रवासी आज भी वटवृक्ष को 'न्युब्ज' कहते हैं, आनन्दकुमार स्वामी तदेव, पृ० ३८९। लोक व्युत्पत्ति के लिये द्र०, दुर्गा भागवत, फॉक-इटिमॉलॉजी विद् रिफरेन्स टू इण्डियन् फॉकलोर, ज० आ० सो० (बम्बई) (१०), १.१-७; द्र०, डब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन; दि काण्टेण्ट् आफ् कल्चरल् काण्टीन्युइटी इन इण्डिया, ज०ए०स्ट०, २०(४),

अर्थ है नीचे की ओर बढ़नेवाला व्यक्ति अथवा परमसत्ता जब संव्यवहार्य जगत् में अवतरित होती है, तब वह नीचे की ओर सोपानक्रम से उतरती है; परन्तु वह यज्ञ में पुनः प्रतीकात्मक दृष्टि से ऊपर की ओर जाने की प्रक्रिया का विधान करती है। ध्यातव्य है कि √रुह का अर्थ बीज का जन्म लेना, प्रादुर्भूत होना[1] है, अतएव आरोहण अथवा अवरोहण का अर्थ ऊर्ध्वमुखी-जन्म, अधोमुखी-जन्म है। इन दोनों अर्थों को न्यग्रोध तथा आरोहण में स्पष्टतः देखा जा सकता है। अनेक यज्ञों में विधीयमान विष्णुक्रम अनुष्ठान इसे भलीभाँति अभिव्यक्त करता है। अग्नि-चयन के विष्णुक्रम[2] में यजमान रुक्मधारण कर सशिक्य (सिकहर सहित) आसन्दी पर स्थित अग्नि को उठाकर, कुछ डग भरकर आगे की ओर बढ़ता है और पुनः अपने स्थान पर लौटता है।

तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण[3] का कथन है कि देवों ने विष्णु को आगे कर छन्दों के द्वारा इन लोकों पर जय प्राप्त किया था। उसी तरह यजमान भी विष्णु होकर छन्दों के द्वारा इन अजेय लोकों पर आक्रमण-आरोहण करता है। गायत्री के द्वारा पृथ्वी को, त्रिष्टुप् के द्वारा अन्तरिक्ष को तथा जगती के द्वारा द्युलोक को यजमान स्ववशंवद बनाता है। शतपथब्राह्मण[4] का कथन है कि यजमान रस-रूप अग्नि को, विष्णुक्रम के द्वारा ऊपर आरोहण करा, पुनः उसे वापस लाकर इस लोक में स्थापित करता है। प्रत्यवरोहण के द्वारा यजमान प्रतिष्ठा के रूप में स्थित इस पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होता है। प्रत्यवरोहण आवश्यक है; क्योंकि मनुष्य, देव अथवा प्रजापति अपनी मर्त्य तनु को इस प्रक्रिया के द्वारा अमर्त्य बनाते हैं। इसी को दृष्टि में रखकर अथर्वसंहिता का कथन है कि मर्त्य अमृतत्व में पहुँचता[5] है।

ऐतरेय-आरण्यक कहता है कि सभी मर्त्य को ही साधन बनाकर अमृत की

अगस्त, १९६१, पृ० ४२७-४३४, तदेव, दि वाइटलाइजिन्ग एसॅन्स आफ इण्डियन् सिविलिजेशन्, भ०ज०, भारतीय विद्याभवन, बम्बई. ८,(२३), १०.६.६२, १९-२४, ४७।

[1] क्षीरस्वामी, क्षीरतरंगिणी, पृ० १३२, १.५९८; सायण, माधवीया धातुवृत्तिः, पृ० २२०, १.५८९; √रुह से व्युत्पन्न रुहां (दूब), अ०को०, २.४.१५८; वा०सं०, १३ २०—काण्डा॑त् काण्डात् प्र॒रोह॑न्ती॒।

[2] श०ब्रा०, ६ ७.२; तै० सं० ब्रा०, ५ २.१; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२ १; द्र०, इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय द्वितीय खण्ड।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.२.१.१; तु०, श० ब्रा०, ६.७.२.१०; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

[4] श० ब्रा०, ६.७.३ ४-५।

[5] अ० सं०, १८ ४.३७—मर्त्योऽयमं॑मृतत्वमे॑ति। द्र०, ऋ० सं०, १.१६४.३८—अम॑र्त्यो मर्त्ये॑ना॒ सयो॑निः; द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, स्प्रिचुअल् अथारिटी ऐण्ड् टेम्पोरल् पावर्, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, १९७८, पृ० ७२, आदि।

इच्छा[1] करते हैं। कठ-उपनिषद् में यम नचिकेता से कहता है कि मैंने अनित्य द्रव्यों से नित्य को प्राप्त[2] किया है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि यजमान प्रतीकात्मक विधि द्वारा जब परमसत्ता एवं ब्रह्माण्ड में स्थित सकल पदार्थों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब वह पुनः मर्त्य नहीं होता। संव्यवहार्य विश्व में मर्त्य होता हुआ भी वह सदैव अमर्त्य भाव में, परास्थिति में ही बना रहता है। अथर्वसंहिता के शब्दों में यजमान घोषणा करता है कि 'जो हूँ, सो हूँ'[3]। शतपथब्राह्मण कहता है कि यज्ञ जब संस्था में पहुँच जाता है तब यजमान व्रत-विसर्जन के समय यही घोषित करे कि जो मैं हूँ[4], सो हूँ। वस्तुतः यज्ञ करने का व्रत लेते हुए यजमान कहता है कि 'मैं अनृत से (अलग होकर) सत्य के समीप पहुँच रहा हूँ'[5]। यज्ञ की समाप्ति में व्रत का परित्याग करते समय यजमान का यह कथन अनुचित होगा कि अब मैं सत्य से अलग होकर अनृत के निकट पहुँच रहा हूँ[6]। यज्ञ करने का उद्देश्य ही है, दैव-स्थिति में, आलोक के शृंग पर आरोहण करना[7]। दैवी-जन्म की प्रक्रिया से होकर यजमान मानुष नहीं रह जाता। यदि वह विपरीत-क्रम का अनुकरण करता है, तब पुनः मानुषी स्थिति में पहुँच जायेगा।

उपरितन विवेचन से स्पष्ट है कि प्रजापति ने पृथ्वी से सृष्टि का आरम्भ क्यों किया ? ऊर्ध्व-आरोहण के लिये, उदात्त जन्म के लिये, मर्त्य से अमर्त्य होने के लिये, अन्धकार से प्रकाश में पहुँचने के लिये, सृष्टि के विघातक वृत्र को शमित करने के लिये, समाज में संरचनात्मक ऊर्जा को स्थापित करने के लिये एवं प्रत्येक वैश्विक-कर्म के विधिकरण के लिये, इस प्रकार के संविधानक की प्रस्तुति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अथ च आवश्यक है।

अग्नि-चयन का प्रतीक अर्थ

इष्टका पशु-याग का प्रतीक अर्थ—

अब अग्नि-चयन यज्ञ के अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) इतिहास (मिथ्) के

---

१. ऐं०आ०, २.३.२—मर्त्येनामृतमीप्सति।

२. क० उ०, १.२.१०—अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।

३. अ० सं०, ६.१२.३.३—यो अस्मि॒ सो अ॑स्मि।

४ श० ब्रा०, १,१.१.६—संस्थिते विसृजते, इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि; तु०, तदेव, १.९ ३.२३।

५. वा० सं०, १.५—इ॒दहम॒नृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि; श०ब्रा०, १.१ १.४—मनुष्येभ्यो देवानुपैति।

६. श० ब्रा०, १ १.१.६—अमानुष इव वा एतद्भवति, यदव्रतमुपैति, न हि तदवकल्पते यदब्रूयादिदमहं सत्यादनृतमुपैमि, तदु खलु पुनर्मानुपो भवति, तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत; तु०, तदेव, १ ९ ३.२३।

७. एफ् हीलर्, दि ग्रेट् यूनिटी आफ् मेजर् रिलीजन्स्, भवन्स जर्नल्, ६ (१६), १९६०, पृ० १७ आदि।

विधिकरण की व्याख्या का प्रयास किया जायेगा। इस इतिहास (मिथ्) को द्वितीय इतिहास के रूप में पहले समुपस्थापित किया जा चुका है। सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र 'अप्रकेत' (अभिव्यक्ति का सामर्थ्य रहने पर भी अनभिव्यक्त) सलिल व्याप्त था[1]। ध्यातव्य है कि अग्निचय के दोनों अग्रप्रातिमानिक इतिहासों (मिथ्स्) में भी पहले जल की ही स्थिति थी[2]। ऋग्वेद का कथन है कि ऋषियों ने विचार करने के पश्चात् यह जान लिया था कि सत् को बांधनेवाला असत् ही प्रारम्भ में था[3]। अग्नि-चयन के प्रथम अग्रप्रातिमानिक (आर्कीटाइपल्) इतिहास में प्रारम्भ में असत् प्राण की ही स्थिति[4] थी। यह असत् अनिरुक्त प्रजापति के अतिरिक्त कोई नहीं है[5]। प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ ही अकेला असु था[6]। असु का अर्थ प्राण है। अतएव इष्टका-पशु में पाँचों पशुओं का शरीर जल में ही निक्षिप्त किया जाता है और ईंटों तथा उखा की संरचना में जल का प्रयोग होता है। यह प्रयोज्य जल-सृष्टि की आरम्भिक अवस्था में स्थित, जल, असत् एवं प्राण को प्रतीकायित करता है।

---

[1] ऋ० सं०, १०.१२९.३—अ॑प्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑भा इ॒दम्; तु०, श० ब्रा०, ११.१.६.१; १.१.१.१४; द्र०, रेने गेनो, सिम्बोलिज्म दे लाक्रोइ, अध्याय २४; जीवन-जल है, द्र०, एफ्० बी० जै०, क्यूइप इण्टरप्रेटेशन् आफ् छान्दोग्योपनिषद्, ३.१.२, भारतीय विद्या, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६०-६१, पृ० ३६-३९; वासुदेवशरण अग्रवाल, गौरी, डब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन् फिलीसेटेशन् वाल्यूम, १९६२, पृ० १-७; हरिमोहन मिश्र, मीनिंग आफ् सलिल इन् दि ऋग्वेद, समरी आफ् पेपर्स, २६ आल् इण्डिया ओरिएण्टल् कांग्रेस, १९७२, पृ० ३६३।

[2] श० ब्रा०, ६.१.१.९; १ ३.१।

[3] ऋ० सं०, १०.१२९.४—स॒तो बन्धु॒मस॑ति॒ निर॑विन्दन् हृदि प्रतीष्यां क॒वयो॑ मनी॒षा, तु०, तै० ब्रा०, २.४.१.१०,८.९५; तै० आ०, १.२३.२; ऋ० सं०, १०.७२.३; अ०सं०, १७.१.१९; द्र०; आनन्दकुमार स्वामी, मिडिवल् थियरी आफ् ब्युइटी, से० पे० १, पृ० २१९, पा० टि० ४४; मधुसूदन ओझा, सदसदविद्या, जयपुर, १९२६; बन्धु के अर्थ के लिए द्र०, खोंदा, बन्धु इन् दि ब्राह्मणज्, आड्यार लाइब्रेरी, बुलेटिन्, २९,१९६५, पृ० १-२९।

[4] श० ब्रा०, ६.१.१.१।

[5] श० ब्रा०, १.१.१.१३; ऐ० ब्रा०, ६.२०; तै० ब्रा०, १.८.३.५; ता० ब्रा०, १८.६ ८; कौ० ब्रा०, २३.२; द्र०, लुईरन् तथा एल० सिलबर, निरुक्त ऐण्ड् अनिरुक्त इन् वैदिक् लिट्रेचर, सरूप कमेमोरेशन् वाल्यूम, १९५४, पृ० ६८-७९।

[6] ऋ० सं०, १०.१२१.७—ततो॑ दे॒वाना॒ं सम॑वर्त॒तासुरेक॒ः; द्र०, के० एफ्० गेल्डनर, डेर ऋग्वेद, गोय्टिन्गेन्, १९२३, भाग ३, पृ० ३४८; ग्रासमान, ऋग्वेद, लाइप्त्सिग १८७६; वोर्टेर्बुख जुम ऋग्वेद, वीसबेडेन्, १९५५; द्र०—बे० श्लेराथ, आल्ट—इण्डिश असु आवेस्टिश् अहु—उण्ड ऐहुलिख क्लिन्गैण्डे व्योर्टर, क्यूइपे फिलैटेशन वाल्यूम, १९६८, पृ० १४२-१५३।

इष्टका में पाँच पशु-पुरुष, वृषभ, अश्व, अवि और अज यागार्थ-प्रयुक्त होते हैं। इन सभी पशुओं की उत्पत्ति प्रथम विहित पौरुष यज्ञ में बतायी गयी है[१]। अथर्वसंहिता में पाँचों पशु पशुपति भव से सम्बन्धित किये गये हैं[२]।

ध्यातव्य है कि कुमार अग्नि का एक नाम भव[३] भी है। अग्नि-चयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) के अनुसार इन पाँचों पशुओं में ही अग्नि प्रविष्ट हुआ था और प्रजापति ने अग्नि का इन्हीं में अन्वेषण किया था[४]। अनेक वैदिक संदर्भों में इन सभी पशुओं का सम्बन्ध प्रजापति-अग्नि से बताया गया है। पुरुष को प्रजापति की अत्यन्त समीप की प्रतिमा कहा गया है[५]। शतपथब्राह्मण के अनुसार पुरुष का उद्‌भव प्रजापति के मन से हुआ था[६]। अन्यत्र पुरुष को साक्षात् प्रजापति कहा गया है[७]। पुरुष का निर्वचन इस तथ्य को बताया है कि इस सृष्टि के पूर्व वही प्रज्वलित हो रहा था[८]। ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों में अग्नि का वृषभ के रूप में वर्णन है[९]। कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में अग्नि-वृषभ को प्रतीकायित करने के लिये चितियों में ऋषभ नामक ईंट का उपधान किया जाता है[१०]। ऋषभ ईंट के विनियोग-मन्त्र में अग्नि-वृषभ के प्रकेत एवं प्रजनन-क्षमता का उदात्त वर्णन है[११]। ऋग्वेद में अग्नि को या तो अश्व कहा गया है अथवा उसे अश्व से उपमित किया गया है[१२]। शतपथब्राह्मण के अनुसार

---

[१] ऋ० सं०, १०.९०.५ १०; अ० सं०, १९.६.९; वा० सं०, ३१.५; तै० आ०, ३.१२.२; अ० सं०, १६ ६ १२; वा० सं०, ३१.८; तै० आ०, ३.१२.२।

[२] अ० सं०, ११.२.९—तवे मे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।

[३] श० ब्रा०, ६.१.३.१५; द्र०, ई० आर्बमान, रुद्र, उपसला, १९२२, पृ० २९ आदि; खोंदा, सवयज्ञज् पृ० ३६२।

[४] तदेव, ६.२ १.१-५।

[५] श० ब्रा०, ४.३.४.३—पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्।

[६] तदेव, ७.५ २.६—(प्रजापतिः) मनसः पुरुषं (निरमिमीत)।

[७] तदेव, ६.२.१.२३, ७.१.१ ३७; तै० ब्रा०, २.२.५.३।

[८] तदेव, १४.४.२.२—स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः, द्र०, वासुदेवशरण अग्रवाल, फायर इन् दि ऋग्वेद, इस्ट् ऐण्ड् वेस्ट् रोमा, ११ (१), पृ० २८-३२।

[९] ऋ० सं०, १.५८.५; ५ २.१२, १०.८.१; द्र०, मैकदोनेल, वे० मा०, तदेव पृ० ८९; कीथ, हा० ओ० सी०, ३१, पृ० १५५।

[१०] तै० सं० ब्रा०, ५.७.२.१।

[११] तदेव—त्वामग्ने वृषभं चेकितानं पुनर्युवानं जनयन्नुपागाम्। वृषभ के महत्त्व तथा सृष्टि सामर्थ्य के लिये द्र०—खोंदा सवयज्ञज्, पृ० २८९, २९४; अग्निरूप वृषभ के लिये द्र०, तदेव, पृ० २९४।

[१२] ऋ० सं०, १.३६.८, ८.९१.१२; द्र० मैकदोनेल, तदेव; कीथ, तदेव।

अश्व का जन्म प्रजापति की सूजी हुई आँख से हुआ है[1]। अग्नि-चयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहासि (मिथ्) में इसकी उत्पत्ति अण्डे के पानी (अश्रु) से बतायी गयी है[2]। अन्यत्र इसका जन्म जल से हुआ है[3]। वरुण की आँख से भी इसकी उत्पत्ति का वर्णन मिलता है[4]। इन परस्पर विरोधाभासी कथनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। अन्ततः उद्भव-स्थान का एकत्व सिद्ध ही हो जाता है। नेत्र, अश्रु एवं जल में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

अनेक संहिताओं में अज की उत्पत्ति अग्नि के तेज से बतायी गयी है[5]। शतपथब्राह्मण का कथन है कि अज प्रजापति की वाक् से उत्पन्न हुआ है[6]। अग्नि के अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) में कहा गया है कि अण्डे के कपाल में लगा हुआ रज अज बन गया[7]। अन्यत्र शतपथब्राह्मण कहता है कि इन्द्र के स्रुत नेत्रतेज से आविर्भूत हुआ है[8]। ध्यातव्य है कि अज में पशुओं के सकलरूप स्थित हैं[9]। इस प्रकार वह निखिल पशु-समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। अथर्व संहिता में अजौदन के संदर्भ में अज को विश्वरूप कह स्वर्गप्राप्ति का साधन बताया गया है[10]। अपने व्युत्पत्ति-

---

१. श० ब्रा०, १३.३.१.१; तु०, तदेव, ७.५ २.६; तै० ब्रा०, १.१.५.४; तां० ब्रा०, २१.४.२।

२. श० ब्रा०, ६.१.२.३; द्र०, जी० वी० देवस्थली, रिलीजन् ऐण्ड् मॉइथॉलॅाजी आफ् ब्राह्मणज्, पृ० ९३ आदि।

३. श० ब्रा०, ७.५.२.१८; ५.१.४.५; तै० ब्रा०, ३.८.४.३।

४. श० ब्रा०, ४.२.१.११; व्युत्पत्ति के लिए द्र०; दुर्गा भागवत, फॉक-इटिमॉलॉजी विद् रिफरेन्स टू इण्डियन् फॉकलोर, जर्नल् आफ् ऑन्थ्रापालिजिकल सोसाइटी, बम्बई, ९०(१), पृ० १-७; द्र०, हरेन्द्र चन्द्र पाल, हार्स, इट्स् सिग्नीफिकेन्सेस् ऑर सिम्ब्रालिक इमेजरीज़, समरी आफ् पेपर्स, २२, आल् इण्डिया ओरिएण्टल् कांग्रेस, १९६५, पृ० १३३-१३४; धार्मिक जगत् में अश्व की प्रभविष्णुता के लिए द्र०, खोंदा, ऑस्पेक्ट्स आफ् अर्ली विष्णु-इज्म, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, १९६९, पृ० १४७ आदि तथा अन्य सन्दर्भों के लिये द्र० पा० टि० २; अश्व के प्रतीक-अर्थ के लिए द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, आर्नामेण्ट, से० पे० १, पृ० २४८, प्रजापति-अश्व के लिए द्र०, तदेव, प्रिमिटिव मेण्टलिटी, तदेव, तृ० २९५ पा० टि० २२; तदेव, इन्वर्टेड ट्री, पृ० ३८९, पा० टि० २३।

५. अ० सं०, ४.१४.१—अ॒जो ह्य॒ग्नेरज॑निष्ट॒ शो॒का॒त्, तु०, तदेव, ९.५.१३; वा० सं०. १३.५१, का० स०, १६.१७; मै० सं०, २.७.१७; श० ब्रा०, ७.५.२.३६, ६.५.४.१६, १४.१.२.१३।

६. श० ब्रा०, ७.५.२.६; ७ श० ब्रा०, ६.१.१.११; ८. श० ब्रा०, १२.७.१.२।

९. श० ब्रा० ६.२.२.१५, तै० सं० ब्रा०, ५.५ १.२-३; का०सं०ब्रा०, १९.८; मै०सं०ब्रा०, ३.१.१०।

१०. अ० सं०, ४.१४.९, ६।

लभ्य अर्थ में अज प्रजापति से अभिन्न दृष्टिगत[1] होता। अज एकपाद् देवता का सम्बन्ध अज से अति घना है। अज एकपाद् को अनेक विद्वानों ने सूर्य अथवा अग्नि से समीकृत किया है[2]। अथर्वसंहिता में अवि (भेंड़) के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अवि चारों ओर व्याप्त होता हुआ प्रभु होकर सभी कामों की पूर्ति करता है[3]। यह इरा एवं समुद्र के जल के समान कभी नष्ट नहीं होता[4]। जो व्यक्ति लोकसम्मित अवि को यज्ञ में समर्पित करता है, वह स्वर्ग पर आरोहण करता है[5]। शतपथब्राह्मण के अनुसार अवि का उद्भव प्रजापति के श्रोत्र से हुआ है[6]। अन्यत्र इसे इन्द्र की नासिका से स्रुत वीर्य से उत्पन्न बताया गया है[7]। वरुण से मेष का गहन सम्बन्ध है[8]। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार अवि पृथिवी है; क्योंकि वह सबका अवन (रक्षण) करती है[9] पृथिवी गायत्री है और अग्नि गायत्र[10]। इस प्रकार अवि अग्नि का ही रूप है। अग्निष्टोम की आतिथ्य इष्टि में अग्नि-मंथन होता है[11]। अग्नि-मंथन में प्रयुक्त उत्तर अरणि तथा अधर अरणि को क्रमशः पुरूरवा एवं उर्वशी कहा गया है[12]। ध्यातव्य है कि पुरूरवा अग्नि[13] है। उर्वशी के पास दो उरण (भेंड़ के बच्चे) थे[14]। इस प्रकार अवि की आग्नेयता अपने-आप में अत्यन्त स्पष्ट है[15]।

अग्निचयन में पाँच प्रकार की इंटों का प्रयोग होता है—मृन्मयी, पशु-इष्टका, हिरण्य-इष्टका, वानस्पत्य-इष्टका और अन्न इष्टका। इष्टकापशु में पुरोडाश आदि

---

१. ओल्डेनबुर्ग, डी रेलीगिओन् डास् वेदा, ७१-७२।

२ खोंदा, वसयज्ञज्, पृ० २५३।

३. अ० सं०, ३.२९.२—सर्वा॒न् कामा॑न् पूरयत्या॒भव॑न् प्र॒भ॒वन् भव॑न्।

४. तदेव, ३.२९ ६—हरैव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत्।

५ तदेव, ३ २९.४, ३—यो ददाति शितिपादमविंलोकेन संमितम्। स नाकमभ्यारोहति।

६. श० ब्रा०, ७ ५ २.६।

७. श० ब्रा०, १२.७.१.३।

८. तदेव, ७ ५ २.२०; २.५ २ १६।

९. तदेव, ६ २.१.२३।

१०. तदेव, १ ४ १.३४, ७.२.१५; तां०, ७.३.११, १४.१.४; कौ० ब्रा०, ८.९; श० ब्रा०, ६.१.१.२, १.१.१४, ७.३.१.२२; १४.९ १.१४; ३.४.१.१९, ९.४.१०; कौ० ब्रा०, १.१.३, २.९.२; तै० ब्रा०, १.१.५.३।

११. श० ब्रा०, ३.४.१.२१-२२ आदि; तै० सं० ब्रा०, ६.२.१; का० सं० ब्रा०, २४.८; मै० सं० ब्रा०, ३.७.९; क० सं० ब्रा०, ३८ १।

१२. श० ब्रा०, ३.४.१.२२; वा० सं०, ५ २; तै० सं०, १.३.७ १; का० सं०, ३.४; मै० सं० ब्रा०, १.६.१२।

१३. आनन्दकुमार स्वामी, ए न्यू एप्रोच् टू दि वेदज़, पृ० ७९-८०, पा० टि० १५।

१४. श० ब्रा०, ११.५.१.२।

१५. द्र०, खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० २३५।

में प्रयुक्त कपाल मृन्मयी इष्टका, पशुसंज्ञपन पशु इष्टका, वपा के दोनों ओर आहित स्वर्णखण्ड हिरण्य इष्टका, इध्म, यूप और परिधियाँ वानस्पत्य इष्टका तथा आज्य, प्रोक्षण-जल एवं पुरोडाश अन्न इष्टका को प्रतीकायित करते हैं। इस प्रकार भावी अग्नि-चयन का रूप इस इष्टका-पशु में ही रूपायित हो जाता है[1]।

इष्टका-पशु के पशुओं में विनियोजित सामिधेनी ऋचाओं की संख्या चौबीस होती है। वर्ष के अर्द्धमास भी चौबीस होते हैं। अग्नि संवत्सर है। इस प्रकार इन सामिधेनियों से संवत्सर अग्नि प्रतीकायित होता है[2]। सामिधेनियों की चौबीस संख्या चौबीस अक्षरों वाली गायत्री का प्रतिरूप है। अग्नि गायत्र है। इस प्रकार से भी चौबीस सामिधेनियाँ अग्नि को प्रतीकायित[3] करती हैं। इन चौबीस सामिधेनियों से अग्नि-पुरुष प्रतीकायित होता है। पुरुष चौबीस अवयव वाला है। उसके हाथ-पैर में दस-दस अंगुलियाँ होती हैं, तथा पैर, हृदय, मुख और मस्तक चार अंग है। अतएव संख्या के इस सादृश्य के कारण सामिधेनी ऋचाएँ पुरुष-अग्नि को प्रतीकायित करती हैं। इन सामिधेनियों में गायत्री एवं त्रिष्टुप् छन्दों का प्रयोग किया गया है[4]। गायत्री प्राण है और त्रिष्टुप् आत्मा। गायत्री-छन्द आदि और अन्त में हैं, त्रिष्टुप् मध्य में। प्राणों के मध्य में आत्मा संनिहित है। इनके प्रयोग के द्वारा प्रजापति अग्नि के विसंहत प्राणों एवं आत्मा को संहत किया जाता है[5]। आप्री-मंत्रों के द्वारा भी संवत्सर-अग्नि को प्रतिरूपायित किया जाता है[6]। आप्री-मन्त्रों की संख्या बारह है और संवत्सर में बारह मास होते हैं। अतएव ये आप्री-मन्त्र संवत्सर अग्नि के सदृश होने के कारण उसे प्रतीकायित करते हैं। वैश्वानर पशु पुरोडाश भी अग्नि का प्रतिरूपण[7] करता है। वैश्वानर में सभी अग्नि[8] निहित है। अग्नि-चयन की पाँचों चितियाँ पाँच ऋतु[9] हैं, ऋतु अग्नि है। अग्नि संवत्सर है। ऋतुओं से ही संवत्सर संहत होता है। वैश्वानर संवत्सर है। अतएव वैश्वानर पुरोडाश संवत्सर अग्नि को रूपायित करता है।

इष्टका-पशु में यदि पाँच पशुओं के स्थान पर प्राजापत्य-अज या वायव्य-अज का संज्ञपन होता है, तो भी प्रतीक-अर्थवत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। वस्तुतः इस स्थिति में सारी प्रतीक-अर्थवत्ता एक पशु में भी संक्रान्त हो जायेगी। प्राजापत्य-अज श्याम तूपर (सींग-रहित) होता है[10]। उसके रोएँ शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण के होते हैं।

---

१. श० ब्रा०, ६.२.१.२०।
२. तदेव, ६.२.१.२१।
३. तदेव, ६.२.१.२२।
४. तदेव, ६.२.१.२३।
५. तदेव, ६.२.१.२४।
६. तदेव, ६.२.१.२८।
७. श० ब्रा०, ६.२.१.३५-३६; तु०, तै० ब्रा०, १.७.२.५; तै० सं० ब्रा०, ५.५.१.६; का० सं० ब्रा० १९.८; मै० सं० बा०, ३.१.१०।
८. श० ब्रा०, ६.२.१.३५, ६.६.१.५; तु०, ऐ० ब्रा०, ३.४१; शां० ब्रा०, १४.२.३।
९. श० ब्रा०, ६.२.१.३६; तै० सं० ब्रा०, ५.६.१०.२।
१०. श० ब्रा०, ६.३.१.२।

इस प्रकार यह जोड़ा मिथुन-भाव की संरचना करता है, जो प्रजनन का विधाता होता है। फलतः यह प्रजनन-क्षमता प्रजापति के रूप को ही रूपायित करती है। प्राजापत्य-अज की सामिधेनी ऋचाओं की संख्या इक्कीस होती है। इक्कीस संख्या में बारह मास, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और एक आदित्य की परिगणना[1] होती है। ये सब मिलकर प्रजापति को प्रतीकायित करते हैं। अग्नि-पुरुष की देह इक्कीस संख्या से युक्त होती है। दस हाथ की अंगुलियाँ, दस पैर की अंगुलियाँ और एक आत्मा मिलकर इक्कीस होते हैं[2]। अतएव सामिधेनी की इक्कीस संख्या अग्नि-पुरुष को प्रतीकायित करती है। इस पशु के आधार में हिरण्यगर्भवती ऋचा का प्रयोग होता है। हिरण्यगर्भ प्रजापति है[3]। प्राजापत्य-पशु-पुरोडाश में बारह कपालों का प्रयोग होता है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। इस प्रकार सदृश संख्या के कारण यह पशु पुरोडाश प्रजापति को प्रतिरूपायित करता है[4]।

वायव्य अज की उत्पत्ति प्रजापति के रेत से हुई है[5]। वायु प्राण है। प्राण ही प्रजापति है। जब प्रजापति विसंहत हुआ था, तब उसके मध्य भाग से प्राण निकल गया था[6]। प्राण वायु[7] है, अतएव इस अज के वायुदेवताक होने के कारण प्रजापति में प्राण का आधान होता है[8]। नियुत उदान है, और यह पशु नियुत्वान्-वायु के लिये संज्ञप्त होता है। अतएव इसके द्वारा प्रजापति में उदान को स्थापित किया जाता है[9]। इस पशु की सामिधेनी ऋचाओं की संख्या सत्रह[10] है। संवत्सर भी बारह मासों और पाँच ऋतुओं का संघात होने के कारण सत्रह अवयव वाला है और प्रजापति संवत्सर[11] है। इस प्रकार इन सामिधेनियों से प्रजापति की संरचना होती है। पुरुष-प्रजापति में दस प्राण, चार अंग और एक आत्मा है। उसमें ग्रीवा और सिर का संयोजन करने पर संख्या सत्रह हो जाती है[12]। इस प्रकार से भी अग्नि-पुरुष का प्रतिरूपायन होता है।

इस विधा से इष्टका-पशु-याग में अग्नि, प्रजापति एवं पुरुष का आरम्भ में ही

---

[1] श० ब्रा०, ६.२.२.३; तु०, तदेव, १.३.५.११; ऐ० ब्रा०, १.३०; तां०ब्रा०, १०.१.१०।

[2] तदेव, ६.२.२.४; तु०, ऐ० ब्रा०, १.१९; तै० ब्रा०, ३.३ ७.१।

[3] तदेव, ६.२.२.५; [4] तदेव।

[5] तदेव, ६.२.२.५; तु०, तदेव, ६.१.१.११, १२.७.१.२, ५.२.१.२४।

[6] तदेव, ६.२.२.७।

[7] तदेव; १०.३.३.७; ऐ० ब्रा०, २.२६.३.२; तै० ब्रा०, २.३.९.४-५; कौ० ब्रा०, ८.४; तां० ब्रा०, ४.६.८; तै० सं० ब्रा०, ५.१.५.१; का० सं० ब्रा०, १९.५; जै० उ०, १.२.१।

[8] श० ब्रा०, ६.२.२.७; [9] तदेव; [10] तदेव, ६.२.२.८।

[11] तदेव, ६.२.२.९; तु०, श० ब्रा०, १.५.२.१७; ऐ० ब्रा०, १.१६,४.२६; कौ० ब्रा०, २.१०; ता० ब्रा०, १०.१.७; मौ० उ०, १.१४।

[12] श० ब्रा०, ६.२.२.१६-१८।

प्रतीकायन कर इतिहास (मिथ्) का विधिकरण (इन्ऐक्टमेण्ट) प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह कहना असंगत नहीं होगा कि इष्टका-पशु फाल्गुनी पौर्णमासी के दिन किया जाता है। इस दिन इस याग करने का लक्ष्य यह है कि इन्द्र ने पौर्णमास हवि के द्वारा वृत्र का वध किया था[1]। अतएव इन्द्र का अनुकरण करते हुए यजमान भी संरचना को अवरुद्ध करनेवाले सभी विघातक तत्त्वों को विनष्ट करने के लिये इष्टका-पशु[2] का विधान करता है। वृत्र-वध की प्रतीकीय अर्थवत्ता की व्याख्या पहले प्रस्तुत की जा चुकी है[3]।

सावित्र होम का प्रतीक अर्थ—

ऋग्वेद में सविता को प्रजापति कहा गया है[4]। सविता अग्नि भी है[5]। सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था[6]। अग्नि-चयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास के अनुसार प्रजापति जब संतप्त हुआ, तो उससे जल उत्पन्न हुआ[7]। सावित्र आहुति में अष्टगहीत आज्य द्वारा दी जानेवाली संतत आहुति उस प्रारम्भिक जल को प्रतीकायित करती है[8]। इस आहुति के द्वारा भावी अग्नि को रेत के रूप में सिंचित किया जाता है[9]। प्रजापति त्रयीविद्या के साथ जल में प्रविष्ट हुआ था। यजुषों का प्रयोग इसी तथ्य को स्पष्ट करता है[10]। इसमें विनियोजित प्रथम तीन यजुष् तीनों लोकों को तथा चतुर्थ यजुष् त्रयीविद्या को रूपायित करता है। अन्त में चारों यजुष् दिशाओं को रूपायित करते हैं। इस प्रकार त्रिलोकात्मक एवं त्रयीविद्या के निधान प्रजापति अग्नि को वीर्यरूप में स्थापित किया जाता है।

---

[1] श० ब्रा०, ६.२.२.१९; तु०, तदेव, १.६.४.२२।

[2] श० ब्रा०, ६.२.२.१९।

[3] इस प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय द्रष्टव्य। सृष्टि में इन्द्र-वृत्र युद्ध की भूमिका के लिये द्र०, डब्ल्यू नार्मन् ब्राउन, थियरीज़ आफ क्रियेशन् इन् दि ऋग्वेद, ज० अ० ओ० सा०, ८५, १९६५, पृ० २३-३४।

[4] ऋ० सं०, ४.५३.२—दि॒वो ध॒र्ता भुव॑नस्य प्र॒जाप॑तिः; तु०, कौ० ब्रा०, २१.४; द्र०, श०ब्रा०, १२.३.५.१; तै०ब्रा०, १.६.४.१; तां०ब्रा०, १६.५.१७; गो०पू०, ५.२२।

[5] श० ब्रा०, ६ ३.१.६; जै० उ०, ४.२७.१; सविता के लिए द्र०, रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर, न्यू लाइट ऑन् दि वैदिक् गाड् सवितृ, ए०भा०ओ०रि०इ०, २०,१९३८-३९; अरबिन्दो घोष, सूर्यसवितृ, क्रियेटर् एण्ड् इन्क्रीजर्, आर्य, १९१४; वाई० वेंकटरामैय्या, सवितर् : ए स्टडी इन् दि ऋग्वेद, प्रबुद्ध भारत, २०,१९४१।

[6] ऋ० सं, १०.१२९.३, १२१.७, तै० सं० ब्रा०, ५.६.४.२; श० ब्रा०, ६ १.१.९, १ ३.१, ११.१.६.१; गो० यू०, १.२; द्र०, बेल्लिकांथ रामचन्द्र शर्मा, सिम्बालिज्म् आफ् फायर-आल्टर इन् दि वेदज़ : ए स्टडी विद् स्पेशल रिफरेन्स टू आपः, ए० भा० ओ० रि० इ०, ३३, पृ० १८९-१९६।

[7] श० ब्रा०, ६.१.३.१;

[8] श० ब्रा०, ६.३.१.१०।

[9] तदेव, ६.३.१.८;

[10] तदेव, ६.१.१.१०, ३.१.१०-११।

अग्नि-चयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में गृहपति के रूप में 'भूतानां पतिः' संवत्सर प्रजापति[१] ही था। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ प्रजापति का 'भूतपति' के रूप में उल्लेख हुआ है[२]। इस कथ्य का अन्यत्र भी समर्थन मिलता है[३]। अग्नि का भी एक नाम भूतपति[४] है। इस भूतपति संवत्सर प्रजापति ने उषा में वर्षभर रेतोधान किया। उस समय उषा ही गृहपत्नी[५] थी। उसी की अनुकृति में उखा में वर्षभर अग्नि का संभरण किया जाता है। उखा उषा का प्रतिरूप है। उख्य अग्नि में प्रतिदिन जो समिधाओं की आहुतियाँ दी जाती हैं, वह प्रजापति द्वारा उषा में वर्षभर वीर्य-सेक को प्रतीकायित करता है। यह उखा उस वाक् की भी प्रतिरूप है, जिसे प्रजापति ने त्रयीविद्या के रूप में सर्वप्रथम उत्पन्न किया था और उसी के साथ वाक्-लोक से उत्पन्न जल में प्रविष्ट हुआ था। तदनन्तर एक अण्डा बना और उससे सकल ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया। उखा के प्रतीक अर्थ की व्याख्या यथावसर की जायेगी।

अग्नि-चयन में ब्रह्माण्ड-संरचना—

कोई भी अस्तित्व दिक्-काल सापेक्ष होता है। यदि कोई अस्तित्व है, तो वह निश्चय ही किसी देश-विशेष और काल-विशेष में है। परम यथार्थ भी जब संव्यवहार्य यथार्थ में अस्तित्व ग्रहण करता है, तो उसे दिक्-कालात्मक ब्रह्माण्ड की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से अस्तित्व-संघात को सिरजने के लिये ब्रह्माण्ड का सृजन अवश्यम्भावी हो उठता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रजापति त्रिलोकात्मक ब्रह्माण्ड की रचना[६] करता है। अग्नि-चयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास में इस ब्रह्माण्ड की रचना का पूर्णतया विवरण मिलता है। प्रजापति का अनुकरण करनेवाला यजमान भी अग्निचयन में ब्रह्माण्ड की संरचना करता हुआ प्रजापति के अंगों का भी संधान करता है। स्वयं यजमान भी प्रजापति के अंगों को सिरजता हुआ अपने अंगों को अभिसंस्कृत करता है।

इस दृष्टि से सम्पूर्ण वेदि में ब्रह्माण्ड को रूपाकार प्रदान किया जाता है। जैसा कि पहले बताने का प्रयास किया गया है कि प्रजापति ने पृथ्वी से सृष्टि का

---

१. श० ब्रा०, ६.१.३.७-८।

२. ऋ० स०, १०.१२१.१—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

३. अ० सं०, ४.२.७; वा० सं०, १३.४; तै० सं०, ४.१.८.३; का० सं०, १६.१५; मै० सं०, ७.२.१५; श० ब्रा०, ७.४.१.१९; १३.५.२ २३; तां० ब्रा०, ९.९.२।

४. तै० सं०, ३.४.५.१, ४.३.१०, रुद्र भी 'भूतानामधिपतिः'—४.५.११; श० ब्रा०, १.३.३.१७; द्र०, ऐ० ब्रा, ३.३३; का० सं० ब्रा०, २५.७; मै० सं० ब्रा०, ३.८.६।

५. श० ब्रा०, ६.१.३.८—या सोषाः पत्न्यौषसी सा; तु०,—श० ब्रा०, १.७.४.१; ऐ० ब्रा०, ३.३३।

६. ऋ० सं०, १०.१२१.१; श० ब्रा०, ६.१.१-२।

प्रारम्भ क्यों किया ? वस्तुतः पृथ्वी से सृष्टि का उपक्रम स्वर्ग की उपलब्धि के लिये, परम यथार्थ से तादात्म्य-स्थापन के लिये किया जाता है[१]। वास्तविक स्थिति को प्रतीकात्मक दृष्टि से विपरिवर्तित कर लिया जाता है। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार स्वर्ग लोक दूरोहण[२] है। इसका अभिप्राय यह है कि परम यथार्थ के साथ तादात्म्य अति कठिन है। अतएव उसके लिये देवयान ही ऋजु मार्ग है। प्रतीकात्मक दृष्टि से पृथ्वी से सृष्टि के आरम्भ का सिद्धान्त स्वर्ग उपलब्धि के लिये एक प्रक्रिया मात्र है। वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। सारे लोक, सकल अस्तित्व तो उस परम यथार्थ में संनिहित हैं, जिसे नासदीयसूक्त[३] में 'तदेकम्' हिरण्यगर्भसूक्त में हिरण्यगर्भ[४], अथर्वसंहिता में 'एक ज्योति'[५] तथा वाजसनेयिसंहिता में 'आदित्य-वर्ण[६] पुरुष' कहा गया है। वैदिक ग्रन्थों में इसे अनेक अभिधान दिये गये हैं। इसकी स्थिति तो द्युलोक में ही है; क्योंकि परम यथार्थ की स्थिति वहाँ अथवा उससे परे लोक में है। इसी दृष्टि से पुरुषसूक्त[७] में कहा गया है कि पुरुष के चौथाई भाग में यह अनुभूतिगम्य सृष्टि है। उसका तीन चौथाई भाग तो ऊपर चला गया है। यह ऊर्ध्व-देशस्थ भाग शेष है, जो अनन्त है[८]। सत्य तो यह है कि यह संव्यवहार्य पुरुष की स्थिति है। पुरुष के विषय में तो कुछ भी कहना अशक्य है। इसी कारण से द्युलोक के प्रतीक आहवनीय में सभी लोकों की स्थिति को दिखाने के लिये चयन किया जाता है; अन्यथा गार्हपत्य पृथिवीलोक, आग्नीध्रीय अन्तरिक्ष-लोक तथा आहवनीय द्युलोक का प्रतीक है। अब इसकी व्याख्या की जायेगी।

---

[१] इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

[२] ऐ० ब्रा०, ४.२१—स्वर्गो वै लोको दूरोहरणम्। दूरोहण के अर्थ के लिये द्र०, मर्सिया इलियाड, दूरोहण ऐण्ड् दि वेकिङ्ग ड्रीम्, आर्ट् ऐण्ड् थाट्, १९४७, पृ० २०९ आदि।

[३] ऋ० सं०, १०.१२९.२–आनी॑दवा॒तं स्व॒धया॒तदेक॒म्।

[४] ऋ० सं०, १०.१२१.१, अ० सं०, ४.२.७; वा० सं०, १३.३; तै० सं०, ८.१.८.३; का० सं०, १६.१५, मै० सं०, २.७.१५; श० ब्रा०, ७.४.१.१९।

[५] अ० सं०, १३.३.१७–यदेक॒ं॑ ज्योति॑र्बहु॒धा वि॒भाति॑।

[६] वा० सं०, ३१.१८–वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्।

[७] ऋ०सं०, १०.९०.४–त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त् पुरू॑ष॒ः पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त् पुन॑ः। वा०सं० ३१.४; तै० आ०, ३.१२.२; तु०–ऋ० सं०, १०.९०.३–त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं दि॒वि; तु०, अ० सं०, १९.६.३; वा० सं०, ३१.३; तै० आ०, तदेव; छा० उ० ३.१२.६।

[८] द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, वन ऐण्ड ओनली ट्रैन्समिग्रन्ट, से० पे० १, पृ० ८०, पा० टि० ६२; आत्मयज्ञः सेल्फ्–सैक्रीफाइस्, अपेन्डिक्स २, पृ० १३९-१४२; इसी अवधारणा पर आधृत पुराणों में शेष की परिकल्पना है। इसी शेष की शय्या पर विष्णु शयन करते हैं। ध्यातव्य है कि संस्कृत-वाङ्मय में शेष का केवल एक ही पर्याय, अनन्त है। द्र०, एस० सिन्धु डांगे, शेष–दि कॉस्मिक् सर्पेण्ट्, पुराणम्, ७(१), जनवरी १९६५, पृ० १४४-१४९।

गार्हपत्य चिति : पृथिवी-लोक—

गार्हपत्य अग्नि पृथिवी-लोक को प्रतीकायित करता है[१] । उख्य-अग्नि सर्वप्रथम यहीं स्थापित किया जाता है[२] । यहाँ आठ यजुष्मती ईंटों का आधान[३] करने का निर्देश है। संख्या-सादृश्य से ये आठ ईंटें आठ अक्षरोंवाली गायत्री को रूपायित करती हैं। अग्नि भी गायत्र है। अतएव गायत्र-अग्नि की मात्रा के समान इनका आधान किया जाता है[४] । अग्नि में पाँच चितियाँ होती हैं, अतएव पंच चितिक-अग्नि संवत्सर है। इसी दृष्टि से यहाँ ईंटों के सादन-मन्त्रों का पाँच बार प्रयोग किया जाता है, जो संवत्सर-अग्नि के सादृश्य का विधान करते हैं। आठ आहित ईंटें और पाँच सादन-मन्त्रों का योग तेरह होता है। अग्नि के चिति-पुरीषों की संख्या भी तेरह है। पुरीष-निवपन तक चार चितियाँ, स्तोमभागा ईंटों के आधान तक पंचमी चिति, तदनन्तर पुरीष-आधान, नाकसद् ईंटों का पुरीष-निवपन तक, आधान तक दो. विकर्णी एवं स्वयमातृण्णा का आधान, स्वर्ण-खण्डों से चिति-प्रोक्षण, सातवीं चिति—ये सब मिलकर तेरह संख्या को पूरा करती हैं। इसमें सात ईंटों की चितियाँ और छह पुरीषाधान है। संवत्सर में तेरह मास होते हैं। इस प्रकार[५] यह गार्हपत्य अग्नि संवत्सर अग्नि को प्रतिरूपायित करता है।

गार्हपत्य-अग्नि में आठ यजुष्मती ईंटें और तेरह लोकम्पृणा ईंटें आहित की जाती हैं। इनका योग इक्कीस[६] होता है। इक्कीस संख्या में बारह मास, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और आदित्य समायोजित होते हैं। इक्कीस संख्या प्रतिष्ठा को अभिव्यक्त करती है। प्रतिष्ठा पृथिवी है[७] । इस प्रकार से भी गार्हपत्य पृथिवी-लोक है[८] ।

परिश्रितों (गार्हपत्य-अग्नि के चारों ओर बाड़ के रूप में रखे गये कंकड़ों अथवा छोटे पत्थरों) की संख्या इक्कीस है। ये परिश्रितें समुद्र को प्रतीकायित करती

---

[१] श० ब्रा०, ७.१.२ १२–गार्हपत्य एवायं लोकः; तै० सं० ब्रा०, ५.२.३; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.४.४ ।

[२] श० ब्रा०, ७.१.१.३८; तै० सं० ब्रा, ५.२.२; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३ ।

[३] श० ब्रा०, ७.१.१.३२; तै० सं० ब्रा० तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव ।

[४] श० ब्रा०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव ।

[५] श० ब्रा०, तदेव; द्र०, तदेव, ७.२३.९; सायण, तदेव, ७.१.१.३२ ।

[६] श० ब्रा०, ७ १.१ ३२-३४; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव ।

[७] श० ब्रा०, १.९.१.२९; ९.३.११; २.२.१.१९; ऐ० ब्रा०, ८.१; कौ० ब्रा०, ९ ४.१४.३ ।

[८] श० ब्रा०, ७.१.२.१२; तै० सं० ब्रा०, ५.२.३.६; का० सं० ब्रा०, २०.१; मै० सं० ब्रा०, ३.४.४ ।

हैं। यह पृथिवी चारों ओर समुद्र से आवृत है। अतएव इन परिश्रितों को आहित कर इसे पृथिवीलोक की प्रतिकृति के रूप में प्रतीकायित किया जाता है[1]।

गार्हपत्य में अग्नि गर्भस्थ शिशु के रूप में रहता है। इस पृथ्वीलोक से ही उनका जन्म होता है। इस स्थिति में परिश्रित योनि को[2] प्रतीकायित करती है। इस योनि में बिछायी जाने वाली ऊषा (खारी मिट्टी) गर्भ का ऊल्ब (गर्भ को आच्छादित करने वाली भीतरी झिल्ली) है[3]। गार्हपत्य में विकीर्ण सिकता वीर्य को रूपायित करती है[4]। चिति में पूर्व में आहित चार ईंटें आत्मा (शरीर) हैं[5]। उनके पीछे रखी जाने वाली दो ईंटें सक्थि (नितम्ब) तथा आगे रखी जाने वाली दो ईंटें बाहु हैं[6]। जहाँ आत्मा है, वहीं शिर भी है[7]। पक्षों एवं पूँछ से युक्त इस सुपर्ण-अग्नि को गार्हपत्य में गर्भ के रूप में स्थापित किया जाता है[8]। अन्यथा भावी सुपर्ण की उत्पत्ति संभव नहीं होगी।

आग्नीध्रीय-चिति : अन्तरिक्ष-लोक—

आग्नोध्रीय-अग्नि अन्तरिक्ष लोक है[9]। इसका चयन सभी अग्नियों के चयन के पश्चात् किया जाता है। वैदिक इतिहास (मिथ्) के अनुसार पहले अन्तरिक्ष लोक नहीं था, केवल संसृष्टरूप में पृथिवी एवं द्युलोक ही थे[10]। बाद में जब इन दोनों लोकों को अलग किया गया, तब अन्तरिक्ष अस्तित्व में आया। इसमें आहित अश्मा-पृश्नि (सफेद चित्तीदार पत्थर) आदित्य का रूप है[11]। इसे रखकर अन्तरिक्ष में आदित्य की स्थापना की जाती है। आग्नोध्रीय में आठ ईंटें उपहित की जाती हैं। ये आठ ईंटें आठ अक्षरों वाली गायत्री के साथ सादृश्य-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। अग्नि गायत्र होने के कारण इनके द्वारा प्रतिरूपायित होता है[12]। इसमें अश्मा-पृश्नि नवाँ, रखा जाता है। प्राणों की संख्या दस है। यहाँ जो अग्नि आहित किया जाता है, वह दशम है। इस प्रकार आग्नीध्रीय में दस प्राणों को आहित किया जाता है। सभी प्राण मध्यवर्ती होते है। अतएव मध्यलोक स्थानीय अन्तरिक्ष में सभी प्राणों का आधान किया जाता है[13]।

---

१. श० ब्रा०, ७.१.१ १३; २. श० ब्रा०, ७.१.१.१२,१६—योनिर्वै परिश्रितः।
३. तदेव, ७.१.१.१६—ऊल्बमूषाः; ४. तदेव, ७.१.१.९,१६; ५. तदेव, ७.१,१.१८।
६. तदेव; ७. तदेव; ८. तदेव, ७.१.१.१९।
९. तदेव, ७.१.२.२०,२३; तै० सं० ब्रा०, ५.४.६.४; का० सं० ब्रा०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.३।
१०. श० ब्रा०, ७.१.२.२३; तां ब्रा०, २०.१४.२; जै० उ०, १.२०.४।
११. श० ब्रा०, ९.२.३,१४-असौ वा आदित्योऽश्मापृश्निः; तु० तदेव, ९.२.३.१८ तै०सं०ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।
१२. श० ब्रा०, ९.४.३.६; तै० सं० ब्रा०, तदेव, का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव।
१३. श० ब्रा०, तदेव।

आहवनीय-चिति : द्युलोक—

उत्तरवेदि पर आहवनीय अग्नि का चयन किया जाता है[1]। यह द्युलोक को प्रतीकायित करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि सकल ब्रह्माण्ड की स्थिति द्युलोक में है। अतएव इसमें ब्रह्माण्ड स्थित सभी पदार्थों को आहित किया जाता है। आहवनीय अग्नि में ईंटों के पाँच प्रस्तार होते हैं। प्रथम-चिति में पृथ्वी-लोक, तृतीय-चिति में आन्तरिक्ष लोक तथा पंचमी-चिति में द्युलोक की स्थापना की जाती है[2]। द्वितीय-चिति पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष-लोक को जोड़ती है तथा चतुर्थी-चिति अंतरिक्ष तथा द्युलोक को[3]। यहाँ सर्वप्रथम पृथ्वीलोक को प्रतिरूपायित करनेवाली प्रथम चिति की व्याख्या की जायेगी।

प्रथम-चिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में पृथिवी-लोक की संरचना—

अग्नि-क्षेत्र के कर्षण के समय चार कूँड़ यजुषों द्वारा तथा बारह कूँड़ निर्मन्त्रक बनायी जाती है[4]। इसमें चार कूँड़ों के द्वारा सकल अन्न एवं चार शीर्षण्य प्राण स्थापित किये जाते हैं[5]। बारह कूँड़ों के द्वारा भी अग्नि के शरीर में प्राणों को आहित किया जाता है[6]। संवत्सर में बारह मास होते हैं। बारह कूँड़ों के द्वारा संवत्सर-अग्नि को रूपायित किया जाता है[7]। सोलह कूँड़ों को बनाकर षोडशकल विसंहत प्रजापति को संहत किया जाता है[8]।

कृष्ट क्षेत्र में बीचो-बीच दर्भस्तम्ब का आधान किया जाता है[9]। ध्यातव्य है कि दर्भस्तम्ब की गणना यजुष्मती ईंटों में की गयी है[10]। दर्भस्तम्ब सृष्टि के पूर्व में स्थित जल को प्रतीकायित करता है। ऋग्वेद के अनुसार जब इन्द्र ने वृत्र का वध किया था, तब सृष्टि-क्षम आद्य जल वृत्र के प्रवहित होनेवाले जल से अलग हो गया था[11]। शतपथब्राह्मण इस इतिहास (मिथ्) को दुहराता है। इन्द्र ने जब वृत्र का वध किया, तब उससे दुर्गन्ध-युक्त जल चारों ओर बह चला। उस जल से घृणा करने के कारण तथा उसके संस्पर्श से बचने के लिये आद्य जल से अलग होकर गंठिया गया (दृभन्ति), वही दर्भ बन गया[12]। अथर्ववेद में दर्भ की विश्वरूपता तथा सर्वकर्म-क्षमता

---

१. श० ब्रा०, ७.३ १.२७ आदि; तै० सं० ब्रा०, ५.२.५-६।

२. श० ब्रा०, ८.२.१,२, ७.४ १२, ३.१ २, ४.१.१,५.१.१।

३. श० ब्रा०, ८ ३.१ १,४.१.२; ४. श० ब्रा०, ७.२.२.१३,१५।

५. श० ब्रा०, ७.२.२.१९; ६. श० ब्रा०, ७.२.२.२०।

७. श० ब्रा०, ७.२.२.१६; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.२.५.५।

८. श० ब्रा०, ७.२.२.१७; ९. श० ब्रा०, ७.२.३.१; १०. श० ब्रा०, १०.४.३.१४।

११. ऋ० सं०, १०.१२४.८—बी॑भ॒त्सुवो॒ अप॑ वृ॒त्राद॑तिष्ठन्।

१२. श० ब्रा०, १.१.३.५, ७.२.३.२; तु०, तै० ब्रा०, ३.२.५.१। द्र० √दृभी ग्रन्थे, मा० धा० वृ०; ६।३४; क्षी० त०, ६.३५।

का वर्णन मिलता है[1] । वस्तुतः यह प्रक्रिया अनृत तथा ऋत के विवेक की है[2] ।

जोता गया यह क्षेत्र सीता-समर है । यह सीता-समर वाक् का प्रतिरूप है[3] । सभी कूँड़ प्राणों को रूपायित करते हैं[4] । अतएव दर्भस्तम्ब को मध्य में आहित करने का अर्थ है वाक् में अन्न का आधान[5] । यह क्रिया निर्मन्त्रक होती है । ऐसा इसलिये किया जाता है कि सब अनिरुक्त है । अतएव अनिरुक्तरूप में सभी अन्नों का आधान किया जाता है[6] ।

इस दर्भस्तम्ब पर पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं[7] । चीयमान यह अग्नि उद्भव की प्रक्रिया में रहता है । अतएव इसका उद्भव सकल अन्न के लिये होता है । आज्य समस्त अन्नों का रस है । यह जल एवं औषधियों का भी रस है । अतएव इन आहुतियों के द्वारा इस अग्नि के लिये सकल अन्न, जल एवं औषधिय़ों का आधान किया जाता है[8] । इन आहुतियों की पाँच संख्या पँच-चितिक अग्नि को रूपायित करती है[9] । ऋषियों ने सर्वप्रथम प्राणों का आधान कर अग्नि को अभिसंस्कृत किया था, अतएव इन आहुतियों से इस अग्नि में प्राण का ही आधान किया जाता है[10] । इन आहुतियों में तेरह व्याहृतियों का विनियोग किया जाता है । इनसे तेरह चिति एवं पुरीषों से युक्त अग्नि को रूपायित किया जाता है[11] । तेरह संख्या त्रयोदश मास से युक्त संवत्सर की बोधिका है[12] । इस प्रकार भी संवत्सर अग्नि को रूपायित किया जाता है[13] ।

कृष्ट अग्नि-क्षेत्र में उदचमसों (जल भरे चमस) से जल छोड़ा जाता है[14] । अग्नि-प्रजापति को अभिसंस्कृत करते हुए देवों ने सर्वप्रथम जल का आधान किया था[15] । अतएव तदनुकारी यजमान भी सर्वप्रथम अग्नि-क्षेत्र में जल का आधान करता है । कृष्ट अग्नि-क्षेत्र में बारह उदचमसों के द्वारा जल छोड़ा जाता है । वर्ष में बारह मास होते हैं, अतएव इसके द्वारा संवत्सर अग्नि को प्रतीकायित किया जाता है[16] । कृष्ट-अकृष्ट अग्निक्षेत्र में कुल मिलाकर पन्द्रह उदचमसों से जल का छिड़काव किया

---

१. अ०सं०, १९.३२-३३; द्र० डी० जे० होएन्स, ऐन् एक्स्कर्सस् ऑन् भगवद्गीता, ६.११, प्रतिदानम्, १९६८, पृ० ५२३-५३२ ।

२. ऋ० सं०, १०.१२४.५–ऋ॒तेनं॑ राज॒न्ननृ॑तं विवि॒ञ्चन् ।

३. श० ब्रा०, ७.२.३.२; ४. तदेव; ५. तदेव ।

६. तदेव; अनिरुक्त के लिये द्र०, लूई रेनू तथा एल० सिलवर, निरुक्त ऐण्ड् अनिरुक्त इन् वैदिक् लिट्रेचर, सरूप-भारतीः दि होमेज आफ् इण्डोलॉजीः लक्ष्मनसरूप मेमोरियल वाल्यूम, १९५४, पृ० ६८-७९ ।

७. तदेव, ७.२.३.४-५; तै० सं० ब्रा०, ५.६.४; ८. तदेव, ७.२.३.४; ९. तदेव ।

१०. तदेव, ७.२.३.५; ११. तदेव, ७.२.३.८ ।

१२. तदेव, ७.२.३.९, तु०, तदेव, ३.६.४.२४; कौ० ब्रा०, ५.८ ।

१३. तदेव; १४. श० ब्रा०, ७.२.४.१; १५. तदेव, ७.२.४.७ ।

१६. तदेव, ७.२.४.४ ।

जाता है। पन्द्रह संख्या वज्र का रूप है[1]। इस प्रकार प्रारम्भ में ही वज्र द्वारा पापवृत्र का हनन करता है।

प्रजापति जब विस्रस्त हुआ था, तब उसके शरीर का रस चारों दिशाओं में क्षरित हुआ[2]। देवों ने उसे संहत करने के अवसर पर चारों दिशाओं से लोग-इष्टका (मिट्टी के ढेले) लाकर रस का ही आहरण किया था। इस प्रकार ये चार लोग-इष्टकाएँ रस को प्रतिरूपायित करती हैं[3]। इन्हें वेदी के बाहर से लाया जाता है[4]। इस प्रकार बाहर से अग्नि का आहरण होता है। स्फ्य से खोदकर मिट्टी के ढेले प्राप्त किये जाते हैं[5]। स्फ्य वज्र का प्रतीक है[6] और वज्र वीर्य है[7]। इस प्रकार यह 'वित्ति' पराक्रम से प्राप्त की जाती है[8]।

पुष्करपर्ण अग्नि की योनि है, अतएव इसका उपधान किया जाता है[9]। ऋक्-संहिता के अनुसार अथर्वा ने पुष्कर के ऊपर अग्नि का मंथन किया था[10]। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण[11] कहता है कि सृष्टि के पूर्व सलिल सर्वत्र व्याप्त था। उस समय प्रजापति वायु बनकर पुष्करपर्ण पर स्थित हुआ। उस समय प्रजापति इसे जलकुलाय समझकर इसी में प्रतिष्ठित हुआ था। अतएव सर्वप्रथम इसका आधान किया जाता है। जिस प्रकार जल में पुष्करपर्ण आहित है, उसी प्रकार पृथ्वी भी जल के उपर स्थित है। यह पृथ्वी अग्नि की उत्पत्ति-स्थली है। यह पृथ्वी स्वयं अग्नि है। अतएव पुष्करपर्ण जल के साथ-साथ पृथ्वी को भी रूपायित करता है[12]। वस्तुतः पुष्करपर्ण अग्नि

---

[1] तदेव, ७.२.४.१२; तै० सं० ब्रा०, ६.२ १०.६।

[2] श० ब्रा०, ७.३.१.१६ – प्रजापतेर्विस्रस्तस्य सर्वा दिशो रसोऽनुव्यक्षरत्।

[3] तदेव—तं यत्र देवाः समकुर्वन्, तदस्मिन्नेताभिर्लोगेष्टकाभिस्तं रसमदधुः; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२ ४; का० सं० ब्रा०, २०.४।

[4] श० ब्रा०, ७.३.१.१७—बाह्येनाग्निमाहरति। तु०, तै० सं० ब्रा०, तदेव, का० सं० ब्रा०, तदेव।

[5] श० ब्रा०, ७.३.१.१९—स्फ्येनाहरति।

[6] श० ब्रा०, ७.३.१.१९—वज्रो वै स्फ्यः, तु , तदेव, १.२.४.१; तै० ब्रा०, १ ७.१०.५।

[7] श० ब्रा०, तदेव—वीर्यं वै वज्रः; तु०, तदेव, १.३.५.७।

[8] श० ब्रा०, तदेव—वित्तिरियम्. वीर्येण वै वित्तिं विन्दते।

[9] श० ब्रा०, ७.४.१.७; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६.५; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३ २.६; क० सं० ब्रा०, ३१.७।

[10] ऋ०सं०, ६.१६.१३—त्वाम॑ग्ने॒ पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत; तु०सा०सं० १.९; वा० सं०, ११.३२, १५.२२; तै० सं०, ३ ५.११.३, ४.१.३.२; का० सं०, १५.१२, १६.३; मै० सं०, २ ७.३, १३.७; श० ब्रा०, ६.४.२.२, ऐ० ब्रा०, १.१६।

[11] तै० सं० ब्रा०, ५.६.४.२; तु०, का० सं० ब्रा०, २२.९; क० सं० ब्रा०, ३५.३; तै० आ०, १.२३.१।

[12] श० ब्रा०, ७.४.१.८।

का पुर है। इन्द्र वृत्र-वध के पश्चात् आश्वस्त नहीं हुआ कि उसने वृत्र को मार डाला है। अतएव वह जल में प्रविष्ट हो गया और देवों से उसने कहा कि मेरे लिये पुर की संरचना करो। तब देवों ने जल के रस का समुदूहन किया और पुर बनाया। अतएव इसका परोक्ष-अभिधान 'पुष्कर' है[1]। ध्यातव्य है कि पुष्करपर्ण जल में उत्पन्न होने के कारण जल का प्रतिरूप है[2]। अनेक सन्दर्भों में अग्नि का उद्भव जल से बताया गया है[3]।

पुष्करपर्ण के ऊपर रखा जाने वाला रुक्म आदित्य का रूप है[4]। यह आदित्य सारी प्रजाओं को रोचियुक्त बनाता है, अतएव इसका परोक्ष अभिधान 'रोच' है। इस 'रोच' को ही लोक रुक्म कहता है[5]। यह स्वर्णिम एवं मण्डलाकार होने के कारण सूर्यमण्डल का प्रतिरूप है[6]। इसमें लटकते हुए एक्कीस निर्बाध (लटकन) सूर्य की रश्मियों को प्रतीकायित करते हैं[7]।

रुक्म के मध्य में हिरण्मय पुरुष (सोने की पुरुष-प्रतिमा) का उपधान किया जाता है। यह अग्नि और प्रजापति का प्रतीक है[8]। यह सुनहली पुरुष-प्रतिमा यजमान को भी प्रतिरूपायित करती है[9]। यह यजमान की दैवी आत्मा (शरीर)[10] है। प्रजापति जब विस्रस्त हुआ था, तब उसकी रम्य तनु मध्यभाग को छोड़कर चली गयी। उसके चले जाने पर उसकी सारी इन्द्रियों ने भी उसका परित्याग कर दिया।

---

१. श० ब्रा०, ७.४.१.१३; नि०, ५.१४; द० आनन्दकुमारस्वामी, निरुक्त, सै० पै० २, पृ० २५६।

२. श० ब्रा०, ६.४.१.९, ४.२.२; १०.५.२.६; द्र०, जे० सी०, हीस्टरमान, ए० इ० रा० का०, पृ० १७९, १८६, १८८।

३. ऋ० सं०, १०.१२१.७; वा० सं०, २७.२५; तै० सं०, ४.१.८.५; का० सं०, ४०.१; मै० सं० २.१३.२३; द्र०, सनतोना (सान्त्वना) बसु, दि लोटस् इन दि कास्मोगानी आफ् दि वेदज्, वि० इ० ज० भाग ४, खण्ड १, मार्च १९६६; आनन्दकुमारस्वामी, नेचर आफ बुद्धिस्ट आर्ट, से० पे० १, पृ० १४८; १७२,१७३; सिम्बालिज्म आफ दि डोम, तदेव; पृ० ४५९; पुष्करपर्ण के विशेष विश्लेषण के लिये द्र०, तदेव, इलीमेण्ट्स आफ् बुद्धिस्ट आइक्नाग्राफी, १९३५; खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १४,७१,८४,८९, ९४, १०३ आदि, २१४ आदि, २२० आदि, २३९,२४४,२५०।

४. श० ब्रा०, ७.४.१.१०, असौ वा आदित्य एष रुक्मः; तु०, तै० ब्रा०, ३.९.२०.२।

५. तदेव—एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते, रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोक्षम्।

६. तदेव—हिरण्मयो भवति परिमण्डलः; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०।

७. तदेव—रश्मयो वा एतस्य निर्बाधाः।

८. श० ब्रा०, ७.४.१.१५, पुरुषमुपदधाति, स प्रजापतिः, सोऽग्निः।

९. तदेव—स यजमानः।

१०. तदेव, ७.४.२.१७—योऽसौ हिरण्मयः पुरुषः, दैवो वा अस्य स आत्मा।

तदनन्तर जब देवों ने प्रजापति को अभिसंस्कृत किया, तब उन्होंने उसमें रम्य तनु का आधान किया। पुनः सारी इन्द्रियाँ लौट आयीं और उसकी रम्य तनु में रमीं। इसीलिये इसका परोक्ष अभिधान 'हिरम्य' है। जगत् में लोग इसी को हिरण्य कहते हैं[1]। हिरण्य ज्योति है, अग्नि भी ज्योति है। हिरण्य अमृत है, अग्नि भी अमृत है। अतएव यह हिरण्य-पुरुष अग्नि का रूप है[2]। यह पुरुषाकार होता है, अतएव प्रजापति है; क्योंकि पुरुष प्रजापति है[3]। रुक्म सूर्यमण्डल है और यह हिरण्मय पुरुष उसमें स्थित पुरुष है। इस प्रकार यह हिरण्मय पुरुष अग्नि, प्रजापति तथा यजमान का साक्षात् रूप है। इसके आधान में विनियोजित मन्त्र भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करता है[4]। चित्र नामक साम का गायन कर इसे वीर्यवान् बताया जाता है। इस पुरुष के दोनों ओर स्रुचों का आधान किया जाता है। ये दोनों स्रुच इस पुरुष की भुजाएँ हैं[5]।

पुरुष के ऊपर स्वयमातृण्णा (जिस कंकड़ में स्वाभाविक रूप से अपने-आप छेद बना हुआ हो) का उपधान किया जाता है[6]। यह स्वयमातृण्णा पृथिवी है[7]। जब विस्रस्त प्रजापति को देवता उठाकर ले जा रहे थे, प्रजापति ने प्रतिष्ठा को स्वयं ग्रहण कर लिया और बैठ गया। विस्रस्त होने वाला प्रजापति, यही चीयमान अग्नि[8]

---

१. तदेव, ७ ४.१.१६—तस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त, तस्माद्धि रम्यम्, हिरम्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्।

२. तदेव, ७.४.१.१५—ज्योतिर्वै हिरण्यम्, ज्योतिरग्निः; अमृतं हिरण्यम्, अमृतमग्निः; तु० तै० ब्रा० १.७.६ ३; तां० ब्रा०, ९.९.४, ६.६,१०; मो० पृ०, २.२१; द्र०, दीपंकर लाहिड़ी, मिनरलॉजी इन् एनशिएण्ट इण्डिया, इण्डियन् जर्नल् आफ् हिस्ट्री आफ् साइन्स (कलकत्ता), ३,१९६८, पृ० १-८।

३. श० ब्रा०, तदेव; तु०, तदेव, ६.२.१.२३; तै० ब्रा०, २.२.५.३।

४. ऋ० सं०, १०.१२१,१—हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑; तु०, अ० सं०, ४.२.७; वा० सं०, १३.४; तै० सं० ४.१.८.३; का० सं०, १६.१५, मै० सं०, २.७.१५; तु०, आदित्यस्तुति का श्लोक, भविष्योत्तरपुराण, आदित्यहृदयस्तोत्र, सं० आचार्य करुणापति त्रिपाठी, स्तुतिमणिमाला, भाग–२, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ, १९८५, पृ० १७५, श्लोक–१५५—ध्येयः सदा सवितृमण्डलममध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मुकुटमण्डलवान् किरीटो हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥ द्र०, कृत्यसंग्रह, पृ० १२, विष्णुध्यानमन्त्र।

५. श० ब्रा० ७.४.१,३६।

६. श० ब्रा०, ७.४.२.१; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६ द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, स्वयमातृण्णा, सै० पै० १, पृ० ४६५-५२०।

७. श० ब्रा० ७.४.२.१—इयं वै स्वयमातृण्णा; तु०, तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, ३१.८।

८. श० ब्रा०, ७.४.२.३-४।

है। अतएव इसका यहाँ आधान किया जाता है। प्रजापति ने इसे स्वयं अपने लिये स्थापित किया था, अतएव मन्त्र[१] में वर्णित है कि विश्वकर्मा प्रजापति ने इसे फैलाया। यह ध्रुव एवं स्थिर है। पृथिवी पर सभी अन्न होते हैं, तथा यही सब प्राणियों को धारण करती है[२]। अतएव इसे पुरुष से अनन्तर्हित स्थापित किया जाता है। अतएव इस प्रकार स्वयमातृण्णा के द्वारा पुरुष में अन्न एवं प्राण का आधान किया जाता है[३]।

दूब को स्वयमातृण्णा के छेद में डालकर रखने का विधान है[४]। प्रजापति के विस्रस्त होने पर रोएँ औषधि हो गये थे और उसके मध्य से प्राण उत्क्रान्त हो गया था[५]। देवों ने प्रजापति को संहत करते हुए दूर्वा को उसमें रसरूप में आहित किया था[६]। वस्तुतः अन्य औषधियाँ प्रजापति के रोम हैं, परन्तु यह दूर्वा रसरूप प्राण है। इसे रखकर प्रजापति में सभी औषधियों का उपधान कर दिया जाता है। प्रजापति का जब प्राण निकला था, तब उसने कहा था कि यह प्राण मेरी हिंसा न करे। उसके द्वारा कहे जाने के कारण ही इसका परोक्ष नाम 'धूर्वा' है। जगत में लोग इस 'धूर्वा' को ही दूर्वा के नाम से पुकारते हैं[७]। इस प्रकार यजमान अग्नि में दूर्वा आहित कर रसरूप प्राण का ही आधान करता है।

इन्द्र और अग्नि ने स्वर्गप्राप्ति के लिये द्वियजुष् ईंट का आधान किया था। यजमान भी उनका अनुकरण कर अमृतत्व की उपलब्धि के लिये इस ईंट का आधान करता है[८]। यह ईंट मिट्टी की होती है, अतएव यह यजमान का मानुष, मर्त्य रूप है[९]। अपने मर्त्य शरीर को अमृत बनाने के लिये यजमान इसका आधान करता है।

रेतःसिक् नामक दो ईंटें प्रजापति के दोनों अण्डकोषों को प्रतीकायित[१०] करती हैं। इसके अतिरिक्त ये दोनों ईंटें पृथिवी एवं द्युलोक को भी रूपायित करती हैं।

---

१. वा० सं०, १३.१६; तै० सं०, ४.२.९; का० सं०, १६.१६; मै० सं० २.७.१५।

२. श० ब्रा०, ७.४.१.१-२—अस्यां हि सर्वमन्नं पच्यते, यद्धि किं च प्राणीयं तत् सर्वं बिभर्ति।

३. श० ब्रा०, ७.४.२.१-२—अन्नं दधाति, प्राणं दधाति।

४. श० ब्रा० ७.४.२.१०; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६ द्र०, खोंदा, आस्पेक्ट्स् आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १३।

५ श० ब्रा०, ७.४.२.११।

६. श० ब्रा०, ७.४.२.१३।

७. श० ब्रा० ७.४.२.१२—अय वाव मा धूर्वीदिति, यदब्रवीदधूर्वीन्मेति, तस्माद्धूर्वा, धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्।

८. श० ब्रा०, ७.४.२.१६।

९. श० ब्रा०, ७.४.२.१७—यदियं मृदः कृता भवति, मानुषं ह्यस्येदं रूपम्।

१०. श० ब्रा०, ७.४.२.२४—आण्डौ वै रेतःसिचौ।

वस्तुतः ये दोनों लोक वीर्यसेक करते हैं। पृथिवीलोक से ऊपर की ओर जाने वाला धूम और द्युलोक से होने वाली वृष्टि वीर्य को प्रतीकायित करते हैं[१]।

विश्वज्योति नामक ईंट अग्नि का रूप है[२]। इस लोक में स्थित निखिल ज्योतियों का उपजीव्य यहाँ रहने वाला अग्नि है[३]। इस ईंट को रेतःसिक् के समीप में ही आहित किया जाता है। प्रजा ही विश्वज्योति है। अतएव इसका उपधान प्रजनन-कारक रेतःसिक् के समीप[४] किया जाता है।

ऋतव्या नामक ईंटें वसन्त ऋतु की प्रतीक हैं[५]। वसन्त ऋतु में दो मास मधु और माधव[६] होते हैं। अतएव दो ईंटें आहित की जाती हैं। अग्नि संवत्सर है, सारे लोक संवत्सर है। प्रथम चित्ति पृथिवी-लोक है। वसन्त ऋतु पृथिवी लोकीय है। अतएव इनका यहाँ उपधान किया जाता है[७]। यह अग्नि प्रजापति है। संवत्सर प्रजापति है। उसकी प्रतिष्ठा प्रथमचिति है और वसन्त ऋतु भी उसकी प्रतिष्ठा है, अतएव इनका उपधान यहाँ किया जाता है[८]।

अषाढा-ईंट वाक् का प्रतिरूप है[९]। देव और असुर जब परस्पर स्पर्धाशील थे, तब देवों ने इस ईंट को देखा और इसका उपधान किया। फलस्वरूप देवों ने असुरों को सभी लोकों में पराजित करबाहर कर दिया। अतएव इस ईंट का अषाढा नाम[१०] है। जिस प्रकार देवों ने वाक् के द्वारा शत्रु असुरों को पराजित किया था, उसी प्रकार यजमान भी इसका आधान कर शत्रु को पराजित करता है। इस अषाढा को वाक् के

---

[१] श० ब्रा०, ७.४.२.२२।

[२] श० ब्रा०, ७.४.२.२५—अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिः; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९।

[३] श० ब्रा०, तदेव—अग्निर्ह्येवास्मिल्लोके विश्वज्योतिः; तु०, मै० सं० ब्रा०, ३.२.७।

[४] श० ब्रा०, ७.४.२.२६; द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, वैदिक इक्ज़म्प्ल्रिज्म, सै० पै० २, पृ० १८६।

[५] तदेव, ७.४.२.२९—ऋतव एते यद् ऋतव्ये। ऋतूनेवैतदुपदधाति। तै० सं० ब्रा०, ५.४.२.१; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा० ३.३.३; क० सं० ब्रा० ३१.८।

[६] वा० सं०, १३.२५—मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू; तै० सं० ४.४.११.१; का० सं०, ३५.९; मै० सं० २.८.१२; क० सं० २६.९; श० ब्रा०, तदेव।

[७] श० ब्रा०, ७.४.२.३०।

[८] श० ब्रा०, ७.४.२.३१।

[९] श० ब्रा०, ७.४.२.३४; तु०, ६.५.३.४; ८.५.४.१।

[१०] श० ब्रा०, ७.४.२.३३—देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त, ते देवा एतामिष्टकाम-पश्यन् अषाढाम्, इमामेव तामुपादधत, तामुपधायासुरान् सपत्नान्, भ्रातव्यानस्मात् सर्वस्मादसहन्त, यदसहन्त तस्मादषाढा। देवों तथा असुरों के वाग्-युद्ध के लिये द्र०, श० ब्रा०, १.५.४.६-१६।

रूप में उपहित किया जाता है। अषाढा सभी ईंटों की रानी[1] है। ध्यातव्य है कि वाक् भी रानी है[2]।

कूर्म रस का रूप है। जब इन लोकों को जल में प्रपीड़ित कर प्रक्षिप्त किया गया था, तब उससे जो रस निःसृत हुआ वही कूर्म[3] है। कूर्म प्रजापति का साक्षात् रूप है। इसे कश्यप भी कहा गया है[4], क्योंकि सूर्य प्रजापति सबको देखता है[5]। कूर्म की निचली खोपड़ी यह लोक है तथा ऊपर की खोपड़ो द्युलोक है। बीच का भाग अन्तरिक्ष है[6]। इस प्रकार त्रिलोकात्मक रूप में भी यह प्रजापति को प्रतीकायित करता है[7]।

विष्णु ने यह कामना की कि मैं अन्नभोजी बनूं। उसने ईंटों के रूप में उलूखल और मुसल को देखा और अग्नि को अभिसंस्कृत करने के लिए इनका उपधान किया। फलस्वरूप वह अन्न का उपभोक्ता बन गया[8]। उसी की अनुकृति में यजमान भी इनको अग्नि में उपहित करता है। उलूखल एवं मुसल अन्न के प्रतीक हैं। विश्व में सकल खाद्य-पदार्थ इन्हीं के द्वारा बनाये जाते हैं[9]। प्रजापति के विसंहत होने पर मध्य प्राण ने निकलने की इच्छा की। उसे अन्न के द्वारा परिगृहीत किया गया[10]।

---

१. श० ब्रा०, ७.५.१.६—सैषा सर्वासामिष्टकानां महिषो यदषाढा।

२. ऋ० सं०, १०.१२५.३—अहं राष्ट्री; तु०, अ० सं०, ४.३०.२।

३. श० ब्रा०, ७.५.१.१; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.५; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा०, ३१.९।

४. श० ब्रा०, ७.५.१.५—एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजत अकरोत् तत्, तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मः। तु०, तै० आ०, १.२३.३-४।

५. तै० आ०, १.८.८—कश्यपः पश्यको भवति। यत्सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्। तु०, श०ब्रा०, स यः कूर्मोऽसौ स आदित्यः। द्र० डब्ल्यू० बी० बोली, षड्विंशब्राह्मण, उट्रैखट्, पृ० १००।

६. श० ब्रा० ७.५.१.२।

७. द्र०, जितेन्द्रनाथ बनर्जी, दि अवतारज आफ् विष्णु ऐण्ड दियर इनुमरेशन इन् सम अर्ली इण्डियन् टेक्स्ट्स्, आर्० के० मुकर्जी कमेमोरेशन् वाल्यूम (पार्ट १), इलाहाबाद, १९४५।

८. श० ब्रा०, ७.५.१.१२; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.७; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा०, ३१.९।

९. तदेव—उलूखलमुसलाभ्यां ह्येवान्नं क्रियते। उलूखल के लिये द्र०, डब्ल्यू० वूस्ट, उलूखल, रेमा २, म्युनिख, पृ० ४७-४८; उलूखल द्रविड़ शब्द नहीं है, द्र० आशुतोष विश्वास, ऐन इक्ज़ामिनेशन आफ सम सो-काल्ड नान-आर्यन लोन-बर्डस इन संस्कृत, जर्नल आफ दि युनिवर्सिटी आफ् गुवाहाटी, १३ (१), १९६२, पृ० ३३-४०।

१०. श० ब्रा०, ७.५.१.१६।

जितने प्राणी विश्व में हैं, वे अन्नभोजी होते हैं। अतएव अन्न के प्रतीक रूप में इनका आधान किया जाता है।

यद्यपि उखा के प्रतीक अर्थ की व्याख्या यथावसर की जायेगी, तथापि यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि उखा सकल ब्रह्माण्ड की योनि है[१]। विस्रस्त प्रजापति और उखा में कोई अन्तर नहीं है। पुरुष, अश्व, वृषभ, अज एवं अवि के प्रतीक अर्थ की व्याख्या पहले की जा चुकी है[२]। इनके शिरों का आधान योनिरूप उखा में किया जाता है[३]। पाँचों पशुसिर श्री हैं। इनके कुसिन्ध (धड़) जल में फेंक दिये गये थे। अग्नि की पाँचों चितियाँ वही कुसिन्ध हैं। यहाँ इनका आधान कर उन्हीं कुसिन्धों का संधान किया जाता है। सर्वप्रथम अकेला प्रजापति ही था। उसने कामना की कि मैं अन्न सिरजूँ। फलस्वरूप उसने अपने मन से पुरुष का, नेत्र से अश्व का, प्राण से वृषभ का, कान से अवि का तथा वाक् से अज की संरचना की[४]। अतएव ये पशु प्रजापति के प्राणस्वरूप हैं। प्रजापति ने इस प्रकार पशुओं को अन्नरूप में संरचित कर उन्हें स्वयं में आहित किया था।[५] यजमान भी उसी के अनुकार में यह कार्य करता है।

पन्द्रह अपस्या ईंटें पशुओं के उत्क्रान्त होने पर उनसे निःसृत जल की प्रतीक है[६]। इन पशुओं में उस जल को पुनः उपहित किया जाता है। जल वज्र है[७]। पन्द्रह संख्या भी वज्र से सम्बन्धित है। जल जिस मार्ग से जाता है, उसके पाप को विनष्ट करता है[८]। वज्र के द्वारा इस यजमान के पाप का विनाश होता है[९]। अन्त में जो पाँच ईंटें रखी जाती हैं, उनका अभिधान छन्दस्या है। ये ईंटें पशुओं के मांसरूप में

---

१. श० ब्रा०, ७.५.१.२७—योनिर्वा उखा; तु०, ७.५.२.२; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.९.१; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा०, ३१.९।

२. इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

३. श० ब्रा०, ७.५.२.३।

४. श० ब्रा०, ७.५.२.६—प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत, अन्नं सृजेय। स प्राणेभ्योऽधि पशुन् निरमिमीत, मनसः पुरुषम्, चक्षुषोऽश्वम्, प्राणाद् गाम्, श्रोत्रादविम्, वाचोऽजम्। तस्मादाहुः प्राणा पशवः।

५. श० ब्रा०, ७.५.२.७—तदेतदन्नं सृष्ट्वा, पुरस्तात् प्रत्यगमात्मन्नधत्त।

६. श० ब्रा०, ७ ५.२.४०—आप एताः, यदपस्याः; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०.१; का० सं० ब्रा०, २०.९; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.११।

७. श० ब्रा०, ७.५.२ ४१—वज्रो वा आपः; तु० तदेव, १ १.१.१७, ३.१,२.६; तै० ब्रा०, ३.२.४.२।

८. श० ब्रा०, तदेव—वज्रः पंचदशः; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ६.२.१०.६।

९. तदेव।

आहित की जाती हैं[1]। छन्दस्या ईंटें पशु के चर्म और रोम को भी रूपायित[2] करती हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार उखा में स्थित अजलोम ही इन पशुओं के लोम के प्रतिरूप हैं। शाण्डिल्य का कथन है कि इस प्रकार पशुओं को पूर्णतया अभिसंस्कृत किया जाता है[3]। प्रजापति के विस्रंसन के समय उसकी बीसों अंगुलियों से जल प्रवाहित हुआ था, अतएव इन ईंटों (अपस्या छन्दस्या) की संख्या बीस है[4]। इस प्रकार इन ईंटों का आधान कर उस जल को प्रजापति में पुनः आहित किया जाता है, जो प्रजापति से विस्रस्त हुआ था।

प्राणभृत् नामक पचास ईंटों का उपधान कर प्रत्येक पशु में दस-दस प्राणों का उपधान किया जाता है[5]। विस्रस्त प्रजापति के शरीर से प्राण देवता बन कर चले गये। उन प्राणों को ही पुनः उपहित किया जाता है[6]। इन ईंटों के द्वारा अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, दिशाएँ, देवता, वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र एवं विश्वकर्मा ऋषि, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् एवं पंक्ति छन्द, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् तथा हेमन्त ऋतु, गायत्र, स्वार, ऋक्सम, ऐड एवं निधनवत् साम, उपांशु, अन्तर्याम, शुक्र, मन्थी तथा आग्रयाण ग्रह, त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव एवं त्रयस्त्रिंश स्तोम और रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर तथा रैवत पृष्ठ का भी आधान किया जाता है।[7]

कृष्णयजुर्वेदीय प्रस्थान में विहित सयुजा ईंटें संयोजन के लिए[8] तथा संयानी ईंटें आरोहण के लिए[9] आहित की जाती हैं। संयत् या संतति नामक ईंटें आयु, प्राण आदि के विस्तार के प्रतीक रूप में विहित की गयी हैं[10]। पचास अपानभृत् ईंटें वसन्त

---

[1] श० ब्रा०, ७.५.२.४२—छन्दस्या उपदधाति, एष्वैतत् पशुषु मांसानि दधाति।

[2] श० ब्रा०, ७.५.२.४३—छन्दस्या उपदधाति, सैव पशोस्त्वक्. तल्लोम।

[3] तदेव—इति ह स्माह शाण्डिल्यः, सर्वानेव वयं कृत्स्नान् पशून् संस्कुर्मः।

[4] तदेव, ७.५.२.४४-४५।

[5] तदेव ८.१.१.१—प्राणा वै प्राणभृतः, प्राणानेवैतदुपदधाति; ८.१.१.२, दश वै प्राणाः, पञ्चकृत्वो दश दशोपदधाति; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०; का० सं० ब्रा०, २०.९; मै० सं० ब्रा०, ३.२.८; क० सं० ब्रा०, ३१.११।

[6] श० ब्रा०, ८.१.१.३।

[7] श० ब्रा०, ८.१.१,४-९, १.२.१.१-९; तु०, तै० सं० ब्रा०, तदेव; का सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

[8] तै० सं० ब्रा०, ५.३.९.१; का० सं० ४०.२।

[9] तै० सं० ब्रा०, ५.३.१०.१—संयानीभिर्वै देवा इमांल्लोकान् समयुः, तत् संयानीनां संयानित्वम्, यत् संयानीरुपदधाति, यथाप्सु नावा संयात्यवमेवैताभिर्यजमान इमांल्लोकान् संयाति; तु०, का० सं० ब्रा०, २२.६।

[10] तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०; तै० ब्रा०, १.५.७।

आदि ऋतुओं की प्रतिरूप हैं[१]। वशा (गौ) ईंटों को, पृथ्वी आदि लोकों को वशा के रूप में आहित किया जाता है[२]। उपशीवरी ईंटों को अष्टका आदि का प्रतीक बताया गया है[३]। मण्डलेष्टका इस लोक को रूपायित करती है[४]। ऋषभ ईंट प्रजापति का प्रतिरूप है[५]। आत्मेष्टका के द्वारा प्रजापति के शरीर का संधान किया जाता है[६]। इन ईंटों से उसके अंगों की संरचना की जाती है।

तृतीय चिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में अन्तरिक्ष-लोक की संरचना—

तृतीय-चिति अन्तरिक्ष-लोक को प्रतिरूपायित करती है[७]। इसमें उपहित द्वितीय स्वयमातृण्णा अन्तरिक्ष लोक है[८]। पाँच दिश्या-ईंटें दिशाओं के रूप में रखी जाती है[९]। दिश्या-ईंटें छन्दों के रूप में आधेय होती हैं। गायत्री के द्वारा पूर्व, त्रिष्टुप् के द्वारा दक्षिण, जगती के द्वारा पश्चिम, अनुष्टुप् के द्वारा उत्तर तथा पंक्ति के द्वारा ऊर्ध्व दिशा का आधान किया जाता है[१०]। विश्वज्योति-ईंट वायु को प्रतीकायित करती है[११]। वायु ही अन्तरिक्ष में सभी ज्योतियों का आधार है। ऋतव्या नामक चार ईंटों के द्वारा वर्षा एवं शरद् ऋतु को रखा जाता है[१२]। श्रावण और भाद्रपद तथा आश्विन और कार्तिक क्रमशः वर्षा एवं शरद् ऋतु के महीने हैं[१३]। अतएव प्रत्येक ऋतु के लिए दो दो ईंटों का आधान किया जाता है। प्राणों को प्रतिरूपायित करने के लिए दस

---

[१] तै० सं० ब्रा०, ५.२.१०; मै० सं०, ३.२.८।

[२] का० सं०, ३९.८; मै० सं०, २.१३.१५।

[३] का० सं०, ३९.९, मै० सं०, २.१३.१६।

[४] तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; का० सं०, ३९.३; मै० सं०, २.८.१४।

[५] तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५.७.२; का० सं०, ४०.२।

[६] तै० सं० तै०, सं० ब्रा०, ५.५.८।

[७] श० ब्रा०, ८.३.१.२—अन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिम्……। तदेव, ८.३.३.१।

[८] श० ब्रा०, ८.३.१.७; तै० सं० ब्रा० ५.३.२; ५.५.५; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९।

[९] श० ब्रा०, ८.३.१.११—दिशो वै दिश्याः, दिश एवैतदुपदधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९।

[१०] श० ब्रा० ८.३.१.१२।

[११] श० ब्रा०, ८.३.२.१—वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिः, वायुमेवैतदुपदधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.८,३.९; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६.।

[१२] श० ब्रा० ८.३.२.५ – ऋतव एते यद् ऋतव्याः, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० सं० ब्रा०, २१ ३; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३।

[१३] वा० सं०, १४.१५-१६—नभंश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू, इषश्चोर्जश्चं शारदावृतू; तु०, तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१२; श० ब्रा०, ८.३.२.५-६।

प्राणभृत् नामक ईंटों को उपहित करने का विधान है[१]। इन प्राणों का वायु प्रजापति में उपहित किया जाता है[२]। पशुओं के रूप में छत्तीस छन्दस्या-ईंटों को अन्तरिक्ष में स्थापित किया जाता है[३]। प्राणों के रूप में चौदह बालखिल्या-ईंटों का उपधान विहित है[४]।

इस चिति में एक स्वयमातृण्णा, पाँच दिश्या, एक विश्वज्योति और चार ऋतव्या ईंटों का समूह अन्तरिक्ष लोक की रचना करता है। यह प्रजापति के शरीर का मध्यभाग है[५]। इन ईंटों का योग ग्यारह होता है। ग्यारह अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द होता है[६]। त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष को प्रतीकायित करता है[७]। एतदतिरिक्त साठ ईंटें वायु देवता को प्रतीकायित करती हैं[८]। यह वायु, प्रजापति, अग्नि और यजमान का प्रतिरूप है। छन्दस्या-ईंटों की संख्या छत्तीस होती है[९]। परिसंख्यान के द्वारा यह बृहती संपद् की संरचना करती है। देवों ने अन्तरिक्ष के रूप में बृहती नामक इस तृतीय चिति का दर्शन किया था। अतएव इसे बृहती अभिधान मिला है[१०]।

---

१. श० ब्रा०, ८.३.२.१४—प्राणा त्रै प्राणभृतः, प्राणानेवैतदुपदधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१३।

२. श० ब्रा०, ८.३.२.१४—प्राणो वै वायुः, तु०, ऐ० ब्रा०, २.२६,३.२; कौ० ब्रा०, ५.८,१३.५; २.३.९.४-५; जै० उ०, १.२९.१,४.२२.११; गौ० उ०, १.२६।

३. श० ब्रा०, ८.३.३.१—छन्दस्या उपदधाति, पशवो वै छन्दांसि, अन्तरिक्षं मध्यमाचितिः, अन्तरिक्षं तत् पशून् दधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, तदेव।

४. श० ब्रा०, ८.३.४.१—प्राणा वै बालखिल्याः, प्राणानेवैतदुपदधाति; तै सं० ब्रा०, ५.३.२; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदैव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

५. श० ब्रा०, ८.३.४.११—या अमूरेकादशेष्टका उपदधाति, योऽसौ प्रथमोऽनुवाकः, तदन्तरिक्षम्, स आत्मा।

६. तदेव—तद्यत् ता एकादश भवन्ति, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्; तु०, तै० सं० ब्रा०; ५.६.५.१, मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; ऐ० ब्रा०, ३.१२.८.२; तै० ब्रा०, ३.८.१२.१; कौ० ब्रा०, ३.२,१०.२; तां० ब्रा०, ६.३.१३, जै० उ०, ४.२.५; गौ० उ०, १.१८; ३.१०।

७. तदेव—त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.१.१; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१; कौ० ब्रा०, ८.९; १४.३; जै० उ० १.५.५.३।

८. तदेव – या उत्तराः षष्ठिः; स वायुः, स प्रजापतिः, सोऽग्निः, स यजमानः।

९. तदेव–८.३.३.८–तानि वा एतानि त्रीणि द्वादशान्युपदधाति, ततः षट्त्रिंशत्; तु०, तै०सं० ब्रा०, ५.३.२.३; का० सं० ब्रा०, २०.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क०सं०ब्रा०, ३१.१३; ध्यातव्य है कि कृ० य० प्रस्थान में तो इनका नाम ही बृहती है।

१०. श० ब्रा०, ८.३.१.२–ते (देवाः) चेतयमाना अन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन् तु०, तदेव, ८.३.३.८।

पंचमीचिति का प्रतीक अर्थ : द्युलोक में द्युलोक की संरचना—

पाँचवीं चिति द्युलोक है[१]। देवों ने द्युलोक को सपत्नविहीन बनाने की इच्छा की[२]। फलस्वरूप असपत्ना ईंटों को देखा और उनका उपधान किया[३]। यजमान भी इसी का अनुकरण कर असपत्ना नामक पाँच ईंटों का उपधान करता है और द्युलोक से सभी शत्रुओं को भगा देता है[४]।

देवों ने विराज् नामक पंचमी चिति का दर्शन किया, फलस्वरूप उन्होंने विराज् नामक चालीस ईंटों का दर्शन किया और इस चिति में उनको उपहित किया। इन्हें चारों दिशाओं में रखा जाता है, क्योंकि जो चहुं ओर विराजता हैं, वही विराजता है[५]। देवों का अनुकारी यजमान भी इसी दृष्टि से विराज् ईंटों को इस चिति में रखता है। सभी दिशाओं में आहित ईंटों में क्रमशः पहली, छठीं तथा सातवीं ईंट प्राण, अग्नि-देवता, पृथिवी-लोक और ग्रीष्म-ऋतु की प्रतिरूप हैं। दूसरी, पाँचवीं तथा आठवीं ईंट व्यान, वायुदेवता, अन्तरिक्ष-लोक तथा वर्षा-ऋतु को प्रतीकायित करती है। तीसरी, चौथी तथा नवीं ईंट उदान, आदित्य-देवता, द्युलोक तथा हेमन्त ऋतु को रूपायित करती है[६]। ईंटों के प्रत्येक समूह में उपाहित दसवीं ईंट यजमान का रूप[७] है। पूर्व दिशा में आहित दस ईंटें दस प्राणों, दक्षिण दिशा में उपहित दस ईंटें अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौस्, चन्द्रमा, नक्षत्र और आप्-दस देवताओं, पश्चिम में आहित दस ईंटें चार दिशाएँ, चार अवान्तर दिशाएँ, ऊर्ध्वदिक् तथा अधरदिक् और उत्तर-दिशा में रखी गयी दस ईंटें वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् एवम् हेमन्त ऋतुओं के दो-दो मासों को रूपायित करती हैं[८]। प्रथम दस ईंटों का समूह पृथ्वी-लोक, द्वितीय दशक अन्तरिक्ष, तृतीय दशक द्युलोक तथा चतुर्थ दशक इस

---

१. श० ब्रा०, ८.५.१.२—ते चेतयमाना दिवमेव विराजं पंचमी चितिमपश्यन्।

२. तदेव, ८.५.१.३—तेऽकामयन्त, अपत्नमिमं लोकमनुपबाधं कुर्वीमहि।

३. तदेव, ८.५.१.४—ते चेतयमाना एता इष्टका अपश्यन्, असपत्नाः, ता उपादधत; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.५.१; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; क० सं० ब्रा०, ३१.१७।

४. तदेव—तथैवैतत्, यजमानो यदेता उपदधाति।

५. श० ब्रा०, ८.५.१.५; विराज उपदधाति, एषा वै सा विराट्, यां तद् देवा विराजं चितिमपश्यन्, सर्वत उपदधाति, यो वा एकस्यां दिशि विराजति, न वै स विराजति, यो वाव सर्वासु दिक्षु विराजति, स विराजति; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.५.३-४; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; क० सं० ब्रा०, तदेव।

६. श० ब्रा०, ८.५.२-१०।

७. श० ब्रा०, ८.५.२.७-१०।

८. श० ब्रा०, ८.५.२.११-१४—याः पुरस्ताद् दधाति, प्राणास्ते; या दक्षिणतः, एतास्ता देवताः, याः पश्चाद्, दिशस्ताः; या उत्तरतः, मासास्ते।

लोक का रूप है[१]। यजमान प्रथम तीन इष्टका-दशकों से इन लोकों पर क्रमशः आरोहण करता है[२]। यह आरोहण ऊर्ध्वमुखी आरोहण है[३]। यज्ञ आरोहण की प्रक्रिया है, इसकी चर्चा पहले हो चुकी[४] है। दस ईंटों के चतुर्थ समूह से यजमान इस लोक में प्रतिष्ठित होता है[५]। ईंटों का प्रथम दशक तथा चतुर्थ दशक पृथिवी-लोक का ही प्रतीक है। यजमान इस लोक में प्रतिष्ठित होकर ही ऊर्ध्व लोकों में प्रतीकात्मक रूप में आरूढ होता है और पुनः उसी रूप में इस लोक में बना रहकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इन चालीस ईंटों के आधान में चालीस यजुषों का विनियोग होता है[६]। दोनों का योग अस्सी होता है। अस्सी संख्या अन्न की द्योतक है[७]। इस प्रकार यजमान सकल उपभोग्य पदार्थों को इस चित्ति में संहत करता है।

स्तोमभागा नामक उनतीस ईंटें अन्न का रस हैं। प्रजापति के विस्रस्त होने पर उसकी उपभोग्य वस्तुओं ने जब उत्क्रान्त होने की इच्छा की, तब उसने इन्द्र से कहा कि अच्छा तुम अन्न को ले जा रहे हो, तो इनके रस को मुझमें उपहित करो। इन्द्र ने प्रजापति को रस प्रदान किया[८]। स्मर्तव्य है कि यह इन्द्र मध्यम प्राण ही है[९]। अन्न पूर्ववर्णित विराज्-ईंटें हैं[१०]। यह इन्द्र आदित्य है, यही स्तोम है, क्योंकि जितनी स्तुतियाँ हैं, उनमें इसी की स्तुति की जाती है[११]। इन ईंटों के द्वारा स्तोम आदित्य को उसका भाग दिया जाता है, अतएव इनका नाम स्तोमभागा[१२] है।

---

[१] तदेव, ८.५.२.१५-१६ —या प्रथमा दशद्, अयं स लोकः, या द्वितीया, अन्तरिक्षं तत्; या तृतीया, द्यौः सा; यौत्तमा दशद्, अयं स लोकः।

[२] तदेव, ८.५.२.१५—इममेव लोकं प्रथमया दशतारोहन्, अन्तरिक्षं द्वितीयया, दिवं तृतीयया, तथैवैतद् यजमानः····।

[३] तदेव, ८.५.२.१६—स पराङिव रोहः।

[४] इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

[५] श० ब्रा०, तदेव, इयमु वै प्रतिष्ठा, ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायन्, तथैवैतद् यजमान इमा प्रतिष्ठामभिप्रत्यैति।

[६] वा० सं०, १५.४.५; तै० सं०, ४.३.१२; का० सं०, १७.६; मै० सं०, २.८.७; क० सं०, २६.५।

[७] श० ब्रा०, ८.५.२.१७–अन्नमशीतिः; तु०, तदेव, ९.१.१.२१।

[८] तदेव, ८.५.३.१; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.६; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१७।

[९] तदेव, ६.१.१.२—स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः।

[१०] तदेव, ८.५.३.२–यः स प्रजापतिः, अयमेव सः, योऽयमग्निश्चीयते।

[११] तदेव।

[१२] श० ब्रा०, ८.५.३.२–याः स इन्द्रः, असौ स आदित्यः, तु०, जै० उ०, १.४४.९, ४.५.१-३।

देवों ने विराज्-चिति का चयन कर (पूर्वंवर्णित विराज् अथवा छन्दस्या-ईंटों का आधान कर) आरोहण किया[१]। तदनन्तर नाकलोक को देखा और उसे उपहित कर दिया[२]। वही नाकलोक स्तोमा[३] ईंटें हैं। इनका उपधान स्वर्ग का उपधान है[४]। इन ईंटों में से प्रथम तीन ईंटें पृथिवी, द्वितीय तीन ईंटें अन्तरिक्ष और तृतीय तीन ईंटें द्युलोक की प्रतिरूप हैं[५]। तीन ईंटों का चौथा समुदाय पूर्व दिशा, तीन ईंटों का पाँचवां समूह दक्षिण दिशा, तीन ईंटों का छठाँ समूह पश्चिम दिशा और तीन ईंटों का सातवाँ समूह उत्तर दिशा को प्रतिरूपायित करता है[६]। इस प्रकार इक्कीस ईंटों का यह समुदाय सकल लोकों एवं दिशाओं का अभिव्यंजक है[७]। ध्यातव्य है कि एक्कीस संख्या प्रतिष्ठा का द्योतक है[८]। अवशिष्ट आठ ईंटें संख्या-सादृश्य में अष्टाक्षरा[९] गायत्री को प्रतीकायित करती हैं। गायत्री ब्रह्म[१०] है, ब्रह्म यही मण्डल है, जो तप रहा है[११]। इस प्रकार यजमान एकविंश प्रतिष्ठामण्डल में स्वयं को प्रतिष्ठित करता है[१२], साथ ही प्रजापति अग्नि को भी वहाँ प्रतिष्ठित करता है। यहाँ से पुनः उसका अवपात नहीं होता। इन ईंटों पर पुरीष बिछाने का विधान है[१३]। स्तोमा ईंटों की, रसरूप में स्थिति होने के कारण उन्हें आवृत किया जाता है[१४]। रस सदैव तिरोहित रूप में रहता है, अतएव इन्हें पुरीष से आवृत करने का विधान है।

---

१. श० ब्रा०, ८.५.३.४—एतद् वै देवा विराजं चितिं चित्वा समारोहन्।

२. तदेव—ते चेतयमाना नाकमेव स्वर्गं लोकमपश्यन्, तमुपादधत।

३. तदेव—स यः स नाकः स्वर्गो लोकः, एतास्ताः स्तोमभागाः।

४. तदेव—तद् यदेता उपदधाति, नाकमेवैतत् स्वर्गं लोकमुपधत्ते।

५. श० ब्रा०, ८.५.३.५—यास्तिस्रः प्रथमाः, अयं स लोकः; या द्वितीयाः, अन्तरिक्षं तत्, यास्तृतीयाः, द्यौः सा।

६. तदेव—याश्चतुर्थ्यः, प्राची सा दिक्; याः पञ्चम्यो दक्षिणा सा; याः षष्ठ्यः प्रतीची सा; याः सप्तम्यः, उदीची सा।

७. श० ब्रा०, ८.५.३.६, ता वा एता एकविंशतिरिष्टकाः, इमे च लोकाः, दिशश्च। इमे च लोका दिश्चैकविंशः।

८. तदेव—तस्मादाहुः प्रतिष्ठैकविंशः; तदेव, १.३.५.११; ऐ० ब्रा०, ८.४; तां० ब्रा०, १६.१३.४, २०.१०.१।

९. श० ब्रा०, ८.५.३.६; अष्टाक्षरा गायत्री; तदेव, १.४.१.३६; ऐ० ब्रा०, २.१७.३.१२; तै० ब्रा० १.१.५.३; का० ब्रा०, ९.२, १९.४; ता० ब्रा०, ६.३.१३; जै० उ०, १.१.८; गौ० यू०, ४.२४; गौ० उ०, ३.१०।

१०. तदेव-ब्रह्म गायत्री, तदैव, ४.४.१.१८, ऐ० ब्रा०, ४.११; कौ० ब्रा०, ३.५, ता० ब्रा०, ११.११.९।

११. तदेव—यत् तद् ब्रह्म, एतत् तद्, यदेतन्मण्डलं तपति।

१२. तदेव—तदेतस्मिन्नेकविंशे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितं तपति। तस्मान्नावपद्यते।

१३. श० ब्रा०, ८.५.४.४, एनाः पुरीषेण प्रच्छादयति।

१४. तदेव।

जब सम्पूर्ण अग्नि अभिसंस्कृत हो गया, तब देव नाकलोक में जाकर बैठ गये। नाकलोक में बैठने के कारण ही देवता नाकसद् कहे जाते हैं। उसी प्रकार से यजमान भी नाकसद् होता है[१]। देवों ने स्तोमभागा-ईंटों के रूप में नाकलोक का विलोकन किया था। उन्होंने कहा कि तुम प्रतिश्रुत होओ, जिससे हम नाकलोक में बैठे रहें[२]। इस प्रकार उन्होंने इन नाकसद् नामक पाँच ईंटों का दर्शन कर इन्हें उपहित किया[३]। फलस्वरूप देवों का नाकलोक में बैठना सुनिश्चित हो गया, अतएव इन ईंटों का अभिधान नाकसद् हुआ[४]। उसी प्रकार से यजमान भी इन ईंटों का आधान कर नाकलोक में अपना बैठना सुनिश्चित करता है।

पूर्व दिशा में उपहित ईंट राज्ञी नामक पूर्व दिशा, वसु नामक पूर्व दिशा के अधिपति देवता, हैति-प्रतिधर्ता अग्नि, त्रिवृत स्तोम, आज्य उक्थ एवं रथन्तर साम को प्रतिरूपायित करती है[५]। दक्षिण में रखी गयी ईंट विराट् नामक दक्षिण दिशा, इस दिशा के अधिपति रुद्र देवता, हैति-प्रतिधर्ता इन्द्र, पंचदश स्तोम, प्रउग उक्थ एवं बृहत् साम की अभिव्यञ्जक है[६]। पश्चिम दिशा में उपहित ईंट सम्राट् नामक प्रतीची दिशा, इस दिशा के अधिपति आदित्य, हैति-प्रतिधर्ता वरुण, सप्तदश स्तोम, मरुत्वतीय उक्थ तथा वैरूप साम को द्योतित करती है[७]। उत्तर दिशा में आहित ईंट स्वराट् नामक उदीची दिशा, इस दिशा के अधिपति मरुत्, हैति-प्रतिधर्ता सोम, एकविंश स्तोम, निष्कैवल्य उक्थ तथा वैराज सोम को प्रतिरूपायित करती है[८]। मध्य में आहित ईंट अधिपत्नी नामक बृहती दिशा, इस दिशा के अधिपति विश्वदेव, हैति-

---

१. श० ब्रा०, ८.६.१.१—तद् यदेतस्मिन् नाके स्वर्गे लोके देवा असीदन्, तस्माद् देवा नाकसदः। तथैवैतद् यजमानः यदैता उपदधाति, एतस्मिन्नेवैतन् नाके स्वर्गे लोके सीदति।

२. श० ब्रा०, ८.६.१.२।

३. तदेव, ८.६.१.३—ते चेतयमाना एता इष्टका अपश्यन् नाकसदः, ता एता उपादधत; तु०, तै० सं० ब्रा, ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१७।

४. तदेव–तद् यदेताभिरेतस्मिन् नाके स्वर्गे लोकेऽसीदन्, तस्मादेता नाकसदः।

५. श० ब्रा०, ८.६.१.५—राज्ञी ह नामैषा प्राची दिक्, वसवो हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयः, अग्निर्हैवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता, त्रिवृता‥‥स्तोमेन, आज्येन‥‥उक्थेन, रथन्तरेण‥‥साम्ना।

६. तदेव, ८.६.१.६–विराड्ढ नामैषा दक्षिणा-दिक्, रुद्रा हैतस्यै दिशां देवा अधिपतयः, इन्द्रो हैवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता, पंचदशेन‥‥स्तोमेन, प्रउगेण‥‥उक्थेन,‥‥बृहता‥‥साम्ना।

७. तदेव, ८.६.१.७–सम्राड्ढ नामैषा प्रतीची दिक्, आदित्या हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयः, वरुणा हैवात्र हैतीनां प्रतिधर्ता, सप्तदशेन–स्तोमेन, मरुत्वतीयेन–उक्थेन, वैरूपेण–साम्ना।

८. तदेव, ८.६.१.८–स्वारड्ढ नामैषोदीची दिक्, मरुतो हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयः, सोमो हैवात्र हैतीनां प्रतिधर्ता, एकविंशेन‥‥स्तोमेन, निष्कैवल्येन‥‥उक्थेन, वैराजेन‥‥साम्ना।

प्रतिधर्ता बृहस्पति, त्रिणव-त्रयस्त्रिंश स्तोम, वैश्वदेव-अग्निमारुत उक्थ एवम् शाक्वर-रैवत साम को प्रतीकायित करती है[1]। ये सब मिलकर यज्ञ को अभिव्यक्त करते हैं। यज्ञ देवों की आत्मा है। देव यज्ञ को अपनी आत्मा बनाकर नाकलोक में बैठे। इसी का अनुकरण कर नाकसद् ईंटों के द्वारा यजमान भी अपनी आत्मा को यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित कर नाकलोक में प्रतिष्ठित होता है[2]।

पंचचूडा नामक पांच ईंटें यज्ञ के चारों ऋत्विज् एवं गृहपति यजमान को प्रतीकायित करती हैं[3]। इस प्रकार पंचचूडा यज्ञ को प्रतिरूप हैं। नाकसद् ईंटें आत्मा हैं और इनकी मिथुन पंचचूडा[4] है। एतदतिरिक्त पंचचूडा प्रजा हैं[5]। पंचचूडा ईंटे आदित्य के ऊपर की दिशाओं को इन ईंटों की चूडाएँ प्रतिरूपायित करती हैं[6]। देव भयभीत हुए कि नाकलोक के ऊपर से राक्षस कहीं हमको व्यथित न करें, अतएव इन पंचचूडा ईंटों को ऊपर रक्षक बनाकर आहित किया जाता है[7]। इस प्रकार ये ईंटें हेति, प्रहेति को रूपायित करती हैं।

पंचचूडा इष्टका-समूह की पूर्व में स्थापित प्रथम ईंट हरिकेश अग्नि, वसन्त-ऋतु के प्रतिरूप उसके सेनानी रथगृत्स एवं ग्रामणी रथौजा, सेना एवं समिति की प्रतीक पुंजिकास्थला तथा क्रतुस्थला अप्सराएँ और विनाशक पशु हेति एवं परस्पर मनुष्य के मारक प्रहेति को प्रतीकायित करती है[8]। माहित्थि के अनुसार पुंजिकस्थला एवं क्रतुस्थला अप्सराएँ क्रमशः दिशा एवं विदिशा की प्रतिरूप[9] हैं। परन्तु इस संदर्भ में सेनानी एवं ग्रामणी के साहचर्य-सम्बन्ध के कारण उन्हें सेना तथा समिति

---

[1] तदेव, ८.६.१.९—अधिपत्नी ह नामैषा बृहती दिक्, विश्वे हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयः; बृहस्पतिर्हैवात्र हैतीनां प्रतिधर्ता, त्रिणवत्रयस्त्रिशाभ्याम्—स्तोमाभ्याम्, वैश्वदेवाग्निमारुताभ्याम्,—उक्थाभ्याम्, शाक्वरैवताभ्याम्—सामभ्याम्।

[2] तदेव, ८.६.१.१०।

[3] तदेव, ८.६.१.१२-१४, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१७।

[4] तदेव, ८.६.१.१२—आत्मा वै नाकसदो मिथुनं पञ्चचूडाः।

[5] तदेव, ८.६.१.१३।

[6] श० ब्रा०, ८.६.१.१४—अतिरिक्ता वै ता दिशः, या अमुष्माद्यादित्यात् पराच्यः, यदु वा अतिरिक्तं चूडः सः।

[7] श० ब्रा०, ८.६.१.१५–एतद् वै देवा आबिभयुः, यद् वै न इमांल्लोकानुपरिष्टाद् रक्षांसि नाष्ट्रा नै हन्युः। त एतानैषां लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄनकुर्वंत, य एते हैतयश्च प्रहैतयश्च।

[8] वा० सं० १५.१५; तै० सं०, ४.४.३.१; का० सं०, १७.९; मै० सं०, २.८.१०; क० सं०, २६.८, श० ब्रा०, ८.६.१.१६; द्र० तै० सं० ब्रा०, ५.३.७.२; का०सं०ब्रा०, २१.२; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१।

[9] श० ब्रा०, तदेव–दिक् चौपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः।

का प्रतीक मानना ही उचित है। याज्ञवल्क्य इसी व्याख्या को मानते हैं। दक्षिण दिशा में उपहित दूसरी ईंट विश्वकर्मा वायु, ग्रीष्म ऋतु के प्रतीक उसके सेनानी रथस्वन एवं ग्रामणी रथेचित्र, द्यावापृथिवी के रूप में स्थित मेनका एवं सहजन्या अप्सराएँ और हेति के रूप में वर्तमान यातुधान तथा प्रहेति के रूप में स्थित राक्षसों को अभिव्यक्त करती हैं[1]। यहाँ भी माहित्थि के अनुसार मेनका एवं सहजन्या अप्सराएँ दिशा एवं विदिशा[2] हैं। पश्चिम दिशा में आहित तीसरी ईंट विश्वव्यचा आदित्य, वर्षा-ऋतु के प्रतीक उसके सेनानी रथप्रोत तथा असमरथ; अहोरात्र की अभिव्यंजक प्रम्लोचन्ती एवं अनुम्लोचन्ती अप्सराएँ, हेति के रूप में व्याघ्र तथा प्रहेति के रूप में सर्पों को द्योतित करती हैं[3]। उत्तर-दिशा में उपहित चौथी ईंट संयद्वसु यज्ञ, शरद्-ऋतु के रूप में स्थित उसके सेनानो तार्क्ष्य एवं ग्रामणी अरिष्टनेमि, वेदि एवं धृताची स्रुक् की प्रतीक विश्वाची तथा घृताची अप्सराएँ, आप् के रूप में स्थित हैति, वात के रूप में स्थित प्रहैति को प्रतीकायित करतो हैं[4]। मध्य में रखी गई पांचवीं ईंट अर्वाग्वसु पर्जन्य, हेमन्त-ऋतु के रूप में स्थित उसके सेनानी सेनजित् एवं ग्रामणी सुषेण, आहुति तथा दक्षिणा की प्रतिरूप उर्वशी एवं पूर्वचित्ति अप्सराएँ, गर्जन के रूप में स्थित हैति और विद्युत् के रूप में प्रहैति को रूपायित करती हैं[5]।

देवों ने उपरिर्वणित हैतियों और प्रहैतियों को इन लोकों के ऊपर रक्षक बनाया। जो सेनानी और ग्रामणी हैं, वे प्रजा हैं। अप्सराएँ उनकी मिथुन है। इस प्रकार सभी देव अपनी प्रजाओं तथा मिथुन के साथ नाकलोक में स्थित हो गये। उसी प्रकार पंचचूडा ईंटों का उपधान कर यजमान भी अपनो प्रजा एवं अपने मिथुन के साथ नाकलोक में स्थित होता है[6]।

---

[1] वा० सं०, १५.१६; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव, मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ८.६.१.१७।

[2] श० ब्रा०, तदेव।

[3] वा० सं०, १५.१७; तै० सं०, ४,४.३.२; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ८.६.१.१८।

[4] वा० सं०, १५.१८; तै० सं०; तदेव, का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव, श० ब्रा०, ८.६.१.१९।

[5] वा० सं०, १५.१९; तै० सं०, तदेव; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव; श० ब्रा०, ८.६.१.२०।

[6] श० ब्रा०, ८.६.१.२१—एते वै हेतयश्च प्रहेतयश्च, यांस्तद् देवा एषां लोकानामुपरिष्टात्, गोप्तॄनकुर्वत। अथ यास्ताः प्रजाः एते ते सेनानी ग्रामण्यः, अथ यत् तन् मिथुनम्, एतास्ता अप्सरसः, सर्व एव तद् देवाः कृत्स्ना भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन् नाके स्वर्गं लोके सीदन्। तथैवैतद् यजमानः सर्व एव कृत्स्नो भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन् नाके स्वर्गे लोके सीदति।

नाकसद् एवं पंचचूड़ा ईंटों का योग दस होता है। संख्यासादृश्य के कारण ये ईंटें विराट् को प्रतीकायित करती हैं। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। इस प्रकार इस विराज चिति की संरचना होती है[१]। अग्नि-संरचना का यही समापन होता है[२]। अतएव यज्ञ में प्राप्य पाँच आशिषों—दीर्घजीवन, संतान, पशु एवं सामाजिक प्रतिष्ठा को यजमान अग्नि से माँगता है।[३]

इकतीस छन्दस्या ईंटों के द्वारा छन्द का आधान किया जाता है[४]। तीन-तीन ईंटों के द्वारा एक-एक छन्द रखा जाता है। प्रत्येक छन्द के लिए एक तृच् का विनियोग होता है[५]। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, ककुप्, पंक्ति, पदपंक्ति एवं द्विपदा छन्द रखे जाते हैं[६]। इस प्रकार तीस ईंटों का आधान रखकर इकतीसवीं ईंट के द्वारा अतिच्छन्दा नामक छन्द को उपहित किया जाता है। अतिच्छन्दा ईंट सभी श्री, महद्, उक्थ तथा सभी छन्दों को प्रतीकायित करती है[७]। तृचों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पशु पिता, माता और पुत्र तथा गर्भ, उल्ब (गर्भ की आवरक भीतरी झिल्ली) और जरायु (गर्भ की आवरक बाहरी झिल्ली) के कारण त्रिवृत् होता है[८]। अन्न भी कृषि, वृष्टि और बीज के कारण त्रिवृत् होता है[९]। अतएव तृचों का प्रयोग इन छन्दों को त्रिवृत् बनाने के लिए किया जाता है।

छन्दस्या ईंटों के द्वारा संधीयमान प्रजापति के अंगों की संरचना की जाती है। गायत्री छन्द के लिए आहित ईंटें उसका सिर हैं। त्रिष्टुप् उर, जगती श्रोणी, अनुष्टुप् नितम्ब, बृहती पसलियाँ, ककुप् वक्षःस्थल की हड्डियाँ, उष्णिक् ग्रीवा, पंक्ति पक्ष और अतिच्छन्दा ईंटें उदर हैं। जिस ईंट पर पुरीष रखा जाता है, वह योनि है। द्विपदा ईंटें प्रजापति की प्रतिष्ठा हैं[१०]। इस प्रकार प्रजापति के अंगों के साथ-साथ यजमान के अंगों की भी संरचना होती है।

गार्हपत्य चयन करने के पश्चात् देवों ने प्रथम चिति का दर्शन किया, इसी प्रकार प्रथम चिति के द्वारा आरोहण कर द्वितीय चिति को प्राप्त किया और इसी

---

[१] श० ब्रा०, ८.६.१.२२—ता वा एता दशेष्टका, उपदधाति, दशाक्षरा विराट्, विराडेषा चितिः।

[२] तदेव—अन्त एषोऽग्नेः, यदुत्तमा चितिः।

[३] तदेव—अन्ततस्तदग्नेराशिषो निराह, पञ्च भवन्ति; आशिषों के लिए द्र०, तदेव, १.९.१.१२-१७; तै० सं० ब्रा०, २.६.९.७।

[४] श० ब्रा०, ८.६.२.१ आदि; तै० सं० ब्रा०, ५.३.६; का० सं० ब्रा०, २१.४।

[५] वा० सं०, १५.२०-४८; तै० सं०, ४.४.४।

[६] श० ब्रा०, ८.६.२.२।

[७] तदेव; [८] तदेव; [९] तदेव।

[१०] श० ब्रा०, ८.६.२.६-१४।

प्रकार आरोहण करते हुए, वे पंचमी चिति तक पहुँच सके[१]। इसका यह अर्थ हुआ कि देवों की इस सिद्धि का मूल कारण गार्हपत्य है। अतएव देवों ने इस सिद्धि के कारण को भी यहाँ द्युलोक में स्थापित करने की इच्छा की; परन्तु इस समय वसुओं ने पूर्व में, रुद्रों ने दक्षिण में, आदित्यों ने पश्चिम में तथा मरुतों ने उत्तर में इसे स्थापित करना चाहा। विवाद की इस स्थिति में अन्ततः देवों ने गार्हपत्य को मध्य में स्थापित किया[२]। देवों का अनुकरण करने वाला यजमान भी गार्हपत्य को मध्य में ही स्थापित करता है। गार्हपत्य अन्न है और यह चित अग्नि-अत्ता है। अतएव चित-अग्नि के अन्न के रूप में इसका आधान किया जाता है[३]। गार्हपत्य वस्तुतः वेदि के बाहर चित होता है। वेदि देवलोक है, अतएव गार्हपत्य का उपधान कर उसे भी देवलोक में स्थापित किया जाता है[४]। सभी चैतन्य पदार्थों का चयन योनिभूत पुष्कर-पर्ण में होता, पर गार्हपत्य का नहीं। अतएव गार्हपत्य के लिये यहाँ आठ ईंटों का उपधान कर उसे भी योनि में स्थापित किया जाता है[५]।

पुनश्चिति नामक आठ ईंटों का आधान प्रजा के रूप में किया जाता है[६]। वस्तुतः योनि की समृद्धि प्रजाति[७] है। अतएव देवों ने पुनश्चिति ईंटों को प्रजा के रूप में आहित किया। किसी भी उत्पत्ति के स्थान की समृद्धि उत्पादन से ही आँकी जाती है। देवों के कार्यों का अनुकरण करने वाला यजमान भी समृद्ध संतति के लिये पुनश्चिति ईंटों का उपधान करता है[८]। संतान के अभाव में भविष्य में देव-याग भी संभव नहीं होगा, अतएव इन ईंटों के द्वारा उत्तरा देवयज्या के सातत्य की प्रक्रिया को निरंतर बनाये रखने का उद्योग किया जाता है[९]। आठ ईंटें संख्या-सादृश्य के

---

१. श० ब्रा०, ८.६.३.१-२।

२. श० ब्रा०, ८.६.३.३।

३. श० ब्रा०, ८.६.३,४—अन्नं वै गार्हपत्यः, अत्तायमग्निश्चितः, अत्र एवैतदन्नमपि दधाति।

४. श० ब्रा०, ८.६.३.६—वेदिर्वै देवलोकः, अथवा एष बहिर्वेदि चितौ भवति, तं यदिहाहृत्योपदधाति, तदेनं वेदो देवलोके प्रतिष्ठापयति।

५. श० ब्रा०, ८.६.३.७—योनिर्वै पुष्करपर्णम्, अथवा एष बहिर्योनि चितौ भवति, तदेनं योनौ पुष्करपर्णं प्रतिष्ठापयति।

६. श० ब्रा०, ८.६.३.८—पुनश्चितिमुपदधाति; ८.६.३.१२—अष्टावुपदधाति; ८.६.३.१०, तस्यामेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधाति; तु०, तदेव, ८.६.३.८-१०; तु०, का० सं०, १८.१८; मै० सं०, २.१२.४।

७. श० ब्रा०, ८.६.३.८—एषो वै योने राद्धि; यद् रेतः प्रजातिः।

८. तदेव, ८.६.३.१०—तथैवैतद् यजमानो यत् पुनश्चितिमुपदधाति, एतस्यामेवैतद् योनौ रेतः प्रजातिं दधाति।

९. श० ब्रा०, ८.६.३.१६—पुनर्यज्ञो हैषः, उत्तरा हैषा देवयज्या। ध्यातव्य है कि यज्ञ के पाँच आशिषों में उत्तरा देवयज्या प्रमुख है—द० श० ब्रा०, १.९.१.१३—सायामुत्रोत्तरा देवयज्या........; एग्लिंग, से० बु० इ०, ४३, पृ० १०९, पा० टि० १।

कारण आठ अक्षरों वाली गायत्री के साथ, इन ईंटों का समीकरण हो जाता है। अग्नि गायत्र है[१]। अतएव पुनश्चिति ईंटें गायत्र अग्नि को रूपायित करती हैं। इन ईंटों के सादन में पाँच बार मन्त्रों का प्रयोग पंच चितिक अग्नि को संवत्सर रूप में प्रतीकायित करता है[२]।

ऋतव्या नामक दो ईंटों का उपधान शिशिर ऋतु के रूप में किया जाता है[३]। शिशिर ऋतु में माघ एवं फाल्गुन दो मास होते हैं[४]। ऋतव्या ईंटें सकल ऋतुओं और ऋतुओं द्वारा संहत संवत्सर को प्रतीकायित करती हैं[५]। सारे लोक संवत्सर हैं। शिशिर ऋतु द्युलोक की प्रतिरूप है। पंचमी चिति द्युलोक है और यह प्रजापति का सिर है[६]। अतएव इनका उपधान प्रजापति अग्नि के शरीर में सिर को उपहित करना है। ऋतव्या ईंटों को स्वयमातृण्णा एवं विश्वज्योति के पूर्व में रखा जाता है। स्वयमातृण्णा द्योस् है और इस चिति में उपहित विश्वज्योति आदित्य का प्रतिरूप है। अतएव आदित्य एवं द्युलोक के नीचे इन ऋतुओं को आहित करने का विधान है, कारण, ऋतुएँ इनके अधोभाग में ही स्थित होती हैं[७]। सभी ऋतव्या ईंटें यजमान के आरोहण के लिये सोपान हैं। देव इन्हीं के माध्यम से ऊर्ध्वलोक की ओर आरोहण कर ऊपर पहुँचते हैं और इन्हीं के द्वारा उनका अधोलोकों में प्रत्यवरोहण भी होता है। यजमान भी देवों के समान ऋतव्या के सोपानों से ऊर्ध्वलोक में आरोहण एवं पुनः अधोलोकों में प्रत्यवरोहण करता है[८]।

---

१. श० ब्रा०, ८.६.३.१२—अष्टाक्षरा गायत्री, गायत्रोऽग्निः।

२. तदेव—पञ्चकृत्वः सादयति, पञ्चचितिकोऽग्निः, पञ्चर्तवः संवत्सरः, संवत्सरोऽग्निः।

३. वा० सं०, १५.५७; तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१२; क० सं० २६.९; श० ब्रा०, ८.७.१.५; तै० सं० ब्रा०, ५.४.२; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३; क० सं० ब्रा०, ३१.१८।

४. तदेव—तप॑श्च तप॒स्य॒श्च शैशि॒रावृ॒तू।

५. श० ब्रा० ८.७.१.४—एकैकस्मिन्नृतौ सर्वेषामृतूनां रूपम्। ८.७.१.३—संवत्सर एषोऽग्निः, स ऋतव्याभिः संहितः, संवत्सरमेवैतद् ऋतुभिः संतनोति, संदधाति।

६. श० ब्रा०, ८.७.१.७—इम उ लोकाः संवत्सरः, द्यौरस्य शिशिर ऋतुः; ८.७.१.८—संवत्सर उ प्रजापतिः, तस्य शिर एव पञ्चमी चितिः, शिरोऽस्य शिशिर ऋतुः।

७. श० ब्रा० ८.७.१.९—स पुरस्तात् स्वयमातृण्णायै च विश्वज्योतिषश्चर्तव्ये उपदधाति, द्यौ वा उत्तमा स्वयमातृण्णा आदित्य उत्तमा विश्वज्योतिः, अर्वाचीनं तद् दिवश्चादित्याच्चर्तून् दधाति।

८. श० ब्रा०, ८.७.१.१३, ७.१.२३, ता हैता एव संयान्यः, एतद् वै देवा ऋतव्याभिरेवेमांल्लोकान् समयुः, इतश्चोर्ध्वान्, अमुतश्चावचिः, तथैवैतद् यजमान ऋतव्याभिरैवेमांल्लोकाद् संयाति, इतश्चोर्ध्वान्, अमुतश्चावचिः। ध्यातव्य है कि चरक अध्वर्यु संयानी नामक भिन्न ईंटों का आधान इस कार्य के लिये करते हैं, जिसके अनुयायी कृ० य० प्रस्थान के लोग हैं—द्र०, तै० सं०, ४.४.६; का सं०, २२.५; मै० सं०, २.८.१३; तै० सं० ब्रा०,

विश्वज्योति नामक ईंट को स्वयमातृण्णा के पूर्व में आहित किया जाता है। स्वयमातृण्णा द्यौस् है। विश्वज्योति आदित्य का प्रतिरूप है। द्युलोक में आदित्य ही समस्त ज्योतियों का आजीव्य है[1]। वस्तुतः विश्वज्योति प्रजा है। इस प्रकार द्युलोक के नीचे आदित्य को उपहित किया जाता है। इसीलिए वह द्युलोक के अधोभाग में तपता है और वहीं उसका उद्भव भी होता है[2]। अग्नि ऊर्ध्वमुखी होकर प्रज्वलित होता है, वायु तिर्यक् प्रवाहित होता है एवं आदित्य आवाचीन रूप में प्रकाशित होता है। अतएव इसी क्रम से विश्वज्योति ईंटें प्रथम, तृतीय तथा पंचम चिति में उपहित की जाती हैं।

विकर्णी (स्वाभाविक छिद्र से युक्त कंकड़) ईंट का आधान स्वयमातृण्णा के पूर्व में किया जाता है[3]। उसके ठीक पश्चिम में स्वयमातृण्णा ईंट रखी जाती है। विकर्णी एवं स्वयमातृण्णा परस्पर संस्पृष्ट रहती हैं[4]। विकर्णी वायु को प्रतिरूपायित करती है तथा स्वयमातृण्णा द्युलोक को[5]। उत्तम चिति में वायु एवं द्यौस् युगनद्ध रहते हैं[6]। द्यौस् के पश्चात् वायु रहता है, अतएव वायु सदैव द्युलोक के अधोभाग में प्रवहित होता है[7]। चिति-संरचना में चिति-संधेय ईंटों को अश्व को सुंघाया जाता है[8]। वह इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि आदित्य इन सब लोकों को एक सूत्र में समवेत करता है[9]। यह सूत्र वायु है। वायु विकर्णी है। अतएव विकर्णी का आधान

५.३.१०; का० सं० ब्रा०, २२.६। याज्ञवल्क्य इसका निषेध करते हैं। इनके अनुसार संयानी का कार्य विश्वज्योति ईंटें ही संपन्न करती हैं—द्र०, श ब्रा०, ८.७.१.१४—तदु ह चरकाध्वर्यवोऽन्या एव संयानीरित्युपदधति, न तथा कुर्यात् अत्यहैव रेचयन्ति, एता उ एव संयान्यः। तु०, ८.७.१.२३-२४।

[1] श० ब्रा०, ८.७.१.१७—स पुरस्तात् स्वयमातृण्णायै विश्वज्योतिषमुपदधाति। द्यौर्वा उत्तमा स्वयमातृण्णा, आदित्य उत्तमा विश्वज्योतिः; ८.७.१.१५—आदित्यो ह्यवामुष्मिल्लोके विश्वज्योतिः।

[2] तदेव—अर्वाचीनं तद्दिव आदित्यं दधाति, तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातस्तपति, अथो प्रजननमेतत्, अर्वाचीनं तद् दिवः प्रजननं दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजापतेः।

[3] श० ब्रा०, ८.७.३.९—विकर्णी च स्वयमातृण्णां चोपदधाति; ८.७.३.२०—ते वा उभे एव शंकरे भवतः, उभे स्वयमातृण्णे; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६, मै० सं०, २.८.१४।

[4] तदेव—संस्पृष्टे।

[5] तदेव—वायुर्वै विकर्णी, द्यौरुत्तमा स्वयमातृण्णा; तु०, तै० सं० ब्रा०, तदेव।

[6] तदेव—उत्तमे हि वायुश्च द्यौश्च""""संस्पृष्टे।

[7] तदेव—अर्वाचीनं तद् दिवो वायुं दधाति, तस्मादेषोऽर्वाचीनमेव वातः पवते।

[8] श० ब्रा०, ७.३.२.१३; ८.७.३,१०—अदोऽश्वं चितिमवघ्रापयन्ति।

[9] श० ब्रा०, ८.७.३.१०—तदसावादित्य इमांल्लोकान् सूत्रे समावयते।

कर उसी प्रक्रिया को रूपायित किया जाता है[1]। विकर्णी आयु का रूप है और स्वयमातृण्णा प्राण[2]। इस प्रकार आयु एवं प्राण को उपहित किया जाता है।

कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में सयुज् नामक ईंटों का आधान लोकों के संयोजन के निमित्त किया जाता है[3]। संयानी नामक ईंटों को लोकों में आरोहण करने के लिये उपहित करने का विधान हैं[4]। संयानी ईंटों को सभी चितियों में रखने का निर्देश है। शतपथब्राह्मण के अनुसार इन ईंटों के उद्भावक चरक अध्वर्यु थे[5]। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि याज्ञवल्क्य इनके आधान का निषेध करते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार लोक-आरोहण का कार्य विश्वज्योति ईंटों से ही हो जाता है[6]। अतएव संयानी ईंटों का प्रयोग निरर्थक है।

इस प्रस्थान में कृत्तिका अथवा वाक् नामक सात ईंटों को अम्बा, दुला, नितत्नि, अभ्रयन्ती, मेधयन्ती, वर्षयन्ती एवं चुपुणीका नामक सात कृत्तिकाओं अथवा वाक् का प्रतीकायित करने के लिये उपहित किया जाता है[7]। वृष्टिसनि नामक पाँच ईंटों को आधान वर्षा के प्रतिरूपायन के लिये होता है[8]। आदित्य नामक आठ ईंटें सलिल आदि आठ आदित्यों को प्रतिरूपायित करती हैं। पाँच घृत नामक ईंटें प्रकाशनामों को अभिव्यक्त करती हैं[10]। यशोदा नामक पाँच ईंटें यज्ञ, तेज, पय तथा वर्चस् को प्रतीकायित करती हैं[11]।

भूयस्कृत् नामक पाँच ईंटों का उपधान बहुलोभवन को प्रतिरूपायित करता है[12]। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण के अनुसार देव और असुर जब समर कर रहे थे, तब

---

१ श॰ ब्रा॰—तद् यत् तत् सूत्रम्, वायुः सः, स यः स वायुः, एषा सा विकर्णी, तद् यदेतामुपदधाति तदादित्य इमांल्लोकान् सूत्रे समावयते।

२. तदेव—८.७.३.११—आयुर्वै विकर्णी, प्राणः स्वयमातृण्णा।

३. तै॰ सं॰, ४.४.५; का॰ सं॰, ४०.२; तै॰ सं॰ ब्रा॰ ५.३.९।

४. तै॰ सं॰, ४.४.६; का॰ सं॰, २२.५; मै॰ सं॰, २.८.१३; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५.३.१०; का॰ सं॰ ब्रा॰, २२.६।

५. श॰ ब्रा॰, ८.७.१.१४; ७.१.२४।

६. श॰ ब्रा॰, ८.७.१.१५, ७.१.२३।

७. तै॰ सं॰, ४.४.५; का॰ सं॰, ४०.४; मै॰ सं॰, २.८.१३; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५.३.९।

८. तै॰ सं॰, ४.४.६; का॰ सं॰, २२.५; मै॰ सं॰, २.८.१३; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५ ३.१०, का॰ सं॰ ब्रा॰, २२ ६; मै॰ सं॰ ब्रा॰, ३.३.१।

९. तै॰ सं॰, तदेव; का॰ सं॰, तदेव; तै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव।

१० तै॰ सं॰, तदेव; का सं॰, तदेव; तै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव; का॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव।

११. तै॰ सं॰, तदेव; मै॰ सं॰, २.१३.१८, तै॰ सं॰ ब्रा॰, तदेव।

१२. तै॰ सं॰, ४.४.७; का॰ सं॰, ३९.९; मै॰ सं॰ २.१३.१८; तै॰ सं॰ ब्रा॰, ५.३.११.१।

देवों ने इन ईंटों को देखा और इनका आधान किया। फलस्वरूप देवों ने सर्वतोभावेन जय प्राप्त किया और वे अधिसंख्य[१] हुए। इसी का अनुकरण कर यजमान भी इन ईंटों का आधान करता है। अप्सुषद् नामक पाँच ईंटों को इस पंचमी चिति में रखने का उद्देश्य जल, श्येन, गृध्र, सुपर्ण एवं नाक में स्थित अग्नि के पाँच रूपों को प्रतिरूपायित करना है[२]। द्रविणोदा नामक पांच ईंटों का उपधान सकल लोकों में स्थित द्रविणों का प्रतीकायन है[३]। आयुष्या नामक सात ईंटों के द्वारा आयु आदि को प्रतिरूपायित किया जाता है[४]। ऋतुनामा ईंटों के द्वारा सात ऋतुनामों को प्रतीकायित करने का विधान है[५]।

इन्द्रतनु नामक बाईस ईंटों को इस चिति में रखकर इन्द्र के बाईस देहों को आकार दिया जाता है[६]। तैंतोस यज्ञतनु ईंटें यज्ञशरीर की प्रतिरूप हैं[७]। ज्योति को रूपायित करने के लिये बारह ज्योतिष्मती ईंटों को उपहित किया जाता है[८]। भूत नामक बारह ईंटें मृत्यु-विजय को प्रतोकायित करती है[९]। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण के अनुसार अज्यानि नामक पाँच ईंटें अपराजित ईंटें हैं, अतएव इनका आधान अपराजेयता को अभिव्यक्त करता है[१०]। राष्ट्रभृत् नामक चार ईंटें राष्ट्र की संभृति की प्रतिरूप हैं[११]। पौर्णमासी एवं अमावास्या के रूप में दो ईंटों का तथा सत्ताईस नक्षत्रों के रूप में सत्ताईस नक्षत्रा ईंटों का उपधान किया जाता है[१२]। प्राण, व्यान, अपान एवं वाक् को प्रतीकायित करने के लिये चार स्वयमातृण्णा (पूर्ववर्णित स्वयमातृण्णा के अतिरिक्त) नामक ईंटें आधेय होती है[१३]। मेघों के रूप में पाँच जीमूता नामक ईंटें उपहित होती हैं[१४]। इन्द्रनामा ईंटें इन्द्र के नामों के रूप में रखी गयी हैं[१५]। नदियों के रूप को

---

१. तै० सं० ब्रा०, तदेव।

२. तै० सं०, तदेव; का० सं० तदेव; मै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११ २; मै० सं० ब्रा०, ३.५.२।

३. तै० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११.३।

४. तै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा०, ५.३.११।

५. तै० सं०, तदेव; तै० सं० ब्रा० तदेव; मै० सं०, तदेव।

६. तै० सं०, ४.४.८; का० सं०, ३९. ११; तै० सं० ब्रा०, ५.४.१।

७. तै० सं०, ४.४.९; तै० सं० ब्रा०, तदेव।

८. का० सं०, ४०.३ मै० सं०, २.१३.१९।

९. तै० सं० ब्रा०, ५.६.३।

१०. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५ ७.२—अज्यानीरेता उपदधात्येता वै देवता अपराजिता।

११. तै० सं०। तै० सं० ब्रा०, ५ ७.४।

१२. तै० सं०, ४.४ १०; का० सं०, ३९.१३; मै० सं०, २.१३.२०; तै० सं० ब्रा०, ५.४।

१३. तै० सं०। तै० सं० ब्रा० ५.५.५।

१४. का० सं०, ४०.४।

१५. तदेव, २२.११।

अभिव्यक्त करने के लिये आठ सरित् नामक ईंटों को आहित किया गया है[1]। दिनरूपों के रूप में पाँच अहोरूपा ईंटों को रखा गया है[2] । सात छन्दों के रूप में सात छन्दस्या ईंटों का उपधान किया जाता है[3] । ध्यातव्य यह है कि ये छन्दस्या ईंटें पूर्ववर्णित छन्दस्या ईंटों से अलग हैं।

द्वितीय चिति का प्रतीक अर्थ : पृथिवी के ऊपर तथा अन्तरिक्ष के नीचे के अन्तःश्लेष की संरचना : प्रतीक अर्थ—

द्वितीय चिति पृथिवी से ऊपर तथा अन्तरिक्ष से नीचे लोक को प्रतीकायित करती है[4] । देवों ने प्रथम चिति का चयन कर ऊपर की ओर आरोहण किया, उन्होंने इस चिति को देखा। उनके मन में यह लोक अस्थिर एवं अप्रतिष्ठित था। उन्होंने अश्विनों से कहा कि तुम दोनों ब्राह्म-चिकित्सक हो, अतएव इस द्वितीय चिति का आधान करो[5] । अश्विनों ने कहा इससे हमारा क्या लाभ होगा ? देवों ने कहा कि यह चिति तुम्हारे नाम से जानी जायेगी। इस पर अश्विन् एतदर्थ तैयार हो गये, अतएव इसे आश्विनी चिति का अभिधान मिला[6] । प्रजापति के विस्रंसन के समय अश्विन् उसके शरीर के मध्य भाग के निचले तथा प्रतिष्ठा के ऊपरी भाग को लेकर चले गये। जब प्रजापति का संधान आरम्भ हुआ, तब उसके आग्रह पर अश्विनों ने उसके उपरिर्वणित भाग का संधान किया[7] । अतएव यह द्वितीय चिति प्रजापति के मध्यभाग से निचले तथा चरणों से ऊपर के भाग को प्रतीकायित करती है।

इस चिति में आहित पाँच आश्विनी ईंटें दिशाओं को प्रतिरूप हैं[8] । पाँचवीं ईंट आदित्य को प्रतीकायित करती है[9] । ग्रीष्म ऋतु को प्रतीकायित करने के लिए दो ऋतव्या ईंटें उपहित की गयी हैं[10] । ग्रीष्म ऋतु में ज्येष्ठ एवं आषाढ़ दो मास होते

---

[1] का० सं०, ४०.१; मै० सं०, २.१३.२३।

[2] तै० सं०, ५.५.६; का० सं०, २०.१४।

[3] मै० सं०, २.१३.४।

[4] श० ब्रा०, ८.२१.२—ते चैतयमाना एतां द्वितीयां चितिमपश्यन्, यदूर्ध्वं पृथिव्याः, अर्वाचीनमन्तरिक्षात्, तु०, तदेव, ८.२.१.११।

[5] श० ब्रा०, ८.२.१.३—तेऽश्विनाब्रुवन्, युवां वै ब्रह्माणौ भिषजौ स्थः, युवां न इमां द्वितीयां चितिमुपधत्तम्।

[6] तदेव।

[7] श० ब्रा०, ८.२.१.११—तस्य यदूर्ध्वं प्रतिष्ठायाः, अवाचोनं मध्यात्, तदस्याश्विनावादायोत्क्रम्यातिष्ठताम्; ८.२.१.१२—तदस्मिन्नैतदश्विनौ प्रत्यधत्ताम।

[8] श० ब्रा०, ८ २.१.८—ता एता दिशः; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०, मै० सं० ब्रा०, ३.२.९; क० सं० ब्रा०, ३१.१२।

[9] श० ब्रा०, ८ २.१.९—सा या सोर्ध्वा दिक्, असौ स आदित्यः।

[10] श० ब्रा०, ८.२.१.१६—ऋतव एते, यद् ऋतव्येः, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४ २; का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३।

हैं,[१] अतएव इन ईंटों की संख्या दो है। ऋतव्या ईंटें संवत्सर अग्नि एवं प्रजापति को प्रतिरूपायित करती हैं[२]। इस चिति में आहित पाँच वैश्वदेवी ईंटें ऋतुओं के साथ-साथ प्रजा की भी प्रतिरूप है[३]। प्रजापति के मध्यभाग में प्रजाओं को संहत किया जाता है, क्योंकि वहीं से वे उत्क्रान्त हुई थीं[४]। पाँच प्राणभृत् ईंटों का सम्बन्ध वायु से है, क्योंकि इनका दर्शन वायु ने किया था और उसी ने इनका उपधान भी किया था। तदनुकारी यजमान भी उनका उपधान करता है[५]। इनके द्वारा प्रजा में प्राण की स्थापना की जाती है[६]। पाँच अपस्या ईंटें वृष्टि को प्रतिरूपायित करती हैं[७]। इस वृष्टि को वायु में स्थापित किया जाता है। इसीलिए जिस दिशा में वायु प्रवहित होता है, वृष्टि उसी ओर होती है[८]। उन्नीस वयस्या अथवा छन्दस्या ईंटों का उपधान छन्दों तथा पशुओं को प्रतिरूपायित करने के लिए किया जाता है[९]। इन ईंटों का आधान अपस्या के पश्चात् होता है[१०]। इस प्रकार जल में पशुओं को प्रतिष्ठित किया जाता है। जब जल बरसता है, तभी पशु प्रतिष्ठित होते हैं[११]। इनमें चार पशुओं

---

१ वा० सं०, १४.६—शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू; तु०, तै० सं०, ४.४.११; का० सं० १७.१०; मै० सं०, २.८.१२; क० सं०, २६.९।

२. श० ब्रा०, ८.२ १.१७—संवत्सर एषोऽग्निः,……तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुः; ८.२.१.१८—प्रजापतिरेषोऽग्निः……तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुः।

३. श० ब्रा०, ८.२.२.७—वैश्वदेवोरुपदधाति एत वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहितेऽकामयत, प्रजाः सृजेय, प्रजायेयैति, स ऋतुभिः, अद्भिः, प्राणैः, संवत्सरेण, अश्विभ्यां सयुग्भूत्वेत्ताः प्रजाः प्राजनयत्। तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९।

४. श० ब्रा०, ८.२.२.५-६।

५. श० ब्रा०, ८.२.३.१—प्राणभृत उपदधाति, ते चेतयमाना वायुमेव चितिमपश्यन्, तामस्मिन्नदधुः तथैवास्मिन्नयमेतद् दधाति।

६. श० ब्रा०, ८.२.३.३—आस्वेवैतत् प्रजासु प्राणन् दधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५ ३.१; का० सं० ब्रा०, २०.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.२.९।

७. श० ब्रा०, ८.२.३.४—अपस्या उपदधाति, ते चेतयमाना वृष्टिमेव चितिमपश्यन्; तामस्मिन्नदधुः, तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति; तु० तै० सं० ब्रा०, तदेव; कां० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

८. श० ब्रा०, ८.२.३.५—वायौ तद्वृष्टि दधाति, तस्माद् यां दिशं वायुरेति, तां दिशं वृष्टिरन्वेति।

९. श० ब्रा०, ८.२.३.६-७—छन्दस्या उपदधाति, पशवो वै छन्दांसि, पशूनेवास्मिन्नेतद्दधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

१०. श० ब्रा०, ८.२.३.८—अपस्या अनूपदधाति।

११. श० ब्रां०, ८.२ ३.८—अप्सु तत्पशून् प्रतिष्ठापयति, तस्माद् यदा वर्षति, अथ पशवः प्रतितिष्ठन्ति।

और चार छन्दों का उपधान आठ होता है। गायत्री आठ अक्षरों वाली है। गायत्री होकर प्रजापति ने पशुओं को प्राप्त किया था[१]। अनुवर्ती मन्त्रों की पन्द्रह संख्या वज्र को प्रतिरूपायित करती है। पशु भी वज्र हैं। अतएव जिसके पास पशु होते हैं, वह पाप का वध करता है[२]।

कृष्ण-यजुर्वेदीय प्रस्थान की सयुज् एवं संयानी ईंटों का प्रतीक-अर्थ पहले प्रतिपादित किया जा चुका है[३]।

चतुर्थी चिति का प्रतीक अर्थ : अन्तरिक्ष के ऊपर तथा द्युलोक के नीचे अन्तःश्लेष की संरचना :

चौथी चिति अन्तरिक्ष के ऊपरी तथा द्युलोक के निचले भाग का रूप है[४]। देवों ने तृतीय चिति का उपधान कर अन्तरिक्ष में आरोहण किया। तदनन्तर उन्होंने इसके ऊपर एवं द्युलोक को संपृक्त करने के लिए तथा उसे स्थिर बनाने के लिए चौथी चिति का उपधान किया। चतुर्थी चिति ब्राह्मी चिति है, क्योंकि इसका उपधान ब्रह्म ने किया था। ब्रह्म ने ही द्यावापृथिवी को अलग-अलग स्थिर किया था[५]।

स्तोम नामक अठारह ईंटें प्रजापति के प्राणों को प्रतीकायित करती हैं[६]। इस प्रकार इन ईंटों के आधान के द्वारा प्रजापति को ही उपहित किया जाता है[७]। प्राणरूप ऋषियों ने इन स्तोमा ईंटो को देखा था, अतएव इनका उपधान ऋषियों का उपधान है[८]। प्रजापति के विस्रस्त होने पर वायु इसके मध्यभाग के ऊर्ध्वभाग तथा सिर के निचले भाग को लेकर चला गया था।[९] अतएव वायु ने इनका उपधान

---

१. श० ब्रा० ८.२.३.१४।

२. तदेव।

३. तै० सं०, ४.४.५-६; का० सं०, ४०.७, २२.५; मै० सं० २.८.१३; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९-१०; का० सं० ब्रा०, २२.६; प्रतीकार्थ इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

४. श० ब्रा०, ८.४.१.२—ते चेतयमाना एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्, यदूर्ध्वमन्तरिक्षाद्, अर्वाचीनं दिवः।

५. श० ब्रा०, ८.४.१.३.—ब्रह्म वै चतुर्थी चितिः, तस्मादाहुः ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धम्।

६. श० ब्रा०, ८.४.१.४; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.३.३-४; का० सं० ब्रा०, २०.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; क० सं० ब्रा०, ३१.१४; श० ब्रा०, तदेव—प्राणा वै स्तोमाः।

७. श० ब्रा०, तदेव—प्राणा उ वै प्रजापतिः, प्रजापतिमेवैतदुपदधाति।

८. तदेव, ८.४.१.५—ये वै ते प्राणा ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्, प्राणा उ वा ऋषयः, ऋषीनेवैतदुपदधाति।

९. तदेव, ८.४.१.६—तस्य यदूर्ध्वं मध्यात्, अर्वाचीनं शीर्ष्णः, तदस्य वायुरादायोत्क्रम्यातिष्ठत्।

किया। प्राण वायु हैं, अतएव इनका आधान वायु का आधान है[1]। इन ईंटों की संख्या अठारह है। संवत्सर भी अठारह अवयव से युक्त है—बारह मास, पाँच ऋतु और संवत्सर रूप में स्थित स्वयं प्रजापति। अग्नि भी संवत्सर है। इस प्रकार स्योमा ईंटें संख्या-सादृश्य के कारण संवत्सर प्रजापति और अग्नि को प्रतिरूपायित करती है।[2]

प्रजापति के शरीर का जब संधान हो गया, तब वह सकल भूतों को गर्भ में धारण कर गर्भी हो गया। उस समय प्रजापति के गर्भ को मृत्यु ने परिगृहीत कर लिया[3]। उसने देवों से कहा कि मैं तुम्हारे साथ इन सकल भूतों को मृत्यु से मुक्त करना चाहता हूँ। देवों में से कुछ ने कहा कि ठीक है, परन्तु हमारा कुछ भूतों में हिस्सा हो, कुछ ने कहा कि इन भूतों में से कुछ पर हमारा आधिपत्य हो। फलस्वरूप प्रजापति ने देवों में से कुछ को भूतों में भागीदार बनाया और कुछ को भूतों का अधिपति बनाया। इस प्रकार इन ईंटों के द्वारा सकल भूतों को मृत्यु से मुक्त किया गया[4]। इसी का अनुकरण कर यजमान भी स्पृत् नामक दस ईंटों का आधान सकल भूतों को मृत्यु से मुक्त करने के लिए करता है[5]। अतएव प्रत्येक ईंट के आधान-मन्त्र में 'स्पृतम् स्पृतम्' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है[6]। स्पृत् ईंटों की संख्या दस है[7]। संख्या-सादृश्य के कारण ये ईंटें विराट् दिशाओं एवं प्राणों की प्रतिरूप हैं। अग्नि भी विराट्, दिशा तथा प्राण है। इस प्रकार इनसे विराट्, दिशात्मक एवं प्राण अग्नि का प्रतिरूपायन होता है[8]।

---

[1] श० ब्रा०, ८.४.१.८—प्राणा उ वै वायुः, वायुमेवैतदुपदधाति।

[2] श० ब्रा०, ८.४.१.२८—यदवैवाष्टादश, अष्टादशो वै संवत्सरः, द्वादश मासाः पंचर्तवः, संवत्सर एव प्रजापतिरष्टादशः, प्रजापतिरग्निः, यावानग्निर्यावित्यस्य मात्रा, तावत् तत् कृत्वोपदधाति।

[3] श० ब्रा०, ८.४.२.१—एतद् वै प्रजापतिः एतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते, सर्वाणि भूतानि गर्भ्यमभवत्, तान्यस्य गर्भ एव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्लात्।

[4] श० ब्रा०, ८.४.२.३।

[5] तदेव।

[6] तदेव—तस्मादु सर्वास्वेव स्पृतं स्पृतमित्यनुवर्तते।

[7] श० ब्रा०, ८.४.२.१३—सा वा एता दशेष्टका उपदधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.३-४; का० सं० ब्रा०, २०.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०; ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेद प्रस्थान में स्तोमा एवं स्पृत् को समवेत रूप में अक्ष्णयास्तोमीया नाम दिया गया है। परन्तु का० सं० ब्रा० एवं मै० सं० ब्रा० में स्पृति या स्पृत् अभिधान अलग से उपलब्ध होता है। स्पृत् ईंटों के आधानक्रम के लिये द्र०, एगलिंग्, से० बु० इ०, ४१, पृ० ६६-६७, पा० टि० २, १-२।

[8] श० ब्रा०, तदेव—दशाक्षरा विराट्, विराडग्निः, दश दिशः, दिशोऽग्निः, दश प्राणाः, प्राणा अग्निः।

ऋतव्या नामक दो ईंटें हेमन्त ऋतु के रूप में उपहित की गयी हैं[1]। हेमन्त ऋतु में मार्गशीर्ष और पौष दो मास होते हैं,[2] अतएव उन्हीं को रूपायित करने के लिए दो ईंटों का आधान किया जाता है[3]। इन ईंटों के प्रतीक-अर्थ का विवेचन पहले किया जा चुका है[4]।

प्रजापति ने सकल भूतों को मृत्यु से विमुक्त करने के पश्चात् प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा की[5]। उसने प्राणों से कहा कि 'मैं तुम्हारे साथ इन प्रजाओं को उत्पन्न करूँगा'[6]। प्राणों ने कहा कि हम लोग किनके द्वारा स्तुति सम्पन्न करेंगे[7]। प्रजापति ने उत्तर दिया कि मैं स्तुति करूँगा और तुम लोग भी स्तुति करोगे[8]। देव जो भी कर्म करते हैं, वह स्तोम के द्वारा ही करते हैं[9]। अतएव प्रजापति ने तथा प्राणों ने स्तवन किया[10]। फलस्वरूप प्रजाओं का प्रजनन हुआ। प्रजनन के द्वारा सृष्टि-विधान करने के कारण इन ईंटों का नाम सृष्टि पड़ा[11]। उपहित सृष्टि-ईंटों की संख्या सत्रह है[12]। प्रजा को उत्पन्न कर प्रजापति ने इन्हें स्वयं निहित किया[13]। संख्या-सादृश्य के कारण ये ईंटें प्रजनयिता प्रजापति एवं सकल प्रजा को प्रतीकायित करती हैं[14]। प्रजापति का अनुकरण कर यजमान भी प्रजनयिता के द्वारा प्रजाओं को

---

[1] श० ब्रा० ८.४.२.१४—ऋतव एते यद् ऋतव्यै, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.२, का० सं० ब्रा०, २०.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.३।

[2] वा० सं०, १४.२७—सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू; तु०, तै० सं०, ४.४.११; का० सं०, १७.१०; मै० सं०, २.८.१२।

[3] श० ब्रा०, तदेव—द्वै इष्टके भवतः, द्वौ हिमासावृतुः।

[4] इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

[5] श० ब्रा०, ८.४.३.१—एतद् वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाकामयत, प्रजाः सृजेयं, प्रजायेय।

[6] श० ब्रा० ८.४.३.२—स प्राणानब्रवीत्, युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानि।

[7] तदेव—ते वै केन स्तोष्यामहे ?

[8] तदेव—मया चैव युष्माभिश्च।

[9] तदेव—यदु ह किञ्च देवाः कुर्वंते, स्तोमेनैव कुर्वंते।

[10] तदेव—ते प्राणैश्च प्रजापतिना चास्तुवत।

[11] तदेव, ८.४ ३.२०—यत् प्राजनयत्, असृजत तत्, यदसृजत तस्मात् सृष्टयः।

[12] तदेव—ता एताः सप्तदशेष्टका उपदधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.३.४; का० सं० ब्रा०, २०.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१०।

[13] तदेव—ताः सृष्ट्वात्मनप्रापादयत।

[14] तदेव—सप्तदशो वै संवत्सरः प्रजापतिः; तु०, ऐ० ब्रा०, १.१६.४.२६; कौ० ब्रा०, ८.२.१०.६.१६.४; तै० ब्रा०, १.५ १०.६; ता० ब्रा० २.१०.५; १७.९,४; श० ब्रा०, तदेव—तेन वै सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्रजानयत्।

उत्पन्न करता है और उन्हें अपने-आप में निहित करता है[1]।

कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा में पन्द्रह व्युष्टि नामक ईंटों का उपधान उषा को प्रतिरूपायित करता है[2]। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण का कथन है कि इन ईंटों का उपधान तम को दूर करने के लिए किया जाता है[3]। इस प्रस्थान में सयुज् एवं संयानी नामक ईंटों का उपधान भी इस चिति में किया जाता है[4]। इन ईंटों के प्रतीक अर्थ का विवेचन पहले किया जा चुका है[5]।

●

---

१. श० ब्रा०—तथैवैतद् यजमान एतेन सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्रजनयति, ताः सृष्ट्वात्मन् प्रपादयते।

२. तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं०, ३९.१०; मै० सं०, २.१३.११.

३. तै० सं० ब्रा०, ५.३.४.७—यस्यैता उपधीयन्ते, व्येवास्मा उच्छत्यथो तम एवापहते।

४. तै० सं० ब्रा० ५.३.९-१०; का० सं० ब्रा०, २२.६।

५. इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

षष्ठ अध्याय

सुपर्णचिति की प्रतीक-संरचना

[उत्तर-भाग]

उखा का प्रतीक अर्थ—

सृष्टि की महागाथा के आरम्भ में इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित सभी देवों तथा अन्य पदार्थों की संरचना हुई। इसका विवरण अग्निचयन के दोनों अग्रप्रातिमानिक इतिहासों (मिथ्स) में पहले दिया जा चुका है[१]। इस महागाथा का विधिकरण अग्निचयन में कैसे प्रतिफलित हुआ? इसकी व्याख्या अभी तक की जा रही थी। अग्निचयन में विधिकृत इस सृष्टि की प्रक्रिया के मूल में वह अग्नि है, जो पाँचवीं चिति की संरचना के अन्त में उस पर आहित किया गया है[२]। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि इस अग्नि को यजुष्मती ईंट कहा गया है[३]। यही अग्नि प्रथम चिति में पुस्करपर्ण एवं रुक्म पर आहित हिरण्मय पुरुष है[४], यही प्रजापति है[५], यही पुरुष[६] है और यही नासदीय सूक्त में वर्णित 'तदैकम्' (वह एक) है[७]। इसी को ऋषि गृत्समद ने अपने प्रभामय तेज से देदीप्यमान जल में देखा था, यही वहाँ निरिन्धन प्रदीप्त था[८]।

परन्तु 'वह एक' उस आद्य-सलिल में स्थित था, जिसने सबको व्याप्त कर रखा था[९]। ध्यातव्य है कि अग्निचयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) में वर्णित

---

[१] पञ्चम अध्याय के प्रारम्भिक भाग में द्रष्टव्य।

[२] श० ब्रा०. ९.२.३.३४; तै० सं० ब्रा०, ५.४.७; का० सं० ब्रा०, २१.९; मै० सं० ब्रा०, ३.३.९।

[३] श० ब्रा०, १०.४.३.१८—यश्चितेऽग्निर्निधीयते।

[४] तदेव, ७.४.१.१५—स प्रजापतिः; सोऽग्निः; द्र०, खोंदा, सवयज्ञज, पृ० १९०; तु०, ऋ० सं०, १०.१२१.१—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।

[५] ऋ० सं०, १०.१२१; अ० सं०, ४.२।

[६] ऋ० सं०, १०.९०; द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, ए न्यू एप्रौच् टू दि वेदज, पृ० ६९ आदि।

[७] ऋ० सं०, १०.१२९.२; तै० ब्रा०, २.८.९.४; आनन्दकुमार स्वामी, तदेव, पृ० ५२ आदि।

[८] ऋ० सं०, २.३५.४- स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु।

[९] तदेव, १०.१२९.३—अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम; द्र०, श० ब्रा०, ११.१.६.१; तै० सं० ब्रा०, ५.६.४ २; का० सं० ब्रा०, २२.९; द्र०, रैने गैनो, सिम्बोलिज्म दे ला क्रोइ, अध्याय २४; आनन्दकुमारस्वामी, ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन् आर्ट, पृ० ९६; बैल्लिकोय

है कि आरम्भ में अकेला प्रजापति था[1]। उसने सृजन की इच्छा से ब्रह्म की सृष्टि की। वह ब्रह्म त्रयी विद्या[2] थी। इस वाग् रूप त्रयी विद्या में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति ने वाग् लोक से जल का सृजन किया और सृष्टि का आरम्भ हुआ[3]। अग्निचयन के अग्रप्रातिमानिक द्वितीय इतिहास में इसी प्रजापति को 'भूतपति' गृहपति के रूप में उपस्थित किया गया और गृहपत्नी के रूप में उषा को[4]। ध्यातव्य है कि यह उषा नासदीयवर्णन की स्वधा और अग्निचयन के प्रथम अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) की वाक्[5] है। वर्ष भर भूतपति प्रजापति ने जिस उषा में वीर्य का आधान कर कुमार अग्नि को उत्पन्न किया था[6], उसी को उखा में अग्नि-आधान कर वर्ष भर

रामचन्द्रशर्मा, सिम्बालिज्म आफ फायर-आल्टोर इन् दि वेदज्ः ए स्टडी विद् स्पेशल रिफरेन्स टू आपः, ए॰ भा॰ ओ॰ रि॰ इ॰, ३३, पृ॰ १८९-१९६; तु॰, तदेव, आपः इन् वेदिक् कॉस्मॉगोनी, प्रो॰ पी॰ के॰ गोडे कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना ओरिएण्टल सीरीज्, नं॰ ९३, १९६०, पृ॰ ३५०-५७।

१. श॰ ब्रा॰, ६.१.१.६—स पुरुषः प्रजापतिः।

२. श॰ ब्रा॰, ६.१.१.८—स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्।

३. श॰ ब्रा॰ ६.१.१.९—सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकाद्, वागेवास्य सासृज्यत।

४. श॰ ब्रा॰ ६.१.३.७—भूतानां पतिर्गृहपतिरासीदुषाः पत्नी। तु॰, ऋ॰ सं॰, १०.१२१.१।

५. ऋ॰ सं॰, १०.१२९.२; श॰ ब्रा॰, ६.१.३.७, ६.१.१.९।

६. श॰ ब्रा॰, ६.१.३.७—भूतानां च पतिः संवत्सर उषसि रेतोऽसिंचत्, स संवत्सरे कुमारोऽजायत; ध्यातव्य है कि इस कुमार अग्नि का वर्णन ऋ॰ सं॰, ५.२.१—कुमा॒रं मा॒ता यु॑व॒तिः सं॑मुब्धं॒ गुहा॑ बिभर्ति॒, आदि में है। इस सन्दर्भ में यहीं सायण द्वारा उद्धृत लुप्त ब्राह्मण शाट्यायन में वर्णित इतिहास (मिथ्) भी द्रष्टव्य है। इस कुमार का सम्बन्ध कृत्तिका नक्षत्र से है। कृत्तिका में अग्नि-आधान करने की विधि है—श॰ ब्रा॰, २.१.२.१—कृत्तिकास्वग्नी आदधीत, एता वा अग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः, तद् वै सलोम योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधाति; तु॰, का॰ सं॰ ब्रा॰, ८.१; मै॰ सं॰ ब्रा॰, १.६.९। वा॰ रा॰, बालकाण्ड, अध्याय ३७, निर्णयसागर, बम्बई, शकसंवत्, १८१०; महाभारत, वनपर्व, अध्याय २२१-२३१, अनुशासन पर्व, अध्याय, ८५-८६, गीताप्रेस गोरखपुर, वि सं॰, २०१३; अग्निपुराण, १८.३९, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५७; विष्णुपुराण, १ १५, ११५, कलकत्ता, १८८२; वायुपुराण, ६६.२४, आ॰ ग्र॰, ४९, पूना, १९०५; मत्स्यपुराण, ५ २६, आ॰ ग्र॰, ५४, पूना १९०७, ब्रह्माण्डपुराण, ३.३९ आ॰ ग्र॰ २८, पूना १८९५; गरुडपुराण, ६.३३, काशी संस्कृत सीरीज, १६५, वाराणसी, १९६४ आदि पुराणों में कुमार कार्तिकेय को अग्नि का पुत्र कहा गया है। कृत्तिकाएँ वाक् की प्रतिरूप हैं, अतएव मा॰ श्रौ॰, ६.२.२.१०, अग्निचयन में कृत्तिका के रूप में उपधेय ईंटों का वाक् अभिधान देता है। कुमारशब्द की व्युत्पत्ति के लिए द्र॰, टी॰ बरो, संस्कृत कव-ऐण्ड् रिलेटेड् वर्ड्स्, सुनीतिकुमार चटर्जी कमेमोरेशन् वाल्यूम्, १९५५, पृ॰ १८७-१९३।

संभृत किया जाता है। अतएव यज्ञ में प्रयुक्त उखा उसी उषा की प्रतिरूप[1] है। अब इसी उखा के प्रतीक अर्थ का यहाँ विश्लेषण किया जायेगा।

ऋग्वेद में उषा को अनेकत्र सृष्टि-विधात्री के रूप में चित्रित किया गया है[2]। उषा सूर्य, यज्ञ और अग्नि की उद्भाविका है[3]। वह सम्पूर्ण प्राणियों का प्रसव करती है। उषा सुदर्शन अश्व की नेत्री है। निश्चय ही यहाँ अश्व का अभिप्राय सूर्य अथवा अग्नि से है[4]। अश्व अग्नि का बोधक है, इस बात को पहले प्रदर्शित किया जा चुका है[5]। अग्नि उषा से जन्म लेता है। इस तथ्य के प्रतिपादक अग्नि के 'उषर्बुध' तथा 'उषर्भुत्' विरुद हैं[6]। ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में ये विरुद किसी अन्य देवता के लिये नहीं प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि उषा में अथवा उखा से अग्नि जन्म ग्रहण करता है।

ऋग्वेद के वाक्-सूक्त एवं उखा-संरचना में विनियोजित मन्त्रों के कथ्य एवं अर्थ में अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है। वाक्-सूक्त के अनुसार वाक् वसुवों, रुद्रों, आदित्यों तथा विश्वेदेवों के साथ विचरण करती हैं[7]। उखा की मिट्टी से संरचना वसु, रुद्र, आदित्य तथा विश्वेदेव करते हैं[8]। देवों का यही चतुर्वर्ग उखा-धूपन[9] तथा

---

१. सम्भवतः पहले उखा-शब्द उषा था। मै० सं० ब्रा०, ३.२.७ में उखा के लिए उषा पाठ मिलता है—अथेषोश्रा पृथिव्या वा एतदोजो वीर्यंम्……। यजुर्वेदी 'ष' का उच्चारण 'ख' करते हैं। वैदिक उच्चारण शास्त्र शिक्षा-ग्रन्थों में यह विधान मिलता है। द्रष्टव्य—द्वितीय लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा, शिक्षासंग्रह, वाराणसी, १८९३, पृ० ११४—षकारस्य खकारः स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत्; केशवी शिक्षा, तदेव, पृ० १४०, सूत्र ३– षः खष्टुमृते च; प्रतिज्ञासूत्र, १८; शि० सं०, पृ० १५१, पद्य १४; कात्यायनी शिक्षा, १७, तदेव, पृ० १७३; प्रातिशाख्यशिक्षा, तदेव, २९९। √उख् और √उष् का समीकरण भी द्रष्टव्य है, भागीरथप्रसाद त्रिपाठी, पाणिनीय-धातुपाठसमीक्षा, वाराणसी, शकाब्द, १८८७, पृ० ३७।

२. ऋ० सं०, ७.७.५.४, ७६.१, ७७.१,३; द्र० एम० पी० पण्डित, की टू वैदिक सिम्बालिज्म, पृ० २४, ८५, दीप्ति पब्लिकेशन्स, पाण्डीचेरी, १९६७।

३. ऋ० सं०, ७.७८.३—अजी॑ज॒नन्त्सूर्यं॑ य॒ज्ञम॒ग्निम्।

४. तदेव. ७ ७७.३—श्वे॒तं नय॑न्ती सु॒दृशी॑क॒मश्व॑म्।

५. इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

६. ऋ० सं०, ३.२.१४—दिवो रो॑चन॒स्थामु॑ष॒र्बुध॑म्; ४.६.८—उ॒ष॒र्बुध॑मथ॒र्यो॒ऽन् दन्त॑म; ६ १५.१—अति॑थिमुष॒र्बुधं॑ विश्वा॑सो वि॒शांपति॑म्; ६.४.२—वि॒श्वायु॒र्यो अ॒मृता॑ मर्त्ये॑षू॒ष॒र्भुत्; १.६५.५—चेति॑ष्ठो वि॒शामु॑ष॒र्भुत्।

७. ऋ० सं०, १०.१२५.१—अ॒हं रु॒द्रेभि॒र्वसु॑भिश्चराम्य॒हमा॑दि॒त्यैरु॒त वि॒श्वदे॑वैः; अ० सं० ४ ३०.१।

८. वा० सं०, ११.५८; तै० सं०, ४.१.५.४; का० सं०, १६.५; मै० सं०, २.७.६।

९. वा० सं०, ११.६०; तै० सं०, ४.१.६.१; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव।

दूध से उखा का अभिषेक[१] भी करता है। इन देवों ने सारा कार्य गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती तथा अनुष्टप् छन्दों के द्वारा ही किया है[२]। इन सभी छन्दों का अस्तित्व वाक् में ही है[३]। वाक् तथा उखा दोनों का उद्भव-स्थान जल है[४]। वाक् के पर्याय-शब्दों में पठित धारा, गभीरा, गम्भीरा एवं सरस्वती शब्द उसके जल से सम्बन्ध को प्रकट करते हैं[५]। ऋक्-संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् का जल से गहन सम्बन्ध बताया गया है। उखा की संरचना जल के विना असंभव है।

उखा-संरचना अष्टका (अष्टमी) के दिन की जाती है[६]। अष्टका को अथर्व-संहिता तथा याजुष-संहिताओं में सृष्टि की विधायिका माना गया है[७]। उखा के आठ अवयव हैं—एक निधि, दो उद्धि, एक रास्ना (करधन) और चारों ओर लगी हुई चार मृत-पट्टियाँ[८]। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि वाक् को 'अष्टापदी' बताया गया

---

१. वा० सं०, ११.६५; तै० सं०, ४.१.६.३; का० सं०, १६.६; मै० सं०, तदेव।

२. तदेव, सन्दर्भ उपरितन टिप्पणी, ७,९।

३. श० ब्रा०, ६.५.३.४—त्रेधा विहिता हि वाग्, ऋचो यजूंषि सामानि; तु०, तदेव, १०.४.५.२।

४. ऋ० सं०, १०.१२५.७—मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे; वाक् एवं जल के सम्बन्ध के लिए द्र०, ऋ० सं०, १.१६४.४१; अ० सं०, ९.१०.२१; तै० ब्रा०, २.४.६.११; ऐ०आ०, १.५.३.८; तै०आ०, १.९.४; नि०, ११.४०—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती; वाक् की सर्जनात्मक शक्ति के लिए द्र०, याट्० आ० बे० फान् बुइटेंनेन, वाचारम्भणम्, सुनीतिकुमार चटर्जी कमेमोरेशन वाल्यूम, १९५७, पृ० १५७-१६२; डब्ल्यू० नार्मन ब्राउन्, दि क्रिएटिव रोल आफ दि गाडेस् वाक् इन् दि ऋग्वेद, क्यूइपे फिलीसिटेशन वाल्यूम, पृ० ३९३-३९७; स्वामी सत्प्रकाशानन्द, दि क्रियेशन् फ्राम् दि वर्ड, प्रबुद्ध भारत, ७२(३)मार्च, १९६७, पृ० ६६ आदि; एफ्०डी०के० बाश्, गोल्डेन जम, १९६०, पृ०५३; विद्यानिवास मिश्र, वाक् लीजेण्ड्स इन दि ब्राह्मणज्, कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ, लखनऊ, १९६७, पृ० २०,२८।

५. निघण्टु, १.११।

६. श० ब्रा०, ६.२.२.२२—अष्टकायामुखां संभरति; का० श्रौ०, १६.२.१—उखासंभरणमष्टम्याम्; द्र०, लुई रेनू, ले दिविजो दाँ ले तेक्स्त संस्क्रत, इण्डो ईरानियन जर्नल्, हेग, १(१), पृ० १-३२।

७. अ० सं०, ३ १०.१२—एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। तेन देवा व्यऽसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः। तु०, तै० सं०, ४.३.११.३; का०सं०, ३९.१०; अ०सं०, ३.१०.३—संवत्सरस्य प्रतिमाम्; तु०, तै० सं०, ५.६.२.१ आदि।

८. श० ब्रा०, ६.२.२.२५—अष्टका वा उखा, निधिर्द्वा उद्धी, तिरश्ची रास्ना तच्चतुः, चतस्र ऊर्ध्वाः, तदष्टौ।

है[1]। वाजसनेयिसंहिता में वशा (गाय) को अष्टापदी के रूप प्रस्तुत किया गया है[2]। इसकी व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि अष्टापदी गाय को आहुति देने से यजमान अधिसंख्य प्रजा एवं सुभूत भूति को प्राप्त करता है[3]। तैत्तिरीयब्राह्मण में पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक को अष्टयोनि, अष्टपुत्रा बताया गया है[4]। इनके पालकों की संख्या भी आठ है। यह भी ध्यातव्य है कि आठ अग्नि रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव तथा ईशान को चिति में निधेय अग्नि के रूप में उत्पन्न करने के कारण भी उखा का संस्मरण अष्टमी को करने का विधान है[5]। इसी दृष्टि से सावित्र आहुति आठ बार आज्य लेकर दी जाती है[6]। यह आहुति रेतोरूप है, जो भावी अग्नि के उद्भव का हेतु है[7]। वसु देवताओं की संख्या आठ है। वसुवों में अग्नि वसिष्ठ है[8]। अतएव उसकी उत्पत्ति के लिये वसिष्ठा वाक्[9] की प्रतिरूप उखा की संरचना की

---

[1] ऋ० सं०, १.१६४.४१, द्र०, वासुदेवशरण अग्रवाल, गौरी, डब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन, फिलीसिटेशन वाल्यूम, १९६२, पृ० १-७; डब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन, अग्नि, सन्, सैक्रीफाइस ऐण्ड् वाक्, ए सेक्रैर्डाटल् औड बाइ दीर्घतमस् (ऋग्वेद, १.१६४), ज० अ० ओ० सी०, ८८(२), जून १९६८, पृ० १९९-२१८।

[2] वा० सं०, ८.३०।

[3] श० ब्रा०, ४.५.२.१२।

[4] तै० आ०, १.१३.१ अ॒ष्टयो॑निम॒ष्टपु॑त्राम्, अ॒ष्टप॑त्नीमि॒मां मही॑म्। अ॒ष्टयो॑न्यष्टपु॑त्रम्, अ॒ष्टप॑दि॒दम॒न्तरि॑क्षम्। अष्टयो॑नीम॒ष्टपुत्राम्, अ॒ष्टप॑त्नीम॒मू दिव॑म्।

[5] श० ब्रा०, ६.१.३.९-१८; ध्यातव्य है कि महाभारत, पुराणों आदि में शिव की अष्टमूर्ति की अवधारणा अग्नि के इन आठ रूपों की अवधारणा से संपृक्त है—द्र०, म० भा०; द्रोणपर्व, २०२.१०२-१४२; शान्तिपर्व, २८४.७३-७८; अनुशासनपर्व, १६०.१६१; वि०पु०, १.८.२-८, वायुपु०. २७.१-६०; ब्रह्माण्डपु०, १.१०.१.२८, पद्मपु०, सृष्टिखण्ड, ३.१९७-२०३; मा० पु०, ५२.१-८; कू० पु०, पूर्वभाग, १०.१७-२६; अ० पु०, २०.२०-२१; लि० पु०, पूर्वार्द्ध, २८.१५-१७; शि० म०, शतरुद्रसंहिता, २.१-१७; भा० पु०, ३.१२.७-१२। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नान्दी-श्लोक में अग्नि के इन्हीं आठ रूपों का वर्णन किया है।

[6] श० ब्रा०, ६.३.१.१-५।

[7] तदेव, ६.३.१.२०-२१।

[8] ऋ० सं०, २.९.१—अद॑ब्धव्रतप्रमति॒र्वसि॑ष्ठः; ऐ० ब्रा०, १.२८—अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः; तु०, श० ब्रा०, २.४.४.२—एष वै वसिष्ठः; तु०, कौ० ब्रा०, २५.२, २६.१५; द्र०, आनन्द कुमारस्वामी, आत्मयज्ञ, से० पे० २, पृ० १२२, पा० टि० ४३।

[9] ऋ० सं०, १०.१२५.३—भूरि॑स्थात्रा॒ं भूर्या॑वे॒शय॑न्तीम्; श० ब्रा०, १४.९.२.२—वाग् वै वसिष्ठा।

जाती है। अदिति के आठ पुत्र हैं और वह अष्टयोनि है[१]। उखा की संरचना में अदिति का महत्त्वपूर्ण भाग है। अदिति अपनी धी और शक्ति से उखा का निर्माण कर उसे अपने हाथों द्वारा संवारती है[२]। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि अदिति को वाक् के साथ अनेकत्र समीकृत किया गया है[३]। यहीं कहा गया है कि शोभन चूडा से युक्त सुन्दर कुटीर (शिर पर बाँधा जाने वाला आभरण विशेष) को धारण करने वाली एवं मनोहर अंगों से शोभना सिनीवाली उखा को संरचना के लिये कर्मण्य मृत्तिका को मृदु बनाये और उसकी रचना कर अदिति के करों में स्थापित करे[४]। ध्यातव्य है कि वाक् अथवा वेदि का वर्णन भी इसी प्रकार ऋग्वेद में किया गया है। वाक् चतुष्कपदा (चार चूडाओं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-वाली) शोभन अगों वाली युवति सभी ज्ञानों की धारिका है[५]। अष्टका[६] एवं वाक् होने के कारण यह उखा समस्त सृष्टि का केन्द्र तथा उद्भाविका है।

---

१. ऋ० सं०, १०.७२.८-९—अष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑ते॒ः; स॒प्तभि॑ः पु॒त्रैरदि॑ति॒रुप॒ प्रै॑त् पू॒र्व्यं यु॒गम्। प्र॒जायै॑ मृ॒त्यवे॑ त्व॒त् पुन॑मात॒ण्डमाभ॑रत्; अ० सं०, ८.९.२१—व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों के लिए द्र०, एम्० पी० पण्डित, अदिति ऐण्ड् अदर् डिटीज़ इन् दि वेद, पाण्डीचेरी, १९५८, पृ० २।

२. वा० सं०, ११.५७—उ॒खां कृ॑णोतु श॒क्त्या॑ बा॒हुभ्या॒मदि॑तिर्धि॒या; तै० सं०, ४.१.५-३; का० सं०, १६.५; मै० सं०, २.७.५।

३. श० ब्रा०, ३.२.४.१६—अदितिरस्युभयशीर्ष्णी (वाक्); ६.५,२.२०—वाग् वा अदितिः; द्र०, खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ० ५०; अदिति सृष्टि की मूल प्रकृति है, द्र०, आनन्द कुमारस्वामी, महापुरुष, से० पे० २, पृ० ३८६, पा० टि० १८। अदिति आद्याशक्ति है, द्र०, ज्याँ प्रिज़िलुस्की—ल कुल्ते दे ल ग्रॉन्द देस्से, रि० हिं० रि०, ११०, १९३४; अदिति दि ग्रेट् मदर्, हार्वर्ड जर्नल् आफ् एसियाटिक् स्टडीज़, केम्ब्रिज, यू०एस० ए०, १, १९३६; वासुदेवशरण अग्रवाल, अदिति ऐण्ड् दि ग्रेट् गाडेस्, इण्डियन् कल्चर्, ४, अप्रैल, १९३८; ननिमाधव चौधरी, मदर् गाडेस् कान्सेप्शन् इन् दि वैदिक् लिट्रेचर, तदेव ८, जुलाई १९४१, मार्च १९४२।

४. वा० सं०, ११ ५५-५६—हस्ताभ्यां मृद्वीं कृ॒त्वा सि॑नीवा॒ली कृ॑णोतु ताम्; सि॒नी॒वा॒ली सु॑कप॒दा सुकुरीरा स्वौ॑प॒शा। सा तुभ्य॑मदिते म॒ह्योखां द॑धातु हस्त॑योः। तु०, तै० सं०, ४.१.५.२-३; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव।

५. ऋ० सं०, १०.११४ ३—चतु॑ष्कपदा युव॒तिः सु॒पेश॑ा घृतप्र॑तीका व॒युना॑नि वस्ते; तु०, तै० सं० ब्रा०, २.४.६.२—वाग् वै सिनीवाली; श० ब्रा०, ६.५.१.९; सिनीवाली के लिए द्र०, खोंदा, आस्पेक्ट्स् आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ० २७७; पी० थामस्, हिन्दू रिलीजन्, कस्टम्स् ऐण्ड् मैनर्स, बम्बई, एन० डी०, १९४६; पृ० ८८।

६ श० ब्रा०, ६.२.२५—अष्टका वा उखा; ध्यातव्य है कि अष्टका की अवधारणा कृष्ण-जन्माष्टमी, राधा-अष्टमी एवं दुर्गा-अष्टमी में सन्निविष्ट है।

उखा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अस्तित्व संनिहित है। अनेक सन्दर्भों में उखा तथा सभी लोकों की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है[1]। उखा की तीनों उद्धियाँ (खण्ड, कक्ष्या) तीनों लोकों की प्रतिमा हैं[2]। उखा का अधोभाग निधि पृथिवीलोक है[3]। निधि शब्द 'नि' से उपसृष्ट √धा से निष्पन्न होता है[4]। √धा धातु का अनेकत्र सृष्टि-रचना से सम्बन्ध है[5]। पुरुष प्रजापति की प्रतिमा के रूप में स्थापित अग्नि का अग्निचयन में आधान किया जाता है[6]। ध्यातव्य है अग्निचयन में आधेय प्रत्येक पदार्थ की स्थापना का निर्देश √धा से निष्पन्न पद-रूपों से किया जाता है[7]। ऋक्-संहिता में √धा के अनेक सन्दर्भ अग्नि से सम्बन्धित शत्रुओं को अभिभूत करने वाला ऋत से युक्त जो अमृत देव (अग्नि) मर्त्य देवों में निहित किया गया है[8]। अन्यत्र कहा गया है कि वह हित(अग्नि) हितों में स्थापित कर दिया गया है[9]। अग्नि स्वयं निधि[10] है, क्योंकि वह रत्नों का धाता है। वैदिक अवधारणा में निधिशब्द अथवा इनके अन्य पर्याय केवल भौतिक सम्पद् का ही द्योतन नहीं करते; अपितु वे सृष्टि-रचना को भी अभिव्यक्त करते हैं[11]। इसी दृष्टि से सृष्टि-विधायक जल को निधि कहा गया है, जिसे पापियों ने छिपा रखा था। पृथ्वी को अभिव्यंजित करने के लिए निधि शब्द का प्रयोग समुचित है, क्योंकि इसमें वास करने वाले सभी देवता वसु हैं[12]। ध्यातव्य

---

१. श० ब्रा०, ६.४.२.१७—इमं वै लोका उखा; तै० सं०, ब्रा०, ५.१.६.४—त्र्युद्धि करोति त्रय इमे लोकाः' तु०, का० सं०, १९.६; मै० सं. ३.१.७, क. सं., ३०.४; श० ब्रा०, ६.५.२.२२; ५.३.३.६.२.१,७.१.२२; ७.५.१.२७.५.२.१.३;१०.४.२.२६,२९।

२. मे० सं० ब्रा०, तदेव—एषां वा एषा लोकानामुखा प्रतिमा क्रियते।

३. श० ब्रा०, ६ ५.२.२२—एष निधिः प्रथमोऽयं स लोकः; निधि के लिए द्र०, खोंदा सवयज्ञज्, पृ० १८६ आदि, १९३, २३४।

४ अ० को०, सुधा, १.१.७१; शब्दकल्पद्रुम, २; पृ० ८८२; वाचस्पत्यम्, ५, पृ० ४०६७; मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ५४८-५४९।

५. देविका हवि में धाता द्र०, तै० सं०, १.८.८; तै० ब्रा०, १.२.७; मै० सं०, २.६.४, ४.३.५-७, का० सं०, १५.३; श० ब्रा०, ५.२.५; द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, दि एनशिएण्ट इण्डियन रायल कान्सक्रेशन्, पृ० ४१-४५।

६. श० ब्रा०, ६.१.२.१२-१३—मा सन्धेहि; तमग्निः समदधात्।

७. श० ब्रा०, ६.१.२.१५—किं हितम्, किमुपहितम्, ७.४.१.१०—रुक्ममुपदधाति; ७.४.१.१५—पुरुषमुपदधाति; आदि।

८. ऋ० सं०, ४.२.१—यो मर्त्ये॑ष्वमृत॑ ऋ॒तावा॑ दे॒वो दे॒वेष्व॑र॒तिर्नि॒धायि।

९. तदेव, ५.१.५—हितो हि॒तेषु।

१०. तै० सं० ब्रा०, ५.६.६.१—देवनिधिर्वा एष निधीयते यदग्निः; द्र०, खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० १९२ आदि।

११. खोंदा, तदेव।

१२. ऋ० सं०, १.१३०.३; १०.१८६.३।

है कि उखा के निधिभाग की संरचना वसु देवता गायत्री छन्द के द्वारा करते हैं[१]। गायत्री पृथ्वी है[२] और गायत्री छन्द का सम्बन्ध अग्नि से है[३]। अग्नि को भी इसी प्रतीक-विधान की दृष्टि से गायत्र कहा गया है। अग्नि क्रो, उत्तम वसु होने के कारण, वसिष्ठ अभिधान प्राप्त है[४]।

द्वितीय उद्धि अन्तरिक्ष को प्रतीकायित करती है[५]। उद्धि शब्द उत् से उपसृष्ट √धा से निष्पन्न होता है, जो ऊर्ध्व सृष्टि की संरचना को द्योतित करता है। द्वितीय उद्धि के आधान एवं निर्माण में विनियोजित मन्त्र के अनुसार अन्तरिक्ष की संरचना रुद्र देवता त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा करते हैं[६]। रुद्र और त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है[७]। उखा की तीसरी उद्धि द्युलोक को प्रतिरूपायित करती है[८]। इसके आधान एवं निर्माण में विनियुक्त मन्त्र कहता है कि आदित्य देवता इस लोक की संरचना जगती छन्द द्वारा करते हैं[९]। जगती एवं आदित्यों का सम्बन्ध द्युलोक से है[१०]।

उखा में सारी दिशाएँ भी प्रतिरूपायित की गयी हैं। उखा के भीतरी तथा बाहरी भाग को चिकना करने के लिये विनियोजित मन्त्र में कहा गया है कि विश्वदेव एवं वैश्वानर अनुष्टुप् छन्द के द्वारा दिशाओं की संरचना करते हैं[११]। वस्तुतः यह यजुष् दिशाओं को ही अभिव्यक्त करता है[१२]। इस यजुष् के द्वारा उखा में दिशाओं का

---

१. वा० सं०, ११.५८; तै० सं०, ४.१.५.३; का० सं०, १६ ५; मै० सं०, २.७.६।

२. श० ब्रा०, १.४.१.३४; ६.१.१.१५; तु०, कौ० ब्रा०, ८.९; तां० ब्रा०, ७.३.९,३.११; जै० उ०, १.५५.३।

३. ऋ० सं०, १.६१.८; श० ब्रा०, १.३.५.४, ८.२.१५; तै० ब्रा०, १.१.५.३; कौ० ब्रा०, १०.५; तां० ब्रा०, १६.५.१९; द्र०, ब्लूमफील्ड, से० बु० ई०, ४२, पृ० ६६४।

४. ऋ० सं०, २.९.१—अदंब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः; ऐ० ब्रा०, १.२८—अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः। द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ, से० पै० २, पृ० १२२, पा० टि० ४३।

५. श० ब्रा०, ६.५.२.२२—यः पूर्व उद्धिरन्तरिक्षं तत्।

६. वा० सं०, तदेव; तै० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव।

७. तां० ब्रा०, १.२.७; जै० उ०, १.१८.५; गो० उ०, २.९; श० ब्रा०, १.८.२.१२; कौ०ब्रा०, ८.९; जै० उ०, १.५.५.३।

८. श० ब्रा०, तदेव—य उत्तरो द्यौः सा।

९. वा० सं०, तदेव; तै० सं०, ४.१.५.४; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव।

१०. तै० ब्रा०, ३.११.१.११; कौ० ब्रा०, ५ ७; १४.३; जै० उ०, १.१८.६; ५५.३।

११. वा० सं०, ११.५८; तै० सं०, ४.१.५.४; का० सं०, १६.५; मै० सं०, २.७.६; श० ब्रा, ६.५.२.६-७; अनुष्टुप् तथा दिशाओं के समीकरण के लिए द्र०, श० ब्रा०, ६.७.२.१६; विश्वेदेव तथा दिशाओं के घनिष्ठ सम्बन्घ के लिए द्र०, तदेव, ६.१.२.९; जै० उ०, २.२.४,११.५।

१२. श० ब्रा०, ६.५.२ ६—दिशो हैतद् यजुः।

ही संनिवेश किया जाता है[१]। दिशाएँ सर्वव्यापक हैं। वे लोकों के अन्तर एवं बाह्य मार्गों में सर्वत्र स्थित हैं[२]। दिशाएँ अपरिमित हैं, उनकी नाप-जोख संभव नहीं है। इसी दृष्टि से उखा को अपरिमित रूप में चिकना करने का निर्देश[३] है। उखा के चारों ओर पहनायी गयी रशना दिशाओं के रूप में सभी लोकों को दृढ़ तथा स्थिर बनाती है[४]। इसी कारण दिशाओं को प्रतिरूपायित करने वाली चार मृत्-पट्टिकाएँ भी उखा के चारों ओर संरक्षित हैं[५]। ध्यातव्य है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार इन दिशाओं से ही सभी लोक स्थिरता प्राप्त करते हैं[६]। देवों ने सृजन की दृष्टि से इन लोकों का उत्खनन किया था। यह उत्खनन उखा के द्वारा ही हुआ था, अतएव इसका परोक्ष अभिधान 'उखा[७]' है।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि सभी लोक गौ हैं, क्योंकि जो कुछ भी गतिशील है, वह इन लोकों के भीतर ही गति प्राप्त करता है[८]। इस दृष्टि से चित अग्नि भी गौ है, क्योंकि सकल ब्रह्माण्ड के रूप में तथा प्रजापति के रूप में चिते होने के कारण उसकी सर्वत्र अप्रतिहत गति है[९] और अग्निशब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की अभिधेयता भी गति में ही परिनिष्ठित है[१०]। उखा के चारों स्तन उसको 'गोता' को

---

[१] श० ब्रा०, तदेव—विश्वेदेवा वैश्वानरा एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशो दधुः।

[२] श० ब्रा०, ६.५.२.७—एषां लोकानामन्तरतश्च बाह्यतश्च दिशः।

[३] तदेव—अपरिमितमेतेन करोति, अपरिमिता हि दिशः।

[४] तदेव, ६.५.२.११—तिरश्चीं रास्नां पर्यस्यति, इमाँल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिर्दृंहति, परितनोति।

[५] तदेव—८.५.२.१४— चतस्र ऊर्ध्वाः करोति, इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृंहति।

[६] तदेव, ६.७.१.१६—दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुम्।

[७] तदेव, ६.७.१.२३--एतद् वै देवा एतेन कर्मणैतयावृते इमांल्लोकानुदखनन्, यदुखनस्तस्मादुखा। खनन प्रक्रिया के उर्वरता एवं सृष्टि के साथ सम्बन्ध के लिये द्र०, खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १३३ आदि; व्युत्पत्ति के लिये द्र०, याट्० ल्योवेन्थाल, विर्टशाफ्टस् गेशिख्टे पारेर्गा व्योर्टर उण्ड सारवेन् कुल्टुअरहिस्टोरिशे त्साइटश्रिफ्ट् फुयेर श्प्राख् उण्ड ज़ाख् फोर्शुन्ग, हाइडेलबर्ग, ११,१९२८।

[८] श० ब्रा, ६.१.२.३६—इमे वै लोका गौः, यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति।

[९] तदेव—इम उ लोका एषोऽग्निचितस्तस्माद् गौरति ब्रूयात्।

[१०] ऋ० सं० ६.१६.४८—अ॒ग्निं दे॒वासो॑ अग्रि॒यमिन्धते॑:; श० ब्रा०, २.२.४.२– तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत, तस्मादग्निः, अग्रिर्ह वै नामैतद् यदविनः। तु० ६.१.१.११; नि०, ७.१४; बृ० दे०, २.२४; महाभारत, अश्वमेधपर्व, ९२—यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया। तस्मादग्नीत्यभिहितः पुराणज्ञैर्मनीषिभिः॥ द्र०, ल्योवेन्थाल, तदेव; मैकदोनेल, वै० मा०, पृ० ९९।

प्रतिपादित करते हैं[1]। गायों का ऊध (स्तन का अग्रभाग) उसके ऊपरी भाग से नीचे तृतीय भाग में अवस्थित रहता है[2]। अतएव रशना भी उखा के उसी भाग में बनायी जाती है, क्योंकि वह ऊध का प्रतिरूप[3] है। गायों को चार थन होते हैं, अतएव याज्ञवल्क्य चतुरस्तना उखा की संरचना को मान्यता देते हैं[4]। द्विस्तना अथवा अष्टस्तना उखा का विधान याज्ञवल्क्य की दृष्टि में अनुचित है, क्योंकि इस स्थिति में उखा शुनी (कुतिया), भेंड़ अथवा घोड़ी हो जायेगी[5]। उसका धेनुरूप नष्ट हो जायेगा। उखा में सभी लोक सन्निहित हैं और लोक गौ हैं, अतएव उसे भी गौ ही होना चाहिए। उखा का धेनुरूप होने पर ही देवों ने इससे सभी कामों का दोहन किया था। देवानुकारी यजमान भी उसी प्रक्रिया को अपनाकर उखा को गौरूप प्रदान करता है[6]। गौरूपता के अभाव में गौरूप अग्नि का उद्भव भी संभव नहीं है, क्योंकि कार्य स्वकरण के मूलरूप से आविष्ट रहता है। अतएव इष्टका-धेनूकरण का विधान[7] है।

उखा की धेनुरूपता की अवधारणा उस विराज् की अवधारणा से अनुषक्त है, जिससे पौरुष यज्ञ में वर्णित पुरुष उत्पन्न होता है। ध्यातव्य है कि विशालता एवं व्यापकता का अभिव्यंजक विराज् तत्त्व सभी अस्तित्वों का केन्द्र है। यह सकल ब्रह्माण्ड की अवधारणा का व्यक्तित्व एवं देवतनु है[8]। विराज् के प्रमुख तथा प्रभावी कार्य-कलाप विस्तृत तथा बहुमुखी हैं। विराज् ब्रह्माण्ड के विस्तार को द्योतित करती है। वह प्रभु, विभु, सृष्टिक्षम तथा भुक्ति एवं पेय की उद्भाविका है[9]। अथर्ववेद-संहिता में विराज् गौ का उदात्त वर्णन है[10]। इस धेनु में विश्व के सारे अस्तित्व स्थित बताये गये हैं। अन्यत्र पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौस् तथा दिशाओं का धेनुरूप में वर्णन किया गया है[11]। इनके वत्स क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य तथा चन्द्र[12] हैं। क्षीर रूप

---

१. श॰ ब्रा॰, ६.५.२.१६-१७—स्तनानुन्नयति, सैषा गौरेव।

२. तदेव, ६.५.२.१७—वितृतीये गोरूधः।

३. तदेव—रास्ना वितृतीये भवति।

४. तदेव—६.५.२.१८—सा चतुस्तना भवति, चतुस्तना हि गौः।

५. तदेव—६.५.२.१९।

६. तदेव—६.५.२.१७— इमे वै लोका उखेमे लोका गौः ६.५.२.१५—एतद् वै देवा इमांल्लोकानुखा कृत्वा सर्वान् कामानदुहत, तथैवैतद् यजमानः········।

७. इस विधि के प्रतीक अर्थ का विवरण आगे किया जायेगा।

८. ऋ॰ सं॰, १०.९.५—तस्मा॑द् वि॒रा॑ड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒पुरु॑षः; वा॰ सं॰, ३१.५।

९. खोंदा, आस्पेक्ट्स् आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ॰ ६७; एन्शिएण्ट इण्डियन किंगशिप फ्रॉम रिलीजस् प्वाइण्ट आफ व्यू, नूमैन, ४,१९५७, पृ॰ १३९ आदि; फोर स्टडीज़ इन् दि लैंग्वेज आफ् दि वेद पृ॰ १५५, मूर्ता एण्ड कम्पनी, दि हैग, १९५९।

१०. अ॰ सं॰, ९.७।

११. अ॰ सं॰, ४.३९.२-८—पृ॒थि॒वी धे॒नुः, अ॒न्तरि॑क्षं धे॒नुः, द्यौर्धे॒नुः, दिशो॑ धे॒नवः॒।

१२. तदेव—अ॒ग्निर्व॒त्सः, वा॒युर्व॒त्सः, आ॒दि॒त्यो व॒त्सः, च॒न्द्रो व॒त्सः।

में रस एवं ऊर्जा को प्राप्त किया गया[1]। इसी प्रकार अथर्वसंहिता में अन्यत्र विराज् धेनु का, देवों, असुरों आदि ने दोहन किया एवं स्व-अभिलषित प्राणशक्ति की उपलब्धि की[2]। याज्ञवल्क्य ने यज्ञ के द्वारा विराज् पृथ्वी के दोहन का उल्लेख किया[3] है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में अनेकत्र उषा के गौरूप का वर्णन उपलब्ध है[4]। वैदिक अवधारणा वाक् को भी धेनु के रूप में उपस्थित करती है[5]। इसी दृष्टि से त्रिलोकात्मिका उखा धेनु होकर सृष्टि का विधान करने के साथ-साथ उसमें रस एवं ऊर्जा की स्थापना भी करती है। अन्यथा ब्रह्माण्ड-चैतन्य निर्गति हो उठेगा।

गन्धर्वों का सृष्टिक्षम जल से घनिष्ट सम्बन्ध[6] है और वे अश्वत्थ, न्यग्रोध आदि वृक्षों में निवास करते हैं[7]। ध्यातव्य है कि ऋताषाट् तथा ऋतधामा अग्नि

---

१. तदेव—इषमूर्जे कामं दुहाम् ।

२. अ० सं०, ८.१० (पर्याय १-५); द्र०, खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० ६७; एन्शिएण्ट इण्डियन किंगशिप् फ्राम दि रिलीजिस् प्वाइण्ट् आफ् व्यू, नूमेन, ४, १९५७, पृ० १३९ आदि; फार स्टडीज़ इन दि लैंग्वेज आफ दि वेद, दि हैग, १९५९, पृ० १५५; फतहसिंह, वैदिक-दर्शन, पृ० १७६-१७७, भारती भंडार इलाहाबाद, सं० २०१९।

३. श० ब्रा०, १.५.२.२०—इयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे, य एवमेतं विराजोदोहं वेद ।

४. ऋ० सं०, १.७९.१; ४.१ १६; १०.११.३; द्र०, गेल्डनर, डेर ऋग्वेद, हा० ओ० सी०, ३३, पृ ४१५; लुई रेनू, इ त्यूदे वेदीकं स्यु ले वौकेबुरेर धु ऋग्वेद, पाण्डीचेरी, नं० ५, १९५८, ३.७; डोरिस श्रीनिवासन्, कान्सेप्ट् आफ काउ इन दि ऋग्वेद, मोतीलाल, बनारसीदास, देहली, १९७९, पृ० १६ ।

५. ऋ० सं०, १.१६४.४०-४१; ३ ७.२; ४.५८.४; १० ६५.६; श० ब्रा०, १४.८.९.६; ता० ब्रा०, १८ ९.२१, २?.?.१; गौ० पृ०, २.२१; द्र०, यॉट० आ. वे. फान् बुइटेनेन अक्षर, ज० अ० ओ० सो०, ७९.१९५९, पृ० १७८ आदि, एच० ल्यूडर्स, वरुण । १९५१-५९, पृ० २५२; लुई, रेनू, तदेव, ४, पृ० ५५; वें० पे० श्मिड, डी कू आउफ् डेर वाईडे इण्डोगेर्मानिशे फोर्शुन्गेन, ६४, १९५८ १-?२, पृ० ३, एच्० ल्यूडर्स. वरुण ।

६. आनन्दकुमारस्वामी, यक्षज़, मुंशीराम मनोहरलाल, न्यू देलही, १९७?, खण्ड २, पृ० ३३; गन्धर्व की व्युत्पत्ति के लिए द्र०, ए कार्नाय, ले कान्सेप्ट मिथौलाजिक द्यु गन्धर्व द्यु सेन्तयुर, ल म्यूजी, ४९, १९३६, कीथ, गन्धर्व, कुमारस्वामी कमेमोरेशन् वाल्यूम (जर्नल आफ् दि इण्डियन् सोसाइटी आफ आर्ट) कलकत्ता, १९३८, ओ एच० डे० ए० विजेसेकर, वैदिक गन्धर्व एण्ड पालि गन्धबंज्, सीलोन यूनिवर्सिटी रिव्यू, ३(१), अप्रैल,१९४५ ।

७. आनन्दकुमारस्वामी, तदेव खण्ड १, पृ० २९; द्र०, तदेव, दि यक्ष आफ दि वेदज़ एण्ड दि उपनिषदस्, क्वार्टरली जर्नल आफ दि मिथिक सोसाइटी, बंगलोर, २८, अप्रैल, १९३८; दार्शनिक संदर्भ में यक्ष के महत्व के लिये द्र०, विजेसेकर, दि फिलासाफिकल इम्पोर्ट् आफ् वैदिक यक्ष ऐण्ड् पालियक्ख, तदेव, १(२), नवम्बर, १९४३ ।

गन्धर्व है[1]। इस अग्नि की उपलब्धि के लिये एवं स्वयं को गन्धर्व बनाने के लिये पुरूरवा ने जब गन्धर्वों से वर माँगा था, तब उन्होंने कहा कि लोक में अग्नि की 'यज्ञिया' तनु नहीं है, जिसके द्वारा यजन कर तुम गन्धर्व बन सको। अन्ततः उन्होंने स्थाली में अग्नि का वपन कर पुरूरवा को दिया, जिससे वह गन्धर्व बन गया[2]। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि वाक् का गन्धर्वों से अति घनिष्ट सम्बन्ध है[3]। गन्धर्वों के पास से सोम को लाने वाली वाक्[4] अथवा तद्रूपा गायत्री ही है[5]। स्थाली या कुम्भी उखा के पर्यायवाची शब्द हैं[6]। अतएव अग्निस्वरूप की संपद् की उपलब्धि के निमित्त प्रजापति अथवा अग्नि की प्रतिरूप उखा की संरचना आवश्यक है।

उखा को मख का सिर कहा गया है[7]। ध्यातव्य है कि प्रवर्ग्य इष्टि में प्रयुक्त महावीर पात्र भी मख के सिर के रूप में प्रतिरूपायित किया गया है[8]। उखा एवं महावीर या धर्म-पात्र की संरचना में, स्वरूप में अपूर्व समता परिलक्षित होती है[9]। इन दोनों यज्ञपात्रों में केवल नामभेद है। मख को अनेक संदर्भों में विष्णु एवं यज्ञ

---

१. वा० स०, १८.३८—ऋ॒ताषाड् ऋ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वः, तु०, तै० सं०, ३.४.७.१; का० सं०, १८.१४; मै० सं०, २.१२.२; क० सं०, २९.३; श० ब्रा०, ९.४.१.७।

२ श० ब्रा०, ११.५.१.१२-१३—तस्मै ह स्थाल्यामाप्याग्निं प्रददुः, अनेनेष्ट्वास्माकमेको भविष्यसि।

३. निघण्टु, १.११.६—वाक् के नाम में 'गान्धर्वी' भी पठित है।

४. श० ब्रा०, ३.२.४.३-४; तै० सं० ब्रा०, ६.१.६; का० सं० ब्रा०, २३.१०; मै०सं०ब्रा०, ३.७.३; क० सं० ब्रा०, ३७.१; ऐ० ब्रा०, १.२७, द्र०, अतुलचन्द्र बनर्जी, स्टडीज् इन् दि ब्राह्मणज्, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, १९६३, पृ० ११।

५. श० ब्रा०, १.७.१.१; ३.४.१.१२; तै० ब्रा०, १.१.३.१०; ३.२.१.१।

६. श० ब्रा०, ६.७.१.२४--उखा……सा एव कुम्भी सा स्थाली।

७. वा० सं०, ११.५७—म॒खस्य॒ शिरो॑ऽसि; तै० सं०, ४.१.५.३; का०सं०, १६.५; मै०सं०, २.७.६; श० ब्रा०, ६.५.२.१, तै० सं० ब्रा०, ५.१.६.३, का० सं० ब्रा०, १९.६; मै० सं० ब्रा०, ३.१.७, क० सं० ब्रा०, ३०.४; मख के लिये द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, एन्जेल् ऐण्ड् टाइटनः ऐन एसे इन वैदिक आण्टॉलॉजी, ज० अ० ओ० सो०, ५५, १९३५, पृ० ३७७-३८२; एस० एन० शुक्ल, वैदिक साहित्य में मख, प्राच्य-प्रज्ञा, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़, ३, १९७०, पृ० १-२६।

८. वा० सं०, ३७.८; तै० आ०, ४.२.३; ५.३.५।

९. श० ब्रा०, १४.१.१-३; तै० आ०, प्रपाठक ५; का० श्रौ० अध्याय २६; द्र०, ऐ० ब्रा०, १.२४; द्र०, चिन्तामणि गणेश काशीकर, पाटरी इन् दि वैदिक् लिट्रेचर, इण्डियन् जर्नल् आफ् हिस्ट्री आफ् साइन्स, कलकत्ता, ४ (१-२), १९६९, पृ० ११९-१४०; विलहेलम राउ, वैदिक् टैक्स्ट्स् आन् दि मैन्यूफैक्चर आफ् पाटरी, समरी आफ् पेपर्स इण्टरनैशनल, संस्कृत कान्फ्रेंस, न्यू देहली, १९७२।

के साथ समीकृत किया गया है[1]। विष्णु, उखा एवं शिर का परिमाण सर्वत्र एक प्रादेश कहा गया है[2]। उखा एवं शिर दोनों चतुःस्रक्ति[3] हैं। शिर में आठ कपाल होते हैं[4], उखा भी आठ अवयवों से युक्त हैं[5]। अथर्वसंहिता तथा शतपथब्राह्मण में वर्णित तिर्यग्बिल अथवा अर्वाग्बिल जिस चमस का पहले उल्लेख किया गया है[6], जो औंधा (ऊर्ध्व बुघ्न) है तथा जिसकी अवधारणा प्रतीप अश्वत्थ की अवधारणा से अनुप्राणित है, वह ब्रह्माण्ड-परम यथार्थ का शिर ही है[7]। इस औंधे शिर की बारी पर सात ऋषि स्थित हैं। ऋषि प्राण हैं, इस तथ्य का अनेकशः कथन किया जा चुका है। इसी शिर में वाक् भी विराजमान है, जो अष्टमी है[8]। यह वाक् ब्रह्म के बोध से समाप्लुत है। इस प्रकार अष्टका उखा सकल ब्रह्माण्ड के प्राण एवं वाक् की अधिष्ठात्री है।

शिर का श्री के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि श्री ही शिर है[9]। अग्निचयन के अग्रप्रातिमानिक इतिहास (मिथ्) का प्रतिपादन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में स्थित सात ऋषि, प्राण, अथवा पुरुष के रस अथवा श्री का समवेत रूप शिर है। शिर में सकल श्री श्रित है, इसीलिये इसका अभिधान शिर प्रथित हुआ[10]। इन प्राणों के श्रित होने के कारण शिर अभिधेय उचित है, क्योंकि सभी शीर्षण्य प्राण वहीं स्थित हैं। चिति में अग्नि का आधान सकल प्राणों एवं सात पुरुषों की श्री अथवा रस को समवेत रूप में प्रतीकायित करना है। अतएव यह

---

[1] श० ब्रा, १४.१.१.१३—स उ एव मखः स विष्णु; तां० ब्रा०, ७.५.६; श० ब्रा०, ६.५.२.१, यज्ञो वै मखः; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, १९.६; मै० सं० ब्रा०, ३.१.७, क० सं० ब्रा०, तदेव; गौ० उ०, २.५।

[2] श० ब्रा०, ६.५.२.८.६.२.१२, ५.१.१४—प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णु; तदेव, तां प्रादेशमात्रीमेवोखां करोति; श० ब्रा०, ७.५.१.२३, १४.१.२.१७—प्रादेशमात्रमिव शिरः।

[3] श० ब्रा०, ७.५.१.२३—चतुःस्रक्तीव हि शिरः।

[4] तै० ब्रा०, ३.२.७.४—अष्टाकपालं पुरुषस्य शिरः।

[5] श० ब्रा०, ६.२.२.२५।

[6] अ० सं० १०.८.९; श० ब्रा०, बृ० उ०, १४.५.२.५, २.२.४; १४.५.२.५।२.२.५—अर्वागबिलश्चमस ऊर्ध्वंबुघ्न इति; इदं तच्छिरः।

[7] इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

[8] श० ब्रा०, १४.५.२.५। बृ० उ०, २.२ ५—प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह, वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति, वाग् हि, अष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते।

[9] श० ब्रा०, १.४.५.५; २.१.२.८, ४.२.४.२०—श्रीर्वै शिरः।

[10] श० ब्रा०, ६.१.१.४—यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवद्, यच्छ्रियं समुदौहस्तस्माच्छिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्मादु प्राणाः श्रियः।

'चितेनिधेय' अग्नि शिर है। अग्नि इस दृष्टि से भी शिर का प्रतिरूप है, क्योंकि उसमें सभी देवता श्रित हैं तथा उसी में सभी देवताओं के लिये आहुति दी जाती है[1]। ध्यातव्य है कि कृत्तिकाओं के समूह को प्रजापति के शिर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतएव याजुष संहिताओं में इन कृत्तिकाओं की सात शीर्षण्य प्राण का स्वरूप कहा गया है[2]। इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि अग्नि प्रजापति की मूर्धा से उत्पन्न वर्णित किया गया है[3]। इस प्रकार शिर से उत्पन्न होने वाले अग्नि की उद्भाविका उखा को शिर के रूप में प्रतीकायित करना सहज एवं समुचित है।

उखा को 'स्वधा से निर्मित आसुरी माया' कहा गया है[4]। वस्तुतः यहाँ यज्ञ में उसकी संरचना यजमान के द्वारा दैव-कर्म का अनुकरण मात्र है। वह अपनी महिमा अथवा शक्ति (स्व-धा) से स्वयं सृष्ट होती है। उसकी संरचना का कोई अन्य कारण नहीं है। नासदीय-सूक्त में सृष्टि के पूर्व में स्थिति अद्वितीय एवं अप्रतिम प्राण अपनी ही शक्ति (स्व-धा) से प्रश्वसित हो रहा था[5]। उसके श्वसन का हेतु वात नहीं था, जो सकल उच्छ्वासों का कारण है। यज्ञ, यज्ञ के द्वारा ही संपादित होता है[6], अग्नि, अग्नि से ही समिद्ध होता है[7] तथा निरिन्धन होते हुए भी अग्नि देदीप्यमान

---

[1] श० ब्रा०, ६.१.१.७—यश्चितेऽग्निर्विधीयते, यैवेतेषां समानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसस्तमेतदूर्ध्वं समुदूहन्ति, तदस्यैतच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन्स्तत् सर्वे देवाश्रिताः, अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति, तस्माद् वै वैतच्छिरः। तु०, तदेव, ९.२.३.५।

[2] का० सं० ब्रा०, ८.१ – प्रजापतेर्वा एतच्छिरो यत् कृत्तिकाः, सप्त वै कृत्तिकाः, सप्त शीर्षण्याः प्राणाः, तु०, मै० सं० ब्रा०, १ १.९; क० सं० ब्रा०, ६.६; तै० ब्रा० १.१.२; ध्यातव्य है कि नक्षत्रों में कृत्तिका का प्रथम स्थान है और उसका देवता अग्नि है, तै० सं०, ४ ४.१०.१—कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवता; तु०, का० सं०, ३९.१३; मै० सं०, २.१.३ २०; द्र०, जी० आर० काये, दि नक्षत्रज ऐण्ड् प्रीसेसन्, इण्डियन् एण्टीक्यूरी, १९२१।

[3] का० सं० ब्रा०, ६.२–प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्मादग्निरध्यसृज्यत, सोऽस्य मूर्ध्नं उदद्रवत्; तु०, मै० सं० ब्रा०, १.८.१; क० सं० ब्रा०, ३.१२।

[4] वा० सं०, ११.६९––आसुरा मा॒या स्व॒घया॑ कृ॒तासि॑; तु०, तै०सं०, ४.१.४.२; का० सं०, १६.७, मै० सं०, २.७.७।

[5] ऋ० सं०, १०.१२९.२––आनी॑दवा॒तं स्व॒घया॒ तदेक॒म्; तु०, तै० ब्रा०, २.८.९.४।

[6] ऋ० सं०, १.१६४.५०, १०,९०.१६; वा० सं०, ३१.१६; अ० सं०, ७.५.१; तै० सं०, ३.५.११.५; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.३।

[7] ऋ० सं०, १.१२.६; तै० सं०, १.१६.४.३; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.२; सा० सं०, २.९४; ऐ० ब्रा०, १.१६; श० ब्रा०, १२.४.३.५; तै० ब्रा०, २.७.१२.३; तां० ब्रा०, १२.२.१।

रहता है[1], क्योंकि विश्व का आद्य धर्म यही है[2]। सकल सृष्टि में प्राणसूत्र का वितन्वन करती हुई अकेली वाग् हो सारे अस्तित्वों के आरम्भ का विधान करती है[3]।

आसुरी माया का अर्थ यहाँ असुर-राक्षसों की जादुई शक्ति नहीं है[4]। ऋग्वेद में असुर-शब्द का प्रयोग उन शब्दों के साथ उपलब्ध होता है, जो प्रज्ञा या मेधा की क्रिया को द्योतित करते हैं। ऋक्संहिता में असुरशब्द कुशल, सावधान, ज्ञाता एवं मेधावी के द्योतक प्रचेता के साथ हुआ है[5]। वस्तुतः असुरशब्द देवों की प्रभुता एवं प्राणशक्ति को अभिव्यक्त करता है। इसी दृष्टि से ऋषियों ने देवों में एक महती असुरता का दर्शन किया था[6]। अतएव याज्ञवल्क्य का कथन है कि असु का अर्थ प्राण है[7]। उसी की माया यह उखा है। उव्वट एवं महाधर के अनुसार आसुरी का अर्थ

---

[1] ऋ० सं०, १०.३०.४–यो अ॑नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्वा॑न्तः; अ० सं०, १४.१.३७; ऋ० सं०, २.३५.४।

[2] ऋ० सं०, १.१६४.४३,५०–तानि॒ धर्मा॑णि प्र॒थमान्या॑सन्, तु०, तदेव, १०.९०.१६; अ० सं०, ७.५.१; वा० सं०, ३१.१६; तै० सं०, ३५.११.५; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.३; श० ब्रा०, १०.२.२.२; ऐ० ब्रा०, १.१६।

[3] ऋ० सं०, १०.१२५.८--अ॒हमे॒व वात॑ इव॒ प्रवा॑म्या॒रभ॑माणा भुव॑नानि॒ विश्वा॒; तु०, अ० सं०, ४.३०.८।

[4] ओल्डेनबुर्ग, रेलीगिओन् डास वेदा, पृ० १६०—के अनुसार असुर शब्द का अर्थ गुह्य शक्तियों का अधिकारी है। बी० के० घोष, आर० सी० मजूमदार तथा ए० डी० पुसाल्कर, दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल, लंदन, १९५२—के अनुसार इन्द्र आदि को माया का स्वामी द्वितीय स्तर पर कहा गया है अथवा माया का अर्थ, जादुई या बुरी शक्ति है। आनन्दकुमारस्वामी, एन्जैल् ऐण्ड टाइटन, ऐन एसे इन वैदिक ऑण्टॉलॉजी, ज० अ० ओ० सो०, ५५, १९३५, पृ० ३७३-४१९, के मत में देव और असुर एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। यह भेद केवल कर्म-विधान पर आधृत है। एन० के० वेंकटेसन पन्तुलु, देवज् ऐण्ड असुरज्-क्वाटर्रली जर्नल् आफ् मिथिक् सोसाइटी, २८, जुलाई, १९३७; यू० वेंकटकृष्ण राव, दि रोमांस आफ् वर्ड्स, आर्यन् पथ, १४, पृ० २०४-२०७, वी० टी० शैटे, शंखासुर आणि वेदांचा समुद्रप्रवेश. ज्ञानेश्वर, ४(३), अगस्त १९७२, पृ० १५-२१।

[5] ऋ० सं० १.२४.१४, द्र०, १.३५.७; १२६.२; २.२७.१०,३३.९; ३.३.४; ४.२२.२; १६.२; ५.६६.२,८.९०.६ आदि।

[6] ऋ० सं०, ३.५५ १-२२, म॒हद् दे॒वाना॑मसु॒र॒त्वमेकम्; द्र०, तदेव, १०.५५.४—म॒हन् म॑हत्या अ॑सुर॒त्वमेकम्।

[7] श० ब्रा०, ६.६.२.६—प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया; द्र०, सुकुमार सेन, सम इण्डो आर्यंन् इटीमॉलाजीज्, समरी आफ पेपर्स, १४ आ० इ० ओ० का०, दरभंगा, १९४८, पृ० १०३, सी० एस० वेंकटेश्वरन्, दि वैदिक कान्सेप्शन् आफ् 'असुर', पूना ओरिएण्टलिस्ट १३, पृ०

प्राण से सम्बन्धित है। यहाँ माया का अर्थ प्रज्ञा है[१]। अतएव यह कथ्य उचित होगा कि उखा स्व-सृष्ट प्राण-प्रज्ञा है। प्राण सुपर्ण के रूप में ही प्रजापति बना था, इसी रूप में उसने देवों का सृजन किया था और इसी प्राणरूप सुपर्ण की संरचना कर देव अमृत हुए थे[२], अतएव इसी प्राण की माया की संरचना कर, वाक्-सुपर्णी[३] की संरचना कर, प्राण-अग्नि-प्रजापति-सुपर्ण की संघटना की जाती है। इसी कारण जिस मृत्तिका से उखा की संरचना होती है, उसका विशेषण 'विश्वभरा'[४] (जिसमें सम्पूर्ण भरा है तथा जो विश्व को संहृत करती है) है। विश्वभरा होने के कारण ही उखा 'बृहती'[५] होकर 'मृण्मयी योनि'[६] के रूप में उठ खड़ी होती है। वस्तुतः वह हिरण्मयी योनि है, परन्तु यज्ञ की प्रक्रिया में ऊर्ध्वं आरोहण के निमित्त उसे मृण्मयी होना पड़ता है।

अग्नि-प्रजापति की संरचना : प्रतीक अर्थ

सुपर्ण प्रजापति—

अग्नि की संरचना सुपर्ण पक्षी की प्रतिकृति के रूप में की जाती है[७], इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। ऋग्वेद में सुपर्ण का अनेकत्र वर्णन है। एक स्थान

५७-६०, आइ० जे० एस० तारापोरेवाला, सम वैदिक वर्डस् व्यू इन् दि लाइट आफ दि गाथाज़ ऐण्ड अदर अवेस्ता, जर्नल् आफ् बिहार रिसर्च सोसाइटी, २६, पृ० १२१-१२८; बे० श्लेराथ, आल्ट्-इण्डिश-असु आवेस्टिश् अहु—उण्ड ऐह्रुलिख क्लिन्गेण्डे व्योर्टर्, प्रतिदानम्, १९६८, पृ० १४२-१५३।

[१] वा० सं०, ११.६९—उव्वट-महीधर-प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा। मायाशब्द के विभिन्न प्रयोगों एवं अर्थों के लिये द्र० खोंदा, दि "ओरीजिनल्" सेंस ऐण्ड दि इटीमालाजी आफ् संस्कृत माया, फोर स्टडीज् इन् दि लैंग्वेज आफ् दि वेद, मूर्ता ऐण्ड कम्पनी, दि हैग, १९५९, पृ० ११९-१९४।

[२] श० ब्रा०, ६.१.२.३६।

[३] तदेव, ३.६.२.२—वागेव सुपर्णी (माया)। द्र०, बी० ऐसर्स, वाक्, ग्रोनिन्गंन्, १९५२, पृ० ९१; खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० ३०४।

[४] वा० सं०, २१.३२—पुरीष्योऽसि विश्वभराः; तु०, तै० सं०, ४.१.३.२; का० सं०, १६.३, मै० सं०, २.७.३।

[५] वा० सं०, ११.६४—उत्थाय बृहती भव, तु०, तै० सं०, ४.१.६.३, का० सं०, १६.६; मै० सं०, २.७.६, द्र०, खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० १९५।

[६] वा० सं०, ११.५९—उखां मृण्मयीं योनिम्। तु०, तै० सं०, ४.१.५.४, का० सं०, १६.५, मै० सं०, तदेव।

[७] श०ब्रा०, ६.१.२.३६; ७.२.५-८; ध्यातव्य है कि कृष्णयजुर्वेद-परम्परा के ब्राह्मण-ग्रन्थों में पक्षी के नाम का अनुल्लेख है परन्तु पक्षी के रूप में अग्निचयन की संरचना के विधान का

पर सविता को सुपर्ण कहा गया है—सुपर्ण के रूप में सविता ने सारे लोकों को प्रकाशित कर दिया[1]। अन्यत्र सुपर्ण को परम सत्ता के रूप में प्रदर्शित किया गया—अद्वितीय सुपर्ण समुद्र में प्रविष्ट हुआ है, जो इस सारी सृष्टि को देख रहा है[2]। अश्वत्थ के महान् वृक्ष पर रसरूपी, सयुज् तथा सखा दो सुपर्णों की स्थिति दरसायी गयी है[3]। अन्यत्र सुपर्ण को महान् दिव्य, सर्वज्ञ तथा द्युलोक में उड़ने वाले बृहत् पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है[4]। प्राण एवं प्रजापति के रूप में स्थित तथा समीकृत अग्नि का सुपर्ण रूप परम सत्ता का अभिव्यंजक है। अतएव ऋक्संहिता का कथन है कि अकेला सुपर्ण ही महासत्ता के रूप में स्थित है। मेधावी एवं कवि उसे ही अनेक रूपों में कल्पित करते हैं[5]। इसी दृष्टि से शतपथब्राह्मण से बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में परम सत्ता ने सभी लोकों, मनुष्यों, पशुओं एवं सभी अस्तित्वों के पुर (शरीर) की संरचना कर स्वयं पक्षी बनकर उनमें प्रविष्ट हो

स्पष्ट उल्लेख है, द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.६.१०.१; का० सं० ब्रा०, २२.४; मै० सं० ब्रा० ३.४.८; द्र०, स्टेलाकमरिश, दि हिन्दू टैम्पल, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, १९४६, भाग १, पृ० २६ तथा पा० टि० १२, सुपर्ण शब्द की व्युत्पत्ति के लिये द्र०, बेल्लिकोथ रामचन्द्र शर्मा, रिफ्लेक्शन् आन् सुपर्ण इन् दि वेदज़, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, २२, १९६१ पृ० १६४-१९१, तदेव, आन् सुपर्ण—इन् दि ऋग्वेद, भारतीय विद्या, २२, १९६२; सुपर्ण ही अनुवर्ती गरुत्मान् है, द्र०, ए० सदाशिव डांगे, एबाउट दि वर्डस गरुत् ऐण्ड गरुत्मान् इन् ऋग्वेद, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, ३९(१-२), १९६३, पृ० १३४-१३७; डब्ल्यू० रुबेन, आन् गरुड, जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, २७(४), १९१४, पृ० ४८५ आदि, के० एन० दवे, दि गोल्डेन ईगल ऐण्ड दि आरिओल इन दि वेदज् ऐण्ड पुराणज़, प्रोसीडिंग आफ दि आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस, १३, खण्ड २, नागपुर, १९५१, पृ० ८३-९०, का यह मत कि सुपर्ण 'आरिओल' (एक अमेरिकी पक्षी कृष्ण-पीतवर्णी कांचन-सा है) हैं, मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि सुपर्ण पक्षी भारत में उपलब्ध है, द्र०, चिन्नस्वामी, यज्ञतत्त्वप्रकाश, १९५३, पृ० १०४, पा० टि० १।

[1] ऋ० सं०, १.३५.७—वि सु॑प॒र्णा अ॒न्तरि॑क्षाण्यख्यत्, तु०, तै० ब्रा०, २.८.६.२।

[2] ऋ० सं०, १०.११४.४—ए॑कः सु॒प॒र्णः स स॑मुद्रमावि॑वेश॒ स इ॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ वि॑च॑ष्टे, तु०, ऐ० आ०, ३.१.६.१५, निरुक्त, १०.४६।

[3] ऋ० सं०, १.१६४.२०—द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑षस्वजाते, तु०, अ० सं०, ९.९.२०, मु० उ०, ३.१.१, निरुक्त, १४.३०, द्र०, पे० थीमे, उण्टर ज़ूखुन्गेन त्सुर वोर्टकुण्डे उण्ड आउसलेगुन्ग डेस रिग्वेदा, माक्स नी मेयर फेरलाग (हालिशे मोनोग्राफियन ७) हाले/ओ ए ज़ाल्ले, १९४९; सुकुमार सेन, द्वा सुपर्णा, जे० एन्० बनर्जी फिलीसिटेशन् वाल्यूम, १९६०।

[4] अ० सं०, ४.१४.६, १३.२.३०, ३१-३३, ३६, ३७, १२.३.३८।

[5] ऋ० सं०, १०.११४ ५—सु॒प॒र्णं विप्रा॑ः क॒वयो॒ वचो॑भिरेकं सन्तं॑ बहु॒धा क॑ल्पयन्ति।

गया[1] । इसी कारण से परमसत्ता सुपर्ण को पुरुष अभिधान मिला है[2] । यह सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक जगत् कार्य-कारण के साथ उस पक्षि-पुरुष से आवृत तथा व्याप्त है[3] ।

प्रजापति पुरुष, वृषभ, अश्व, अवि तथा अज पशुओं के रूप के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति न कर सका[4] । तदनन्तर उसने स्वयं को पक्षी के रूप में देखा और उसी रूप में अग्नि की संरचना की[5] । प्रारम्भ में अग्निचयन की रचना के बिना पंख पसारे पक्षी के रूप में की गयी । फलस्वरूप वह उड़ न सका और स्वर्गलोक की ओर जा भी न सका । अन्ततः उड़ते हुए पक्षी के रूप में अग्नि की संरचना की गयी और इसके द्वारा प्रजापति स्वर्गलोक में उड़ कर पहुँच गया[6] । अतएव उड़ते हुए सुपर्ण पक्षी की आकृति का ही अग्नि का चयन किया जाता है ।

यह सुपर्ण त्रयीविद्या का साक्षात् प्रतिरूप है । गार्हपत्य अग्नि में इसे गर्भ में स्थापित करते समय विनियुक्त मन्त्र में इनके विद्यामय रूप का वर्णन उपलब्ध है—हे अग्नि ! तुम गरुत्मान् सुपर्ण हो । त्रिवृत् स्तोम तुम्हारा शिर है, गायत्र साम तुम्हारा नेत्र है, बृहत् तथा रथन्तर साम तुम्हारे पंख हैं, (पंचविंश) स्तोम तुम्हारी आत्मा है, (सभी) छन्द तुम्हारे अंग हैं, (सभी) यजुष् तुम्हारा नाम है, वामदेव्य साम तुम्हारी देह है, यज्ञायज्ञिय साम तुम्हारी पूँछ है एवं (सभी) धिष्ण्य अग्नि तुम्हारे पंजे हैं[7] । इस कथन से प्रजापति की वागत्मकता स्वयंसिद्ध है । अग्निचयन के अग्रप्रतिमानीय इतिहास में प्रजापति के द्वारा त्रयीविद्या के रूप में वाक् की सृष्टि का कथन किया गया है ।

---

[1] श० ब्रा०, १४.४.५.१८ । बृ० उ०, २.५.१८—पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥ द्र०, वासुदेव ब्रह्म, वासुदेवप्रकाशिका, शङ्कर, बृ० उ०, तदेव ।

[2] तदेव—स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः, तु०, श० ब्रा०, ११.६.२ १, गो० पू०, १.३९ ।

[3] तदेव ।

[4] श० ब्रा०, १०.२.१.१—प्रजापतिः स्वर्गं लोकमजिगांसत्, सर्वे वै पशवः प्रजापतिः—पुरुषोऽश्वोगौरविरजः, स एते रूपेनाशक्नोत् ।

[5] तदेव—स एतं वयोविधमात्मानमपश्यत् । अग्निं तं व्यधत्त ।

[6] तदेव ।

[7] वा० सं०, १२.४—सुपर्णोऽसिꣳ गरुत्मास्त्रिꣳवृत् ते शिरो गायत्रं ते चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम आत्मा छन्दाꣳस्ययंगानि यजूंषि नाम । साम ते तनूवामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्णयाः शफाः । तु०, तै० सं०, ४.१.१०.४; का० सं०, १६,८; मै० सं०, ३.३.८; द्र०, श० ब्रा०, ६.७.२ ६; तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०.५; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१; ध्यातव्य है कि महीधर ने 'स्तोम आत्मा यजुष् में निहित 'स्तोम' का अर्थ 'पञ्चदश स्तोम' किया है (वा० सं०, तदेव), जो त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि याज्ञवल्क्य (श० ब्रा०, तदेव) तथा उव्वट ने इसका अर्थ पञ्चविंश स्तोम किया है ।

इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है[१]। 'चितेनिधेय' अग्नि के आधान के समय अग्नि को संबोधित करते हुए मन्त्र[२] में कहा गया है कि हे अग्नि! तुम गरुत्मान् सुपर्ण हो, पृथिवी पर बैठो, अपने प्रकाश से अन्तरिक्ष को भर दो, अपनी शक्ति से द्युलोक को ऊपर स्तब्ध कर दो तथा अपने तेज से दिशाओं को दृढ़ बना दो। अग्नि-योग में विनियुक्त मन्त्र का प्रतिपादन है कि अग्नि विशाल दिव्य सुपर्ण पक्षी है। यजमान इसके माध्यम से स्वर्गलोक में आरोहण करता हुआ नाकलोक से आदित्य के सन्तापरहित लोक में पहुँच जायेगा[३]। अग्नि के दोनों पंख अजर एवं उड़ने में समर्थ हैं, जिनके द्वारा वह राक्षसों को दूर भगाता है। यजमान सुपर्ण अग्नि के दोनों पंखो द्वारा सुकृतियों के लोक में पहुँचता है, जहाँ प्रथम एवं प्राचीन ऋषि गये हैं[४]। ऐश्वर्यवान्, गतिशील, ऋत से युक्त तथा स्वर्णपंखी सबका भरण-पोषण करने वाला यह पक्षी उत्तम एवं महान् लोक में ध्रुव रूप में स्थित है[५]। इस प्रकार प्रजापति अग्नि सुपर्ण की अग्निचयन की संरचना में अभिव्यक्ति की गयी है। ध्यातव्य है कि यह सुपर्ण-संरचना प्राण को ही संरचित करती है, क्योंकि स्वयं प्रजापति इसी रूप के द्वारा प्राण बना था और देव इसी रूप की उपलब्धि कर अमृतत्व की स्थिति में पहुँचे थे[६]।

---

[१] इसी अध्याय में पहले द्रष्टव्य।

[२] वा० सं०, १७.७२—सुप॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द्। भा॒सान्तरि॑क्ष॒मापृ॑ण॒, ज्योति॑षा॒ दिव॒मुत्त॑मान॒, तेज॑सो॒ दिश उदꣳह॒ ॥ तु०, तै० सं०, ४.६.१०.३; का० सं०, १८.४; मै० सं०, २.१०.६; क० सं०, २८.४; श० ब्रा०, ९.२.३.३४—एतद् वा एनमदो विकृत्या सुपर्णं गरुत्मन्तं विकरोति, ते सुपर्णं गरुत्मन्तं चिनोति, तं सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वान्ततो निदधाति। द्र०, का० सं० ब्रा०, २१.९, मै० सं० ब्रा०, ३.३.९।

[३] वा० सं०, १८.५१—अ॒ग्निं यु॑नज्मि॒ शव॑सा घृ॒तेन॑ दि॒वꣳ॒ सु॑प॒र्णं वय॑सा बृ॒हन्त॑म्।
तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॒ꣳ॒ स्वो॒रुहा॑णा॒ अधि॒नाक॑मुत्त॒मम् ॥
तु०, तै० सं०, ४.७.१३.१, का० सं०, १८.१५, मै० सं०, २.१२.३, क० सं०, २९.४।

[४] वा० सं०, १८.५२—इ॒मौ ते॑ प॒क्षाव॒जरौ॑ प॒त॒त्रिणौ॒ याभ्या॒ꣳ॒ रक्षा॑ꣳस्यप॒हस्य॑ग्ने।
ताभ्यां पतेम सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒ ऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः ॥
तु०, तै० सं०, तदेव, का० सं०, तदेव, क० सं०, तदेव।

[५] वा० सं०, १८.५३—इन्दु दक्षः॑ श्ये॒न ऋ॒तावा॒ हिर॑ण्यपक्षाः शकु॒नो भु॑र॒ण्युः।
म॒हान् स॒धस॑थे ध्रु॒व आ निष॑त्तो॒······· ॥
तु०, तै० सं०, तदेव, का० सं०, तदेव, मै० सं०, तदेव, क० सं०, तदेव।

[६] श० ब्रा०, ६.१.२.३६।

अग्नि पशु है[१]। प्रजापति विसंहत होने के अनन्तर संधित्सा के लिये जब अग्नि का अन्वेषण कर रहा था, तब उसने उसे पुरुष, अश्व आदि पशुओं में प्राप्त किया था[२]। तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण में अग्नि को 'कुलगोप व्याघ्र' कहा गया है[३]। वय शब्द के द्वारा पशु एवं पक्षी दोनों की अभिव्यक्ति होती है। यजुर्वेदीय-संहिताओं में अज, मेष, पुरुष, व्याघ्र, सिंह, साँड़, वृषभ, अनड्वान, धेनु आदि को 'वय' कहा[४] गया है। पहले यह कहा जा चुका है कि प्रजापति जब पुरुष, अश्व आदि पशुओं के रूप में स्वर्ग को नहीं पा सका, तब उसने अपने-आप को सुपर्ण के रूप में देखा था और इसी रूप में वह स्वर्ग में पहुँच सका। अतएव प्रजापति का संधान सुपर्ण के रूप में किया जाता है और उसी से सम्बन्धित मन्त्र भी मिलते हैं[५]। विस्रस्त प्रजापति स्वयं पुरुष है, अतएव चयन में इन रूपाकारों को प्रतीकायित किया जाता।

आंगिक संरचना की दृष्टि से चयन में उपहित ईंटें अस्थि की प्रतीक हैं और पुरीष मांस का[६]। ईंटों के आधान में विनियुक्त मन्त्र मज्जा को रूपायित करते हैं। सादन-मन्त्र मांस हैं एवं सूददोहमन्त्र चर्म है। इसी प्रकार पुरीष-मन्त्र लोम के रूप हैं[७]। प्रथम चिति अवाङ्प्राण एवं चरण है। इसमें आहित ईंटें अस्थि हैं। इस चिति को आच्छादित करने वाला पुरीष मांस है[८]। इस पुरुष का चरण से ऊपर तथा नाभि से नीचे का भाग द्वितीय चिति में रूपायित किया गया है। इसमें आहित ईंटें इस भाग की अस्थियाँ हैं। पुरीष मांस है[९]। तृतीय चिति इसका मध्य-भाग है और चतुर्थी चिति नाभि के ऊपर ग्रीवा के नीचे का भाग है[१०]। छठीं चिति इसकी ग्रीवा

---

१. श० ब्रा०, ७.५.१.३५, का० सं० ब्रा०, २०.९.२१.४, मैं० सं० ब्रा०, ३ २.१, ऐ० ब्रा०, २.६, तै० ब्रा०, १.१.४.३, द्र०, एफ० डी० के० बाश, गोल्डेन जर्म, १९६०, पृ० १०९।

२. श० ब्रा०, ६.२.१.१-४।

३. तै० सं० ब्रा०, ६.२.५.५—एष वै व्याघ्रः कुलगोपो यदग्निः।

४. वा० सं०, १४.९.१०—वस्तो वयः, वृष्णिर्वयः, पुरुषो वयः, व्याघ्रो वयः, सिꣳहो वयः, उक्षा वयः, अनड्वान् वयः, धेनुर्वयः; तु०, तै० सं०, ४.३.५; का० सं०, १७.२; मैं० सं०, २.८.२, क० सं०, २६.१।

५. वा० सं०, १२.४, १७.७२; १८.५१; तै० सं०, ४.१.१०.४, ६.५.३, ७.१३.१; का० सं०, १६.८; १८.४, १५; मै० सं०, २.७.८, १०.६, १२.३; क० सं०, २८.४, २९.४।

६. श० ब्रा०, ८.१.४.५—इष्टकायामिष्टकायां संस्कृतौ भवति; द्र०, ८.७.२.१०, ७.३.१, ७.४.१९, ७.३.१।

७. श० ब्रा०, ८.१.४.५।

८. तदेव—८.७.४.१९—यैवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ्प्राणस्तत् प्रथमाचितिः, मांसं पुरीषम्····।

९. तदेव—८.७ ४.२०—यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवचीनं मध्यात् तद् द्वितीया चितिः······।

१०. तदेव, ८.७ ४.२१।

है। सातवीं चिति प्राण है। इसी प्रकार प्रथम चिति में आहित स्वयमातृण्णा इस अग्नि पशु का अवाङ्प्राण, द्वियजुष्, श्रोणी, रेतःसिच् ईंटें मेरुदण्ड, विश्वज्योति वक्ष-अस्थि, ऋतव्या ककुद्, अषाढा ईंटें ग्रीवा एवं कूर्म शिर को प्रतीकायित करता है। कूर्मस्थ प्राण इसके शीर्षण्य प्राण हैं[1]।

उखा उदर, उलूखल योनि, मुसल प्रजननेन्द्रिय का रूप है[2]। छन्दस्या नामक ईंटें अग्नि पशु की अंगुलियाँ हैं[3]। द्वितीय चिति में उपहित वयस्या ईंटों में से पूर्व में उपहित ईंटें शिर, दक्षिण तथा उत्तर में आहित ईंटें शरीर एवं पश्चवर्ती ईंटें पूँछ को प्रतीकायित करती हैं[4]। आश्विनी ईंटें प्रजापति के चरण के ऊपर एवं नाभि के नीचे स्थित भाग को अभिव्यक्त करती हैं[5]। तृतीय चिति में आहित प्राणभृत् ईंटों में से पूर्व में आहित सात ईंटें पूर्वस्थ प्राणों को प्रतीकायित करती हैं[6]। इनमें चार प्राण दोनों बाहुओं, शिर, ग्रीवा, तथा नाभि के ऊपरी भाग के प्राण हैं[7]। पश्चिम में आहित सात ईंटें चरण की मध्यसन्धि के ऊपर एवं नीचे स्थिति चार प्राण, चरण में दो प्राण तथा एक नाभि के अधोभाग में स्थित प्राण की रूप हैं[8]। इस प्रकार पशु अग्नि के प्रत्येक अंग में प्राणों को प्रतिरूपायित किया जाता है। इसी प्रकार चतुर्थी चिति में स्तोमा ईंटों के द्वारा शरीर में स्थित प्राणों को प्रतिरूपायित किया गया है[9]।

अग्नि के शरीर की तीन सौ साठ अस्थियों को चयन में प्रयुक्त तीन सौ साठ परिश्रित (छोटे-छोटे पत्थर या कंकड़) प्रतिरूपायित करती हैं। शरीर में तीन सौ साठ हड्डियाँ होती हैं[10]। चयन में प्रयुक्त तीन सौ पंचानबे यजुष्मती (यजुषों द्वारा उपहित)

---

[1] तदेव, ७.५.१.३५—पशुरेष यदग्निः, सोऽत्रैव कृत्स्नः संस्कृतः, तस्यावाङ्प्राणः, स्वयमातृण्णा, श्रोणी द्वियजुः, पृष्टयो रेतः सिचौ, कीकसा विश्वज्योतिः, ककुदमृतव्ये, ग्रीवा अषाढा, शिरः कूर्मः। ये कूर्मे प्राणाः—ये शीर्षन् प्राणास्ते ते।

[2] तदेव, ७.५.२.३८—उदरमुखा, योनिरुलूखलम्, शिश्नं मुसलम्।

[3] तदेव, ७.५.२.६२।

[4] तदेव, ८.२.४.१७।

[5] तदेव. ८ २.१.३, ११, १५, २.२.६, २.४.१७-१८, २०।

[6] श० ब्रा०, ८.२.४ २—तद् याः सप्त पुरस्तादुपदधाति, य एवेमे सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानमस्मिन्नेतद् दधाति।

[7] तदेव, ८.२.४.४—सप्त वा इमे पुरस्तात् प्राणाः, चत्वारि दौर्बाहवाणि, शिरः, ग्रीवा, उदूर्ध्वं नाभेस्तत् सप्तमम्।

[8] तदेव, ८.२.४.५—याः सप्त पश्चात्, सप्त वा इमे पश्चात् प्राणाः, चत्वार्यूर्वष्ठीवानि, द्वे प्रतिष्ठे, पदवाङ्नाभेस्तत् सप्तमम्।

[9] तदेव, ८.४.१.५—प्राणा वै स्तोमाः।

[10] श० ब्रा०, १०.५.४.१२—तस्यास्थीन्येव परिश्रितः, ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति, षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्यास्थीनि।

ईंटों में से तीन सौ साठ ईंटें, प्रजापति के शरीर में स्थित तीन सौ साठ मज्जाओं की प्रतीक हैं[१]। अवशिष्ट पैंतीस ईंटें एवं पुरीष में से तीस यजुष्मती ईंटें शरीर को अभिव्यक्त करती हैं[२]। दो ईंटें चरण, दो ईंटें शिर के दो कपालों तथा दो ईंटें प्राणों को प्रतिरूपायित करती हैं[३]। सूददोह-मन्त्र अग्नितनु के सभी संतत पोरों को अभिव्यंजित करते हैं[४]। शरीर को आच्छादित करने वाले लोम त्वचा एवं मांस को पुरीष द्योतित करता है[५]। इस पशु की पेय आहुतियाँ हैं और अन्न चयन में विनियोजित समिधाएँ हैं[६]। चयन में प्रयुक्त सभी लोकम्पृणा ईंटें सम्पूर्ण शरीर को अभिव्यक्त करती हैं[७]। इस प्रतीक-विधान के द्वारा अग्नि प्रजापति के सुपर्ण, पशु एवं पुरुष के शरीर की संरचना की जाती है। ध्यातव्य है कि इसी में यजमान के भी प्रत्येक अंग संहत एवं अभिसंस्कृत होकर देवत्व की उपलब्धि करते हैं।

षोडशकल प्रजापति—

अनेक स्थलों पर प्रतिपादित किया गया है कि प्रजापति अथवा पुरुष सोलह कलाओं से युक्त हैं[८]। दैवी सन्दर्भ में प्रयुक्त कला शब्द मानवी सन्दर्भ में अक्षर है[९]। प्रजापति के शरीर में लोम, त्वचा, असृक् (रक्त), मेद, (चर्बी), मांस, स्नावा (स्नायु), अस्थि और मज्जा आठ पदार्थ होते हैं। ये पदार्थ सभी प्राणियों में स्थित हैं। प्रत्येक पदार्थ के वाचक पद में दो अक्षर हैं। अतएव इन आठ पदार्थों के पदों में स्थित सोलह अक्षर ही सोलह कलाएँ हैं[१०]। प्रजापति का यह भौतिक शरीर है, इसे जीवन्त रखने के लिये इनके बीच प्रजापति स्वयं प्राणरूप में संचरित रहता है[११]। प्रथम चिति

---

१. तदेव—मज्जानो यजुष्मत्य इष्टकाः, ताः षष्ठिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति, षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानः।

२. तदेव—या अमूः षट्त्रिंशदिष्टका अतियन्ति, यः स आत्मा, प्राणः, स तस्य त्रिंशदात्मन् विधाः।

३. तदेव—प्रतिष्ठायां द्वे, प्राणेषु द्वे, शीर्षन् द्वे, तद् यत् ते द्वे भवतः, द्विकपालं हि शिरः।

४. तदेव—येनेमानि पर्वाणि संततानि तत् सूददोहाः।

५. तदेव—एतत् त्रयं येनायमात्मा प्रच्छन्नः, लोमत्वङ्मांसमिति, तत् पुरीषम्।

६. तदेव—यत् पिबति ता आहुतयः, यदश्नाति ताः समिधः।

७ तदेव—यदात्मेत्याख्यायते, तल्लोकम्पृणा।

८. श० ब्रा०, ७.२.२.१७—षोडशकलः प्रजापतिः; तु०, तदेव, १४.४.३.२२; ११.१.६.३६; तै० ब्रा०, १.७.५.५; जै० उ०, १.४८.७; ४.२५.१-२।

९. श० ब्रा०, १०.४.१.१६—यो वै कला मनुष्याणामक्षरं तद् देवानाम्।

१०. तदेव, १० ४.१.१७—तद् वै लोमेति द्वे अक्षरे, त्वगिति द्वे, असृगिति द्वे, मेद इति द्वे मांसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, मज्जेति द्वे, ताः षोडश कलाः।

११. तदेव—य एतदन्तरेण प्राणः संचरति, स एव सप्तदशः प्रजापतिः।

प्रजापति की लोमकला है[1]। प्रथम चिति में उपहित दूर्वा लोमों का ही प्रतिरूप है[2]। प्रथम चिति पर आहित पुरीष भी लोम[3] है। इसी प्रकार से सुपर्ण रूप को रूपायित करने के लिये उसके वाम एवं दक्षिण पार्श्व में रखी गयी सभी ईंटें लोम को ही प्रतिरूपायित करती हैं। द्वितीय चिति प्रजापति की त्वचा है[4]। द्वितीय चिति के ऊपर डाला गया पुरीष भी त्वचा को प्रतिरूपायित करता है[5]। त्वचा प्रजापति की मर्त्य-तनु है[6]। इसी प्रकार सूददोह-मन्त्र भी त्वचा है[7]। छठीं चिति भी त्वचास्थानीय[8] है। छठीं चिति को आच्छादित करने के लिये पुरीष रुधिर की संरचना करता है[9]। प्रथम चिति एवं पंचमी चिति पर डाला गया पुरीष मेद का प्रतीक है[10]। तृतीय चिति मांस है[11]। पुरीष भी मांस है[12]। चतुर्थी चिति पर डाले गये पुरीष को मांस बताया गया है[13]। सादन-मन्त्र भी मांस का अभिव्यंजक[14] है। तृतीय चिति पर आहित पुरीष प्रजापति के स्नायु-समुदाय को अभिव्यक्त करता है[15]। सभी ईंटें अस्थि को प्रतीकायित करती हैं और द्वितीय चिति पर आहित पुरीष भी अस्थि ही है[16]। पाँचवीं चिति मज्जा-स्थानीय है[17]। इसी प्रकार अग्निचयन में विनियोजित सभी यजुष् भी मज्जा को प्रतीकायित करते हैं[18]।

---

१. तदेव, ६.१.२.१७; १०.१.३.४; १०.४.१.१६-१७। २. तदेव, ७.४.२.११-१५।
३. तदेव, ९.१.१.१०; १०.१.३.४-५। ४. श० ब्रा०, ६ १.२.१७, १०.४.१.१७।
५. तदेव, १०.१.३.५। ६. तदेव, १०.१.३.४। ७. तदेव, ८.१.४.५।
८. श० ब्रा०, १०.१.४.२-७। ९. तदेव, १०.१.४.७। १०. तदेव, १०.१.४.२,६।
११. तदेव, ६.१.२.१७; १०.१.३.४-५। १२. तदेव, ८.७.४.१९-२१।
१३. तदेव, १०.१.४.२-७। १४. तदेव, ८.१.४.५। १५. तदेव, १०.१.४४।
१६. तदेव, ८.७.२.१०—अस्थीनि वा इष्टकाः; तु०, ८.७.३.१; ७.४.१९।
१७. तदेव, ६.१.२.१७।
१८. तदेव, ८.१.४.५; ध्यातव्य है कि प्रो० जी० आर० शर्मा ए० कौ०—पृ० १७१, १७५, १७८, १८२, १८७—में उपरितन संदर्भों के सहारे पृ० ८७-१२६ में यह प्रतिपादन करने का अथक प्रयास करते हैं कि अग्निचयन में ईंटों के स्थान पर पुरुष एवं अनेक पशुवों की हड्डियों का प्रयोग किया जाता है। उनका यह निष्कर्ष भाषा एवं उसकी शैली के अज्ञान पर निर्भर है। प्रत्येक यज्ञ पुरुषविध होता है, जो यज्ञ के अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) पौरुष यज्ञ (ऋ० सं० १०.९०) का अनुकरण है। यज्ञ में न केवल विस्रस्त प्रजापति-पुरुष के प्रत्येक अंग का पुनःसंधान किया जाता है, अपितु यजमान के शरीर के भी प्रत्येक अङ्ग को अभिसंस्कृत किया जाता है, (द्र०, श० ब्रा०, ११.२.७.१३; आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञः सेल्फ सैक्रीफाइस, से० पे० २, पृ० १०७-१४७)। इस प्रकार की यज्ञप्रक्रिया से निःसृत होने के अनन्तर ही यजमान का यज्ञ से जन्म होता है (श० ब्रा०, ११.२.१.१)। 'अस्थीनि वा इष्टकाः' (श० ब्रा०, ८.७.२.१० आदि) का यदि यह अर्थ किया जायेगा कि अस्थि ईंटें हैं तब तो "योषा वै वेदिः" (श० ब्रा०, १.३.३.८; १.९.२.२१,२४; १.२.५.१५ आदि) जैसे वाक्यों का अर्थ, "नारी वेदि है",

अन्य कई अनुष्ठानों में भी षोडशकल प्रजापति को रूपायित किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार उखा-संभरण के पूर्व आठ बार में गृहीत आज्य द्वारा दी गयी सावित्र आहुति में विनियुक्त होने वाले आठ मन्त्र प्रजापति की प्राथमिक आठ कलाओं को द्योतित करते हैं[1]। इसी प्रकार सोलह बार गृहीत आज्य के द्वारा विश्वकर्मा देवता को दी गयी दो आहुतियों में विनियुक्त सोलह मन्त्रों में से आठ मन्त्र आठ उत्तर-कलाओं की अभिव्यक्ति करते हैं[2]। इस प्रकार प्रजापति की सोलह कलाओं में आठ सावित्री तथा आठ वैश्वकर्मणी कलाएँ हैं। सभी ब्रह्माण्डीय पदार्थों को प्रणोदित एवं प्रसूत करने वाली तथा सकल कर्मों की विधायिका कलाओं का पुंजीभूत रूप प्रजापति में समवेत है। प्रजापति ही वह शक्ति है, जो ब्रह्माण्ड को प्रेरित करती है और कर्म में व्यापृत करती है। अग्निक्षेत्र की जुताई में सोलह कूँड़ बनाये जाते हैं। ये कूँड़ प्रजापति की सोलह कलाओं को प्रतिरूपायित करते हैं[3]। सोमयागों में ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्ता, अच्छावाक, नेष्टा, अग्नीत्, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत् एवं उन्नेता नामक सोलह ऋत्विक्[4] प्रजापति की सोलह कलाओं के प्रतीक हैं[5]।

प्रजापति की सोलह कलाओं को उसके सोलह अंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो सकल ब्रह्माण्ड को प्रतिरूपायित करता है[6]। प्रजापति की प्रथम कला भद्र नामक है, जो उसका हृदय है और जो संवत्सर को संरचना करता है[7]। द्वितीय कला का नाम समाप्ति है। यह समाप्ति ही कर्म है और इससे ऋतुओं की सृष्टि होती है[8]। प्रजापति की तीसरी कला का नाम आभूति है, जो सकल अन्नों का रूप है और

कर वेदि के स्थान पर प्रत्येक यज्ञ में किसी नारी को ही लेटाना पड़ेगा एवं सभी यजुष् मज्जा हैं (श० ब्रा०, ८.१.४.५) के अनुसार यजुर्वेद की यज्ञ में कोई आवश्यकता नहीं होगी एवं उनके स्थान पर प्रयोग-हेतु मज्जा का ही संग्रह करना पड़ेगा। इस प्रकार के अर्थ का अन्वेषण कर प्रो० शर्मा भ्रान्ति के द्वार उद्घाटित करते हैं।

१. श० ब्रा०, १०.४.१.१६—स एष संवत्सरः प्रजापतिरग्निः, तस्यार्धमेव सावित्राणि। अष्टावैवास्य कलाः सावित्राणि।

२. तदेव—अष्टौ वैश्वकर्मणानि। सायण, श० ब्रा०, तदेव—षोडशकलः पुरुष इति मनुष्यसंकेते देवैः षोडशाक्षर पुरुष इति व्यवह्रियते।

३. श० ब्रा०, ७.२.२.१७—ता उभय्यः षोडश संपद्यन्ते, षोडशकलः प्रजापतिः, प्रजापतिरग्निः।

४. का० श्रौ०, ७.१.७।

५. श० ब्रा०, १०.४ १.१९—य एष सौम्योऽध्वरोऽथ या अस्य ताः षोडश-कलाः, एते ते षोडशर्त्विजः।

६. जै० उ०, १.१५.१.२।

७. जै० उ०, १.१५.१.३—तद् यद् भद्रम्, हृदयमस्य तत्, ततः संवत्सरमसृजत।

८. तदेव, १.१५.१.४—समाप्तिः कर्मास्य तत्, तत ऋतूनसृजत।

महीनों, पखवारों, अहोरात्रों एवं उषाओं की सृष्टि करती है[१]। प्रजापति की चौथी कला का अभिधान संभूति है, जो उसका रेत है और उससे चन्द्रमा सिरजा जाता है[२]। पाँचवीं कला की आख्या भूत है, जो प्रजापति का प्राण है और इससे वायु की सृष्टि होती है[३]। छठीं कला का नाम सर्व है। सर्व प्रजापति का अपान वायु है और यह पशुओं की सृष्टि का विधायक है[४]। प्रजापति की सातवों कला का अभिधान रूप है। इसका रूप व्यान नामक वायु है, जो प्रजाओं को सिरजता है[५]। अपरिमित नामक प्रजापति की आठवीं कला है, जो इसका मन है। मन दिशाओं की सृष्टि करता है[६]। प्रजापति की नवीं कला का अभिधान श्री है। यह श्री ही प्रजापति की वाक् है और इससे समुद्र की सृष्टि होती है[७]। यश नामक प्रजापति की दसवीं कला है, जो उसका तप है और जिससे अग्नि को सिरजा गया है[८]। प्रजापति की ग्यारहवीं कला का अभिधान नाम है, जो इसका नेत्र है और जो आदित्य का स्रष्टा है[९]। अग्र नामक कला प्रजापति की बारहवीं कला है, जो इसकी मूर्धा है और इससे द्युलोक की सृष्टि[१०] हुई। प्रजापति की तेरहवीं कला का नाम सजात है। इसके अंग ही सजात हैं, जिनसे वनस्पतियों की सृष्टि हुई[११]। चौदहवीं कला का नाम भय है, जो प्रजापति का रोम है और इन्होंने औषधियों को सिरजा[१२]। प्रजापति की पन्द्रहवीं कला का अभिधान महीया है, जो इसका मांस है और जिससे वय का सृजन हुआ[१३]। सोलहवीं कला का नाम रस है[१४], जो प्रशकल प्रजापति हिरण्यमय पुरुष बना, जो ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु का उद्भावक है[१५]। अग्निचयन में इस षोडशकल हिरण्यवपु प्रजापति की संरचना की जाती है, जो उपरितन सन्दर्भों से प्रमाणित होता है।

---

१. तदेव, १.१५.१.५—आभूतिरन्नमस्य तत्, ततो मासानर्धमासानहोरात्राण्युषसोऽसृजत।

२. तदेव, १.१५.१.६,२.१—संभूती रेतोऽस्य तत्, ततश्चन्द्रमसमसृजत।

३. तदेव, १.१५.२.२—भूतं प्राणोऽस्य सः, ततो वायुमसृजत।

४. तदेव, १.१५.२.३—सर्वमपानोऽस्य सः, ततः पशूनसृजत।

५. तदेव, १.१५.२.४—रूपं व्यानोऽस्य सः, ततः प्रजा असृजत।

६. तदेव, १.१५.२.५—अपरिमितं मनोऽस्य तत्, तत दिशोऽसृजत।

७. तदेव, १.१५.२.६—श्रीर्वागस्य सा, वतः समुद्रमसृजत।

८. तदेव, १.१५.२.७—यशस्तपोऽस्य तत्, ततोऽग्निमसृजत।

९. जै० उ०, १.१५.३.१—नाम चक्षुरस्य तत्, तत आदित्यमसृजत।

१०. तदेव, १.१५.३.२—अग्रं मूर्धास्य सः, ततो दिवमसृजत।

११. तदेव, १.१५.३.३—सजाता अङ्गान्यस्य तानि, ततो वनस्पतीनसृजत।

१२. तदेव, १.१५.३.४—पयो लोमान्यस्य तानि, ततो औषधीरसृजत।

१३. तदेव, १.१५.३.५—महीया मांसान्यस्य तानि, ततो वयांस्यसृजत।

१४. तदेव, १.१५.३.६—रसो मज्जास्य सः, ततः पृथिवीमसृजत।

१५. तदेव, १.१५.३.८—स एवैष हिरण्मयः पुरुषः उदतिष्ठत प्रजानां प्रजनयिता। ध्यातव्य है कि इन सोलह कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख अस्पष्टतः पुरुषसूक्त के चतुष्पात् पुरुष में

मर्त्य तथा अमर्त्य प्रजापति—

पहले यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रजापति भी मर्त्य है। वह अपने मर्त्य शरीर को अग्निचयन में अमर्त्य बनाता है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि प्रजापति की आत्मा का अर्ध भाग मर्त्य था और अर्ध अमर्त्य[1]। मृत्यु से भयाक्रान्त होकर उसने अपने सम्पूर्ण शरीर को मिट्टी एवं जल में मिला दिया[2]। प्रजापति के गुप्त हो जाने पर मृत्यु ने देवों से कहा कि मेरा स्रष्टा प्रजापति कहाँ चला गया? देवों ने उत्तर दिया कि वह तुमसे डर कर इस मिट्टी एवं जल में प्रविष्ट हो गया है। तब मृत्यु ने कहा कि हम उसका अन्वेषण कर उसका संभरण करेंगे। मैं उसकी हिंसा नहीं करूँगा। इसीलिये ईंटों से अग्नि का चयन कर प्रजापति का संभरण किया जाता है

उपलब्ध होता है। पहले गणना में चतुष्क पद्धति का प्रयोग होता था, जिसकी पूर्णता सोलह संख्या में पर्यवसित होती थी। अतएव षोडशकल-प्रजापति एवं पुरुष की अवधारणा अस्तित्व में आयी। जै० उ०—४.२५ १-२ में षोडशकल ब्रह्म को अवधारणा भी बनी। छा० उ०, ३.१८.१ में वर्णित चतुष्पाद ब्रह्म के वाक्पाद, चक्षुष्पाद और श्रोत्रपाद हैं, जिन्हें क्रमशः अग्निज्योति, वायुज्योति, आदित्यज्योति तथा दिग्ज्योति बताया गया है (छा० उ०, ३ १८.३-६)। पुनः इन्हें प्रकाशवान् पाद, अनन्तवान् पाद, ज्योतिष्मान् पाद और आयतनवान् पाद नाम से अभिहित किया गया है। प्रत्येक पाद में स्थित चार कलाओं का वर्णन किया गया है। प्रकाशवान् पाद की प्राची, प्रतीची, दक्षिण एवं उदीची दिशाएँ चार कलाएँ हैं। अनन्तवान् पाद की चार कलाएँ—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं समुद्र हैं। ज्योतिष्मान् पाद की चार कलाएँ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तथा विद्युत् हैं। आयतनवान् पाद की चार कलाएँ प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन हैं (द्र०, छा० उ०, ४.४.२.४.५.३; ४.७.४; ४.७.८)। चन्द्रमा एवं भगवान् श्रीकृष्ण में भी ये ही सोलह कलाएँ निहित हैं। वस्तुतः सोलह संख्या सम्पूर्णता की प्रतीक है। शुक्ल पक्ष में दिनों की संख्या पन्द्रह ही है, फिर भी पूर्णिमा के चन्द्र को सोलह कला से युक्त माना जाता है। सोलहवीं कला अनभिव्यक्त रहती है और उसी से पन्द्रह कलाओं का अस्तित्व है। भगवान् कृष्ण भी सोलह कलाओं से समन्वित होने के कारण ही पूर्ण अवतार के अभिधान से अभिहित किये जाते हैं— जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया, श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, सं० १९९९, १-३.१; एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, तदेव, १.३.२८। किसी देवता की षोडशोपचार पूजा की अवधारणा भी षोडशकला की अवधारणा से संपृक्त है। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् अधम षोडशी, मध्यम षोडशी तथा उत्तम षोडशी श्राद्ध में उसके सोलह कलाओं (अंगों) की ही संरचना की जाती है। इस त्रिवृत् संरचना के अनन्तर ही व्यक्ति को पितरों में स्थान मिलता है।

[1] श० ब्रा०, १०.१.३.२—तस्य ह प्रजापतेः, अर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्।

[2] तदेव।

और ईंटें मृत्तिका एवं जल के संयोग से संरचित होती हैं[१]। प्रजापति की पाँच मर्त्य शरीर हैं—लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा तथा पाँच अमर्त्य शरीर हैं—मन, वाक्, प्राण, नेत्र और कान[२]। मर्त्य तनु अग्निचयन की पाँचों पुरीष चितियाँ हैं। इस प्रकार पाँचों चितियों पर आहित पुरीष क्रमशः लोम, त्वचा, मांस, अस्थि तथा मज्जा को प्रतिरूपायित करता है[३]। मन, वाक्, प्राण, नेत्र एवं श्रोत्र के रूप को ईंटों से संरचित पाँचों चितियाँ अभिव्यक्त करती हैं[४]। देवों ने दो अमर्त्य देहों से एक-एक मर्त्य तनु को अमृत-रूप में परिणत किया[५]। पंचमी चिति के उपधान के पश्चात् पुरीष-आधान कर विकर्णी एवं स्वयमातृण्णा को उपहित किया जाता है[६]। तदनन्तर स्वर्णखण्डों के द्वारा अग्निचिति का प्रोक्षण होता है और अग्नि का आधान किया जाता है[७]। यही सप्तमी चिति है। यह अमृत-चिति है[८]। इस प्रकार अमृततनुवों के द्वारा मज्जा के रूप में स्थित पंचमी पुरीषचिति को मर्त्य बनाया जाता है। इस प्रजापति के मर्त्यभाग को अमृतत्व में परिणत किया जाता है[९]। इसी प्रकार से यजमान भी अमृतत्व की उपलब्धि करता है[१०]।

अन्यत्र याज्ञवल्क्य का कथन है कि प्रजापति के प्राण अमृत थे और शरीर मर्त्य था[११]। यजमान की भी यही स्थिति है[१२]। प्रथम चिति प्रजापति का अमर्त्य प्राण है। अतएव अग्निचयन की प्रथम चिति अमृतचिति है[१३]। इस चिति पर आहित पुरीष

---

१. तदेव, १०.१.३.३।

२. श० ब्रा०, १०.१.३.४—पंच मर्त्यास्तन्व आसन्—लोम, त्वक्, मांसमस्थि, मज्जा। अथैता अमृताः—मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम्। द्र०, तदेव, ६ १ २.१७।

३. तदेव, १०.१.३.५—अस्य ताः पंच मर्त्यास्तन्व आसन्नेतास्ताः पुरीषचितयः।

४. तदेव—अथ या अमृताः, एतास्ता इष्टकाचितयः।

५. श० ब्रा०, १०.१.३.६—ते देवा अब्रुवन्, अमृतमिमं करवामेति, तस्यैताभ्याममृताभ्यां तनुभ्यामेतां मर्त्यां तनुं परिगृह्यामृतामकुर्वन्, इष्टकाचितिभ्यां पुरीषचितिं तथा द्वितीयां, तथा तृतीयां, तथा चतुर्थीम्।

६. तदेव, १०.१.३ ७—पंचमीचितिमुपधाय पुरीषं निवपति, तत्र विकर्णी च स्वयमातृण्णां चोपदधाति।

७. तदेव—हिरण्यशकलैः प्रोक्षति, अग्निमभ्यादधाति।

८. तदेव—सा सप्तमी चितिः, तदमृतम्।

९. तदेव—ताभ्यां तनूभ्यामेतां मर्त्यां तनुं परिगृह्यामृतामकुर्वन्-इष्टकाचितिभ्यां पुरीषचितिम्। ततो वै प्रजापतिरमृतोऽभवत्।

१०. तदेव—तथैवैतद् यजमान एतममृतमात्मानं कृत्वा सोऽमृतो भवति।

११. तदेव—१०.१.४.१—तस्य प्राणा एव अमृता आसुः, शरीरं मर्त्यम्।

१२. तदेव।

१३. तदेव, १०.१.४.२—स प्रथमां चितिं चिनोति, सा ह्यस्यैषा प्राण एव। सैषामृतचितिः।

मज्जा का रूप है, जो मर्त्य है[1]। इस प्रकार मर्त्य को अमर्त्य में आहित कर उसे अमृतत्व में पहुँचाया जाता है[2]। द्वितीय चिति प्रजापति का अपान है और यह अमृत है[3]। इस चिति पर उपहित पुरीष अस्थि है, जो मर्त्य है[4]। इस प्रकार मर्त्य को अमर्त्य में स्थापित किया जाता है। मर्त्य अमर्त्य से संयुक्त होकर अमृतत्व की उपलब्धि करता है[5]। तृतीय चिति प्रजापति का व्यान है और वह अमृत है[6]। इस चिति पर आहित पुरीष स्नायु है, जो मर्त्य है[7]। इस मर्त्य भाग को अमर्त्य में प्रतिष्ठापित कर उसे अमृत बनाया जाता है[8]। चौथी चिति प्रजापति का उदान है और यह अमर्त्य है। यह चिति अमृतचिति है[9]। इस चिति पर डाला गया पुरीष मांस है, जो मर्त्य है[10]। इस मर्त्य मांस को अमर्त्य उदान में स्थापित कर अमृतत्व में पहुँचाया जाता है[11]। पाँचवीं चिति प्रजापति का समान-प्राण है, जो अमर्त्य है। अतएव पंचमी चिति अमृत-चिति है[12]। मर्त्य मेद को अमृत समान में प्रतिष्ठापित कर अमर्त्य का रूप दिया जाता है[13]। छठीं चिति प्रजापति की वाक् है, जो अमृता है और इसी कारण से यह चिति भी अमृता है[14]। इस पर आहित पुरीष रुधिर एवं त्वचा का रूप है[15]। इस मर्त्य रुधिर एवं त्वचा को अमृता वाणी में प्रतिष्ठापित कर अमृतत्व में पहुँचाया जाता है। विकर्णी एवं स्वयमातृण्णा के आधान के पश्चात् स्वर्णशकलों से अग्नि का प्रोक्षण तथा अग्नि का आधान कर अन्ततः प्रजापति की सकल आत्मा को हिरण्मय किया जाता है[16]। अतएव प्रजापति हिरण्मय[17] तथा

---

[1] तदेव—अथ पुरीषं निवपति, तद्धास्यैतन् मज्जैव, तद्वै तन्मर्त्यम् ।

[2] तदेव ।

[3] तदेव, १०.१.४.३—द्वितीयां चितिं चिनोति, सा ह्यस्येषा अपान एव, तद्वै तदमृतम् ।

[4] तदेव—पुरीषं निवपति, तद्धास्यैतदस्थ्यैव, तद्वै तन्मर्त्यम् ।

[5] तदेव—मर्त्यं ह्यस्थि, तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति, तेनास्यैतदमृतं भवति ।

[6] श० ब्रा०, १०.१.४.४—तृतीयां चितिं चिनोति, सा ह्यस्यैषा व्यान एव, सैषामृतचितिः ।

[7] श० ब्रा०—पुरीषं निवपति, तद्धास्यैतत् स्नावैव, तद् वै तन्मर्त्यम् ।

[8] तदेव ।

[9] तदेव, १०.१.४.५—चतुर्थीं चितिं चिनोति, सा हास्यैषोदान एव, सैषामृतचितिः ।

[10] तदेव—पुरीषं निवपति, तद्धास्यैतन्मांसमेव तद्वै तन्मर्त्यम् ।

[11] तदेव ।

[12] तदेव, १०.१.४.६—पञ्चमी चितिं चिनोति, सा हास्यैषा समान एव, सैषामृतचितिः ।

[13] तदेव ।

[14] तदेव, १०.१.४.७—षष्ठीं चितिं चिनोति, सा हास्यैषा वागेव, सैषामृतचितिः ।

[15] तदेव ।

[16] तदेव, १०.१.४.९—विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपधाय हिरण्यशकलैः प्रोक्षत्यग्निमभ्यादधाति, रूपमेव तत्प्रजापतिर्हिरण्मयमन्तत आत्मनोऽकुरुत ।

[17] तदेव—तस्मादाहुर्हिरण्मयः प्रजापतिरिति ।

हिरण्यगर्भ[1] है। यजमान भी अग्निचयन कर हिरणमय वपु धारण कर इस लोक में उत्पन्न होता है[2]। आचार्य शाण्डिल्य एवं उनके शिष्य साप्तरथवाहनि में रूपविषयक संवाद हुआ था[3]। साप्तरथवाहनि के अनुसार अग्नि का जो रोमश भाग है, वही अग्नि का रूप है[4]। शाण्डिल्य का मत है कि अग्निचयन में प्रजापति के जिस रूप की संरचना हुई है, वही प्रजापति का रूप है[5]। रूप लोमक, अलोमक दोनों होता है[6]। अतएव रूप लोमक ही होता है, साप्तरथवाहनि का यह मत उचित नहीं है। इस प्रकार अग्निचयन में प्रजापति अग्नि के मर्त्य एवं अमर्त्य रूपों को प्रतीकायित किया जाता है और उसके मर्त्यभाग को अमर्त्य बनाया जाता है।

संवत्सर-प्रजापति—

अनेक वैदिक सन्दर्भों में प्रजापति को संवत्सर के साथ समीकृत किया गया है[7]। कोई भी अस्तित्व दिक्काल से निरपेक्ष नहीं हो सकता। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में स्थित सकल सत्ता की स्थिति किसी-न-किसी देश एवं काल की अपेक्षा रखती है। वैदिक अवधारणा में दिक्-काल का समवेत रूप संवत्सर है[8]। याज्ञवल्क्य के अनुसार संवत्सर का परोक्ष अभिधान 'संवत्सर' है[9]। प्रजापति सकल सृष्टि को संरचित कर तदनन्तर उसमें अनुस्यूत होकर उसे परिव्याप्त कर लेता है, अतएव उसे 'संवत्सर' अभिधान प्राप्त हुआ[10] है। संवत्सर की नाप-जोख प्रजापति के समान है, अतएव वह

---

१. ऋ० सं०, १०.१२१.१—हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑........।

२. श० ब्रा०, १०.१.४.९—तथैवैतद् यजमानो रूपमेव हिरणमयमन्तत आत्मनः कुरुते।

३. तदेव, १०.१.४.१०।

४. तदेव—लोमानीति साप्तरथवाहनिः।

५. तदेव—रूपमेवास्यैतदिति ह स्माह शाण्डिल्यः।

६. तदेव—१०.१.४.११—स होवाच शाण्डिल्यः, रूपं वाव लोमवद्, रूपमलोमकम्, रूपमेवास्यैतदिति।

७. श० ब्रा०, २.३.३.१८—संवत्सरो त्रै प्रजापतिः, तु०, तदेव, ३.२.२.४; ५.१.२.९; ऐ० ब्रा०, २.१७; तां० ब्रा०, १६.४.१२; गो० उ०, ३.८; कौ० ब्रा०, ६.१५; द्र०, वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदविद्या, रामप्रसाद एण्ड सन्स्, आगरा, १९५९, पृ० १६७ आदि, १७७ आदि।

८. सिद्धेश्वर वर्मा, दि वैदिक कान्सेप्ट आफ़ टाइम, इण्डियन् लिंग्विस्टिक्स, पूना, २७, १९६६, पृ० ११५-१३०; संवत्सर के आनुष्ठानिक महत्त्व के लिये द्र०।

९. श०ब्रा०, ११.१.६.१२—संवत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति। संवत्सर की व्युत्पत्ति के लिये द्र०, एम० ए० महेन्दले, टु साग्डियन् इटॉमालाजीज़्, इण्डो-ईरानीयन् जर्नल् ३(२), पृ० १४२-१४३।

१०. श० ब्रा०, ११.१.६.१२—स ऐक्षत प्रजापतिः, सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति, स संवत्सरोऽभवत्।

उसकी प्रतिमा है[1]। अक्षर-सादृश्य के कारण भी संवत्सर तथा प्रजापति एक हैं; क्योंकि दोनों शब्दों में चार अक्षर हैं[2]।

सत्रह संख्या प्रजापति को अभिव्यक्त करती है[3]। संवत्सर में बारह मास एवं पाँच ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार संख्या-सादृश्य से प्रजापति संवत्सर के साथ समीकृत होता है[4]। संवत्सर के अवयव अहोरात्र की संधि, दिन एवं रात, प्रातःकाल, सायंकाल, पूर्णिमा, अमावास्या एवं ऋतुओं का प्रारम्भिक क्षण (ऋतुमुख) प्रजापति के शरीर के पोर हैं[5]। पुरुषविध प्रजापति को भी संवत्सर के रूप में वर्णित किया गया है[6]। इस संवत्सर-प्रजापति को अग्निचयन में अनेकशः प्रतिरूपायित किया गया है[7]।

शाट्यायनि के अनुसार अग्निचयन में संहत प्रजापति अग्नि संवत्सर है। अग्नि का शिर वसन्त ऋतु, दाहिना पंख ग्रीष्म ऋतु, बायाँ पंख वर्षा ऋतु, मध्य देह शरद् ऋतु और हेमन्त-शिशिर ऋतु पूँछ है[8]। उसमें निहित अग्नि वाक्, प्राण वायु, नेत्र आदित्य, मन चन्द्रमा, श्रोत्र दिशा, आप् मिथुन, तप चरण, मास पर्व, अर्धमास नाड़ी, तथा अहोरात्र तत्प्रयुक्त सुवर्ण आदि के खण्ड हैं[9]। याज्ञवल्क्य का मत है कि अग्निचयन की पाँचों चितियाँ पाँचों ऋतुओं की प्रतिरूप हैं, अतएव अग्नि संवत्सर है। अग्नि की संरचना में छह ईंटों की चितियाँ तथा छह पुरीषचितियाँ होती हैं। इनका योग बारह होता है, जो मासों को प्रतीकायित कर संवत्सर बनता है। अतएव अग्नि संवत्सर है[10]।

---

१. तदेव, ११.१.६.१३—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत् संवत्सरमिति, तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इति।

२. तदेव—यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः, तेन हैवास्यैष प्रतिमा। द्र०, मनोरंजन शास्त्री, वेदाचार्य एण्ड संवत्सर, जर्नल् आफ् दि असम रिसर्च सोसाइटी, गुवाहाटी, १४, १९६०, पृ० ६३-७७।

३. श० ब्रा०, १.५.२.१७—सप्तदशो वै प्रजापतिः; तु०, तदेव, ५.१.२.११; ऐ० ब्रा०, १.१६, ४.२६; तै० ब्रा०, १.३.३.२, ५.१०.६; कौ० ब्रा०, ६.१६.४, ८.२.१०; तां० ब्रा०, २.१०.५, १७.९.४; गो० उ०, १.१९, २.१३, ५.८।

४. श० ब्रा०, १.३.५.१०; ऐ० ब्रा०, २.१।

५. श० ब्रा०, १.६.३.३५-३६।

६. श० ब्रा०, १२.३.२.१; गो० पू०, ५.३.५।

७. सिद्धेश्वर वर्मा, तदेव।

८. श० ब्रा०, १०.४.५.२—शाट्यायनिः ह स्माह, संवत्सर एवाग्निस्तस्य वसन्तः शिरो, ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षा, वर्षा उत्तरः, शरदृतुर्मध्यमात्मा, हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छम्। तु०, श० ब्रा०, ६.२.१.३६; तै० सं० ब्रा०, ५.७.६.६।

९. तदेव।

१०. तदेव, १०.१.४.८—षडिष्टकाचितयः, षट् पुरीषचितयस्तद् द्वादश, द्वादश मासाः संवत्सरः, संवत्सरोऽग्निः।

सुपर्णचिति में कुल तीन सौ साठ परिश्रितों (छोटे-छोटे पत्थर) का प्रयोग किया जाता है[१]। गार्हपत्य अग्नि में इक्कीस परिश्रित, धिष्ण्य अग्नियों में अठहत्तर तथा आहवनीय अग्नि में दो सौ इकसठ परिश्रित चारों ओर लगाये जाते हैं[२]। सभी परिश्रित संवत्सर की तीन सौ सात रातों को प्रतिरूपायित करते हैं[३]। सुपर्णचिति में तीन सौ पंचानबे यजुष्मती (अलग-अलग यजुषों के द्वारा आहित) ईंटों का प्रयोग अग्नि की पाँचों चितियों की संरचना में होता है[४]। प्रथम चिति में अट्ठानबे[५], द्वितीय चिति में इकतालीस[६], तृतीय चिति में एकहत्तर[७], चतुर्थ चिति में सैंतालीस[८] तथा पाँचवीं चिति में एक सौ अड़तीस ईंटों का प्रयोग किया जाता है[९]। इनमें से तीन सौ साठ ईंटें संवत्सर के तीन सौ साठ दिनों को प्रतीकायित करती हैं[१०]। अवशिष्ट पैंतोस यजुष्मती ईंटें और पाँचवीं चिति पर आहित पुरीष की एक संख्या मिलकर छत्तीस संख्या बनती है। यह छत्तीसवीं संख्या संवत्सर के चौबीस मास एवं बारह अर्धमासों को अभिव्यक्त करती है[११]।

संवत्सर प्रजापति का विस्रंसन जब हुआ था, तब उसके शरीर के पोर-पोर अलग हो गये थे[१२]। ये सभी पोर दिन एवं रात थे। अग्निचयन में जिन ईंटों का

---

१. श० ब्रा०, १०.४.३.१३—तद्याः परिश्रितः, ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति। तु०, तदेव, १०.५.४.१०।

२. तदेव, १०.४.३.१३—तासामेकविंशतिं गार्हपत्ये परिश्रयति, ताभ्यां नाशीतिं धिष्ण्येषु, द्वे एकषष्ठे शते आहवनीये।

३. तदेव—तद्याः परिश्रितः रात्रिलोकास्ताः, रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते, रात्रीणां प्रतिमा ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति, षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य रात्रयः। तु०, तदेव, १०.५.४.१०।

४. तदेव, १०.४.३.१९—ताः सर्वाः पंचभिर्न चत्वारिशतानि; तु०, तदेव १०.५.४.१०।

५. तदेव, १०.४.३.१४—द्वाभ्यां न शतं प्रथमा चितिः।

६. तदेव, १०.४.३.१५—एकचत्वारिंशद् द्वितीया चितिः।

७. तदेव, १०.४.३.१६—एकसप्ततिस्तृतीया चितिः।

८. तदेव, १०.४.३.१७—सप्त चत्वारिंशच्चतुर्थी चितिः।

९. तदेव, १०.४.३.१८—अष्टात्रिंशशतं पञ्चमी चितिः।

१०. तदेव, १०.४.३.१९—याः षष्ठिश्च त्रीणि च शतान्यहर्लोकास्ताः, अह्लामेव साप्तिः क्रियते, अह्लां प्रतिमा ताः, ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति, षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहानि। तु०, तदेव, १०.५.४.१०।

११. तदेव—अथ याः षट्त्रिंशत् पुरीषं तासां षट्त्रिंशी, ततो याश्चतुर्विंशतिरर्धमासलोकाः, ता अर्धमासानामेव साप्तिः क्रियते, अर्धमासानां प्रतिमाः, अथ या द्वादशमासलोकाः, ता मासानामेव साप्तिः क्रियते, मासानां प्रतिमाः; तु०, तदेव, १०.५.४.१०।

१२. श० ब्रा०, १०.१.१.२—यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत, संवत्सरः सः, यान्यस्य तानि पर्वाणि व्यस्रंसत्ताहोरात्राणि तानि।

प्रयोग किया जाता है, उन्हीं से पुनः प्रजापति का प्रत्येक पोर संहत किया जाता है, अतएव सभी ईंटें दिन-रात को प्रतिरूपायित करती हैं[1]।

गार्हपत्य अग्नि में इक्कीस लोकम्पृणा, धिष्ण्य अग्नियों में अठहत्तर लोकम्पृणा तथा आहवनीय अग्नि में दस हजार सात सौ एक लोकम्पृणा ईंटों का प्रयोग होता है[2]। संवत्सर में दस हज़ार आठ सौ मुहूर्त होते हैं[3]। इस प्रकार सभी लोकम्पृणा ईंटें संवत्सर के मुहूर्तों को प्रतिरूपायित करती है[4]।

अग्निचयन में विहित उपसद इष्टियाँ संवत्सर के सभी अहोरात्रों की रूप हैं[5]। यदि चयन में चौबीस उपसदों के द्वारा यजन किया जाता है, तो वे संवत्सर के चौबीस अर्धमासों को प्रतिरूपायित करती हैं[6]। द्वादश उपसदों की स्थिति में संवत्सर के बारहमासों को अभिव्यक्त किया जाता है[7]। छह उपसदों के विधान की दशा में संवत्सर की छह ऋतुओं को प्रख्यापित किया जाता है[8]। यदि चयन तीन उपसदों वाला होता है, तो वे तीनों लोकों को प्रतिरूपायित करती हैं[9]। अग्नि की प्रथम चिति की संरचना में तथा उसपर पुरीष-आधान वसन्त ऋतु के दो मासों को अभिव्यक्त[10] करते हैं। द्वितीय चिति की संरचना तथा उस पर पुरीष-उपधान ग्रीष्म ऋतु के दो मासों को प्रतीकायित करते हैं[11]। तृतीय चिति का निर्माण और उस पर पुरीष का डालना वर्षा ऋतु के दो मासों का अभिव्यंजक हैं[12]। चौथी चिति और उस पर पुरीष का आधान शरद् ऋतु के दो मासों के प्रतिरूप है[13]। पंचमी चिति में मास के प्रथम

---

१. तदेव, १०.१.१.३—यान्यस्य तान्यहोरात्राणि पर्वाणि व्यस्रंसन्त, इष्टका एव ताः, तद् यदेता उपदधाति, यान्येवास्य तान्यहोरात्राणि व्यस्रंसन्त, तान्यस्मिन्नेतत्, प्रतिदधाति।

२. तदेव, १०.४.३.२०—एकविंशतिं गार्हपत्य उपदधाति, द्वाभ्यां नाशीतिं धिष्ण्येषु, आहवनीय इतराः।

३. तदेव—दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्ताः।

४. तदेव—या लोकम्पृणाः मुहूर्तलोकास्ता मुहूर्तानामेव सासिः क्रियते, मुहूर्तानां प्रतिमा। तु०, तदेव, १०.४.२.२५।

५. तदेव, १०.२.५.४—अहोरात्राणि वा उपसदः।

६. तदेव, १०.२.५.५—यदि चतुर्विंशतिः, चतुर्विंशतिर्वा अर्धमासाः, अर्धमासा उपसदः।

७. तदेव, १०.२.५-६—यदि द्वादश, वै मासा, मासाः उपसदः।

८. तदेव, १०.२.५.७—यदि षट्, षड्वा ऋतवः, ऋतव उपसदः।

९. तदेव, १०.२.५.८—यदि तिस्रः, त्रयो वा इमे लोकाः, इमे लोका उपसदः।

१०. तदेव, १०.२.५.९—मासं प्रथमा चितिः, मासं पुरीषम्, एतावान् वासन्तिक ऋतौ कामः।

११. श० ब्रा०, १०.२.५.१०—मासं द्वितीया, मासं पुरीषम्, एतावान् ग्रैष्म ऋतौ कामः।

१२. तदेव, १०.२.५.११—मासं तृतीया, मासं पुरीषम्, एतावान् वार्षिक ऋतौ कामः।

१३. तदेव, १०.२.५.१२—मासं चतुर्थी, मासं पुरीषम्, एतावान् शारद ऋतौ कामः।

दिन असपत्ना एवं विराज् ईंटों का आधान होता है[१]। तदनन्तर स्तोमभागा ईंटों को प्रतिदिन एक-एक की संख्या में उपहित किया जाता है[२]। उनमें सादन एवं सूददोह मन्त्रों का एक साथ विनियोग किया जाता है[३]। मास भर तूष्णीं भाव से उन पर पुरीष का आहरण होता है[४]। यह प्रक्रिया हैमन्तिक मासों की द्योतक[५] है। षष्ठो चिति एवं पुरीष का आधान शिशिर ऋतु के दो मासों को प्रतीकायित करते हैं[६]। संवत्सर के अन्तिम तीन दिन शतरुद्रिय, उपवसथ सोमसवन एवं उपसद् इष्टियों का विधान किया जाता है; वे उस मास के दिनों एवं रातों का प्रतिरूपायन करते हैं[७]। इस प्रकार अग्निचयन की संरचना संवत्सर को ही अभिव्यक्ति देती है। संवत्सर प्रजापति है और अग्नि है।

लोकविध प्रजापति—

पहले यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि अग्निचयन में सकल ब्रह्माण्ड की संरचना की जाती है[८]। उसमें तोनों लोक और इनमें संस्थित सभी पदार्थों का ईंटों के रूप में आधान किया जाता है। यहाँ प्रजापति, अग्नि की लोकविधता का वर्णन किया जा रहा है।

प्रजापति का चित अग्नि रूप पृथिवी-लोक है[९]। चयन में प्रयुक्त परिश्रित पृथिवी के चारों ओर स्थित समुद्रों को अभिव्यंजित करती है[१०]। यजुष्मती ईंटों का आधान पृथिवी पर स्थित सभी मनुष्यों का प्रतोक है[११]। सूददोह-मन्त्र पशुओं को प्रतिरूपायित करते हैं[१२]। चयन की चितियों पर आहित पुरीष, तद्हुत आहुतियाँ तथा तद्विनियुक्त समिधाएँ इस धरती की सकल औषधियों तथा वनस्पतियों की प्रतिरूप हैं[१३]। लोकम्पृणा ईंटें पृथिवी-स्थानोय देवता अग्नि को प्रतिरूपायित[१४] करती हैं।

---

१. श० ब्रा०, १०.२.५.१३—पंचम्यै चितैः, असपत्ना विराजश्च प्रथमाहमुपदधाति।

२. तदेव—स्तोमभागा एकैकामन्वहम्।

३. तदेव—ताः सकृत् सादयति, सकृत् सूददोहसाजिवदति।

४. तदेव—तूष्णीं मासं स्तोमभागापुरीषमभिहरन्ति।

५. तदेव—एतावान् हैमन्तिक ऋतौ कामः।

६. तदेव—मासं षष्ठी, मासं पुरीषम्, एतावान् शैशिर ऋतौ कामः।

७. तदेव, १०.२.५.१५—त्रीणि अहान्युपातियन्ति, यदहः शतरुद्रियं जुहोति, यदहरुपवसथः, यदहः प्रसुतः, तद् यत्तेष्वहः सूपसदा चरन्ति, तानि तस्य मासस्याहोरात्राणि।

८. ग्रन्थ के इसी अध्याय में द्रष्टव्य।

९. श० ब्रा०, १०.५.४.१—अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः।

१०. तदेव—तस्याप एव परिश्रितः।

११. तदेव—मनुष्या यजुष्मत्य इष्टकाः।

१२. तदेव—पशवः सूददोहाः।

१३. तदेव—औषधयश्च वनस्पतयश्च, पुरीषमाहुतयः समिधः।

१४. श० ब्रा०, १०.५.४.१—अग्निर्लोकम्पृणा, तद् वा एतत्सर्वमग्निमेवासम्पद्यते।

प्रजापति चित अग्नि के रूप में अन्तरिक्ष-लोक है[१]। चयन में प्रयुक्त परिश्रित द्युलोक एवं पृथ्वीलोक की सन्धि को अभिव्यक्त करती है[२]। चितियों की संरचना में लगायी गयी यजुष्मती ईंटें अन्तरिक्षस्थ वयों की द्योतक हैं[३]। सूददोहमन्त्र अन्तरिक्ष से होने वाली वर्षा को प्रतीकायित करते हैं[४]। चितियों पर डाला गया पुरीष, उस पर दी गयी आहुतियाँ तथा उसमें प्रयुक्त समिधाएँ अन्तरिक्ष में स्थित मरीचियों की अभिव्यंजक हैं[५]। चितियों में प्रयुक्त सभी लोकम्पृणा ईंटें अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता वायु को प्रतीकायित करती हैं[६]।

अग्नि के रूप में चित प्रजापति द्युलोक है[७]। चयन में लगायी गयी परिश्रित द्युलोकस्थ जल की प्रतिरूप है[८]। चिति-संरचना में प्रयुक्त यजुष्मती ईंटें द्युस्थ देवों को प्रतीकायित करती हैं[९]। सूददोहमन्त्र द्युलोकस्थ अन्न है[१०]। चिति पर आहित पुरोष, उस पर की गयी आहुतियां एवं तद्विनियोजित समिधाएँ द्युलोक में स्थित नक्षत्रों की द्योतक हैं[११]। अग्नि की संरचना में लगायी गयी सभी लोकम्पृणा ईंटें द्युस्थानीय आदित्य देवता को प्रतिरूपायित करती हैं[१२]।

द्युलोक में स्थित आदित्य देवता भी अग्नि के रूप में चित प्रजापति को ही अभिव्यक्त करता है[१३]। चयन में प्रयुक्त परिश्रित दिशाएँ हैं। दिशाओं की संख्या तीन सौ साठ है, जो आदित्य के चारों ओर परिभ्रमण करती रहती है। परिश्रितों की संख्या भी तीन सौ साठ है। आदित्य की रश्मियों की संख्या तोन सौ साठ है[१४]। यजुष्मती ईंटों में से तीन सौ साठ ईंटें आदित्य की रश्मियों को ही द्योतित करती हैं[१५]। परिश्रित के घेरे में यजुषमती ईंटों का आधान कर वस्तुतः रश्मियों को ही दिशाओं में उपहित

---

१. तदेव, १०.५.४.२—अन्तरिक्षं ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः।

२. तदेव—तस्य द्यावापृथिव्योरेव सन्धिः परिश्रितः, परेण हान्तरिक्षं द्यावापृथिवी सन्धत्तः।

३. तदेव – वयांसि यजुष्मत्य इष्टकाः।

४. श० ब्रा०, वर्षं सूददोहाः।

५. तदेव—मरीचयः पुरीषमाहुतयः समिधः।

६. तदेव—वायुलोकम्पृणा, तद् सर्वोऽग्निर्लोकम्पृणामभिसम्पद्यते।

७. तदेव—१०.५.४.३—द्यौ ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः।

८. तदेव—तस्याप एव परिश्रितः।

९. तदेव—देवायजुष्मत्य इष्टकाः।

१०. तदेव—यदेवैतस्मिँल्लोकेऽन्नं तत् सूददोहाः।

११. तदेव—नक्षत्राणि पुरीषमाहुतयः समिधः।

१२. तदेव—आदित्यो लोकम्पृणा, तद् वा एतत् सर्वमादित्यमेवाभिसम्पद्यते।

१३. तदेव, १०.५.४.४—आदित्यो ह त्वेवंषोऽग्निश्चितः।

१४. तदेव—तस्य दिश एव परिश्रितः, ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति। षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं दिशः समन्तं परियन्ति।

१५. तदेव—रश्मयो यजुष्मत्य इष्टकाः, षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शयान्यादित्यस्य रश्मयः।

किया जाता है[१]। सूददोह-मन्त्र दिशाओं एवं रश्मियों के बीच में स्थित वस्तुओं का अभिव्यंजक है[२]। चितियों पर आहित पुरीष, आहुतियाँ तथा समिधाएँ दिशाओं एवं रश्मियों में स्थित सभी अन्नों को प्रतीकायित करते हैं[३]। सकल लोकम्पृणा ईंटें दिशाओं तथा रश्मियों की प्रतिरूप[४] हैं।

द्युलोक में स्थित सभो नक्षत्र भी अग्नि में चित प्रजापति के प्रतीक हैं[५]। नक्षत्रों की संख्या सत्ताईस है[६]। प्रत्येक नक्षत्र के साथ सत्ताईस-सत्ताईस उपनक्षत्र भी होते हैं[७]। इन सब की सम्मिलित संख्या सात सौ छप्पन होती है[८]। चितियों में उपहित सात सौ ईंटें इस नक्षत्र-समूह को अभिव्यक्त करती हैं[९]। अवशिष्ट छत्तीस ईंटें संवत्सर का तेरहवां मास हैं और वही प्रजापति का शरीर है[१०]। इन छत्तीस ईंटों में तीस ईंटें मध्य आत्मा को तथा छह अवशिष्ट ईंटों में से प्रत्येक युग्म चरण, प्राण एवं शिर को प्रतिरूपायित करता है[११]। नक्षत्रों में स्थित वस्तुओं को सूददोह-मन्त्र द्योतित करते हैं[१२]। पुरीष, आहुतियाँ एवं समिधाएँ नक्षत्रस्थ अन्नों को प्रतिरूपायित करते हैं[१३]। चितिनिधेय सभी लोकम्पृणा ईंटें नक्षत्रों की रूप हैं[१४]। इस प्रकार सभी वस्तुएँ, जो अग्निचयन में प्रयुक्त होती हैं, वे नक्षत्र के रूप में प्रथित हैं और वे प्रजापति की ही संरचना करती हैं।

यज्ञविध प्रजापति—

पुरुष-सूक्त से ज्ञात होता है कि सकल सृष्टि उसमें वर्णित पौरुषयज्ञ से हुई[१५]।

---

१. श० ब्रा०, १०.५.४.४- यत् परिश्रित्सु यजुष्मतीः प्रत्यर्पयति, रश्मींस्तद् दिक्षु प्रत्यर्पयति।

२. तदेव—यदन्तरा दिशश्च रश्मींश्च तत् सूददोहाः।

३. तदेव—यद् दिक्षु च रश्मिषु चान्नं तत् पुरीषं, ता आहुतयः, ताः समिधः।

४. तदेव—यद् दिश इति च रश्मय इति चाख्यायते, तल्लोकम्पृणा।

५. तदेव—१०.५.४.५—नक्षत्राणि ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः।

६. तदेव—तानि वा एतानि सप्तविंशतिनक्षत्राणि।

७. तदेव—सप्तविंशतिः सप्तविंशतिहोपनक्षत्राणि एकैकं नक्षत्रमनूपतिष्ठन्ते।

८. तदेव—तानि सप्त च शतानि विंशतिश्चाधि षट्त्रिंशत्।

९. तदेव—यानि सप्त च शतानि विंशतिश्च, इष्टका एव ताः।

१०. तदेव—यान्यधि षट्त्रिंशत्, स त्रयोदशो मासः, स आत्मा।

११. तदेव—त्रिंशदात्मा, प्रतिष्ठा द्वे, प्राणा द्वे, शिर एव षट्त्रिंश्यौ।

१२. तदेव—यदन्तरा नक्षत्रे तत् सूददोहाः।

१३. तदेव—यन् नक्षत्रेष्वन्नं तत् पुरीषं, ता आहुतयः, ताः समिधः।

१४. तदेव—यन् नक्षत्राणीत्याख्यायते, तल्लोकम्पृणा।

१५. ऋ० सं०, १०.९०।

सृष्टि-धर्म के रूप में आरम्भ में यज्ञ की ही स्थिति थी[१]। वैदिक योगों में सर्वत्र यज्ञ के उद्भावक प्रजापति की संरचना की जाती है[२]। यजमान प्रजापति होने के लिये प्रजापति के अंगों के सन्धान के साथ-साथ स्वयं अपने अंगों का भी सन्धान करता है और उन्हें अभिसंस्कृत करता है। इस प्रकार यजमान सकल ब्रह्माण्ड के साथ अपना तादात्म्यीकरण स्थापित करता है।

अनेक वैदिक सन्दर्भों में प्रजापति को साक्षात् यज्ञ की प्रतिमा बताया गया है[३]। इसी दृष्टि से चिति अग्नि के रूप में प्रजापति की संरचना विविध यज्ञों के द्वारा वर्णित है[४]। इष्टका पशु-याग में पशुसंज्ञपन अग्न्याधेय का रूप है[५]। अग्न्याधेय की हवियों को उखा-संभरण में रूपायित किया जाता है[६]। अग्निचयन की दीक्षा अग्निहोत्र की प्रतीक है[७]। दीक्षित यजमान द्वारा वर्षपर्यन्त उख्य अग्नि में समिधाओं का आधान अग्निहोत्र में आहुत होने वाली आहुतियाँ हैं[८]। उख्य अग्नि में समिदाधान प्रातः, सायं किया जाता है; इसी प्रकार से अग्निहोत्र में प्रातः सायं आहुतियाँ दी जाती हैं[९]। अग्निचयन का वनीवाहन कर्म और उख्य अग्नि के भस्म को प्रतिदिन जल में डालना दर्श एवं पूर्णमास को अभिव्यक्त करता है[१०]। गार्हपत्य अग्नि का चयन सभी चातुर्मास्य यज्ञों को द्योतित करता है[११]। गार्हपत्य चयन के अनन्तर सर्वौषधवपन तक के सभी कार्य सभी अन्य वैदिक इष्टियों को प्रतिरूपायित करते हैं[१२]। सर्वौषध-वपन के पश्चात् तथा चिति-संरचना के पूर्व होने वाले अग्निचयन

---

[१] ऋ० सं०, १०.९०.१६—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, तु० तदेव, १.१६४.५०; अ० सं०, ७.५.१; वा० सं०, ३१.१६; तै० सं०, ३.५.११.५; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.३।

[२] ऋ० सं०, १०.१२१।

[३] श० ब्रा०, ४.३.४.३—एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः; तु०, तदेव, १.७.४.४; ११.६.३.९; ऐ० ब्रा०, २.१७.४.२६; तै० ब्रा०, ३.२.३.१; कौ० ब्रा०, १०.१.१३.१; गो० उ०, ३.८; ४.१२।

[४] श० ब्रा०, १०.१.५.१—सर्वे हैते यज्ञा योऽयमग्निश्चितः।

[५] तदेव—स यत् पशुमालभते तदग्न्याधेयम्।

[६] तदेव—यदुखा संभरति, तान्यग्न्याधेयहवींषि।

[७] तदेव—यद् दीक्षिते तदग्निहोत्रम्।

[८] तदेव—यद् दीक्षितः समिधावादधाति, ते अग्निहोत्राहुती।

[९] तदेव—१०.१.५.२—ते वै सायं-प्रातरादधाति, सायं-प्रातर्ह्यग्निहोत्राहुती जुह्वति, समानेन मन्त्रेण।

[१०] तदेव—यद् वनीवाहनं च भस्मनश्चाभ्यवहरणम्, तौ दर्शपूर्णमासौ।

[११] श० ब्रा०, १०.१.५.२—यद् गार्हपत्यं चिनोति, तानि चातुर्मास्यानि।

[१२] तदेव—यदूर्ध्वं गार्हपत्यादासर्वौषधात्, ता इष्टयः।

के सभी कर्म सभी प्रकार के पशुबन्ध यागों के प्रतीक हैं[१]। अग्निचयन का विष्णुक्रम अन्य सभी यागों में होने वाले विष्णुक्रमों का प्रतिरूप है[२]। अग्निचयन को वात्सप्र-उपस्थान यागों में विनियुक्त उपस्थानों की प्रतिमा है[३]। प्रथम चिति सोमयाग को, द्वितीय चिति राजसूय को, तृतीय चिति वाजपेय यज्ञ को, चौथी चिति अश्वमेध याग को तथा पाँचवीं चिति अग्निसव यज्ञ को प्रतीकायित करती हैं[४]। चिति अग्नि की स्तुति में विनियोजित सामगान महाव्रत का प्रतिरूप है[५]। यज्ञों में सामगान के अवसर पर उद्गाता जिसे पूर्व में जपता है, वह शतरुद्रिय को अभिव्यक्त करता है[६]। अग्नि-चयन की वसोर्धारा विधि महदुक्थ है[७]। सामगान के पश्चात् तथा वसोर्धारा के पश्चात् होने वाले जो कर्म हैं एवं जो होता का जप्यकर्म है वे, सभी गृह्य यामों को प्रतिरूपायित करते हैं[८]। इस प्रकार अग्नि चयन में सभी यज्ञों के द्वारा प्रजापति एवं यजमान के अंगों की रचना एवं अनुसन्धान किया जाता है।

छान्दोविध प्रजापति—

प्रजापति ने पाप एवं मृत्यु से मुक्त होकर अन्न की कामना की। सभी छन्दों ने उसके समक्ष स्वयं को अन्न के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार प्रजापति को उन्होंने प्रसन्न किया था (अच्छदयन्), अतएव उनका अभिधान छन्द हुआ[९]। महिदास के अनुसार सभी छन्द प्रजापति के अंग हैं[१०]। अन्य वैदिक संदर्भों में भी प्रजापति के साथ छन्दों के घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन किया गया है[११]। याज्ञवल्क्य ने

---

१. तदेव—यदूर्ध्वं सर्वौंषधात् प्राचीनं चितिभ्यः, ते पशुबन्धाः।

२. तदेव—य एवैतेषु यज्ञेषु विष्णुक्रमाः, ते विष्णुक्रमाः।

३. तदेव—यज्जप्यं तद्वात्सप्रम्।

४. श० ब्रा०, १०.५.१.३—सौम्योऽम्वरः प्रथमा चितिः, राजसूयो द्वितीया, वाजपेयस्तृतीया अश्वमेधश्चतुर्थी, अग्निसवः पंचमी।

५. तदेव—यैश्चितं सामभिः परिगायति, तन्महाव्रतम्।

६. तदेव—यत् तत्रोद्गातुः पुरस्ताज्जप्यं तच्छतरुद्रियम्।

७. तदेव—वसोर्धारा महदुक्थम्।

८. श० ब्रा०, १०.५.४.३—यदूर्ध्वं सामभ्यः, प्राचीनं वसोर्धारायै, यदेव तत्र होतुः पुरस्ताज् जप्यं तत्, यदूर्ध्वं वसोर्धारायै, ते गृहमेधाः।

९. श० ब्रा०, ८.५.२.१—एतद् वै प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वान्नमैच्छत्, तस्मै देवा एतदन्नं प्रायच्छन् एताश्छन्दस्याः, तान्यस्मा अच्छदयन्, तानि यदस्मा अच्छदयन्, तस्माच्छन्दांसि; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.६.६.१; दे० ब्रा०, १.३; छा० उ०, १.४.२; निरुक्त, ७.१२; उपनिदानसूत्र, ८.२; द्र०, युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिकछन्दोमीमांसा, रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५९, पृ० १-३४।

१०. ऐ० ब्रा०, २.१८—प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि, यच्छन्दांसि।

११. श० ब्रा०, ६.२.१.३०—सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः; द्र०, श० ब्रा० १०.४.२.२३; तै० ब्रा०, ३.३.२.१; [कौ० ब्रा०, २३.४.८]।

अग्निचयन के व्याख्यान में प्रजापति के अंगों की संरचना छन्दों के द्वारा प्रतिपादित किया है[1]। अग्निचयन में सप्तविध-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्दों का प्रयोग किया जाता है[2]। प्रजापति का प्राण गायत्री, नेत्र उष्णिक्, वाक् अनुष्टुप्, मन बृहती, कान पंक्ति, प्रजनयिता प्राण त्रिष्टुप् एवं अवाङ्प्राण जगती छन्द है[3]। चयन की व्याख्या के प्रसंग में ही अन्यत्र प्रजापति का शिर गायत्री, ग्रीवा उष्णिक्, मेरुदण्ड बृहती, बृहद्रथन्तर दोनों पार्श्व, मध्यभाग त्रिष्टुप्, श्रोणि जगती, अतिच्छन्द रेतःसेक, जानु पंक्ति, अवाङ्प्राण यज्ञायज्ञिय, उरु अनुष्टुप्, चरण द्विपदा, प्राण विच्छन्दा तथा अन्य न्यूनाक्षर छन्द आप् बताया गया है[4]। इस प्रकार प्रजापति के छान्दस् तनु की संघटना अग्नि-संरचना में की जाती है।

अग्निसंरचना में होता शास्त्र-पाठ करता है, इस पाठ में वह गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती तथा विराट् छन्दों का प्रयोग करता है[5]। इन सब छन्दों की सम्मिलित वर्ण-संख्या दो सौ पचासी होती है[6]। इनके वर्णसंघ में अस्सी-अस्सी वर्णसमूहों के द्वारा महदुक्थ संपद् की उपलब्धि होती है, जिसमें अशीति-त्रय वर्णसमुदाय निहित है[7]। अवशिष्ट पैंतालीस वर्णों में से पचीस वर्णों का समूह प्रजापति का शरीर है, शिर है और है उभय पक्ष एवं पूंछ; क्योंकि जहाँ शरीर रहता है, वहीं शिर आदि भी अवस्थित रहते हैं[8]। शेष बीस वर्ण महदुक्थ का उरुभाग है

---

१. श० ब्रा०, १०.३.१.१ आदि।

२. श० ब्रा०, १० १.२.९; तदेव, ९.५.२.८; कौ० ब्रा०, १४.५.१७.२; युधिष्ठिरमीमांसक, तदेव, पृ० ८८।

३. श०ब्रा०, १० ३.१.१—प्राणो गायत्री, चक्षुरुष्णिग्, वागनुष्टुप्, मनो बृहती, श्रोत्रं पंक्तिः, य एवायं प्रजननः प्राणः, एष त्रिष्टुप्, योऽयमवाङ् प्राणः, एष जगती, तानि वा एतानि सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यग्नौ क्रियन्ते। तु०, तदेव, १०.३.१.२९।

४. श० ब्रा०, १०.३.२.१-१३—गायत्री छन्दः शिरः, ग्रीवा इत्युष्णिक्छन्दः, अनूकमिति बृहती छन्दः, पक्षाविति बृहद्रथन्तरं छन्दः, मध्यमिति त्रिष्टुप् छन्दः, श्रोणी इति जगतीछन्दः प्राणाद्रेतः सिच्यत इत्यतिच्छन्दाश्छन्दः, अवाङ्प्राण इति यज्ञायज्ञियं छन्दः, उरू इत्यनुष्टुप्-छन्दः, अष्ठीवन्ताविति पंक्तिश्छन्दः, प्रतिष्ठेति द्विपदा छन्दः, प्राणा इति विच्छन्दाश्छन्दः, न्यूनाक्षरा छन्द आपः।

५. श० ब्रा०, १०.१.२ ९—होता सप्त छन्दांसि शंसति, चतुरुत्तराण्येकर्चानि विराष्टमानि।

६. तदेव—तेषां तिस्रश्चाशीतयोऽक्षराणि पंचचत्वारिंशच्च। इन छन्दों की वर्णसंख्या के लिये द्रष्टव्य, युधिष्ठिर मीमांसक, तदेव, अध्याय ८-१०।

७. तदेव—ततो या अशीतयः, सैवाशीतीनामाप्तिः, अशीतिभिर्महदुक्थमाख्यायते, तदेतदमैव महदुक्थमाप्नोति; द्र०, एग्लिग, से० बु० ई०, ४३, पृ० ११२, पा० टि० १।

८. तदेव—यानि पंचचत्वारिंशत्, ततो यानि पंचविंशतिः, स पंचविंश आत्मा, यत्र वा आत्मा तदेव शिरः, तत् पक्षपुच्छानि।

तथा महदुक्थ प्रजापति का ही रूप है[१]।

चित अग्नि के रूप में प्रजापति छन्दोविध है[२]। चयन में प्रयुक्त तृचों में सात छन्दों का प्रयोग है[३]। इनमें निहित वर्णों की संख्या सात सौ छप्पन है[४]। चयन में प्रयुक्त सात सौ बीस ईंटें उपरितन वर्णसमूह के सात सौ बीस वर्णों को द्योतित करती हैं[५]। इन ईंटों में तीन सौ साठ परिश्रित हैं और तीन सौ साठ यजुष्मती ईंटें हैं[६]। अवशिष्ट छत्तीस ईंटें संवत्सर का तेरहवाँ महीना हैं और वह प्रजापति की आत्मा है[७]। इनमें तीस ईंटें आत्मा के मध्यभाग को, दो ईंटें चरण की ओर, दो ईंटें शिर की अभिव्यंजक हैं[८]। शिर में दो अक्षर हैं, अतएव शिर की द्योतक भी दो ईंटें चयन में उपहित की जाती हैं[९]।

इन उपरितन चयन-विनियुक्त छन्दों में बृहती छन्द में छत्तीस अक्षर होते हैं[१०]। बृहती के इन अक्षरों में प्राथमिक दस अक्षर वाले एकपदा विराट् छन्द को

---

१. तदेव—यानि विंशतिः, तदावपनम्। द्र०, सायण, तदेव—यान्यवशिष्टानि विंशतिक्षराणि तदावपनं नाम महदुक्थशस्त्रस्योरुभागात्मकत्वेन शंसनीयेषु सूक्तेषु वनेन वायो धायि चाकन्यो जात एव प्रथमो मनस्वान्—इत्यनयोः सूक्तयोर्मध्ये आयुष्कामयजमानार्थं कासांचिद् ऋचां शंसनम्। तथा चैतरेयकम्—तेऽन्तरेणायाह्यवीडुपबन्धुरेष्टा विधुं दद्राण शमने बहूनाम्, इत्येतदावपनं दशतीनामैन्द्रीणां त्रिष्टुब्जगतीनां बृहतीसम्पन्नानां यावतीरावपैरस्तावत्यूर्ध्वमायुषो वर्षाषि जिजीविषत्।

२. श० ब्रा०, १०.५.४.७—छन्दांसीति ह त्वेवैवोषोऽग्निश्चितः।

३. तदेव—तानि वा एतानि सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराणि तृचानि।

४. तदेव—तेषां च सप्त च शतानि, विंशतिश्चाक्षराण्यधिषट्त्रिंशत्; द्र०; एग्लिंग, से० बु० ई०, ४३, पृ० ३८४, पा० टि० ३; विभिन्न छन्दों की अक्षर-संख्या के लिये द्रष्टव्य, ई० वरनोन् आर्नाल्ड, वैदिक मीटर, इन इट्स हिस्टारिकल डेवलपमेण्ट, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७, पृ० १४९-२२७; युधिष्ठिर मीमांसक, तदेव, अध्याय ८-१०।

५. श० ब्रा०, तदेव—यानि सप्त च शतानि विंशतिश्च, इष्टका एव ताः।

६. श० ब्रा०, १०.५.४.७—षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः, षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः।

७. श० ब्रा०,—यान्यधि षट्त्रिंशत्, स त्रयोदशो मासः, स आत्मा।

८. तदेव—त्रिंशदात्मा, प्रतिष्ठा द्वे, प्राणा द्वे, शिर एव षट्त्रिंश्यौ।

९. तदेव—तद् यत्ते द्वे भवतः, द्व्यक्षरं हि शिरः।

१०. तदेव—८.३.३.८—षट्त्रिंशदक्षरा बृहती; तै० ब्रा०, ३.९.१२.१; तां० ब्रा०, १०.३.९; गो० पू०, ४.१२; तु०, ऐ० ब्रा०, ४.२४; ७.१; द्र०, आर्नाल्ड, तदेव, पृ० ८ बी, ६६ बी, २३६ डी; युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० १४०-१४५।

अभिव्यक्त करते हैं[१]। बृहती के प्राथमिक बीस अक्षर द्विपदा विराट् को द्योतित करते हैं[२]। बृहती के तीस अक्षर त्रिंशदक्षरा विराट छन्द को प्रतीकायित करते हैं[३]। बृहती के तैंतीस अक्षर त्रयस्त्रिंशदक्षरा विराट् छन्द के प्रतीक हैं[४]। बृहती के चौंतीस अक्षर चौंतीस अक्षर वाले स्वराट् छन्द को प्रतिरूपायित करते हैं[५]। अग्नि के चयन में सभी छन्दों का विनियोग होता है, अतएव अग्नि अतिच्छन्दा है[६]। इन सभी छन्दों का आधान छन्दस्या ईंटों के रूप में किया जाता है[७]। इष्टका पद के तीन अक्षर त्रिपदा गायत्री के अभिव्यंजक हैं। इस कारण से अग्नि गायत्र[८] है। ईंटों की निर्माण सामग्री के वाचक पद 'मृदापः' (मिट्टी जल) में तीन अक्षर हैं। इनके द्वारा त्रिपदा गायत्री का द्योतन होता है। इस कारण से भी अग्नि गायत्र है[९]। सूददोहमन्त्र मध्यस्थ छन्दों के प्रतीक हैं[१०]। चिति पर आहुति पुरीष, आहुति तथा समिधाएँ उपरितन छन्दों में स्थित अन्न के द्योतक हैं[११]। लोकम्पृणा ईंटें सभी छन्दों को प्रतीकायित करती हैं[१२]। इस प्रजापति के छान्दस् रूप की संरचना अग्निचयन में की जाती है।

त्रयीविध-प्रजापति—

ऋचाओं, सामों एवं यजुषों के समुदाय-शब्दसंघात-वेद का अपर अभिधान

---

१. तदेव, १०.५.४.८—तस्यै वा एतस्यै षट्त्रिंशदक्षरायै बृहत्यै यानि दश प्रथमाक्षराणि ता दशाक्षरैकपदा; सायण, तदेव—दशाक्षरैकपदा विराट् सम्पन्ना। द्र०, एग्लिंग, से० बु० ई०, ४३, पृ० ३८५, पा० टि० १।

२. श० ब्रा०, १०.५.२.८—यानि विंशतिः, सा विंशत्यक्षरा द्विपदा; द्र०, सायण, तदेव—यानि बृहत्याः प्रथमानि विंशत्यक्षराणि तैः विंशत्यक्षरा द्विपदा विराट् सम्पन्ना; एग्लिंग, तदेव।

३. श० ब्रा०, तदेव—यानि त्रिंशत् ता त्रिंशदक्षरा विराट्; सायण, तदेव; एग्लिंग्, तदेव, पा० टि० २।

४. तदेव—यानि त्रयस्त्रिंशत्, सा त्रयस्त्रिंशदक्षरा; सायण, तदेव।

५. तदेव—यानि चतुस्त्रिंशत्, सा चतुस्त्रिंशदक्षरा स्वराट्; सायण, तदेव; एग्लिंग्; तदेव, पा० टि० ३।

६. तदेव—यत् सर्वैश्छन्दोभिरयमग्निश्चितः, तदतिच्छन्दाः, ता उ सर्वा इष्टका एव; द्र०, सायण, तदेव; एग्लिंग्, तदेव, पा० टि० ४।

७. सायण, श० ब्रा०, तदेव।

८. श० ब्रा०; तदेव—इष्टकेति त्रीण्यक्षराणि, त्रिपदा गायत्री, तेनैष गायत्रोऽग्निः।

९. तदेव—मृदाप इति त्रीण्यक्षराणि, त्रिपदा गायत्री, तेन एवैष गायत्रः।

१०. तदेव—यदन्तरा छन्दसी तत् सूददोहाः।

११. तदेव—यच्छन्दः स्वन्नं तत् पुरीषं, ता आहुतयः, ताः समिधः।

१२. तदेव—यच्छन्दांसीत्याख्यायते, तल्लोकम्पृणा।

त्रयी है[१]। ऋक्संहिता के साक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि ऋचाओं, सामों तथा यजुषों की सृष्टि उस पौरुष यज्ञ में हुई है, जिसमें हवि के रूप में पुरुष को ही विनियोजित किया गया था[२]। यह पुरुष हिरण्यगर्भ प्रजापति से भिन्न नहीं[३] है। त्रयीविद्या वाक् की ही प्रतिमा है[४], इसी दृष्टि से वाक् की प्रजापति की स्वमहिमा कहा गया है[५]। यही नासदीय सूक्त की स्वधा है[६]। इस स्वधा एवं मनोरूप प्रजापति का सयुग् काम ही रेतोरूप में ब्रह्माण्ड को अस्मिता एवं सत्ता के रूप में लाता है[७]।

सृष्टि के आरम्भ में संवत्सर-प्रजापति अग्नीषोम के रूप में स्थित था[८]। उसने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से कहा कि जितनी मेरी ज्योतियाँ हैं, उतनी ही मेरी ईंटें हैं[९]। इस संवत्सर प्रजापति की ज्योतियों की कुल संख्या सात सौ बीस[१०] है। इन ज्योतियों की प्रतिरूप तीन सौ साठ परिश्रित एवं तीन सौ साठ यजुष्मती ईंटें

---

[१] श० ब्रा०, ४.६.७.१—त्रयी वै विद्या, ऋचो यजूंषि सामानि; तु०, तदेव, १.१.४ ३; ९.३.३.१४; जै० उ०, २.९ ७; द्र०, अहिर्बुध्न्यसंहिता, आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, आड्यार, मद्रास १९६६, १२.५-७—तत्र त्रयीमयं रूपमाद्यं सर्वार्थदर्शनम्- ऋग्यजुः सामरूपत्वात् त्रयी सा परिकीर्तिता ॥ कार्यभेदात् त्रयीत्वेऽपि चतुर्धा सा प्रकीर्तिता। ऋचो यजूंषि सामानि ह्यथर्वांगिरसस्तथा ॥ चातुर्होत्रप्रधानत्वाद् ऋगादित्रितयं त्रयी।

[२] ऋ० सं०, १०.९०.९, तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ तु०, अ० सं०, १९.६.१४; वा० सं०, ३१.९; तै० आ०, ३.१२.४; द्र०, ऋ० सं०, १०.९०.७—तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः; तु०, वा० सं०, ३१.९।

[३] श० ब्रा०, ६.२.१.२३—पुरुषः प्रजापतिः; तु०, तदेव, ७.१.१.३७,४.१.२५; तै० ब्रा०, २.२.५.३; द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० २४८।

[४] श ब्रा०, २.१.४.१०; ४.६.७.५; ऐ० ब्रा०, ६.३; जै० उ०, २.१३.२।

[५] का० सं०, १२.५—प्रजापतिर्वा इदमासीत् तस्य वाग् द्वितीया आसीत्; तु०, श० ब्रा०, २.२.४.४; ता० ब्रा०, २०.१४.२; तु०, श० ब्रा०, १.६.३.२७; ५.१.५.६; १३.४.१.१५; तै० ब्रा०, १.३.४.५।

[६] ऋ० सं०, १०.१२९.२—आनीदवातं स्वधया तदेकम्।

[७] तदेव, १०.१२९.४—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

[८] श० ब्रा०, १०.४.२.१—संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः, सोमो राजा चन्द्रमाः।

[९] तदेव—स ह स्वयमात्मानं प्रोचे यज्ञवचसे राजस्तम्बायनाय, यावन्ति वाव मे ज्योतींषि तावत्यो म इष्टका इति।

[१०] तदेव, १०.४.२.२।

हैं[1]। इस संवत्सर प्रजापति ने प्राणसमन्वित तथा प्राणरहित सकल भूतों, देवों तथा मनुष्यों का सृजन किया[2]। इस सृष्टि-संरचना के अनन्तर प्रजापति रिक्त हो गया[3]। उसने विचार किया कि पुनः कैसे इन सब भूतों का स्वयं में आवपन करूँ, संधान करूँ[4] ? फलस्वरूप प्रजापति अपना व्यूहन द्विधा से प्रारम्भ कर एकविंशतिधा पर्यंत किया, परन्तु वह आत्मा की उपलब्धि न कर सका[5]। अन्ततः उसने अपना व्यूहन चौबीस भागों में किया[6]। यह चौबीस संवत्सर के चौबीस अर्धमास हुए[7]। फिर भी वह आत्मा की उपलब्धि में सफल नहीं हुआ[8]। इस प्रकार यह संवत्सर-प्रजापति अहोरात्रों, अर्धमासों, मासों, ऋतुओं तथा संवत्सर के द्वारा इस सम्पूर्ण सृष्टि को परिपक्व बनाता है[9]। भारद्वाज का अभिमत है कि चित-अग्नि इस प्रकार परिपक्व सृष्टि को पकाता है। अतः वह पके हुए को पचाने वाला है[10]। इस प्रकार प्रजापति ने संवत्सर में दस हजार आठ सौ मुहूर्तों का अवलोकन किया और वह उनमें प्रतिष्ठित हो गया[11]। तदनन्तर प्रजापति ने सकल भूतों को उस त्रयीविद्या में स्थित देखा, जो सभी छन्दों, स्तोमों, प्राणों तथा देवों की आत्मा है[12]। अतएव उसने विचार किया, मैं त्रयीविद्या में ही स्वयं को अभिसंस्कृत करूँ[13]।

उपरितन वर्णन के सन्दर्भ में प्रजापति ने बारह हजार बृहती छन्दों में ऋचाओं का विभाजन किया[14]। इस दृष्टि से ऋग्वेद की अक्षर-संख्या चार लाख बत्तीस हजार होती है[15]। इस संख्या के तीसवें व्यूह में पंक्ति छन्द की स्थिति हो जाती है[16]। पंक्ति छन्द में चालीस अक्षर होते हैं[17]। यदि मुहूर्त-संख्या में इनका गुणन किया

---

१. श०ब्रा०। २. तदेव। ३. तदेव। ४. तदेव, १०.४.२.३। ५. तदेव, १०.४.२.४-१६।

६. तदेव, १०.४.२.१७—चतुर्विंशतिमात्मनोऽकुरुत। ७. तदेव, १०.४.२.१८—तस्मात् चतुर्विंशत्यर्धमासः संवत्सरः। ८. तदेव।

९. श० ब्रा०, १०.४.२.१९—एष वा इदं सर्वं पचति, अहोरात्रैरर्धमासैर्ऋतुभिः संवत्सरेण।

१०. तदेव—पक्वस्य पक्तेति स्माह भारद्वाजोऽग्निम्, अमुना हि पक्वमयं पचतीति।

११. श० ब्रा०, १०.४.२.२०—तानि संवत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त, सोऽत्रातिष्ठत दशसु च सहस्रेष्टासु च शतेषु।

१२. तदेव—१०.४.२.२१—स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यदत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानाम्, सर्वेषां प्राणानाम्, सर्वेषां देवानाम्।

१३. तदेव—१०.४.२.२२—त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा इति।

१४. तदेव—१०.४.२.२३—स ऋचो व्योहत्, द्वादशबृहतीसहस्राण्येतावत्यो हर्चो, याः प्रजापतिसृष्टाः।

१५. एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ३५२, पा० टि० २; तु०, कात्यायन, सर्वानुक्रमणी, पृ० ५३, चत्वारि वाव शतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि; बृहती की विशिष्टता के लिये द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० १९५।

१६. श० ब्रा०, १०.४.२.२३—तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठन्त।

१७. युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिकछन्दोमीमांसा, पृ० १४६ आदि।

जाये, तो भी ऋग्वेद की अक्षर-संख्या चार लाख बत्तीस हजार ही होती है[1]। इस प्रकार प्रजापति पंक्ति के व्यूह में संस्थित होने के कारण पंक्ति कहा जाता है[2]। पंक्ति छन्द में पाँच पाद होते हैं[3]। प्रजापति की तनु में भी लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा की स्थिति रहती है[4]। अग्निचयन की पाँचों चितियाँ प्रजापति के उपरितन पाँच तनुमार्गों को ही प्रतीकायित करती हैं[5]। इस प्रकार अग्निचयन में ईंटों के रूप में प्रजापति को त्रयी की विधा में प्रतिरूपायित किया जाता है।

प्रजापति ने अन्य दो वेदों—यजुर्वेद एवं सामवेद का भी बारह हजार बृहती छन्दों में व्यूहन किया[6]। इस व्यूहन में यजुषों को आठ हजार तथा सामों को चार हजार बृहती छन्दों में परिणत किया[7] या इनके तीसवें व्यूह में पंक्ति छन्द संस्थित हुआ और उसमें उपरितन वर्णित रीति में संस्थित होकर प्रजापति भी पंक्ति[8] हुआ।

इस प्रकार तीनों वेदों की अक्षरसंख्या आठ लाख चौसठ हजार हुई[9]। यदि इसको अस्सी से विभाजित किया जाये तो अस्सी अस्सी का समूह दस हजार आठ सौ[10] होगा। संवत्सर-प्रजापति ने प्रत्येक मुहूर्त के द्वारा त्रयी के अस्सी के प्रत्येक अक्षर-समूह की प्राप्ति की है[11]। ध्यातव्य है कि अग्निचयन में आहित लोकम्पृणा ईंटों की कुल संख्या दस हजार आठ सौ है[12]। इस प्रकार चिति में आहित प्रत्येक ईंट वेदत्रयी

---

[1] एग्लिंग्, तदेव, पृ० ३५३, पा० टि० २।

[2] श० ब्रा०, तदेव—यत् पंक्तिषु, तस्मात् पंक्तिः प्रजापतिः। अष्टाशतं शतानि पंक्तयोऽभवन्।

[3] युधिष्ठिरमीमांसक, तदेव।

[4] श० ब्रा०, ६.१.२.१७—तदेता वा अस्य ताः पञ्च तन्वो व्यस्रंसन्त, लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा; द्र०, सायण, श० ब्रा०; १०.४.२.२३।

[5] श० ब्रा०, ६.१.२.१७—ता एवैताः पञ्च चितयः।

[6] तदेव, १०.२.४ २४—इतरौ वेदौ व्यौहत्, द्वादशैव बृहती सहस्राणि।

[7] तदेव—अष्टौ यजुषाम्, चत्वारि साम्नाम्, द्र०, सायण, तदेव।

[8] श० ब्रा०,१०.४.२.२४—तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेताम्, यत् पंक्तिषु तस्मात् पंक्तिः प्रजापतिः।

[9] एग्लिंग, से० बु०, ई०, ४३, पृ० ३५३, पा० टि० २।

[10] श० ब्रा०, १०.४.२.२५— ते सर्वे त्रयो वेदाः, दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतिनामभवन्त।

[11] तदेव—स मुहूर्त्तेन मुहूर्तेनाशीतिमाप्नोत्, मुहूर्तेन मुहूर्तेनाशीतिः समपद्यत।

[12] तदेव, १०.४.३.२०—लोकम्पृणाः, ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्ति। द्र०, एग्लिंग, तदेव, पृ० ३६०, पा० टि० १।

के अस्सी के प्रत्येक अक्षर-समूह को प्रतिरूपायित करने के साथ-साथ संवत्सर के प्रत्येक मुहूर्त को भी प्रतीकायित करती है। ध्यातव्य है कि अग्निचयन में विनियोजित महदुक्थ अथवा निष्कैवल्य शस्त्र की भी संपद् अशीति संख्या वाली हैं[1]। निदानतः उख्य अग्नि में रेतोरूप में आहित प्रजापति छन्दोमय, स्तोमय, प्राणमय तथा देवतामय होकर उत्पन्न होता है, जो त्रयोविध है[2]। इसी दृष्टि से प्रजापति के सुपर्णरूप को भी विद्यामय प्रदर्शित किया गया है[3]।

सप्तविध-प्रजापति—

सृष्टि के आरम्भ में केवल असत् था, जो प्राण, ऋषि अथवा पुरुष के रूप में था[4]। इनकी प्राण, ऋषि अथवा पुरुष की-संख्या सात थी[5]। अलग-अलग सृष्टि करने में अक्षम होने के कारण इन सातों का समवेत रूप एक पुरुष हुआ[6]। इसी पुरुष का वर्णन पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त अथवा नासदीयसूक्त में किया गया है[7] और इसी का अग्नि के रूप में तथा हिरण्मय पुरुष के रूप में अग्निचयन में आधान किया जाता है[8]। अतएव सुपर्ण एवंअग्निक्षेत्र सात पुरुष के बराबर होता है[9]। आत्मा का प्रदेश चार पुरुष तथा दोनों पक्ष एवं पूँछ तीन पुरुष की माप का निर्धारित किया गया है। प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में सप्तविध रूप में ही सृष्ट हुआ था[10]। संवत्सर प्रजापति की विधाएँ सात हैं। छह विधाएँ संवत्सर की छह ऋतुएँ हैं और सातवीं

---

[1] श० ब्रा०, ८.६.२.३; द्र०, एग्लिंग, तदेव, पृ० ११२, पा० टि० १।

[2] तदेव, १०.४.२.२६—स एषु त्रिषु लोकेषूखायां योनौ रेतोभूतमात्मानमसिंचच्छन्दोमयं स्तोममयं प्राणमयं देवतामयम्।

[3] वा० सं०, १२.४; तै० सं०, ४.१.१०.४; का० सं०, १६.८; मै० सं०, २.७.८; द्र०, प्रबन्ध के इसी अध्याय में सुपर्ण प्रजापति का प्रतीक-अर्थ-सम्बन्धी विवेचन। द्र० ई० अनन्ताचार्य, सुपर्ण, विजयवाड़ा, १९६२।

[4] श० ब्रा०, ६.१.१.१-७।

[5] तदेव, ६.१.१.२।

[6] तदेव, ६.१.१.३—त एतान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्; तु०, तदेव, १०.२.२.१।

[7] ऋ० सं०, १०.९०, १०.१२१, १०.१२९।

[8] श० ब्रा०, ६.१.१.५—स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्, स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते। तु०, तदेव, ७.४.२.४; श० ब्रा०, ७.४.१.१५—पुरुषमुपदधाति, स प्रजापतिः, सोऽग्निः, तु० तदेव, ७.४.१.१९; द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० २४८।

[9] श० ब्रा०, ६.१.१.६—स वै सप्तपुरुषो भवति, चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि; तु०, तदेव, १०.२.२.५।

[10] तदेव, १०.२.३.१८—सप्तविधो वा अग्रे प्रजापतिरसृज्यत; तु०, तदेव, १०.२.४.८।

विधा स्वयं संवत्सर-प्रजापति है[1]। दिशाओं की दृष्टि से भी प्रजापति की सात विधाएँ हैं[2]। प्राची दिशा में स्थित रश्मियाँ प्रथम विधा हैं एवं दूसरी विधा दक्षिण दिशा में स्थित रश्मियाँ हैं[3]। पश्चिम दिशा में स्थित रश्मियाँ प्रजापति की तीसरी विधा[4] हैं। चौथी विधा उदीची में स्थित रश्मियों को बताया गया है[5]। ऊर्ध्व दिशा में में पाँचवीं विधा रश्मियों के रूप में वर्तमान है और छठीं विधा अवाची दिशा में स्थित रश्मियाँ हैं[6]। सूर्यमण्डल ही सातवीं विधा है[7]। अग्निचयन की चितियों के रूप में भी प्रजापति सात विधा से युक्त हैं[8]। अग्नि की छह चितियों में आहित ऋतव्या ईंटें छह विधाएँ हैं एवं चितेनिधेय अग्नि स्वयं सातवीं विधा है[9]। इस प्रकार सप्तविध प्रजापति को अग्निचयन में प्रतीकायित किया जाता है।

एकशतविध-प्रजापति—

उपरितन विवरण से सिद्ध होता है कि प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में सप्तविध रूप में ही सृष्ट हुआ था। इस तथ्य का प्रतिपादन अनेकत्र किया गया[10] है। प्रजापति आत्मविधान करता हुआ अन्ततः एकशतविध रूप में प्रतिष्ठित हुआ था[11]। अतएव अग्नि का चयन सप्तविधा में ही सर्वप्रथम करने का विधान है। सप्तविध से न्यून माप में अग्नि का चयन निषिद्ध है। याज्ञवल्क्य का अभिमत है कि सप्तविध से न्यून परिमाण में अग्निचित् प्रजापति का विच्छेद करता है[12]। ऐसा व्यक्ति श्रेयोविधान कर पापभाग् बनता है[13]। अग्निचयन की परिमाण-सीमा एकशतविध है। इससे अधिक विधा को स्वीकारने वाला व्यक्ति 'सर्व' प्रजापति की संरचना को सुनिश्चित सीमा से बाहर कर देता है और इस प्रकार वह प्रजापति की सर्वता का ही विघातक बनता

---

[1] तदेव, १०.२.६.२—स ऋतुभिरेव सप्तविधः, षड्ऋतवः, संवत्सर एव सप्तमी विधा।

[2] तदेव, १०.२.६.३—स दिग्भिरेव सप्तविधः।

[3] तदेव—ये प्राच्यां दिशि रश्मयः, सैका विधा; ये दक्षिणायां सैका।

[4] तदेव—ये प्रतीच्यां सैका।

[5] तदेव—य उदीच्यां सैका।

[6] तदेव—य ऊर्ध्वायां सैका, येऽवाच्यां सैका।

[7] तदेव—मण्डलमेव सप्तमी विधा।

[8] तदेव—१०.२.६.१०—स चितिभिरेव सप्तविधः।

[9] तदेव—षड् ऋतव्यवत्यश्चितयोऽग्निरेव सप्तमी विधा; द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० ३२४, पा० टि० १।

[10] श० ब्रा०, १०.२.३.१८, २.४.८ आदि।

[11] तदेव—१०.२.३.१८।

[12] तदेव—स योऽर्वाचीनं सप्तविधाद् विधत्ते, एतं ह स पितरं प्रजापतिं विच्छिनत्ति।

[13] तदेव – स इष्ट्वा पापीयान् भवति, श्रेयांसं हिंसित्वा।

है[१]। अतएव प्रथम बार अग्नि का चयन करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह सप्तविध रीति को ही स्वीकार करे[२]। अनुवर्ती अग्निचयन में सप्तविध की सोमा का अतिक्रमण किया जा सकता है, परन्तु एक सौ एक विधा का उल्लंघन करना सर्वथा असमीचीन है[३]। इस प्रकार की पद्धति को स्वीकारने वाला व्यक्ति पिता प्रजापति का न तो विच्छेद करता है और न ही उसका अतिक्रमण करता है[४]।

निखिल वैश्विक कर्म दिक्काल सापेक्ष होता है, अतएव दिक्काल के रूप में स्थित संवत्सर ही कर्मों का मंच है[५]। कर्म का मूल काम में निहित है। संवत्सर रूप में स्थित प्रजापति ने इच्छा की कि मैं सभी कामों को अग्नि में निहित कर तद्द्वारा अपना अभिसंस्कार करूँ[६]। एतदर्थ उसने स्वयं को एकशतविध बनाया[७]। इस प्रकार उसने सकल कामों को स्वनिहित कर लिया[८]। यजमान भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अग्निचयन करता है[९]।

संवत्सर आदित्य है[१०]। प्रजापति भी संवत्सर है[११]। कई वैदिक-संदर्भों में प्रजापति से आदित्य की सृष्टि बतायी गयी है[१२]। अतएव आदित्य एवं प्रजापति का समीकरण हो जाता है। आदित्यरूप में प्रजापति एकशतविध[१३] है। आदित्य की रश्मियों की विधाएँ एक सौ हैं एवं स्वयं आदित्य एक सौ एकवीं विधा है। यह

---

[१] तदेव —य एकशतमतिविधत्ते, अस्मात् स सर्वस्माद् बहिर्धा विधत्ते, सर्वमु हीदं प्रजापतिः।

[२] तदेव— तस्मादु सप्तविधमेव प्रथमं विदधीत।

[३] तदेव—एकोत्तरमैकशतविधात्। एकशतविधं तु नातिविदधीत।

[४] तदेव—नाहैतं पितरं प्रजापतिं विच्छिनत्ति, नोऽस्मात् सर्वस्माद् बहिर्धा निष्पद्यते।

[५] श० ब्रा०, १०.२.४.१—आहुः संवत्सरः सर्वे कामा इति, त ह संवत्सरात् कश्चन बहिर्धा कामोऽस्ति; संवत्सर के लिये द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, ए० इ० ए० का०, पृ० २८ आदि; सिद्धेश्वर वर्मा, दि वैदिक् कान्सेप्ट आफ् टाइम, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स्, पूना, २७, १९६६, पृ० ११५-१३०; खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० ११७।

[६] श० ब्रा०, १०.२.४.१—संवत्सरः प्रजापतिरकामयताग्नि सर्वान् कामानात्मानमभिसंचिन्वीयेति।

[७] तदेव—स एकशतधात्मानं व्यधत्त।

[८] तदेव—सर्वान् कामानमात्मानमभिसमचिनुत।

[९] तदेव – १०.२.४.२।

[१०] तदेव, १०.२.४.३—स यः संवत्सरः स आदित्यः; तु०, तदेव, १४.१.१.२७।

[११] श० ब्रा०, १.५.१.१६, २.३.३.१८; ऐ० ब्रा०, ४.२५; कौ० ब्रा०, ६.१५; तां० ब्रा०, ११.४.१२; गो० उ०, ३.८; द्र०, खोंदा, तदेव।

[१२] ऐ० ब्रा०, ३.३४—तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत, तदसावादित्योऽभवत्; तु०, तां० ब्रा०, ६.५.१।

[१३] श० ब्रा०, १०.२.४ ३—स एष एकशतविधः।

आदित्य ही सबमें प्रतिष्ठित होकर तप रहा[१] है। संवत्सर रूप में भी प्रजापति की एक सौ एक विधाएँ हैं[२]। संवत्सर के साथ अहोरात्र, चौबीस अर्धमास, तेरह मास एवं तीन ऋतुएँ मिलकर उसकी एक सौ विधाएँ हैं[३]। स्वयं संवत्सर एक सौ एकवीं विधा है[४]। इस प्रकार संवत्सर के संदर्भ में भी प्रजापति एकशतविध है।

एकशतविध अग्निचयन की नाप-जोख एक सौ एक उद्बाहु पुरुष की माप से की जाती है। अतएव प्रजापति एकशतविध है[५]। अग्नि-संरचना में प्रयुक्त प्राथमिक पचास ईंटें तथा अन्त्य पचास ईंटें एक सौ विधा को प्रतिरूपायित करती हैं[६]। उपरितन इष्टकासमूहों के मध्य में रखो जाने वाली ईंटें एक सौ एकवीं विधा की द्योतक हैं[७]। अग्निकर्म में विनियुक्त प्रारम्भिक पचास यजुष् एवं अन्त में विनियुक्त पचास यजुष शतविधा को प्रख्यापित करते हैं[८]। इन दोनों यजुष्-संघों के मध्य में विनियुक्त यजुष् एक सौ एकवीं विधा को प्रतीकायित करते हैं[९]। यज्ञरूप में भी प्रजापति एकशतविध है। अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रयुक्त ऋचाएँ, यजुष्, पद, अक्षर एवं अनुष्ठानों के द्वारा प्रजापति की एकशतविधता द्योतित करती हैं[१०]। अंगरचना की दृष्टि से भी प्रजापति एकशतविध हैं। पाँच अंगुलियाँ चतुर्विधता से बीस संख्या से युक्त हैं, मणिबन्ध एवं अरत्नि की संख्या दो होती है, संसफलक एक तथा अक्ष (गले में अक्ष के समान स्थित अस्थि) एक तथा बाहु की संख्या एक है। इन सबकी सम्मिलित संख्या पचीस होती है[११]। इसी रीति से दोनों हाथों एवं पैरों में गणना से शतविधा

---

१. तदेव—तस्य रश्मयः शतविधा एष एवैकशततमो य एष तपत्यस्मिन् सर्वस्मिन् प्रतिष्ठितः।

२. श० ब्रा०, १०.२.६.१—संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः।

३. तदेव—षष्ठिमांसस्याहोरात्राणि, चतुर्विंशतिरर्धमासाः, त्रयोदश मासाः, त्रयः ऋतवः, ताः शतं विधाः।

४. तदेव—संवत्सर एवैकशततमी विधा।

५. श० ब्रा०, १०.२.६.१०—यानमूनेकशतमुदबाहून् पुरुषान् मिमोते स विधैकशतविधः।

६. तदेव, १०.२.६.११—स उ वा इष्टकैकशतविधः, याः पंचाशत् प्रथमा इष्टका याश्चोत्तमास्ताः शतं विधाः।

७. तदेव—या एतदन्तरेणेष्टका उपधीयन्ते सैवैकशततमी विधा।

८. तदेव—१०.२.६.१२—स उ एव यजुस्तेजाः, यजुरेकशतविधो यानि पंचाशत् प्रथमानि यजूंषि, यानि चोत्तमानि, ताः शतं विधाः।

९. तदेव—यान्येतदन्तरेण यजूंषि क्रियन्ते सैवैकशततमी विधा।

१०. तदेव, १०.२.६.१३—एवं वाव सर्वं यज्ञा एकशतविधा आग्निहोत्राद् ऋग्भिर्यजुर्भिः पदैरक्षरैः कर्मभिः सामभिः।

११. तदेव, १०.२:६.१४—पंचैमाश्चतुर्विधा अङ्गुलयो, द्वे कल्कुषी, दोरंसफलकम्, चाक्षश्च तत्पंचविंशतिः।

हो जाती है[1]। एक सौ एकवीं विधा प्रजापति का शरीर है[2]। प्रत्येक अंग में प्राण की स्थिति होने से वे भी एकशतविध होते हैं[3]। इस प्रकार अग्निचयन में प्रजापति की एकशतविधता को प्रतिरूपायित किया गया है।

सप्तविध तथा एकशतविध-प्रजापति की अभिन्नता—

प्रजापति एकशतविध होने पर भी सप्तविध ही होता है; क्योंकि प्रथमतः वह सप्तविधरूप में ही सृष्ट हुआ था[4]। अतएव यह कहना शक्य है कि प्रजापति एकशतविध होने पर भी अन्ततः सप्तविध ही रहता है[5]। प्रजापति आदित्य एकशतविध होकर भी चारों दिशाओं तथा तीनों लोकों में ही प्रतिष्ठित होता है[6]। अतएव इन सात देवलोकों में प्रतिष्ठित होने के कारण वह सप्तविध ही है। यह आदित्य, जो एकशतविध है, सात ऋतुओं, सात स्तोमों, सात पृष्ठों, सात छन्दों, सात प्राणों तथा सात दिशाओं में ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता है[7]। अतएव वह सप्तविध ही है। त्रयीविधा अथवा ब्रह्म सात अक्षरों से युक्त है—ऋक् एक अक्षर, यजुष् दो अक्षर, साम दो अक्षर तथा अन्य ब्रह्म (मन्त्र) दो अक्षर। इस सप्ताक्षर ब्रह्म में प्रजापति आदित्य प्रतिष्ठित है[8]। इसी दृष्टि से सात-सात परिश्रितों से अग्नि का परिश्रयण कर एकशतविधता संपन्न की जाती है[9]। इस प्रकार पचास प्राणभृत् ईंटें और तद्विनियुक्त पचास यजुषों की संख्या मिलकर शतविधा होती है[10]। इन ईंटों का सादन एवं सूददोहविधान एकशतविधता को द्योतित करता है[11]। इस दृष्टि से विचार करने पर एकशतविध तथा सप्तविध प्रजापति में कोई भेदकता नहीं दृष्टिगत होती।

---

[1] तदेव—एवमिमानीतराण्यङ्गानि, ताः शतं विधाः, द्र०, सायण, तदेव।

[2] तदेव—आत्मैवैकशततमी विधा।

[3] तदेव, १०.२.६.१५—स उ एव प्राणतेजाः, प्राणैकशतविधोऽन्वङ्गम्, अङ्गेऽङ्गे हि प्राणः।

[4] श० ब्रा०, १०.२.३.१८, २.४.८।

[5] श० ब्रा०, १०.२.४.४—एकशतविधः सप्तविधमभिसम्पद्यते। तु०, तदेव, १०.२.४.५-६।

[6] तदेव, १०.२.४.४—एकशतधा वा असावादित्यो विहितः सप्तसु देवलोकेषु प्रतिष्ठितः, सप्त वै देवलोकाश्चतस्रो दिशस्त्रय इमे लोकाः।

[7] तदेव, १०.२.४.५—एकशतधा वा असावादित्यो विहितः सप्तस्वृतुषु, सप्त स्तोमेषु, सप्तसु पृष्ठेषु, सप्तसु छन्दासु, सप्तसु प्राणेषु, सप्तसु दिक्षु प्रतिष्ठितः।

[8] तदेव, १०.२.४.६—एकशतधा वा असावादित्यो विहितः सप्ताक्षरे ब्रह्मन् प्रतिष्ठितः, सप्ताक्षरं वै ब्रह्मर्गित्येकमक्षरं यजुरिति द्वे सामेति द्वे, यदतोऽन्यद् ब्रह्मैव तत्, द्व्यक्षरं वै ब्रह्म।

[9] तदेव, १०.२.४.७—सप्तभिः सप्तभिः परिश्रयन्ति, तस्मादेकशतविधः सप्तविधमभिसम्पद्यते।

[10] तदेव, १०.२.४.८—प्राणभृत्सु पंचाशदिष्टकाः, पंचाद्यजूंषि, तच्छतम्; प्राणभृत् ईंटों के लिये द्र०, ८.१.१.१; यजुषों के लिये द्र०, वा० सं०, १३.५४-५८।

[11] तदेव—सादनं च सूददोहाश्चैकशततमे।

मण्डलविध-प्रजापति—

अग्नि की उपनिषद् वाक् है[१]। वाक् के द्वारा ही अग्नि का चयन किया जाता है[२]। वाक् त्रयी के रूप में ऋचाओं, यजुषों तथा सामों में त्रिधा विभाजित है[३]। अग्नि की संरचना में इन तीनों का विनियोग किया जाता है। इस प्रकार दैवी वाक् का प्रयोग किया जाता है। यज्ञ में जब कोई मनुष्य कहता है कि यह कर्म करो, यह अनुष्ठान करो तब मानुषी वाक् ही होती है[५]। इसी दृष्टि से अग्नि की संरचना भी त्रिधा-रूप में होती है[६]। संरचना में जिन ईंटों का प्रयोग होता है, वे पुंवाचक, स्त्रीवाचक एवं नपुंसक नामों वाली होती हैं[७]। पुरुष के अंग भी पुंवाचक, स्त्रीवाचक एवं नपुंसकवाचक होते हैं[८]। इस प्रकार त्रिधाविशिष्ट विश्व है तथा वह वाग्रूप है। वाक् एवं आदित्य में भी कोई भेद नहीं है[९]। प्रजापति के वाग्रूप का पहले अनेकत्र प्रतिपादन किया जा चुका है।

द्युलोक में प्रतिष्ठित सूर्य-मण्डल प्रजापति आदित्य का ही त्रयीमय रूप है[१०]। यह मण्डल ऋग्लोक है, जिसे अग्निचयन में प्रयुक्त महदुक्थ प्रतीकायित करता है[११]। मण्डल की अर्चियाँ सामों की प्रतिरूप हैं, जिन्हें अग्निविनियुक्त महाव्रत साम द्योतित करता है[१२]। चयन में आहित पुष्कर-पर्ण भी उपरितन मण्डल-रश्मियों को ही द्योतित करता है[१३]। इस मण्डल में स्थित हिरण्मय पुरुष यजुषों का रूप है और वह चितेनिधेय अग्नि द्वारा प्रतिरूपायित होता है[१४]। इसी दृष्टि से साधारण जन भी

---

१. श० ब्रा०, १०.५.१.१—तस्य वा एतस्याग्नेः वागेवोपनिषद्।

२. तदेव, वाचा हि चीयते।

३. तदेव, १०.५.१.२—सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि।

४. तदेव—एतेन ह त्रयेण चीयते, तु०, १०.५.१.५।

५. तदेव, १०.५.१.१—यन् मानुष्या वाचा हेतीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति।

६. तदेव, १०.५.१.२—तेनाग्निस्त्रेधा विहितः।

७. तदेव—यदस्मिंस्त्रेधा विहिता इष्टका उपधीयन्ते पुन्नाम्न्यः, स्त्रीनाम्न्यः नपुंसकनाम्न्यः।

८. तदेव—त्रेधाविहितान्यु एवेमानि पुरुषस्यांगानि, पुन्नामानि, स्त्रीनामानि, नपुंसकनामानि।

९ तदेव, १०.५.१.४—सा या सा वागसौ स आदित्यः।

१०. श० ब्रा०, १०.५.२.२—सैषा त्रय्येव विद्यातपति।

११. तदेव, १०.५.१.५—मण्डलमेवर्चः; १०.५.२.१—यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थं, ता ऋचः स ऋचां लोक।

१२. तदेव, १०.५.१.५—अर्चिः सामानि; तदेव, १०.५.२.१—यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः।

१३. तदेव, १०.५.१.५—यदेतदर्चिर्दीप्यते, इदं तत् पुष्करपर्णम्।

१४. तदेव, १०.५.२.१—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः; तु०, तदेव, १०.५.१५—पुरुषो यजूंषि।

सूर्य-मण्डल को लक्ष्य कर कहा करते हैं कि यह त्रयीविद्या ही परमज्योति के रूप में दीप्तिमती हो रही है[१]।

इस मण्डल में स्थित पुरुष मृत्यु है[२]। ध्यातव्य है कि प्रजापति और अग्नि को मृत्यु कहा गया है[३]। अर्चिलोक में स्थित होने के कारण इस मृत्यु की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वह अमृत के अन्तर में है[४]। अर्चियाँ अमृतरूप हैं। अतएव निदानतः यह सिद्ध होता है कि मण्डलप्रजापति पुरुष की आत्मा है[५]। अग्निचयन में आहित रुक्म सूर्यमण्डल को रूपायित करता है, एवं पुष्करपर्ण इस मण्डल की रश्मियों को[६]। पुष्करपर्ण जल है[७]। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि अन्यत्र सूर्य को जल की गहनता में स्थित बताया गया है[८]। ऋक्संहिता तथा याजुष् संहिताओं के अनुसार अग्निज्योति सूर्य 'रोचन' नामक लोक में स्थित है; जिसके ऊपर एवं नीचे अनन्त जलराशि स्थित है[९]। इसी दृष्टि से याज्ञवल्क्य का कथन है कि सूर्य के चारों ओर सात सौ बीस नदियाँ प्रवाहित हैं। अग्नि-संरचना में प्रयुक्त तीन सौ साठ परिश्रित एवं तीन सौ साठ यजुष्मती ईंटें इन नदियों को प्रतिरूपायित करती है[१०]।

---

[१] तदेव, १०.५.२.२—तदधैतदप्यविद्वांस आहुः, त्रयी वा एषा विद्यातपति। द्र०, सायण, तदेव; नारायणेन्द्र सरस्वती, पण्डितमण्डनभाष्य, तदेव।

[२] तदेव, १०.५.२.३—स एष एव मृत्युः, य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः। तु०, १०.५.२.२३।

[३] श० ब्रा०, १०.४.३.१, ५.२.१३, १४.६.२.१०; जै० उ०, १.२.५.८, २.१३.२।

[४] तदेव, १०.५.२.४—अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युविवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥

तदेव, १०.५.२.३—एतदमृतं यदेतदर्चिर्दीप्यते, तस्मान्मृत्युर्न म्रियते, अमृते ह्यन्तः, तस्मादु न दृश्यते।

[५] तदेव, १०.५.२.४—एतस्मिन् हि मण्डल एतस्य पुरुषस्यात्मा।

[६] तदेव, १० ५.२.६—यदेतन् मण्डलं तपत्ययं स रुक्मः।
यदेतदर्चिर्दीप्यते, इदं तत् पुष्करपर्णम्, तु०, ७.४.१.१०।

[७] तदेव, १०.५.२.६—आपः पुष्करपर्णम्। तु०, ७.४.१.१३।

[८] श० ब्रा०, ७.५.१.८—एतद्धापां गमिष्ठम्, यत्रैष एतत्तपति।

[९] ऋ० सं०, ३.२२.३—या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त् सूर्य॑स्य॒ याश्चा॒वस्ता॑दु॒पति॒ष्ठ॑न्त॒ आप॑ः; वा० सं०, १२.४९; तै० सं०, ४.२.४.२; का० सं० १६.११; मै० सं०, २.७.११; श० ब्रा०, ८.१.१.२४—रोचनो ह नामैषो लोको यत्रैष एतत् तपति, तद् याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता एतदाह।

[१०] श० ब्रा०, १०.५.४.१४—तस्य नाव्या एव परिश्रितः, ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति, आदित्यं नाव्याः परिश्रयन्ति, नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टकाः, ताः षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि भवन्ति, आदित्यं नाव्या अभिरक्षन्ति।

यजुष्मती ईंटों में से अवशिष्ट छत्तीस ईंटें संवत्सर का तेरहवाँ मास है[1]। यही आत्मा है और इसी को हिरण्यय पुरुष अभिव्यंजित करता है[2]। यह हिरणमय पुरुषमण्डल में स्थित पुरुष ही है[3]।

प्रजापति का आत्मविध रूप एवं मिथुनरूप भी अग्निकर्म में प्रयुक्त विभिन्न पदार्थों के एकीभवन के द्वारा मण्डल को प्रतीकायित करता है। रुक्म एवम् रुक्म द्वारा द्योतित मण्डलप्रजापति पुरुष के दक्षिण नेत्र के शुक्लभाग का प्रतिरूप है[4]। पुष्करपर्ण तथा उसके द्वारा अभिव्यंजित अर्चि प्रजापति पुरुष के नयन में वर्तमान कृष्णभाग है[5]। अग्नि में आहित हिरण्मय पुरुष तथा तद्द्वारा अभिव्यक्त मण्डलस्थ पुरुष दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष है और यह इन्द्र है[6]। लोकम्पृणा वाम नेत्र में स्थित पुरुष है[7]। यही लोकम्पृणा से सम्पादित अग्नि है और यही इन्द्राणी है[8]। इस प्रकार प्रजापति के मिथुनभाव का प्रतिरूप निर्मित किया जाता है[9]। इसीलिये प्रजनन-विधायक मिथुन को प्रतीकायित करने के लिये लोकम्पृणा ईंटों के युग्म-युग्म का आधान अग्नि-संरचना में किया जाता है[10]।

इस प्रजापति पुरुष की प्रतिष्ठा रुक्म, पुष्करपर्ण तथा आप् एवं आदित्यमण्डल है[11]। इन्द्र एवं अग्नि के अभिव्यंजक चिति में आहित दोनों स्रुच वाहु[12] हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष की द्योतक दोनों स्वयमातृण्णा ईंटें हैं[13]। तीनों लोकों में स्थित अग्नि, वायु,

---

[1] श० ब्रा०, १०.५ ४.१४—या अमूः षट्त्रिंशदिष्टका अतियन्ति, यः स त्रयोदशो मासः।

[2] तदेव—आत्मायमेव स योऽयं हिरण्मयः पुरुषः।

[3] तदेव, १०.५.२.६—एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषोऽयमेव योऽयं हिरण्मयः पुरुषः; नारायणेन्द्र सरस्वती, तदेव।

[4] तदेव, १०.५.२.७—यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्मः इदं तच्छुक्लममक्षन्।

[5] तदेव, यदेतदर्चिर्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णमिदं कृष्णमक्षन्।

[6] श० ब्रा०, १०.५.२.७—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः; यश्चैष हिरण्मयः पुरुषः, अयमेव स योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः; तदेव, १०.५ २.९—स एष एवेन्द्रः।

[7] तदेव, १०.५.२.८—स एष एव लोकम्पृणा, योऽयं सव्येऽक्षन् पुरुषः।

[8] तदेव—तामेष सर्वोऽग्निरभिसम्पद्यते; तदेव, १०.२.९--इयमिन्द्राणी।

[9] तदेव, १०.५.२.८—अर्धमु हैतदात्मनो यन्मिथुनम्।

[10] तदेव—द्वन्द्वे हि मिथुनं प्रजननम्। तस्माद् द्वे द्वे लोकम्पृणे उपधीयेते। द्र०, सायण तदेव।

[11] तदेव—१०.५ ४.१५—तस्यैते प्रतिष्ठे, रुक्मश्च पुष्करपर्णं चापश्चादित्यमण्डलं च।

[12] तदेव—स च बाहू ताविन्द्राग्नी।

[13] तदेव—द्वे स्वयमातृण्णे, इयं चान्तरिक्षं च।

सूर्य तीनों विश्वज्योति ईंटें हैं[1]। चिति में उपहित बारह ऋतव्या ईंटें संवत्सर की अभिव्यंजक हैं। यह प्रजापति पुरुष का शरीर है[2]। पाँच नाकसद् तथा पाँच पंचचूडा ईंटें प्रजापति की यज्ञविधता तथा सकल देवात्मकता को प्रतिरूपायित करती हैं[3]। विकर्णी, अन्तिम स्वयमातृण्णा, अश्मापृश्नि एवं चितेनिधेय अग्नि एवं लोकम्पृणा मन्त्र सभी प्रजापति की आत्मा है[4]। जो इसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसके सभी काम अकाम हो जाते हैं[5]। इस प्रकार प्रजापति की मण्डलविधता प्रतीकायित की गयी है।

शतरुद्रिय का प्रतीक अर्थ—

प्रजापति के विसंहत होने पर अन्य सभी कुछ तो चला गया था, परन्तु उसके अन्तर में स्थित मन्यु रह गया था[6]। वह रो पड़ा। उसके जो आँसू गिरे, वे इस मन्यु में अवस्थित हो गये[7]। वह तब सैकड़ों सिरवाला, हजारों आँखों वाला एवं सैकड़ों तरकश वाला रुद्र बन गया[8]। उस समय जो उससे पसीने की बूँदे गिरी, वे सब असंख्य होकर इन लोकों में प्रविष्ट हो गयीं[9]। ये सब उसके रोदन से उत्पन्न हुए थे, अतएव उनका अभिधान रुद्र हो गया[10]। इस प्रकार वह रुद्र शतशीर्षा, सहस्राक्ष, शतेषुधि होकर, अपने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर सब देवों के समक्ष अन्न की इच्छा करता हुआ और उन्हें भयभीत बनाता हुआ उठ खड़ा हुआ[11]। प्रजापति ने देवों से कहा कि इसे अन्न समर्पित कर शान्त बनाओ[12]। इस रुद्र का शामक होने के कारण

---

[1] १. तदेव—तिस्रो विश्वज्योतिष एता देवता अग्निर्वायुरादित्यः। एता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिः।

[2] २. तदेव—द्वादशर्तव्याः स संवत्सरः, स आत्मा।

[3] ३. तदेव—पंच नाकसदः, पंच पंचचूडाः, स यज्ञस्ते देवाः।

[4] ४. तदेव—यद् विकर्णी च स्वयमातृण्णा चाश्मा पृश्निर्यश्चितेऽग्निर्निधीयते, लोकम्पृणायै यजुः, सो सर्वस्यान्तमेवात्मा।

[5] ५. तदेव—स एषोऽकामः सर्वकामो न ह्येतं कस्यचन कामः।

[6] ६. श० ब्रा०, ९.१.१.६—प्रजापतेर्विस्रस्ताद् देवता उदक्रामन्, तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव। सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽतिष्ठत्।

[7] ७. तदेव—सोऽरोदीत् तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दन्, तान्यस्मिन् मन्यौ प्रातिष्ठन्।

[8] ८. तदेव—स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिः।

[9] ९. तदेव—या अन्या विपुषोऽपतन् ता असंख्याता सहस्राणीमांल्लोकाननुप्राविशन्।

[10] १०. तदेव—यद् रुदितात् समभवन्, तस्माद् रुद्राः; तु०, श० ब्रा०, ११.६.३.७, जै० उ०, ४.२.६।

[11] ११. तदेव—सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहितायी भीषयमाणोऽतिष्ठद्, अन्नमिच्छमानः, तस्माद् देवा अबिभयुः।

[12] १२. तदेव, ९.१.१.७—सोऽब्रवीदन्नमस्मै संभरत्, तेनैनं शमयत।

ही इस आहुति का नाम शतरुद्रिय पड़ा[1]।

पूर्ववर्णित पद्धति से अभिसंस्कृत प्रजापति-अग्नि के रौद्र भाव का शमन करने के लिए अर्कपर्ण के द्वारा जर्तिल (जंगली तिल) एवं गवेधुका (जंगली गेहूँ) के सत्तू की आहुति दी जाती है[2]। जर्तिल सकल ग्राम्य एवं आरण्यक अन्नों को प्रतीकायित करता है। यह तिल होने के कारण ग्राम्य है और अकृष्टपच्य होने से आरण्यक है[3]। गवेधुका प्रजापति अग्नि के विस्रंसन के पश्चात् वहाँ पड़ा हुआ मिला, अतएव यह उसका अपना ही रस है[4]। अर्क प्रजापति रुद्र के हृदय से उत्पन्न हुआ था[5]। इस प्रकार इन वस्तुओं के प्रयोग से रुद्र का शमन होता है, वह प्रसन्न होता है, क्योंकि ये सारे पदार्थ उसके अपने ही हैं।

जानु की ऊँचाई तक के चितिदेश में आहुति द्वारा इस लोक में, नाभि की ऊँचाई तक के चितिदेश में आहुति के द्वारा, अन्तरिक्ष तथा मुख की ऊँचाई तक के चितिदेश में आहुति के द्वारा द्युलोक में स्थित रुद्रों को प्रसन्न कर शान्त किया जाता है[6]। इन आहुतियों को परिश्रितों में ही देने का विधान है[7]। सभी परिश्रित प्रजापति के लोम के प्रतिरूप हैं। यह रौद्र आहुति विषय के समान है। कोई विषय लोमों को

---

[1] तदेव, ९.१.१.२—शान्तदेवत्यं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्; तदेव, ९.१.१.७—शतशीर्षाणां रुद्रमेतेनाशमयन्, तस्माच्छतशीर्षरुद्रशमनोयम्, शतरुद्रशमनीयं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्। तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.१।

[2] श० ब्रा०, ९.१.१.१—अत्रैव सर्वोऽग्निः संस्कृतः, स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तदेव, ९.१.१.५—अर्कपर्णेन जुहोति; तै० सं०, ब्रा०, ५.४.३.३; का० सं०, ब्रा०, २१.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; श० ब्रा०, तदेव—जर्तिलैर्जुहोति; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.२; का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; श० ब्रा०, ९.१.१.८—गवेधुकासक्तुभिर्जुहोति; तु० तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.२; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा, तदेव।

[3] श० ब्रा०, ९.१.१.३—स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते, उभयम्वैतदन्नं यज्जर्तिलाः, यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यम्, यदह तिलास्तेन ग्राम्यं, यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यम्।

[4] तदेव—९.१.१.८—यत्र वै सा देवता विस्रस्ताशयत्, ततो गवेधुकाः समभवन्, स्वेनैवेनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति। तु०, तदेव, १४.१.२.१९; द्र०, तदेव, ५.२.४.११,१३।

[5] तदेव—९.१.१.९—एतस्य वै देवस्याशयादर्कः समभवत्; द्र०, तां० ब्रा०, १५.३ २३।

[6] तदेव—९.१.१.११-१३—यज्जानुदघ्नमध इव तद् यदयं लोकस्तद् य इमं लोकं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत् प्रीणातिः; मध्यमिव तद् यननाभिदघ्नं, मध्यमिवान्तरिक्षलोकस्तद् येऽन्तरिक्षलोके रुद्राः प्राविशंस्तास्तत् प्रीणाति; उपरीव तद् यन्मुखदघ्नमुपरीव तद् यदसौ लोकस्तद् येऽमुं लोकं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत् प्रीणाति।

[7] तदेव, ९.१.१.१०—परिश्रित्सु जुहोति।

हानि पहुँचाने में असमर्थ है[1]। अतएव परिश्रितों में आहुति दी जाती है। यह रौद्र आहुति उत्तर दिशा में दी जाती है, क्योंकि रुद्र की अवस्थिति उत्तर में बतायी गयी है[2]।

प्रजापति अग्नि के संवत्सर रूप के रुद्रभाव का शमन भी इस शतरुद्रिय से होता है। रुद्राध्याय में कुल यजुषों की संख्या चार सौ पचीस है[3]। इसके तीन सौ साठ यजुषों के द्वारा संवत्सर के दिनों में स्थित रुद्रभाव को शान्त किया जाता है[4]। तीस यजुषों से मास की तीस रात्रियों के रौद्रभाव का समापन करने का विधान है[5]। अवशिष्ट पैंतीस यजुष् संवत्सर के तेरहवें मास को अभिव्यक्त करते हैं। यह संवत्सर का शरीर है[6]। इन यजुषों में तीस शरीर हैं, दो चरण, दो प्राण तथा एक यजुष् शिर का द्योतक है[7]। यही प्रतोकविधान प्रजापति अग्नि की आंगिक संरचना को भी प्रतीकायित करता है। शाण्डिल अग्नि में इसी दृष्टि से इतनी यजुष्मती ईंटों का आधान किया जाता है[8]। इस प्रकार प्रजापति अग्नि के रुद्रभाव का उपशमन करने के साथ-साथ इष्टका रूप में स्थित अग्नि भी आहुति द्वारा प्रीत होता है तथा अग्नि के उत्तम कल्याण रूप का विधान किया जाता है[9]।

अग्नि-परिषेक का प्रतीक अर्थ—

देवों ने श्रेयोविधान के निमित्त शतरुद्रिय से अग्निरुद्र का परिशमन करने के

---

[1] तदेव—लोमानि वै परिश्रितो न वै लोमसु विषं न किंचन हिनस्ति।

[2] श० ब्रा०, ९.१.१.१०—उत्तरार्द्धेऽग्नेरुदङ् तिष्ठन् जुहोति, एतस्यां ह दिश्येतस्य देवस्य गृहाः. स्वायामेवैनमेतद् दिशि प्रीणाति, स्वायां दिश्यवयजते। उत्तर-दिशा में रुद्र की अवस्थिति के लिये द्र०, तदेव, १.७.३.२०, २.६.२.७; तै० ब्रा०, १.७.८.६; कौ०ब्रा०, ५.७।

[3] श० ब्रा०, ९.१.१.४३—षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्येतच्छतरुद्रियम्, अथ त्रिंशत्, अथ पंचत्रिंशत्; द्र०, वा० सं०, १६.१-६६; तै० सं०, ४.५.१-११, का० सं०, १७.११-१६, मै० सं०, २.९.१-१०; क० सं०, २७.१-६; एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० १५०।

[4] तदेव—ततो यानि षष्टिश्च त्रीणि च शतानि, तावन्ति संवत्सहस्याहानि, तत् संवत्सरस्याहान्याप्नोति। द्र०, एग्लिंग्, तदेव, पृ० १६७, पा० टि० १।

[5] तदेव—यानि त्रिंशत्, त्रिंशन्मासस्य रात्रयः, तन्मासस्य रात्रीराप्नोति।

[6] तदेव—यानि पञ्चत्रिंशत्, स त्रयोदशो मासः, स आत्मा।

[7] तदेव—त्रिंशदात्मा, प्रतिष्ठा द्वे, प्राणा द्वे, शिर एव पञ्चत्रिंशम्।

[8] तदेव—एतावत्य उ वै शाण्डिलेऽग्नौ मध्यतो यजुष्मत्य इष्टका उपधीयन्ते।

[9] तदेव—अग्नयो हैते पृथक्—यदेता इष्टकाः; एवमु हास्यैतेऽग्नयः पृथक्शतरुद्रियेणाभिहुता भवन्ति।

पश्चात् उसे और शान्त बनाने के लिये अग्नि-परिषेक किया[१]। इस कार्य को अग्नीत् नामक ऋत्विज् करता है[२]। अग्नीत् अग्नि का मूर्तरूप है, अतएव वह निर्भय होकर सेचनकर्म करता है, क्योंकि अग्नि अपने-आप को कोई हानि नहीं पहुँचाता[३]। संचित अग्नि का जल के द्वारा तीन बार सेचन कर तीनों लोकों को शान्त बनाता है, क्योंकि अग्नि त्रिलोकात्मक है[४]। इस प्रकार अग्नीत् तीनों लोकों के चारों ओर समुद्र का वितन्वन करता है[५]। शतरुद्रिय आहुति एवं जल के द्वारा सेचन से इस प्रजापति के शोक एवं पाप के अपनोदन को प्रतिरूपायित किया जाता है[६]। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड के शोक तथा पाप को दूर करने का सत्प्रयास होता है।

अग्नि-विकर्षण का प्रतीक अर्थ—

देवों के अधिक श्रेयोविधान की दृष्टि से रुद्र अग्नि का उपरिवर्णित उपशमन करने के अनन्तर अग्नि विकर्षण के द्वारा उसे सर्वतोभावेन शान्त करता है[७]। पहले जब प्राण-ऋषियों ने अग्नि का अवोक्षण किया था, तब अवोक्षणजल नीचे गिर कर मण्डूक हो गया था[८]। जल ने प्रजापति से कहा कि हमारा रस

---

१. तदेव, ९.१.२.१—एनं देवाः शतरुद्रियेण शमयित्वाथैनमेतद् भूय एवाशमयन्। तु०, तै०सं०ब्रा०, ५.४.४.१, शतरुद्रिय के रहस्यवादी अर्थ के लिये द्र०, गण्डाभाई गिरिजाशंकर देसाई, थिंकिग् विद् दि यजुर्वेद, एशिया पब्लिशिग् हाउस, बम्बई, १९६७, पृ० १२३ आदि।

२. तदेव, ९.१.२.४—अग्नीत् परिषिंचति।

३. तदेव—अग्निरेष यदाग्नीध्रो नो वात्मात्मानं हिनस्ति।

४. तदेव, ९.१.२.३—इमे वै लोका एषोऽग्निरिमांस्तल्लोकानद्भिः परितनोति।

५. तदेव—समुद्रेण हैतास्तत्परितनोति।

६. तदेव, ९.१.२.१०-११—अस्यैतेन शुचं पाप्मानमपहन्ति. लोकेभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति।

७. श० ब्रा०, ९.१.२.२०—एनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतदभूय एवाशमयन्; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.४.२।

८ तदेव, ९.१.२.२१—यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षस्ता आपः समस्कन्स्ते मण्डूका अभवन्। ध्यातव्य है कि सायण का कथन है कि ऋषियों, प्राणों के द्वारा जल से अग्नि का संस्कार छठें काण्ड श० ब्रा०, में उल्लिखित है—संस्कारप्रकारस्तु षष्ठकाण्डस्यादावुक्तः। इसी प्रकार इस संदर्भ को एग्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० १७४, पा० टि० २ में श० ब्रा०, ६.१ १.१-५ को देखने का निर्देश देता है। परन्तु इस प्रकार का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है। श० ब्रा०, ६.१.१.४ में केवल यह उल्लेख है कि प्रारंभ में जो सात प्राण, पुरुष या ऋषि स्थित थे, उन सात पुरुषों की श्री अथवा रस का ऊर्ध्वं दोहन कर पुरुष प्रजापति के शिर की संरचना की गयी थी—यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदोहन्-तदस्य शिरोऽभवत्। यहाँ जल से प्रजापति के अवोक्षण का कोई संकेत नहीं है।

नीचे चला गया। प्रजापति ने कहा कि उस रस को इस वनस्पति के रूप में जानो (वेत्तु सः)। प्रजापति के द्वारा ऐसा कहा जाने पर वह वनस्पति वेतस हो गया[१]। जल ने प्रजापति से जो यह कहा था कि हमारा रस नीचे (अवाक्) चला गया है, उसी के फलस्वरूप 'अवाक्का' उत्पन्न हुई, जिसे मनुष्य अवका (शैवाल, सेवार) कहते हैं[२]। इस प्रकार अग्नि-विकर्षण में प्रयुक्त मण्डूक, अवका एवं वेतस तीनों ही जल के प्रतिरूप हैं[३]। ध्यातव्य है कि जल के बिना इन तीनों वस्तुओं की स्थिति असंभाव्य है। इस विकर्षण में प्रजापति को त्रिधा अन्न प्रदान किया जाता है—मण्डूक के रूप में पशु-अन्न, अवका के रूप में जल-अन्न तथा वेतस-शाखा के रूप में वनस्पति-अन्न। इस प्रकार उसे अन्न देकर शमन किया जाता है[४]।

मण्डूक, अवका एवं वेतसशाखा को बाँस में बाँधकर चित अग्नि के ऊपर घसीटना ही अग्नि-विकर्षण है[५]। सर्वप्रथम परिश्रित का विकर्षण किया जाता है[६]।

---

१. श० ब्रा०, ९.१.२.२२––ताः प्रजापतिमब्रुवन्, यद् वै नः कमभूदवाक् तदगादिति, सोऽब्रवीदेष वा एतस्य वनस्पतिर्वेत्तु, इति, वैत्तु स वैत्तुसो ह वैत वैतस इत्याचक्षते परोक्षम्।

२. तदेव––यदब्रुवन्नवाङ्गः कमगादिति ता अवाक्का अभवन्नवाक्का ह वै ता अवका इत्याचक्षते परोक्षम्। एग्लिंग, से० बु० ई०, ४१, पृ० ३९२, पा० टि० २ में ए ग्रासी प्लाण्टग्रोइंग इन मार्शी लैण्ड (दलदली भूमि में पैदा होने वाला घास का एक पौधा (लोटस् फ्लावर, कमल का फूल)। यह टिप्पणी, वेबर, इन्दिश्शे स्तूदियन, १३, पृ० २५० पर आधारित है। श० ब्रा०, ९.१.२.२२ (प्रकृत संदर्भ) में एग्लिंग ने अनुवाद में अवका के आगे कोष्ठान्तर्गत कमल अर्थ किया है। मोनियर विलियम्स भी अपनी डिक्शनरी के पृ० ९६ में दलदली भूमि में उगा घास का एक पौधा अर्थ लिखता है। एक सीमा तक दलदली भूमि में उगा घास का पौधा अर्थ ठीक है। कमल अथवा कमल का फूल अर्थ तो नितान्त अनुचित एवं त्रुटिपूर्ण है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि अवका सरोवरों, नदियों एवं समुद्र में भी उत्पन्न होती है। सायण, श० ब्रा०, ७.५.१.११; महीधर, वा० सं०, १७.४; कर्क, का० श्रौ० (वेबर), पृ० ९६, १७४.२८; वाचस्पत्यम्, भाग १, पृ० ९६ के अनुसार अवका का अर्थ शैवाल (सेवार) है। यह घास सर्वसुलभ एवं पशुओं के खाद्य के रूप में आज भो सर्वप्रथित है। इसी दृष्टि से कूर्म को चिति में रखते समय उसके ऊपर एवं नीचे शैवाल (अवका) रखने की विधि है; द्र०, श० ब्रा०, ७.५.१.११।

३. तदेव, ९.१.२.२२––ता हैतास्त्रय्य आपो यन् मण्डूकोऽवकावैतसशाखैताभिरेवैनमेतत्त्रयीभिरद्भिः शमयति।

४. तदेव––सर्वं वै तदन्नं यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखा, पशवश्च ह्येता आपश्च वनस्पतयश्च, सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति।

५. तदेव, ९.१.२.२५––तानि वंशे प्रबध्य (परिकर्षंति)।

६. तदेव––परिश्रितः विकर्षति।

यह विकर्षण समुद्र के जल के रूप में स्थित अवका के द्वारा परिश्रितों में वर्तमान अग्नि का परिशमन है[1]। इसके बाद चित अग्नि के जघनार्द्ध से उत्तर की ओर विकर्षण किया जाता है। यह हिम के जरायु (गर्भ को ढंकने वाली झिल्ली) द्वारा अग्नि को शान्त करने का विधान है[2]। अब चित अग्नि के उत्तरार्ध से पूर्व की ओर विकर्षण कर प्रजापति अग्नि का शमन वेतस तथा मण्डूकी द्वारा किया जाता है[3]। इसके पश्चात् अग्नि के पूर्वार्ध भाग से दक्षिण की ओर विकर्षण का विधान है[4]। जल-अयन एवं समुद्र-निवेशन मण्डूक तथा वेतसशाखा के द्वारा अग्नि को परिशान्त बनाया जाता है[5]। अब चित अग्नि के आत्मप्रदेश, दक्षिणपक्ष, पूँछ तथा उत्तरपक्ष का विकर्षण किया जाता है[6]।

उपरितन वर्णन से स्पष्ट है कि कुल मिलाकर सात बार अग्नि का परिकर्षण किया जाता है[7]। अग्नि में सात चितियाँ हैं एवं प्रजापति संवत्सर में सात ऋतुएँ हैं[8]। इस प्रकार अग्नि के परिमाण की सदृश संख्या में विकर्षण कर अग्नि को सर्वतोभावेन शान्त एवं शिव बनाया जाता है। इसी दृष्टि से अग्नि के आत्मप्रदेश आदि के विकर्षण में विनियुक्त यजुषों में विकर्षणशः पावकपद का प्रयोग मिलता है, क्योंकि अग्नि का पावक विरुद ही शिवतम तथा शान्ततम है[9]।

---

१. तदेव--समुद्रियाभिस्त्वाद्भिः शमयामः। द्र०, वा० सं०, १७.४; तै० सं०, ४.६.१.१; का० सं०, १७.१७; मै० सं०, २.१०.१, क० सं०, २८.१—स॒मु॒द्रस्य॒ त्वाव॑क॒याग्ने॒ परि॑व्ययामसि।

२. श० ब्रा०, ९.१.२.२६—जघनार्धद्नोक; द्र०, वा० सं०, १७.५; तै० सं०, ४.६.१.१; का० सं०, तदेव; मै० सं०; तदेव; क० सं०, तदेव--हि॒मस्य॑ त्वा ज॒रायु॑णाग्ने॒ परिव्ययामसि; श० ब्रा०, तदेव--यद् वै शीतस्य प्रशीतं, तद्धिमस्य जरायु, शीतस्य त्वा प्रशीतेन शमयामः।

३. तदेव, ९.१.२.२७, उत्तरार्धेन प्राक्; द्र०, वा० सं०, १७.६; तै० सं०, ४.४.१.२; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव--उपज्मन्नुपवैतसेऽवतर नदीष्वा। अग्नेऽपित्तमपामसि मण्डूकिताभिरागहि।

४. तदेव, ९.१.२.२८--पूर्वार्धेन दक्षिणा।

५. वा० सं०, १७.७; तै० सं०, ४.६.१.३; का० सं०, तदेव; मै० सं०, तदेव; क० सं०, तदेव--अ॒पामि॒दं न्यय॑नꣳसमुद्रस्य॑ नि॒वेश॑नम्।

६. श० ब्रा०, ९.१.२.२९--आत्मानमग्रे विकर्षति, अथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरम्। तु०, तदेव, ९.१.२.३०।

७. तदेव, ९.१.२.३१--सप्तभिर्विकर्षति।

८. तदेव--सप्तचितिकोऽग्निः, सप्तर्तवः संवत्सरः, संवत्सरोऽग्निः, यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतद्विकर्षति; तदेव, ९ १.२.३०--शमयत्येवैनम्।

९. वा० सं०, १७.८.१०; तु०, तै० सं०, ४.६.१.३; का० सं०, १७.१७; मै० सं०, २.१०.१; क० सं०, २८.१; श० ब्रा०, ९.१.२.३०--पावकं पावकमिति, यद् वै शिवं शान्तं तत् पावकम्।

साम-परिगान : प्रतीक अर्थ—

प्रजापति अग्नि के अभिसंस्कृत हो जाने पर देवों ने उसमें उत्तम रूप एवं प्राण का आधान किया था[१]। यह रूप अमृत है; क्योंकि प्राणरूप साम अमृत है[२]। देवों ने प्रजापति के शरीर को अस्थिरहित एवं अमृत बनाने की इच्छा करने के पश्चात् इन सामों का दर्शन किया था, जो इस समय गाये जाते हैं[३]। लोकों के उत्थानयुक्त होने के कारण सामगान करने वाला व्यक्ति खड़ा रहकर साम का उद्गान करता है[४]। गान में हिंकार प्रयोग अपरिहार्य है, क्योंकि इससे साम में पूर्णता का सनिवेश होता है[५]।

अग्नि के लिये सर्वप्रथम गायत्रसाम गाया जाता है। इससे गायत्र अग्नि के सिर को हड्डीरहित तथा अमृत बनाया जाता है[६]। दक्षिण पक्ष में रथन्तर साम का गान होता है। रथन्तर पृथ्वी का रूप है[७]। पृथ्वी रस से आपूरित होने के कारण रसा है। रथन्तर का परोक्ष अभिधान 'रसंतम' है[८]। इससे अग्नि के दक्षिण पक्ष को पृथ्वी का रूप देकर एवं अस्थिरहित कर अमृतत्व में पहुँचाया जाता है[९]। प्रजापति अग्नि के उत्तर पक्ष में बृहत् नामक साम को गाने का विधान है[१०]। इससे इस पक्ष को द्युलोक का बृहत् रूप प्रदान किया जाता है[११]। साथ ही साथ इस पक्ष को अस्थियों से रहित बनाकर अमृतत्व की उपलब्धि करायी जाती है[१२]। अग्नि के आत्मप्रदेश में वामदेव्य साम गाया

---

१. श० ब्रा०, ९.१.२.३२—अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतदमृतं रूरमदधुः।

२ तदेव—प्राणा वै सामानि, अमृतमु वै प्राणाः।

३. तदेव, ९.१.२ ३३—एतद् वै देवा अकामयन्तानस्थिकमिममृतमात्मानं कुर्वीमहि; तदेव, ९.१.२ ३४—ते चेतयमाना एतानि सामान्यपश्यन्।

४. तदेव—तिष्ठन् गायति, तिष्ठन्तीव वा इमे लोकाः।

५. तदेव—हिङ्कृत्य गायति, तत्र हि कृत्स्नं सर्वं कृत्स्नं साम भवति।

६. तदेव—९.१ २.३५—गायत्रं पुरस्ताद् गायति, अग्निर्वै गायत्रम्, अग्निमेवास्यैतच्छिरः करोति, शिर एवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति। द्र०, एग्लिंग, से० बु० ई०, ४३, पृ० १७८ पा० टि० १; तु०, ऐ० ब्रा०, ८.२, तै० ब्रा०, १.४.६.२; कौ० ब्रा०, ३.५; ता० ब्रा०, ६.८.१८, ष० ब्रा०, २.२।

७. तदेव, ९.१.२.३६—रथन्तरं दक्षिणे पक्षे गायति, इयं वै रथन्तरम् (द्र०, सायण, तदेव)।

८. तदेव—अस्या हीमे सर्वे रसाः, रसन्तमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्।

९. तदेव—इमामेवास्यैतद् दक्षिणं पक्षं करोति, अनस्थिकममृतं करोति।

१०. तदेव—९.१.२.३७—बृहदुत्तरे पक्षे। द्र०, सायण, श० ब्रा०, तदेव; एग्लिंग, तदेव, पृ० १७९, पा० टि० १।

११. तदेव—द्यौर्वै बृहत्, द्यौर्हि बर्हिष्ठा, दिवमेवास्यैतदुत्तरं पक्षं करोति; द्र०, ऐ० ब्रा०, ८.२; कौ० ब्रा०, ३.५; तै० ब्रा०, १.४.६ २; तां० ब्रा०, ७.६.१७।

१२. श० ब्रा०, ९.१.२.३७—उत्तरमेवास्यैतत् पक्षमनस्थिकममृतं करोति।

जाता है[1] वामदेव्य साम प्राण का रूप है और प्राण है वायु[2] । यह वायु सभी देवों की आत्मा है[3] । इस प्रकार वायु प्रजापति अग्नि की आत्मा के रूप में प्रतिरूपायित किया जाता है[4] । अब अग्नि की आत्मा अस्थिविहीन होकर अमृत हो जाती है[5] । अग्नि के पुच्छ देश में यज्ञायज्ञिय सामगान का विधान है[6] । यज्ञायज्ञिय चन्द्रमा का रूप है[7] । जो भी यज्ञ संस्थित होता है, उसकी आहुतियों का रस चन्द्रमा में पहुँच जाता है[8] । चन्द्रमा में प्रत्येक यज्ञ पहुँच जाता है, अतएव इसका नाम यज्ञायज्ञिय[9] है । अग्नि की पूँछ में यज्ञायज्ञिय साम का गान होने से वह चन्द्रमा बन जाता है और इस प्रकार न केवल पूंछ अस्थिविहीन बनती है, अपितु वह अमृत हो जाती है[10] । अन्त में वह प्रजापति अग्नि के आत्मप्रदेश में प्रजापति-हृदय (प्रजापतेर्हृदयम्) नामक साम गाया जाता है[11] । द्युलोक में स्थित आदित्य हृदय है[12] । आदित्य साफ-सुथरा एवं परिमण्डल के आकार का है। हृदय भी चिकना एवं वर्तुल है[13] । आत्मा में हृदय होता है, अतएव प्रजापति-हृदय का गान आत्मदेश में ही करने की विधि है[14] । आत्मदेश में भी इस साम का गान अग्नि की दाहिनी काँख (निकक्ष) के स्थान पर (जिस स्थान पर दक्षिण पक्ष अग्नि के आत्मदेश से जुड़ा है) किया जाता है, क्योंकि हृदय दक्षिण-निकक्ष के अति समीप है[15] । इस साम का गान कर अग्नि के

---

१. तदेव, ९.१.२.३८—वामदेव्यमात्मन् । सायण, श० ब्रा०, तदेव; एग्लिंग, तदेव ।

२. तदेव—प्राणो वै वामदेव्यम्, वायुरु प्राणाः; द्र०, ऐ० ब्रा०, २.२६; कौ० ब्रा० ५.८; तां० ब्रा०, ४.६.८ ।

३. तदेव—सर्वेषामु हैव देवानात्मा यद्वायुः । तु०, श० ब्रा०, १४.३.२.७ ।

४. तदेव—वायुमेवास्यैतदात्मानं करोति ।

५. तदेव—आत्मानमेवास्यैतदनस्थिकममृत् करोति ।

६. तदेव, ९.१.२.३९—यज्ञायज्ञियं पुच्छम् । द्र०, सायण, तदेव; एग्लिंग, तदेव ।

७. तदेव- चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियम् ।

८. तदेव—यो हि कश्च यज्ञः सन्तिष्ठते, एतमेव तस्याहुतीनां रसोऽप्येति । द्र०, एग्लिग् तदेव, पृ० १७९, पा० टि० २ ।

९. तदेव—तद् यदेतं यज्ञो यज्ञोऽप्येति तस्माच्चन्द्रमा यज्ञायज्ञियम् ।

१०. तदेव—चन्द्रमसमेवास्यैतत् पुच्छं करोति, पुच्छमेवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति ।

११. तदेव, ९.२ १.४०—प्रजापतेर्हृदयं गायति; सायण, श० ब्रा०, तदेव; एग्लिंग, तदेव, पृ० १८०, पा० टि० १ ।

१२. तदेव—असौ वा आदित्यो हृदयम् ।

१३. श० ब्रा०, ९.२.१.४०—श्लक्ष्ण एषः, श्लक्ष्णं हृदयम्, परिमडण्ल एषः, परिमण्डलं हृदयम् ।

१४. तदेव- आत्मन् गायति, आत्मनं हि हृदयम् ।

१५. तदेव—निकक्षे, निकक्षे हि हृदयम्, दक्षिणे निकक्षे, अतो हि हृदयं नेदीयः । एग्लिंग, तदेव, पृ० १९८०, पा० टि० १ ।

हृदय को आदित्य के रूप में प्रतिरूपायित कर इसमें प्रतिष्ठित किया जाता है[१]। इस प्रकार प्रजापति अग्नि के हृदय को अस्थिरहित अमृत बना दिया जाता है[२]। प्रजापति-हृदय साम का गान प्रजा एवं प्रजापति दोनों के लिए होता है, अतएव निदानतः दोनों में हृदय को आहित किया जाता है[३]। यह अग्नि प्रजा एवं प्रजापति दोनों है, अतएव अन्ततः हृदय का उपधान अग्नि में ही होता है[४]। ये सभी साम अमृत ईंटें हैं। अतएव इनका आधान सबसे ऊपर किया जाता है[५]। साम इष्टका के रूप हैं, अतएव इनका गान अध्वर्यु ही करता है[६]।

स्वयमातृण्णा-व्याधारण : प्रतीक अर्थ—

चिति के ऊपर आरोहण कर स्वयमातृण्णा नामक ईंट पर पाँच बार में लिये गये घी को डालना स्वयमातृण्णा-व्याधारण है[७]। इस व्याधारण के द्वारा प्राणरूप स्वयमातृण्णा को अन्न-दान तथा चिति में उत्तम रूप का आधान है[८]। अग्नि के पाँच नाम हैं—नृषद्, अप्सुषद्, बर्हिषद्, बनसद् एवं स्वर्विद्[९]। इन पाँचों के लिए पाँच आहुतियाँ आज्य की दी जाती हैं। इस प्रकार मनुष्यों के भीतर प्राण के रूप में स्थित, जल में स्थित, औषधियों में स्थित, वृक्षों में स्थित एवं आदित्य को जाननेवाले अग्नि को नाम लेकर आहुति प्रदान की जाती है और उसे प्रसन्न किया जाता है[१०]। अग्नि की पाँच चितियाँ होती हैं एवं संवत्सर में पाँच ऋतुएँ। संवत्सर अग्नि है। इस प्रकार अग्नि के बराबर ही आहुतियों को देकर उसे पूर्णतया प्रीत किया जाता है[११]।

---

[१] तदेव—आदित्यमेवास्यैतद्धृदयं करोति।

[२] तदेव—हृदयमेवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति।

[३] तदेव—९.१.२.४१—प्रजासु च प्रजापतौ च गायति।

[४] तदेव—यत् प्रजापतौ गायति, तदग्नौ हृदयं दधाति; तदेव—९.१.२.४१—अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च।

[५] तदेव, ९ १.२.४३—ता हैता अमृतेष्टकाः, ता उत्तमा उपदधाति।

[६] तदेव—तान्योऽध्वर्योर्गायेत्, इष्टका ह वा एताः।

[७] श ब्रा०, ९.२.१.३—आरुह्याग्निं स्वयमातृण्णां व्याधारयति, आज्येन पंचगृहीतेन।

[८] तदेव—९.२.१.४—प्राणः स्वयमातृण्णा, प्राणे तदन्नं दधाति।

[९] तदेव, ९.२.१.९—एतान्यग्नेर्नामानि, तान्येतत् प्रीणाति; द्र०, वा० सं०, १७.१२, तै० सं०, ४ ६.१.४; का० सं०, १७.१७; मै० सं०, २.१०.१; क० सं०, २८.१।

[१०] श० ब्रा०, ९.२.१.८—प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरः, तद् योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतत् प्रीणाति, योऽप्स्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति, य औषधीष्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति, यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति, अयमग्निः स्वर्विद्, इममेवैतदग्निं प्रीणाति।

[११] तदेव, ९.२.१.१०—पंचचितिकोऽग्निः, पंचर्तवः संवत्सरः, संवत्सरोऽग्निः।

दधि, मधु एवं घृत से अग्नि का समुक्षण : प्रतीक अर्थ—

विस्रस्त-प्रजापति को प्राणरूप ऋषियों ने दधि, मधु एवं घृत से समुक्षित कर उनमें अन्न एवं उत्तम रूप का आधान किया था। उसी कर्म के अनुकरण में इस समय भी चित-अग्नि को उत्तम अन्न दिया जाता है और उसमें उत्तम रूप को उपहित किया जाता है[1]। दधि, मधु एवं घृत सभी अन्नों का प्रतिनिधित्व करते हैं[2]। इस प्रकार प्रजापति अग्नि को सभी अन्नों द्वारा प्रसन्न किया जाता है[3]। यह समुक्षण मेध्य कुशों के द्वारा किया जाता है[4]। समुक्षण परिश्रितों के बाहर ही करने की विधि है[5]।

अश्मापृश्नि : प्रतीक अर्थ—

गार्हपत्य में आहित उख्य अग्नि को चित आहवनीय में स्थापन करने के लिये जाते हुए अध्वर्यु आदि के द्वारा आग्नीध्रीय धिष्ण्य के समीप अश्मापृश्नि (श्वेत या विचित्रवर्णी पत्थर) को रखा जाता है[6]। यह अश्मापृश्नि आदित्य का प्रतिरूप है[7]। पृश्नि रश्मियों को अभिव्यक्ति देती है, क्योंकि रश्मियों के अभाव में सूर्य-मण्डल की स्थिति असम्भव है[8]। आग्नीध्रीय धिष्ण्य अन्तरिक्ष को प्रतीकायित करता है[9]। सूर्यमण्डल पृथ्वीलोक तथा द्युलोक के मध्य में है। इसी दृष्टि से आग्नीध्रीय अग्नि गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नियों के मध्य में होता है। गार्हपत्य पृथ्वी है और आहवनीय द्युलोक[10]। अश्मापृश्नि प्राण, आयु तथा अन्न के रूप को प्रतिरूपायित

---

[1] तदेव, ९.२.१.१३—यत्रैत प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्नि समस्कुर्वन्। तदेव, ९.२.१.१२–एतद् परममन्नं यद् दधि मधु घृतम्, तद् यदेव परमं रूपं तदस्मिन्नेतदुत्तमं दधाति। द्र०, एग्लिंग, से० बु० ई०, पृ० १८५, पा० टि० १ दधि, मधु, घृत के लिये द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० २०२, १४६, १५०, १६६, २००।

[2] श० ब्रा०, ९.२.१.११—सर्वम्वैतदन्नं यद् दधि मधु घृतम्।

[3] तदेव—सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति।

[4] तदेव, ९.२.१.१२—दर्भैस्ते हि शुद्धाः मेध्याः।

[5] तदेव—बाह्येन परिश्रितः।

[6] श० ब्रा०, ९ २.२, २.१.१-१३; तदेव, ९.२.३.१४—अश्मानं पृश्निमुपदधाति।

[7] तदेव—असौ वा आदित्योऽश्मा मण्डलं पृश्नि।

[8] तदेव—पृश्निर्भवति, रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि।

[9] तदेव. ९.२ ३.१५—आग्नीध्रवेलायाम्, अन्तरिक्षं वा आग्नीध्रनेतं तदन्तरिक्षे दधाति; द्र०, एग्लिंग, से० बु० ई०, ४३, पा० टि० १, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.६.४-५; का० सं० ब्रा०, २१.८।

[10] तदेव, ९.२.३.१४—अयं वै लोको गार्हपत्यः, द्यौराहवनीयः, एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति, तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति।

करता है[1]। आदित्य का प्रतिरूप अश्मापृश्नि विश्व का निर्माता, सेक्ता, अरुण एवं सुपर्ण है[2]। अग्नि-परिषेक के समय अश्मापृश्नि को उठाकर चित अग्नि पर आहित किया जाता है[3]। इस प्रकार चित-अग्नि में वह सूर्यमण्डल के रूप में स्थापित करने के लिए उपहित किया जाता है।

अग्नि-आधान : प्रतीक अर्थ—

चिति के ऊपर उख्य-अग्नि का आधान सुपर्ण-प्रजापति के रूप में किया जाता है[4]। ध्यातव्य है कि उखा में अग्नि-आधान के अनन्तर उसे सुपर्णरूप देते हुए रेतोरूप में बिखेरा जाता है[5]। अतएव अब उसे उसी रूप में यहाँ चित किया जाता है। लोक में भी गर्भ में जिस प्रकार के वीर्य को आहित किया गया है, उससे उत्पन्न होने वाला भी उसी रूप का होता है। सृष्टिगाथा में वर्णित है कि जब सात पुरुषों को एक पुरुष के रूप में किया गया था, तब उन सात पुरुषों की जो श्री अथवा रस था, उसे ऊपर की ओर लाया गया था। वही उस पुरुष-प्रजापति का शिर बना था[6]। सात पुरुषों के द्वारा जो एक पुरुष बना था, वही प्रजापति, पुरुष और इस चिति में आधेय अग्नि है[7]। यहाँ जिस अग्नि का चयन किया गया है, वह प्रजापति का शरीर है। गार्हपत्य में पूर्वस्थापित उख्य-अग्नि का आधान प्रजापति के सिर के रूप में किया जाता है[8]।

वैश्वानर-पुरोडाश : प्रतीक अर्थ—

सम्पूर्ण रूप में अग्नि को संस्कृत कर लेने पर उसे वैश्वानर के रूप में देवत्व

---

[1] तदेव, ९.२.३.१६—स एष प्राणः, प्राणमेवैतदात्मन् धत्ते, तदेतदायुः आयुरेवैतदात्मन् धत्ते, अन्नमु वा आयुः।

[2] वा० सं०, १७.५९-६०—वि॒मान॑ ए॒षः, उ॒क्षा स॑मुद्रो अ॑रु॒णः सु॑प॒र्णः; तै० सं०, ४.६.३.३-४; का० सं०, १८३; मै० सं०, २.१०.५; क० सं०, २८.३; श० ब्रा०, ९.२ ३.१७-१८; तै० सं० ब्रा०, ५.४.६.४; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, ३.३ ८; द्र०, महीधर. वा० सं०, तदेव।

[3] श० ब्रा०, ९.१.२.५-९।

[4] वा० सं०, १७.७२; तै० सं०, ४.६.५.३; का० सं०, १८.४; मै० सं०, २.१०.६; क० सं०, २८.४; श० ब्रा०, ९.२.३.३४; का० सं० ब्रा०, २१.९।

[5] श० ब्रा०, ६.७.२.५-६; तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०.५; का० सं ब्रा०, १९.११; मै० सं०, ३.२.१।

[6] श० ब्रा०, ६.१ १.४—यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदोहस्तदस्य शिरोऽभवत्; द्र०, तदेव, ९.२.३.५१।

[7] श० ब्रा०, ६.१.१.५—स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्, स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते; द्र०, तदेव; खोंदा दि सवयज्ञज़्, पृ० २४८।

[8] श० ब्रा०, ९.२.३.५१—आत्मायमग्निश्चितः, आत्मानमेवास्यैतत् संस्कृतस्य शिरः प्रतिदधाति।

प्रदान करने के लिए बारह कपालों पर पकाये गये पुरोडाश की हवि समर्पित की जाती है[1]। वैश्वानर संवत्सर का रूप है, अतएव उसके लिए पुरोडाश द्वादशकपालक होता है, क्योंकि संवत्सर में बारह मास होते हैं[2]। दीक्षणीय इष्टि में वैश्वानर-अग्नि को रेत के रूप में स्थापित किया गया था, अतएव वहाँ वैश्वानर-पुरोडाश से सम्बन्धित कर्म उपांशुरूप में हुआ था[3]। अब यहाँ उसी रेतोभूत अग्नि को जनमाया जाता है और इससे सम्बन्धित कर्म निरुक्तरूप में करने का विधान है[4]।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक विश्व है और इनमें स्थित अग्नि, वायु तथा आदित्य नररूप में हैं[5]। इसी सन्दर्भ में अग्नि का वैश्वानर-रूप बोध्य होना चाहिए। यह त्रिलोक शिर है। पृथिवी सिर है, इस पर स्थित औषधियाँ दाढ़ी-मोछ हैं। इस सिर में स्थित वाक् अग्नि है और यह अग्नि ही इस विश्व का नर है[6]। दूसरा विश्व अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष लोमविहीन होता है। अतएव इस शिरोरूप विश्व में प्राण

---

[1] श० ब्रा०, ९ ३.१.१—अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः, स एषोऽत्र वैश्वानरो देवता, तस्मा एतद्धविर्जुहोति, तदेनं हविषा देवतां करोति।

[2] श० ब्रा०, ९.३ १.१—द्वादशकपालो द्वादशमासाः संवत्सरः, संवत्सरो वैश्वानरः। वैश्वानर की संवत्सररूपता के लिये द्र०, श० ब्रा०, ५.२.५.१५, ६.२.१.३६ आदि; ऐ० ब्रा०, ३.४१; तै० ब्रा०, १.७.२.५; द्वादशकपालक पुरोडाश के लिये द्र०, श० ब्रा०, ५ २.५. १३; ६.६.१.५; तै० ब्रा०, १.७.२.५।

[3] श० ब्रा०, ६.६.१.६—वैश्वानरं निर्वपति, वैश्वानरं वा एतमग्निं जनयिष्यन् भवति, तमेतत् पुरस्ताद्दीक्षणीयायां रेतोभूतं सिंचति, यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग् जायते। ६.६.१.११—अत्र यज्ञे उपांशु वै रेतः सिच्यते, उपांश्वेतानि हवींषि भवन्ति। तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.५.३.१; द्र०, एग्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० २०७, पा० टि० १।

[4] श० ब्रा०, ९.३.१.२—निरुक्त इह, निरुक्तं हि रेतोजातं भवति।

[5] तदेव, ९.३.१.३—स यः स वैश्वानरः, इमे स लोकाः। इयमेव पृथ्वी विश्वमग्निर्नरः; पृथिवी की वैश्वानरता के लिये द्र०, श० ब्रा०, १०.६.१.४, १३.३.८.३, तदेव, ९.३. १.३—अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः, तु०, १०.६.१.७; द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः, तु०, तदेव, ९.३.१.२५; तै० ब्रा०, १.४.८.३; कौ० ब्रा०, ४.३, १९.२.७, श० ब्रा०, ९.३.१.४—ये त इमे लोकाः इदं तच्छिरः, इदमेव पृथिवी, औषधयः श्मश्रूणि, तदेतद्विश्वं वागेवाग्निः, स नरः, सोपरिष्टादस्य भवति। वाक् एवं अग्नि के समीकरण के लिये द्र०, श० ब्रा०, ६.१.२.२८; तै० ब्रा०, ३.१०.८.४; जै० उ०, २.२.१; गो० उ०, ४.११।

[6] श० ब्रा०, ९ ३.१.५—इदमेवान्तरिक्षं तस्मादेतदलोमकमिव ह्यन्तरिक्षं तदेतद्विश्वम्, प्राण एव वायुः, स नरः, स मध्येनास्य भवति, मध्येन ह्यन्तरिक्षस्य वायुः। प्राण एवं वायु के समीकरण के लिये द्र०, श० ब्रा०, १०.३.३.७; ऐ० ब्रा०, २.२६; कौ० ब्रा०, ८.४; तां० ब्रा०, ४.६.८; जै० उ०, ४.२२.११; गो० उ०, १.२६।

वायु के रूप में स्थित है और वही इस विश्व का नर है[1]। विश्वरूप द्युलोक शिर है। इस शिर में चक्षु के रूप में आदित्य वर्तमान रहता है। द्युलोक में नक्षत्र होते हैं। उन्हीं के रूप में शिर के ऊपर केश होते हैं[2]। इस प्रकार वैश्वानर-पुरोडाश की हवि शिर के रूप में, शरीर के रूप में चित-अग्नि के ऊपर दी जाती है। ध्यातव्य है कि चितेनिधेय शिरोरूप अग्नि को ही वैश्वानर के रूप में परिणत किया जाता है[3]।

मारुत-पुरोडाश : प्रतीक अर्थ—

मारुत-पुरोडाश मरुत् देवताओं के लिए सात कपालों पर तैयार किया जाता है[4]। मरुत् देवताओं की संख्या उनचास है और वे सात समूहों में विभक्त हैं[5]। वैश्वानर-पुरोडाश को हवि द्वारा, अग्नि वैश्वानर को शरीर के रूप में चित अग्नि पर, शिर को प्रतीकायित किया जाता है[6]। इस हवि के ऊपर ही मारुत-पुरोडाश की हवि दी जाती है और इससे शिर में स्थित प्राणों को प्रतिरूपायित किया जाता है[7]। शिर एक होने के कारण वैश्वानर-पुरोडाश एक होता है, परन्तु शिर में कपालों की संख्या सात होती है, अतएव मारुत-पुरोडाश सप्तकपालक होता है और उसकी हवियाँ

---

[1] श० ब्रा०, ९.३.१.६—शिर एव द्यौः, नक्षत्राणि केशाः, तदेतद्विश्वम्, चक्षुरेवादित्यः स नरः, तदवस्ताच्छीर्ष्णो भवति, अवस्तादधि दिव आदित्यः, तदस्यैतच्छिरो वैश्वानरः। चक्षु एवं आदित्य के समीकरण के लिये द्र०, श० ब्रा०, ३.२.२.१३; जै० उ०, २.२.३।

[2] श० ब्रा०, ९ ३.१.६—शिर एव द्यौः, नक्षत्राणि केशाः, तदेतद्विश्वम्, चक्षुरेवादित्यः, स नरः; तदवस्ताच्छीर्ष्णो भवति, अवस्तादधि दिव आदित्या, तदस्यैतच्छिरो वैश्वानरः। चक्षु एवं आदित्य के समीकरण के लिये द्र०, श० ब्रा०, ३.२.२·१३; जै० उ० २.२.३।

[3] वैश्वानर की प्रभविष्णुता के लिये द्र०, आनन्दकुमार स्वामी, दान्तेज़ पैराडिज़ो, से० पै० २, पृ० २५३ एवं अवधारणा के लिये द्र०, तदेव, वैदिक इक्ज़म्प्लरिज्म, तदेव, पृ० १७७-१९७, द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० ३३२।

[4] श० ब्रा०, ९.३.१.७—मारुतान्जुहोति; तदेव, ९.३.१.८– सप्तेतरे सप्तकपालाः, यदु वापि बहुकृत्वः सप्त-सप्त सप्तै व तत्; तै० सं० ब्रा०, ५.४.७.७; का० सं० ब्रा०, २१.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.३.१०; द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, पृ० २०९, पा० टि० १; सप्तकपाल-पुरोडश के लिये तुलनीय, श० ब्रा०, २.५.१.१२, ५.३.१.६; तां० ब्रा०, २१.१०.२३।

[5] मरुतों के उनचास नामों के लिये द्र०, वा० सं०, १७.८०-८५, ३९.७; मरुतों के सप्तगण के लिये द्र०, श० ब्रा०, २.५.१.१३; तै० सं०, ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव; तै० ब्रा०, १.६.२.३।

[6] श० ब्रा०, ९.३.१.६।

[7] तदेव—९.३.१.७—प्राणा वै मारुताः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति, वैश्वानरं हुत्वा।

भी संख्या में सात होती हैं[1]। वैश्वानर-पुरोडाश का रूप शिर है, अतएव उसका याग निरुक्त होता है[2]। परन्तु प्राणों को अभिव्यंजित करने वाले मारुत-पुरोडाश का याग उपांशुरूप में होता है, क्योंकि प्राण अनिरुक्त होते हैं[3]। वैश्वानर पुरोडाश की हवि शिर होने के कारण खड़े होकर होमी जाती है, परन्तु मारुत-पुरोडाश का होम बैठकर किया जाता है[4]।

मारुत-पुरोडाश की प्रथम दो हवियाँ वैश्वानर-पुरोडाश हवि के मध्य में आहुत होती हैं, क्योंकि कान में स्थित दोनों प्राण शिर के मध्य में रहते हैं[5]। यह प्रथम आहुति दक्षिण तथा उत्तर में प्रदान की जाती है, उनमें दक्षिणी आहुति पूर्वगामिनी सात नदियों को द्योतित करती है[6] और उत्तरी आहुति सात ऋतुओं को प्रतीकायित करती है[7]। मारुत-पुरोडाश की दूसरी हवि अतिसमीप में दी जाती है, क्योंकि नेत्रगत प्राण अत्यन्त समीपस्थ होते हैं[8]। इनमें जो दक्षिणी आहुति है, वह ज्ञात ग्राम्य पशुओं की प्रतिरूप है। इस आहुति को प्रथम आहुति के समीप ही देना चाहिए। ऐसा करने पर पशु जल में प्रतिष्ठित रहते हैं[9]। उत्तरी आहुति सप्तर्षि को अभिव्यक्त करती है। इस आहुति को पहली उत्तरी आहुति के समीप में ही देने का विधान है। इस प्रकार ऋतुओं में ऋषि प्रतिष्ठित हो जाते हैं[10]। तृतीय आहुति नासिका के दोनों प्राणों को अभिव्यंजित करती है[11]। इनमें दक्षिणी आहुति शिर में स्थित सात प्राणों को प्रतिरूपायित करती है। इसे भी पूर्वहुत दक्षिणी आहुति के

---

[1] श० ब्रा०, ९.३.१.८—एक एष भवति, एकमिव हि शिरः, सप्तेतरे सप्तकपालाः।

[2] तदेव—९.३.१.९—निरुक्त एष भवति, निरुक्तमिव हि शिरः। द्र०, सायण, तदेव।

[3] तदेव—अनिरुक्ता इतरे, अनिरुक्ता इव हि प्राणाः। द्र०, सायण, तदेव, एग्लिंग, तदेव, पृ० २०८, पा० टि० १।

[4] श० ब्रा०, तदेव—तिष्ठन्नेतं जुहोति, तिष्ठतीव हि शिरः। आसीन इतरान्, आसत इव हि प्राणाः।

[5] तदेव, ९.३.१.१०—तद् यो प्रथमो मारुतो जुहोति, इमौ तौ प्राणौ, तौ मध्ये वैश्वानरस्य जुहोति, मध्ये हीमौ शीर्ष्णः प्राणौ; सायण, तदेव।

[6] तदेव, ९.३.१.१८—यं प्रथमं दक्षिणतो मारुतं जुहोति, याः सप्त प्राच्यः स्रवन्ति, ताः सः।

[7] तदेव, ९.३.१.१९—यं प्रथममुत्तरतो जुहोति, ऋतवः सः।

[8] श० ब्रा०, ९.३.१.११—यौ द्वितीयौ, तौ समन्तिकतरं जुहोति, समन्तिकतरमिव हीमौ प्राणौ।

[9] तदेव, ९.३.१.२०—यं द्वितीयं दक्षिणं जुहोति, पशवः स, सप्त हि ग्राम्याः पशवः, पशवस्तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोति, अप्सु तान् पशून् प्रतिष्ठापयति।

[10] श० ब्रा०, ९.३.१.२१—यं द्वितीयमुत्तरतो जुहोति, सप्त ऋषयः सः, तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोति, ऋतुषु तद् ऋषीन् प्रतिष्ठापयति।

[11] तदेव, ९.३.१.१२—यौ तृतीयौ तौ समन्तिकतरं जुहोति, समन्तिकतरमिव हीमौ प्राणौ।

समीप देकर प्राणों को शिर में स्थापित किया जाता है[1]। उत्तरी आहुति सात छन्दों का रूप है। इस आहुति को पूर्वदत्त उत्तरी आहुति के समीप में ही देना चाहिए, जिससे ऋषियों के समीप छन्दों की भी स्थिति हो जाती है[2]। अन्तिम आहुति वाक्-प्राण को प्रतिरूपायित करने के लिए अरण्य-अनूच्य (वन में पढ़े जाने वाले) मन्त्र से दी जाती है[3]। यह आहुति पश्चिमगामिनी सात नदियों की रूप है और वह प्रजापति का अवाङ्-प्राण है[4]। अतएव इस आहुति को देते समय मुख को दूसरी ओर कर लेना चाहिए[5]।

ध्यातव्य है कि वैश्वानर-हवि आदित्य है और मारुत-हवि उसकी सात रश्मियाँ हैं[6]। इस प्रकार सूर्यमण्डल को उसकी सातों रश्मियों के उपधान से संस्कृत कर चित-अग्नि में आहित किया जाता है[7]।

इष्टकाधेनूकरण : प्रतीक अर्थ—

अग्निचयन में प्रयुक्त ईंटों को गाय के रूप में प्रतिरूपायित करने के कर्म का नाम इष्टकाधेनूकरण है। यद्यपि यह कर्म शतरुद्रिय होम एवं अग्नि-परिषेक के अनन्तर किया जाता है, तथापि इसके प्रतीक अर्थ की व्याख्या यहाँ करना इस कर्म के चरित्र के कारण उचित समझा गया। यद्यपि सामान्यतया गोदोहन बैठकर किया जाता है, तथापि यहाँ इष्टकाधेनूकरण खड़े होकर करने का विधान है[8]। यह चित अग्नि सभी लोकों का स्वरूप है[9]। सभी लोक गोरूप[10] हैं। लोकों के उत्थानयुक्त होने के कारण

---

१. तदेव, ९.३.१.२२—यं तृतीयं दक्षिणतो जुहोति, प्राणः सः, सप्त हि शीर्षन् प्राणस्तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोति; तच्छीर्ष्णः प्राणान् समदधाति।

२. तदेव, ९.३.१.२३—यं तृतीयमुत्तरतो जुहोति, छन्दांसि सः, सप्त हि चतुरुत्तराणि छन्दांसि, तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोति, अनन्तर्हितानि तद् ऋषिभ्यश्छन्दांसि दधाति।

३. तदेव, ९.३.१.१२—वागेवारण्येऽनूच्यः, सोऽरण्येऽनूच्यो भवति, बहु हि वाचा घोरं नियच्छति। द्र०, वा० सं०, ३९.७।

४. तदेव, ९.३.१.२४—याः सप्त प्रतीच्यः स्रवन्ति, सप्त हिताः, सोऽस्यैषोऽवाङ्प्राण एतस्य प्रजापतेः।

५. तदेव—तिर इव तद् यदरण्यं तिर इव तद्यदवाङ् प्राणः।

६. तदेव, ९.३.१.२५—वैश्वानरोऽसौ स आदित्यः, ये मारुता रश्मयस्ते।

७. तदेव, ९.३.१.२६—मण्डलमेवैतत् संस्कृत्यथास्मिन्नेतान् रश्मीन् नामग्राहं प्रतिदधाति। रश्मिनामों के लिये द्र०, वा० सं०, १७.८०।

८. श० ब्रा०, ९.१.२.१४—तिष्ठस्त्वेव कुर्वीत।

९. तदेव—इमे वै लोका एषोऽग्निः।

१०. तदेव, ६.५.२.१७—इमे वै लोका गौः; तु०, तदेव, ६.१.२.३४; ऐ० ब्रा०, ४.१५; तां० ब्रा०, ४.१.७; द्र०, डोरिस श्रीनिवासन्, कान्सेप्ट आफ् काउ इन् दि ऋग्वेद, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, १९७९, पृ० ५,४९,१४६।

दोहनक्रिया खड़े होकर ही करना उचित है[1]।

यह अग्नि वाक् का रूप है[2]। अग्नि के चयन में वाक् का ही प्रयोग होता है[3]। दैवी एवं मानुषी वाणी के प्रयोग द्वारा ही अग्निकर्म सम्पन्न होता है[4]। इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि प्रजापति ने अपनी वाणी से लोकों की संरचना की है[5]। अतः सभी लोक भी वाक् के प्रतिरूप हैं। चिति में प्रयुक्त सभी ईंटें वाक् को प्रतिरूपायित करती हैं[6]। अतः इन ईंटों को वाग्धेनु बताया गया है[7]। इस प्रकार वाक् को ही गौ के रूप में प्रतीकायित कर सभी कामों का दोहन किया जाता है[8]। इष्टकाधेनूकरण द्वारा सभी लोकों, अहोरात्रों एवं ऋतुओं से कामदोहन होता है[9]। इसमें विनियोजित मन्त्र में एक, दश तथा परार्ध संख्यापर्यन्त दोहन का कथन कर अनन्त दोह की अभिव्यक्ति की गयी है[10]।

चिति में उपहित यजुष्मती ईंटों का अलग-अलग व्यक्तिगत अभिधान है, परन्तु लोकम्पृणा ईंटों का कोई अलग नाम नहीं है[11]। सभी ईंटों का एक सामान्य नाम लोकम्पृणा है। देवों ने जब प्रत्येक ईंट का नाम लेकर आवाहित किया, तब वे सभी धेनुरूप में उपस्थित हो गयीं, परन्तु लोकम्पृणा ईंटें धेनुरूप में दूर खड़ी रह कर मूत्रोत्सर्ग करती रहीं, क्योंकि उनका कोई नाम नहीं था[12]। अतएव देवों ने उन्हें

---

[1] शा० ब्रा०, ९.१.२.१४—तिष्ठन्तीवा इमे लोकाः।

[2] शा० ब्रा०, ३.२.२.१३—वागेवाग्निः; तु०, तदेव, ६.१.२.२८, ९.१.२.१७; तै० ब्रा०, ३.१०;८.४; जै० उ०, २.२.१; गो० उ०, ५.१३।

[3] श० ब्रा०, ९.१.२.१७—वाचा हि चितः, १०.५.१.१—वाचा हि चीयते।

[4] तदेव, १०.५.१.१।

[5] श० ब्रा०, ७.४.२.७, तै० ब्रा०, २.२.४.२; ष० ब्रा०, १.५; जै० उ०, १.१.३-५; ऐ० ब्रा०, ६.७; श० ब्रा०, ८.७.४.५, १४.४.३.११; जै० उ०, ४.२२.११।

[6] श० ब्रा०, ८.७.२.७।

[7] तदेव, ९.१.२.१७—वाचमेव धेनुं कुरुते। द्र०, डोरिस श्रीनिवासन्, तदेव, पृ० ५,१४५-१४६।

[8] श० ब्रा०, ९.१.२.१७—एता उभयोर्लोकयोर्भुञ्जन्ति, अस्मिंश्चामुष्मिंश्च; ९.१.२.१९, एनाः कामदुघा अक्षीयमाणाः कुरुते। द्र०, वा० सं०, १७.३—कामदुघा अक्षीयमाणाः।

[9] तदेव, ९.१.२.१७—एनं अस्मिंल्लोके……अमुष्मिंल्लोके धेनूः कुरुते; ९.१.२.१८—अहोरात्राणि वा इष्टकाः, ऋतुषु वा अहोरात्राणि तिष्ठन्ति, तदेना घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च कुरुते। द्र०, वा० सं०, १७.३।

[10] वा० सं०, १७.२—इ॒मा मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ स॒न्त्वेका॑ च॒ दश॑ च॒……परा॒र्धश्च॒।

[11] श० ब्रा०, ९.१.२.१९।

[12] तदेव—एतद् वै देवा एता इष्टका नामभिरुपाह्वयन्त, यथा यथैना एतदाचक्षते, ता एनानभ्युपावर्तन्त, अथ लोकम्पृणा पराच्यस्तस्थुरहितनाम्नयो निमेमिहत्यः।

विराज् नाम देकर उनसे विराजोदोह प्राप्त किया[१]। अतएव लोकम्पृणा ईंटों को उपहित करते समय दस-दस के समूह में रखकर मन्त्र का विनियोग किया जाता है[२]। इस प्रकार इन्हें विराज् बनाया जाता है। विराट् छन्द में भी दश अक्षर होते हैं[३]। अतएव संख्या-सादृश्य के कारण ईंटों को भी विराट् की गुणवत्ता की उपलब्धि हो जाती है। विराज् सम्पूर्णता, सकल अस्तित्व के मूल एवं निखिल ब्रह्माण्ड को प्रतीकायित करता है[४]। इसी दृष्टि से याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो विराज् के दोह का जानकार है, उसके लिए यज्ञ सकल कामनाओं का दोहन करता है[५]। इष्टकाओं को

---

१. श० ब्रा०, ९.१.२.१९—ता विराजो नामाकुर्वत, ता एनानभ्युपावर्तन्त; द्र०, वा० सं०, १७.३--विराजो नाम।

२. तदेव—तस्माद् दश दशेष्टका उपधाय लोकम्पृणयाभिमन्त्रयते; तदेना विराजः कुरुते। द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४१, पृ० १५३, पा० टि० १।

३. श० ब्रा०, १.१.१.१२—दशाक्षरा विराट्; तु०, ९.१.२.१९; ऐ० ब्रा०, ६.२०; तां० ब्रा०, ३.१३.३; गो० पू०। उ०, ४.२४, १.१८; द्र०, आर्नाल्ड, वैदिक मीटर, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, १९६७, ८ए, ५१बी, २४५ बी; युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिकछन्दोमीमांसा, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५९, पृ० १३७।

४. आनन्दकुमारस्वामी, दि वैदिक डाक्ट्रिन आफ् साइलेन्स, से० पे० २, पृ० २०५, पा० टि० १५; तदेव, आन दि लोथली ब्राइड, से० पे० १, ३५७-३५८, खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, १९६९, पृ० ६७, सवयज्ञज़्, पृ० १३१ आदि।

५. श० ब्रा०, १.५.२.२०—अस्मा इयं विराट् सर्वकामान् दुहे य एवमेतं विराजोदोहं वेद। ध्यातव्य है कि इस विराजोदोह तथा अ० सं० में वर्णित विराजोदोह—८.१०(१-')—की अवधारणा एक ही है। अ० सं० के अनुसार पृथि वैन्य ने विराट् गाय का दोहन कर कृषि एवं सस्य को प्राप्त किया था, जो मनुष्यों का उपजीव्य बने—तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३उपजीवन्ति, अ० सं०, ८.१० (४).११-१२। पृथिवैन्य के अतिरिक्त इसका दोहन देवों, असुरों, पितरों, यक्षों, ऋषियों, गन्धर्वों एवं अप्सराओं ने भी किया और उन्होंने अपने उपजीव्य पदार्थों की उपलब्धि की। यह विराज-धेनु का दोहन था। अग्निचयन की ईंटों का दोहन भी उन्हें धेनु बनाकर किया गया है—इष्टका धेनवः सन्तु, वा० सं०, १७.२। इसको आधार बनाकर पृथु-वैन्य द्वारा, पुराणों में पृथ्वी के दोहन का वर्णन किया गया। पुराणों के अनुसार देवों, ऋषियों, नागों, गन्धर्वों, पितरों आदि ने भी पृथ्वी को दुहा था। संदर्भों के लिये द्र०, हिवलिबाल्ट किफल, पुराण पंचलक्षणम् (देवनागरी संस्करण, संपादक-सूर्यकान्त शास्त्री) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, वाराणसी, १९७९, पृ० २४४-२४८। कालिदास ने कुमारसंभव, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७०, १.२ में भी पृथु द्वारा पृथ्वी के दोहन [का] वर्णन किया है—यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे। भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥

धेनु के रूप में प्रतीकायित कर सकल वैश्विक पदार्थों का आधान, न केवल प्रजापति के लिए; अपितु यजमान के लिए भी, किया जाता है।

वसोर्धारा : प्रतीक अर्थ—

चित-अग्नि में संस्कृत अग्नि ही वसु है[१]। इस पर आज्य की धारा के रूप में चार सौ एक यजुषों द्वारा आहुति दी जाती है[२]। धारा के रूप में आज्य की आहुति देने वाले वसु देवता थे। अतएव इस होम का नाम वसोर्धारा (वसु की धारा) है[३]। वस्तुतः यह होम संचित-अग्नि का अभिषेक है[४]। देवों ने अग्नि को पूर्णतया संस्कृत कर सकल वैश्विक काम्य-पदार्थों के द्वारा उसका अभिषेक किया था[५]। तदनुकारी यजमान भी इसी दृष्टि से यह होम करता है। देव वसोर्धारा के मन्त्रों के परिगणित सभी पदार्थों की याचना करते हैं[६]। इसी प्रकार अग्निचयन करने वाला यजमान भी अग्नि से सभी कामनाओं की पूर्ति के लिये वसोर्धारा-कर्म के माध्यम से प्रार्थना करता है[७]। अग्नि प्रीत तथा अभिषिक्त होकर यजमान के काम्य-पदार्थों को प्रदान कर उसे महिमामय बनाता है[८]।

वसोर्धारा द्यौसरूपिणी गाय है, बादल जिसका थन है और विद्युत स्तन। द्युलोक से होने वाली वर्षा की धारा ही वसोर्धारा की धारा है[९]। यह वर्षा द्युलोक से गाय में आती है[१०]। यह गाय वसोर्धारा की देह है। इसका थन थन है और स्तन स्तन

---

[१] श० ब्रा०, ९.३.२.१—एष सर्वोऽग्निः संस्कृतः, स एषोऽत्र वसुः। द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.८।

[२] तदेव, ९.३.१.२—आज्येन पञ्चगृहीतेन; ९.३.३.१८—षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि एषां वसोर्धारा, अथ षड्, अथ पञ्चत्रिंशत्; द्र०, वा० सं०, १८.३-२९; तै० सं०, ४.७.१-११; का० सं०, १८.७-१२; मै० सं०, २.११.२-६; क० सं०, २८.७-११; एग्लिग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० २१३, पा० टि० ४; कीथ, हा० ओ० सी०, १९, पृ० ३८०, पा० टि० ५; खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० २००।

[३] श० ब्रा०, ९.३.२.१—तद् यदस्मै वसव एतां धारां प्रागृह्णन्, तस्मादेनां वसोर्धारेत्याचक्षते; द्र०, एग्लिग्, तदेव; कीथ, तदेव।

[४] तदेव, ९.३.२.२—अभिषेक एवास्यैषः। द्र०, एग्लिग्, तदेव, पृ० २१३।

[५] तदेव—देवाः सर्वं कृत्स्नं संस्कृत्याथैनमेतैः कामैरभिसिंचति। तु०, तदेव, ९.३.२.६।

[६] श० ब्रा, ९.३.२.६—एतया वसोर्धारयाथैनमेतान् कामानयाचन्त।

[७] तदेव।

[८] तदेव—तस्मा इष्टः प्रीतौ भिषिक्त एतान् कामान् प्रयच्छति।

[९] तदेव—९.३.३.१५—तस्यै वा एतस्यै वसोर्धारायै द्यौरेवात्माभ्रमूधो विद्युतस्तनो धारैव धारा।

[१०] तदेव—दिवोऽधि गामागच्छति।

है एवं इससे निःसृत दूध की धारा ही धारा है। यह धारा इस गाय से निकल कर यजमान तक पहुँचती है[१]। यहाँ वसोर्धारा की आत्मा यजमान है। यजमान की बाहु थन है और स्रुक् स्तन है[२]। यजमान अपने हाथ में स्रुक् को पकड़ कर, वसोर्धारा की आहुति स्रुक् से अग्नि पर डालता है। इस स्रुक् से अग्नि पर गिरने वाली आज्य की धारा ही वसोर्धारा की धारा है[३]। इस प्रकार यह वसुधारा यजमान देवों को प्रदान करता है। देवों के माध्यम से यह गाय के पास पहुँचती है और गाय के समीप से यजमान के निकट[४]। फलस्वरूप देवों का अनन्त, अक्षय्य यह अन्न निरन्तर पर्यावर्तित होता रहता है[५]। इस अवधारणा का जिस व्यक्ति को परिज्ञान है, वह अनन्त अक्षय्य उपभोग का अधिकारी होता है[६]।

यह वसोर्धारा संवत्सर-प्रजापति अग्नि को अभिव्यंजित करती है[७]। वसुवों की इन धाराओं की संख्या चार सौ एक है और इनमें चार सौ एक यजुषों का विनियोग किया जाता है[८]। इनमें तीन सौ साठ धाराएँ एवं यजुष्, संवत्सर के तीन सौ साठ दिनों को अभिव्यक्त करती हैं[९]। छह धाराएँ तथा यजुष् संवत्सर की छह ऋतुओं की अभिव्यंजक हैं[१०]। इससे ऋतुओं की रात्रियों को प्रतीकायित किया जाता है[११]। वसोर्धारा की अवशिष्ट पैंतीस धाराएँ तथा यजुष्, संवत्सर के तेरहवें मास को आत्मा के रूप में प्रस्तुत करती हैं[१२]। इन पैंतीस धाराओं तथा यजुषों में तीस आत्मा को रूपायित करती हैं। अवशिष्ट पाँच धाराओं एवं यजुषों में से दो चरण की, दो प्राणों की तथा एक सिर की अभिव्यंजक है[१३]। इस प्रकार यह वसुधारा शाण्डिल

---

[१] तदेव—९.३.३.१६—तस्यै गौरेवात्मा, अध एवोध स्तनः स्तनो धारैव धारा, गोरधि यजमानम् ।

[२] तदेव, ९.३.३.१७—तस्यै यजमान एवात्मा, बाहुरुधः, स्रुक्स्तनः ।

[३] तदेव—धारैव धारा ।

[४] तदेव-यजमानादधि देवान्; देवेभ्योऽधि गाम्, गोरधि यजमानम् ।

[५] तदेव – तदेतदनन्तमक्षय्यं देवानामन्नं परिप्लवते ।

[६] तदेव—स यो हैतदेवं वेद एवं हैत्रास्यैतदनन्तमक्षय्यमन्नं भवति ।

[७] श० ब्रा०—९.३.३.१८—एषा वसोर्धारा संवत्सरमग्निमाप्नीति ।

[८] तदेव – षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि, एषा वसोर्धारा, अथ षड्, अथ पञ्चत्रिंशत् । यजुषों के लिये द्र०, वा० सं०, १८.३-२९; तै० सं०, ४.७.१-११; का०सं०, १८.७-१२; मै० सं०, २.११.२-६; क० सं०, २८.७.११; एगलिंग् से० बु० ई०, ४३, पृ० २१३, पा० टि० ४; कींथ, हा० ओ० सी०, १९,३८०, पा० टि० ५।

[९] तदेव—यानि षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि, तावन्ति संवत्सरस्याहानि ।

[१०] तदेव—यानि षट्, षड् वा ऋतवः ।

[११] तदेव—तद् ऋतूनां रात्रीराप्नोति ।

[१२] तदेव—यानि पञ्चत्रिंशद्, स त्रयोदश मासः, स आत्मा ।

[१३] तदेव—त्रिंशदात्मा, प्रतिष्ठा द्वे, प्राणा द्वे, शिर एव पञ्चत्रिंशत् ।

अग्नि की संवत्सररूपता को प्रतीकायित करती है[1]।

वाजप्रसवीय : प्रतीक अर्थ—

वाजप्रसवीय का अर्थ है अन्न प्रदान करना[2]। इस आहुति में सभी प्रकार के अन्नों की आहुति दी जाती है[3]। अन्नों में से किसी एक अन्न की आहुति नहीं दी जाती। जो अन्न आहुति में नहीं प्रयुक्त किया जाता, उसे यजमान जीवनपर्यन्त नहीं खाता[4] है। वाजप्रसवीय होम भी अग्नि का अभिषेक है[5]। वसोर्धारा की आज्य-आहुति में सभी काम्य कामों के द्वारा अग्नि को अभिषिक्त किया जाता है और वाजप्रसवीय में अन्नों से[6]। इस यज्ञ के द्वारा अभिषिक्त होकर सभी देवता अब इस अग्नि के अभिषेक को अनुमन्य करते हैं। लोक में भी सभी राजा जिस व्यक्ति के अभिषेक को मान्यता प्रदान करते हैं, वही राजा होता है[7]। इस होम के देवताओं को आहुति देकर उन्हें महिमामय बनाता है। वाजप्रसवीय होम के साथ-साथ पार्थ-होम भी होता है[8]। पार्थ-

---

१. तदेव; वसोर्धारा के लिये द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, आत्मयज्ञ, से० पे० २, पृ० १०७, पृ० १२२, पा० टि० ४३; खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० २००, ४१६-४१७; वी० एस० भण्डारी, सेक्यूलर आस्पेक्ट् आफ् दि यजुर्वेद, नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल्, १८, १९६६-६७, पृ० ६३-६८।

२. श० ब्रा०, ९.३.४.१—वाजप्रसवीयं जुहोति, अन्नं वै वाजोऽन्नप्रसवीयं हास्यैतदन्नमेवास्मा एतेन प्रयच्छति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.९.१; का० सं०, २१.१२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.३; द्र०, सायण, श० ब्रा०, तदेव; एग्लिंग्, से० बु० ई० ४३, पृ० २२३, पा० टि० २; कीथ, हा० ओ० सी०, १९; पृ० ३८३, पा० टि० ३।

३. श० ब्रा०, ९.३.४.४—सर्वौषधं भवति, सर्वमेतदन्नं यत् सर्वौषधम्; तै० सं० ब्रा०, ५.४.९.२—सप्त ग्राम्या औषधयः सप्तारण्याः तु०, मै० सं० ब्रा०, तदेव।

४. श० ब्रा०, तदेव—तेषामेकमन्नमुद्धरेत् तस्य नाश्नीयाद् यावज्जीवम्।

५. तदेव, ९.३.४.३—अभिषेक एवास्यैषः; तै० सं० ब्रा०, ५.४.९.१; का० सं० ब्रा०, तदेव।

६. श० ब्रा०, तदेव—एतैः कामैरभिषिच्यैतया वसोर्धारयाथैनमेतद् भूय एवाभिषिंचन्, तु०, तदेव, ९.३.४.२,४।

७. तदेव, ९.३.४.५—एता ह वै देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत् सोष्यमाणो भवति, ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सवमनुमन्यन्ते। यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति।

८. तदेव, ९.३.४.६—पार्थान्यभिजुहोति; पार्थ होम के लिये द्र०, श० ब्रा०, ५.३.५.४; मै० सं० ब्रा०, ५.४.५; तै० ब्रा०, १.७.७; द्र० जे० सी० हीस्टरमान, दि एन्शिएण्ट् इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन्, पृ० ६३-६८।

होम के द्वारा पृथिवैन्य का अभिषेक हुआ था, अतएव इसका नाम पार्थ है[1]। इसी होम से पृथि को राजत्व की उपलब्धि हुई थी।

वाजप्रसवीय होम में पार्थहोम की छह आहुतियाँ राजसूय की वाजप्रसवीय हैं[2]। वाजप्रसवीय की चौदह आहुतियों में सात आहुतियाँ वाजपेय-याग की वाजप्रसवीय होती है एवं अवशिष्ट सात आहुतियाँ अग्नि की वाजप्रसवीय हैं[3]। इस प्रकार यहाँ राजसूय एवं वाजपेय का अभिषेक होने के साथ-साथ अग्निचयन का भी अभिषेक सम्पन्न किया जाता है। राजसूय में अभिषिक्त व्यक्ति राजा होता है और वाजपेय में अभिषिक्त सम्राट्[4]। ध्यातव्य है कि वाजपेय-अभिषेक के अनन्तर राजसूय-अभिषेक नहीं किया जाता, क्योंकि यह विधि प्रत्यवरोहण है[5]। सम्राट् होकर कोई राजा नहीं होना चाहेगा[6]। अग्निसव में अभिषिक्त होने पर कोई भी राजा एवं सम्राट् दोनों बनता है[7]। वाजप्रसवीय होम यहाँ सर्वाधिपत्य को अभिव्यक्त करता है।

यजमान-अभिषेक : प्रतीक अर्थ—

चिति के उत्तर में परिश्रित से संसक्त कृष्णाजिन पर यजमान का अभिषेक किया जाता है[8]। इस समय कृष्णाजिन के अगले भाग को पूर्व दिशा में रखकर बिछाने का नियम है[9]। कृष्ण मृगचर्म का रोएँदार भाग ऊपर की ओर रहता है[10]। कृष्णाजिन त्रयीविद्या का रूप होने के कारण छन्दों को प्रतिरूपायित करता है[11]। इस

---

[1] श० ब्रा०, ५.३.५.४ पृथी ह वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे; तु०, तै० ब्रा०, १.७.७.३-४; अ० सं०, ८.१०.२४; द्र०, खोंदा, एन्शिएण्ट्, इण्डियन्, किंगशिप्, न्यूमैन, ४, १९५७, स्तवक २।

[2] श० ब्रा०, ९.३.४.८—स वै राजसूयस्य पूर्वाणि जुहोति। तदेव, ९.३.४.७—यानि पार्थानि तानि राजसूयस्य वाजप्रसवीयम्।

[3] तदेव, ९ ३.४.८—अथ वाजपेयस्य; तदेव, ९.३.४.७—यानि सप्तपूर्वाणि तानि वाजपेयस्य; तदेव, ९.३.४.९-अग्नेरुत्तमानि जुहोति; तदेव, ९.३.४.७—यानि सप्तोत्तराणि तान्यग्नेः; द्र०, एग्लिंग्, तदेव।

[4] तदेव, ९.३.४.८—राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति, सम्राड् वाजपेयेन।

[5] तदेव—वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत, प्रत्यवरोहः सः।

[6] तदेव—यथा सम्राट् सन् राजा स्यात् तादृक् तत्।

[7] तदेव, ९.३.४.९—सर्वं है तदग्निसवेन सुतो भवति, राजा च सम्राट् च।

[8] तदेव, ९.३.४.१०—एनं कृष्णाजिनेऽभिषिंचति; तदेव, ९.३.४.१५—आस्पृष्टं परिश्रितः।

[9] तदेव, ९.३.४.१०—प्राचीनग्रीवे, तद्धि देवत्रा।

[10] तदेव—लोमतः।

[11] श० ब्रा०, १.१.४.२-३; तदेव, ९.३.४.१०—छन्दांसि वै लोमानि, छन्दः स्वैवैनमेतदभिषिंचति।

प्रकार यजमान को छन्दों में स्थापित कर अभिषेक किया जाता है। कृष्णाजिन को परिश्रित से इसलिए संसक्त कर बिछाया जाता है, क्योंकि चित-अग्नि यजमान का दैवशरीर है। कृष्णाजिन पर इस प्रकार उसके दैवी शरीर का अभिषेक हो जाता है[१]। अग्नि में आहुतियाँ देकर यजमान का अभिषेक होता है। अग्नि यजमान का दैवी-शरीर है। पहले दैवी-शरीर का अभिषेक होता है और बाद में मानुषी देह का[२]।

यजमान का अभिषेक पार्थ-होम के मध्य में किया जाता है[३]। पार्थ-होम में कुल बारह आहुतियाँ दी जाती हैं। पूर्व छह आहुतियों में प्रथम आहुति बृहस्पति देवता के लिये दी जाती है। बृहस्पति ब्रह्म का प्रतिरूप है[४]। उत्तर की छह आहुतियों में प्रथम आहुति इन्द्र के लिये दी जाती है। इन्द्र क्षत्रिय का प्रतीक है[५]। इस प्रकार पार्थ-आहुतियों के मध्य में यजमान का अभिषेक होने से वह ब्रह्म एवं क्षत्र द्वारा परिगृहीत होकर अभिषिक्त होता है[६]। इस प्रकार वह अपने दैवी एवं मानुषी उभयविध शरीरों के द्वारा सभी वैश्विक पदार्थों का आधिपत्य प्राप्त कर, अग्नि के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पार्थहोम में बारह आहुतियों में छह-छह का विभाजन है। छह संख्या संवत्सर की ऋतुओं को प्रतीकायित करती है[७]। इस प्रकार यजमान दोनों ओर से ऋतुओं से परिगृहीत होकर अभिषिक्त होता है[८] एवं संवत्सर के मध्य में आहित होकर परम प्रतिष्ठा का प्रभु बनता है।

राष्ट्रभृत् : प्रतीक अर्थ—

राष्ट्रभृद् आहुति में हूयमान देवता राजा हैं[९]। राष्ट्र का धारण राजा ही करते

---

१. तदेव, ९.३.४.१५—यत् कृष्णाजिनमास्पृष्टं परिश्रितो भवति, तथा हास्यैष दैव आत्मा कृष्णाजिनेऽभिषिक्तो भवति। तथा हैतस्माद् दैवादभिषेका नूनं व्यवच्छिद्यते।

२. तदेव, ९.३.४.१६—अग्नौ हुत्वाथैनमभिषिंचति, दैवो हास्यैष आत्मा, मानुषोऽयम्, देवा उ वा अग्रे, अथ मनुष्याः। तस्मादग्नौ हुत्वाथैनं तत् परिशिष्टेनाभिषिंचति।

३. तदेव, ९.३.४.१८—तं वै मध्ये पार्थानामभिषिंचति; द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, एन्शिएण्ट् इण्डियन रायल कान्सक्रेशन्, पृ० ६७-६८।

४. तदेव—बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, ब्रह्म वै बृहस्पतिः; द्र०, एग्लिग्, से० बु० ई०, पृ० २२८, पा० टि० ३।

५. तदेव—इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः, क्षत्रमिन्द्रो; एग्लिग् तदेव।

६. तदेव—ब्रह्मणा चैवैनमेतत् क्षत्रेण सुषुवाणमुभयतः परिगृह्णाति।

७. श० ब्रा०, ९.३.४.१८—षट् पुरस्ताज्जुहोति, षडुपरिष्टात्, षड् वा ऋतवः।

८. श० ब्रा०, ९.३.४.१८—ऋतुभिरेवैनमेतत् सुषुवाणमुभयतः परिगृह्णाति, संवत्सरस्यैवैनमेतन् मध्यत आदधाति। द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, एन्शिएन्ट् इण्डियन् रायल कान्सक्रेशन, पृ० ६७-६८।

९. तदेव, ९.४.१.१—राजान उ एते देवाः।

हैं[१]। राजा ही राज्य को अनुमन्य बनाते हैं[२]। अतएव यह आहुति दी जाती है। इससे सभी देवता प्रसन्न होकर अभिषिक्त अग्नि एवं यजमान के साम्राज्य को मान्यता प्रदान करते हैं। प्रजापति जब विस्रस्त हुआ था, तब उससे सभी मिथुन गन्धर्व एवं अप्सरा बनकर बाहर चले गये[३]। तब प्रजापति ने स्वयं रथ बनकर उन्हें अपने-आप में धारण किया था[४]। अतएव प्रजापति-अग्नि में इन मिथुनों के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं[५]। मिथुनों से ही प्रजा उत्पन्न होती है[६]। प्रजासमूह ही राष्ट्र का निर्माण करता है[७]। राष्ट्र के अभाव में राजा अथवा सम्राट् की स्थिति ही असंभाव्य हो जायेगी। अतएव प्रजा-सृष्टि को प्रतीकायित करने के लिए राष्ट्रभृद् होम का विधान किया जाता है।

रथशीर्षहोम : प्रतीक अर्थ—

रथ के सिर पर आहुति देकर सभी राजाओं द्वारा अग्नि एवं यजमान के अभिषेक को अनुमन्य कराया जाता है[८]। यह आदित्य ही रथ है[९]। प्रजापति ने इसी रूप को धारण कर मिथुनों को आत्मगृहीत किया था[१०]। अतएव रथ के शिरोभाग में होम कर सभी प्रजोत्पादक मिथुनों को स्व-अधिकार में किया जाता है।

वातहोम : प्रतीक अर्थ—

चित-अग्नि सकल लोकों को प्रतीकायित करता है[११]। वातहोम के द्वारा इन लोकों में वायु को स्थापित किया जाता है[१२]। यह वेदि पृथ्वी का रूप है[१३]। अतएव

---

१. तदेव—राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति।
२. तदेव—यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति।
३. तदेव, ९.४.१.२—प्रजापति विस्रस्तान् मिथुनान्युदक्रामन्, गन्धर्वाप्सरसो भूत्वा।
४. तदेव, तानि रथो भूत्वा पर्यंगच्छत्, तानि परिगत्यात्मन्नधत्त, आत्मन्नकुरुता।
५. तदेव, ९.४.१.३—यान्यस्मात् तानि मिथुनान्युदक्रामन्, एतास्ता देवताः, याभ्य एतज्जुहोति।
६. तदेव, ९.४.१.५—मिथुनाद् वा अधि प्रजातिः।
७. तदेव—यो वै प्रजायते स राष्ट्रं भवति।
८. श० ब्रा०—९.४.१.१३—रथशीर्षं जुहोति, एष वै स सवः, एतद् वै तत् सूयते, यमस्मै तमेता देवताः समनुमन्यन्ते, याभिरनुमतः सूयते।
९. तदेव, ९.४.१.१५—असौ वा आदित्य एष रथः।
१०. तदेव।
११. तदेव, ९.४.२.१—इमे वै लोका एषोऽग्निः।
१२. तदेव—वायुर्वातहोमाः, एषु तल्लोकेषु वायुं दधाति।
१३. तदेव, ९.४.२.३—इयं वै वेदिः; तु०, ऐ० ब्रा०, ५.२८; तै० ब्रा०, ३.२.९.१२; जै०उ०, १.५.५।

यहाँ जिस वायु का आधान किया जाता है, वह इस पृथ्वी तथा इन लोकों के बहिर्भाग से लाया जाता है[१]। अञ्जलि में बाहरी वायु को लेकर रथ के धुरे के नीचे स्थापित करने का विधान है[२]। यह रथ आदित्य का रूप है। वायु आदित्य के अधोभाग में रहता है, अतएव उसे रथ के धुरे के निचले भाग में ही स्थापित किया जाता है[३]।

रुङ्मती-आहुति : प्रतीक अर्थ—

प्रजापति जब विस्रस्त हुआ था, तब उसकी ज्योति बाहर चली गयी थी[४]। देवों ने इस रुङ्मती आहुति से प्रजापति में पुनः ज्योति का आधान किया[५]। यजमान भी इस आहुति के द्वारा प्रजापति में रोचि का आधान कर उसे रोचिष्मान् बनाता है[६]।

वारुणी-आहुति : प्रतीक अर्थ—

प्रजापति के विस्रंसन के अनन्तर उसका पराक्रम बहिर्गत हो गया था[७]। देवों ने प्रजापति को अभिसंस्कृत करते समय उसमें वारुणी ऋचा के द्वारा उसी पराक्रम का आधान किया[८]। वरुण पराक्रम एवं क्षत्रबल का प्रतिरूप है[९]। यजमान इस कर्म के द्वारा अग्नि को क्षत्र एवं पराक्रम के रूप वरुण के रूप में प्रतिरूपायित करता है[१०]।

सन्ततिहोम : प्रतीक अर्थ—

सन्तति होम के द्वारा अग्नि में अर्क तथा अश्वमेध का आधान किया जाता

---

१. श० ब्रा०, ९.४.२.२—य इमाँल्लोकान् परेण वायुस्तमस्मिन्नैतद्दधाति; ९.४.२.३, य इमां परेण वायुस्तमस्मिन्नैतद्दधाति।

२. तदेव, ९.४.२.४—अञ्जलिना, अधोऽधो धुरम्।

३. तदेव—असौ वा आदित्य एष रथः; तु०, तदेव, ९.४.१.१५; ९.४.२.४—अर्वाचीनं तदादित्याद् वायुं दधाति, तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातः पवते।

४. श० ब्रा०, ९.४.२.१३—प्रजापतेर्विस्रस्ताद् रुगुदक्रामत्।

५. तदेव—तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्, तदस्मिन्नेभी रुङ्मतीभी रुचमदधुः।

६. तदेव—तथैवास्मिन्नयमेतद् दधाति। द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० २३७, पा० टि० ५।

७. तदेव, ९.४.२.१६—प्रजापतेर्विस्रस्ताद् वीर्यमुदक्रामत्।

८. तदेव—तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतया वीर्यमदधुः, वारुण्यर्चा।

९. तदेव—क्षत्रं वै वरुणः, वीर्यं वै क्षत्रम्।

१०. तदेव—वीर्येणैवास्मिन्नेतद् दधाति।

है[1]। अर्क अग्नि है और अश्वमेध आदित्य[2]। वे सृष्ट होकर अलग-अलग हैं[3]। देवों ने इन आहुतियों के द्वारा उनका वितन्वन किया और उन्हें अग्नि में आहित किया[4]। यजमान भी इसी अनुकरण में सन्तति-आहुति प्रदान करता है[5]। सन्तति-आहुतियों की संख्या पाँच होती है, जो संवत्सर की पांच ऋतुओं को प्रतोकायित करती हैं[6]। इस प्रकार इन आहुतियों के द्वारा संवत्सर-प्रजापति अग्नि का संधान किया जाता है[7]।

अग्निचयन : वृत्रवध—

इस ग्रन्थ के चतुर्थ-अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि सभी यज्ञों में केवल इन्द्र द्वारा वृत्रवध का इतिहास (मिथ्) प्रतीकायित किया जाता है। अग्निचयन का भी अग्रप्रतिमान (आर्कीटाइप) वही इतिहास है। यद्यपि अग्निचयन के सभी कर्मों में वृत्रवध की प्रक्रिया चलती रहती है, तथापि इसके तीन अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनमें इसे विशेषरूप से प्रतीकायित किया गया है। उनके प्रतोक अर्थ का विवेचन करना यहाँ समुचित प्रतीत होता है।

नैर्ऋत्यचयन : प्रतोक अर्थ—

गार्हपत्य-चयन के अनन्तर तथा आहवनीय-चयन के पूर्व निर्ऋति-देवता के लिये तीन ईंटों का चयन किया जाता है[8]। देवों ने जब गार्हपत्य-अग्नि का चयन कर लिया और इससे उन्होंने पृथ्वीलोक पर आरोहण पूरा कर लिया तथा द्युलोक के प्रतीक आहवनीय चयन के लिये सन्नद्ध हुए, तब सामने केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखायी पड़ा[9]। इस स्थिति में देवों ने पापी तम को नष्ट करने के सम्बन्ध में परस्पर विचार किया, तब उन्होंने इन नैर्ऋती ईंटों को देखा और इनसे उस अन्धकार को दूर किया[10]। नैर्ऋती ईंटों के चयन का एक अन्य हेतु भी है। देवों ने विसंहत

---

[1] तदेव, ९.४.२.१८—अर्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति, तौ समदधुः।

[2] तदेव—अयं वा अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधः।

[3] तदेव—तौ सृष्टौ नानैवास्ताम्।

[4] श० ब्रा०, ९.४.२.१८—तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन्, समदधुः।

[5] तदेव।

[6] तदेव, ९.४.२.२४,२६—पंचैताहुतीर्जुहोति, पंचचितिकोऽग्निः, पंचर्तवः संवत्सरः।

[7] तदेव—यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनावेतत् संतनोति, संदधाति।

[8] तदेव, ७.२.१.१—नैर्ऋतीर्हरन्ति।

[9] तदेव—एतद् वै देवा गार्हपत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्यः, इममेव तल्लोकं संस्कृत्य समारोहन्, ते तम् एवानतिदृश्यमपश्यन्।

[10] श० ब्रा०, ७.२.१.२।

प्रजापति को वीर्य के रूप में योनिरूप उखा में आहित किया और उसे गर्भ के रूप में वर्ष भर वहाँ संभृत किया[१]। तदनन्तर गार्हपत्य में उख्य-अग्नि की स्थापना कर प्रजापति को जनमाया[२]। गर्भ के रूप में स्थित प्रजापति के शरीर में श्लेष्मा, उल्ब (गर्भ की आवरक भीतरी झिल्ली), जरायु (गर्भ की आवरक बाहरी झिल्ली) पाप के रूप में संलग्न थे। वे सब निर्ऋति ही हैं। इन ईंटों को आहित कर उन्हें दूर किया जाता है[३]।

नैर्ऋती ईंटों पर कोई चिह्न नहीं बनाया जाता है[४]। इन्हें भूसी की आग में पकाया जाता है और इनका रंग काला होता है[५]। इनका आधान नैर्ऋत्य दिशा में होता है[६]। इनका आधान ऊसर भूमि अथवा स्वाभाविक रूप से बने गड्ढे में किया जाता है[७]।

इस विवरण से सिद्ध होता है कि निर्ऋति पाप एवं अन्धकार का प्रतिरूप है। यह अवस्था, विशृंखलता एवं अपरूपता को द्योतित करती है[८]। इसीलिये इन ईंटों को रखने के पश्चात् इन्हें छूने का निषेध है[९]। इन्हें रखकर लौटते समय पुनः पीछे

---

[१] श०ब्रा०, ७.२.१.५—प्रजापति विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतोभूतमसिंचन्, योनिर्वा उखा, तस्मा एतां संवत्सरे प्रतिष्ठां समस्कुर्वन्।

[२] तदेव—अयं लोको गार्हपत्यः, तस्मिन्नेतं प्राजनयन्।

[३] तदेव—तस्य यः पाप्मा, यः श्लेष्मा, यदुल्बम्, यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नन्।

[४] श० ब्रा०, ७.२.१.७—अलक्षणा भवन्ति, यद् वै नास्ति तदलक्षणम्।

[५] तदेव—तुषपक्वा भवन्ति, नैर्ऋंता वै तुषाः कृष्णा भवन्ति, कृष्णं हि तत्तम आसीदथो वै कृष्णा निर्ऋतिः; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.२; का० सं० ब्रा०, २०.२; मै० सं० ब्रा०, ३.२.४; क० सं० ब्रा०, ३१.४; ध्यातव्य है कि याज्ञवल्क्य का कथन है कि हवि का जो पापयुक्त भाग है, उसे ही असुर-राक्षस प्रास करते हैं। अतएव भूसी में नैर्ऋंवी ईंटों का पकाना युक्तिसंगत है। भूसी अन्न का पाप है। इसीलिये अन्नप्रयोग के पूर्व लोक में भी उसे अलग कर लिया जाता है। श० ब्रा०, १.९.२.३५।

[६] श० ब्रा०, ७.२.१.८—ताभिरेतां दिशं यन्ति, एषा वै नैर्ऋंती दिङ् नैर्ऋंत्यामेवतद्-दिशि निर्ऋंतिं दधाति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.२.४.३; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

[७] तदेव—यत्र स्वकृतं वैरिणं श्वभ्रप्रदरो वा स्यात् तदेना उपदध्यात्; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; द्र०, जे० सी० हीस्टरमान, दि एनशिएण्ट् इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन्, पृ० २०।

[८] लुई रेनू, वैदिक् निर्ऋंति, सुनीतिकुमार चटर्जी कमेमोरेशन वाल्यूम्, १९५५, पृ० ११-१५; जे० सी० हीस्टरमान, तदेव, पृ० १५-२०; द्र० गण्डाभाई गिरिजाशंकर देसाई, थिंकिंग् विद् दि यजुर्वेद, पृ० २१, २२, २४, ३७।

[९] श० ब्रा०, ७.२.१.१२—नोपस्पृशति, पाप्मा वै निर्ऋंतिर्नेत् पाप्मना संस्पृशा इति।

घूमकर देखने का भी निषेध है और लौटकर मार्जन करने का भी विधान है[1]। नैर्ऋती ईंटों का चरित्र वृत्रचरित्र से अलग नहीं है। सृष्टिक्षमता को अवरुद्ध करने का कार्य दोनों करते हैं। अतएव यजमान अग्निचयन में पृथ्वीलोक की रचना करने के अनन्तर बिना इसके शमन के द्युलोक की रचना कर ही नहीं सकता और न ही परम सत्ता के साथ अपना तादात्म्यीकरण स्थापित कर सकता है। अतएव वह आरम्भ में ही वृत्र का वध करता है।

विश्वकर्मा आहुति : प्रतीक अर्थ

अग्निचयन के अन्त्य अनुष्ठानों में विश्वकर्मा-आहुति प्रमुख है[2]। तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण के अनुसार जब इन्द्र ने वृत्र का वध किया, तब वृत्र ने उसे अपने सोलह फनों से बाँध लिया था[3]। उसके बन्धन से मुक्त होने के लिये इन्द्र ने विश्वकर्मा-अग्नि को आहुति दिया। फलस्वरूप वृत्र के सभी फन जल कर भस्म हो गये[4]। इसी प्रकार यजमान भी इस आहुति का विधान करता है। वृत्र के सोलह फन हैं, अतएव इस आहुति के लिये सोलह बार आज्य लेने का विधान है[5]। प्रजापति अग्नि एवं यजमान अग्नि में चित होकर जब अमर्त्य, दैवी शरीर को प्राप्त करने वाले होते हैं, तब पुनः वृत्रबाधा पहुँचाने में तत्पर हो जाता है। अतएव सृष्टि-प्रतिरोधक वृत्र के वध के लिये इस आहुति का विधान आवश्यक हो जाता है।

अप्रतिरथ-जप : प्रतीक अर्थ

गार्हपत्य-अग्नि से जब उख्य-अग्नि को आहवनीय पर स्थापित करने के लिये ले जाया जाता है, तब ब्रह्मा नामक ऋत्विक् अप्रतिरथ-सूक्त के मन्त्रों का जप करता है[6]। अप्रतिरथ-जप के अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल) इतिहास (मिथ्) के अनुसार जब देव उख्य-अग्नि को गार्हपत्य से आहवनीय की ओर ले जा रहे थे, तब दक्षिण की

---

[1] श० ब्रा०, ७.२.१.१७—अप्रतीक्षमायन्त्यप्रतीक्षमेव तत् पाप्मानं निर्ऋतिं जहति। तै० सं० ब्रा०, ५.२.४—मार्जयित्वा; का० स० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव।

[2] श० ब्रा०, ९.२.२.६, ७.३.४२; तै० सं० ब्रा०, ५.४.५; का० सं० ब्रा०, २१.८; मै० सं० ब्रा०, ३.३.७।

[3] तै० सं० ब्रा०, ५.४.५—इन्द्रो वृत्रमहन् तं वृत्रो हतः षोडशभिर्भोगैरसिनात्; का० सं० ब्रा०, तदेव, मै० सं० ब्रा०, तदेव।

[4] तै० सं० ब्रा०, तदेव—एतामाहुतिमपश्यत्, अग्निरनीकवान् प्रीतः षोडशधा वृत्रस्य भोगानप्यदहद् वैश्वकर्मणेन पाप्मनो निरमुच्यते; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

[5] श० ब्रा०, ९ २.२.६।

[6] श० ब्रा०, ९.२.३.५, तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.६.३-४; का० सं० ब्रा०, २१.१०; मै० सं० ब्रा०, ३.३.७; द्र०, एग्लिंग्, से० बु० ई०, ४३, पृ० १९१, पा० टि० १।

ओर से विनाशक असुर-राक्षसों ने यह कहकर उन्हें मारने की इच्छा की—'तुम यजन मत करो, तुम यज्ञ का वितन्वन करो[१]'। देवों ने इन्द्र से कहा कि तुम हम लोगों में सर्वाधिक बलवान्, पराक्रमयुक्त तथा श्रेष्ठ हो, अतएव इन असुर-राक्षसों से युद्ध करो[२]। इन्द्र ने कहा कि मैं युद्ध करूँगा, परन्तु बृहस्पति भी मेरे साथ रहें[३]। देवों ने इन्द्र का साथ देने के लिये बृहस्पति से कहा[४]। तदनन्तर इन्द्र और बृहस्पति ने असुर-राक्षसों को मार डाला[५]। अग्निचयन में इस समय अप्रतिरथ-मन्त्रों का जप इस इतिहास को प्रतीकायित करने के लिये किया जाता है। अप्रतिरथ-मन्त्र इन्द्र के प्रतिरूप हैं, क्योंकि उन मन्त्रों में इन्द्र का वर्णन है[६]। ब्रह्मा-नामक ऋत्विक् बृहस्पति को प्रतीकायित करता है। यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान दक्षिण में होता है[७]। इस प्रकार इस कर्म के द्वारा असुर-राक्षसों का दक्षिण-दिशा में विनाश किया जाता है[८]। सभी असुर-राक्षस वृत्र को ही प्रतिरूपायित करते हैं। अतएव यह कर्म वृत्र-वध है।

पाप को दूर करने के लिये, शौक के अपनोदन के लिए प्रत्येक यज्ञ में प्रतिपद वृत्र-वध को प्रतिरूपायित किया जाता है। वृत्रवध से ही इन्द्र अस्तित्व में आता है[९]। वृत्र के शमन के लिये कहीं उससे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, कहीं उससे युद्ध कर उसका वध कर दिया जाता है और कहीं अपने एवं उसके

---

[१] श० ब्रा०, ९.२.३.२—एतद् वै देवानुपप्रैष्यत एतं यज्ञं तंस्यमानान् दक्षिणतोऽसुरा रक्षांसि नाष्ट्रा अजिघांसन्—'न यक्षध्वे, न यज्ञं तंस्यध्वे'।

[२] तदेव, ९.२.३.३—ते देवा इन्द्रमब्रुवन्—'त्वं वै नः श्रेष्ठो बलिष्ठो वीर्यवत्तमोऽसि, त्वमिमानि रक्षांसि प्रतियतस्व।

[३] तदेव—तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीयमस्तु।

[४] तदेव—तस्मै वै बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन्। ब्रह्म वै बृहस्पतिः।

[५] तदेव—त इन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि नाष्ट्रा अपहत्य·······।

[६] श० ब्रा०, ९.२.३.५—स यः स इन्द्रः, एष सोऽप्रतिरथः; अप्रतिरथमन्त्रों के लिये द्र०, वा० सं०, १७.३३-५२; तै० सं०, ४.६.४; का० सं०, १८.५; मै० सं०, २.१०.४; क० सं०, २८.५।

[७] श० ब्रा०, ९.२.३.५—यः स बृहस्पतिः, एष स ब्रह्मा।

[८] तदेव।

[९] डब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन—दि क्रिएशन्-मिथ् आफ दि ऋग्वेद, जर्नल आफ् अमेरिकन् ओरिएण्टल् सोसाइटी, ६८,१९४२; एफ्० बी० जे० क्यूइपेट्, (एल० बुशार्डट्, वृत्र, डे रिटु एल्ले डायमोन्ड्राब इ वेडिस्के सोमकुल्ट, मुन्कस्गार्ड, कोपेनहागेन, १९४५ की समीक्षा करते हुए। इन्द्र-वृत्र कान्टेस्ट् रिप्रेजेण्ट्स् ऐन् आर्यन् मिथ् आफ् क्रिएशन्, म्यूज़ियम् ५२, १९८-२००; वी० टो० ला० फो०, १०७, १९५१, ७२; मे० को० नी० अ० वे०, १४, १९५१, २१९; बी० एच्० कापडिया, करेक्टरिस्टिक् ऐक्टिवटीज़् आफ् इन्द्र; श्री वे० यू० ओ० ज०, १४(१), जून ७१, १.८।

बीच सेतु का निर्माण किया जाता है[१]। वृत्र-शमन के अभाव में कोई भी संरचनात्मक कार्य करना संभव ही नहीं है। प्रत्येक समाज में वृत्र की स्थिति सदैव बनी रहती है और उसके शमन की प्रक्रिया भी चलती रहती है। यदि यह वृत्र-शमन की प्रक्रिया का आश्रय नहीं लिया जायेगा, तो किसी व्यक्ति या समाज के प्रेय एवं श्रेय का विधान संभव नहीं होगा।

---

१. आनन्दकुमार स्वामी, हिन्दुइज्म ऐण्ड् बुद्धिज्म, पृ० ६-९।

सप्तम अध्याय

तैत्तिरीयशाखीय लघुचितियों की प्रतीक-संरचना

तथा

उपसंहार

सावित्र-अग्नि : प्रतीक अर्थ

इस अग्नि का नाम सावित्र है[1]। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इस अग्नि में सविता देवता को प्रतीकायित किया जाता है। सविता का इस चयन में प्रतिरूपण, दिक्-काल के रूप में किया गया है[2]। यहाँ केवल संवत्सर का ही नहीं; अपितु ऋतुओं, मासों, पखवारों, अहोरात्रों, मुहूर्तों तथा क्षुद्र-मुहूर्तों का भी ईंटों के रूप में आधान किया जाता है[3]। ध्यातव्य है कि सविता प्रजापति[4] ही है और प्रजापति संवत्सर है[5]। सविता के प्रजापति के प्रणोदन के अभाव में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी वैश्विक-स्पन्दन सम्भव नहीं है[6]। इसी दृष्टि से वैदिक अवधारणा में देवों में सविता की स्थिति प्रेरक-देवता के रूप में बतायी गयी है[7]। सविता का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी उपरितन कथ्य को पुष्ट करता है[8]।

काल का प्रत्येक अवयव संवत्सर से भिन्न नहीं है, अतएव इस अग्नि की नाभि में संवत्सर के चार नामों—प्रजापति, संवत्सर, महान् और क—को उद्दिष्ट कर चार ईंटों का आधान किया जाता है[9]। सावित्र-अग्नि की वेदी मण्डलाकार होती है।

---

[1] तै० ब्रा०, ३.१०.९.५-६, ११, १३ आदि।

[2] तदेव, ३.१०.९.८ आदि।

[3] तदेव, ३.१०.१.१-४, १०.९.६-८।

[4] ऋ० सं०, ४.५३.२—भुव॑नस्य प्र॒जा॒प॑तिः; तु०, श० ब्रा०, १२.३.५.१; तै० ब्रा०, १.६४.१; तां० ब्रा०, १६.५.१७; गो० पू०, ५.२२; द्र०, मैकडोनेल, वै० मा०, पृ० ३३।

[5] श० ब्रा०, २.३.३.१८; ऐ० ब्रा०, २.१७; कौ० ब्रा०, ६.१५; तां० ब्रा०, १६.४.१२; गो० उ०, ३.८।

[6] अ० सं०, ९.७.२१; ५.३.९; ७.१७.४; ८.१.१५; १४.१.३३; १९.२०.१; १९.३१.१.३; द्र०, खौंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० ३२८; ४०४।

[7] श० ब्रा०, १.१.२.१७—सविता वै देवानां प्रसविता; तु०, ऐ० ब्रा०, १.३०; ७.१६; कौ० ब्रा०, ६.१४; ५.२; तां० ब्रा०, २४.१५.२; जै० उ०, ३.१८.३।

[8] द्र०, मैकडोनेल, वै० मा०, पृ० ३४।

[9] तै० ब्रा०, ३.१०.१.४—प्रजापतिः, संवत्सरो, महान्, कः।

इसका स्वरूप रथचक्र के समान होता है। अतएव इसके मध्य में निहित प्रजापति आदि संवत्सर के नाम, सुपर्णचिति के सुपर्ण, हिरण्मय पुरुष, चितेनिधेय अग्नि तथा सूर्यमण्डल में स्थित हिरण्मय पुरुष से कथमपि भिन्न नहीं है। ये चारों नाम ऋग्वेद में वर्णित पुरुष के चार विभाग को भी प्रतिरूपायित करते हैं[१]।

परमसत्ता संवत्सर से ही सभी ऋतुएँ तथा यज्ञक्रतुओं का अस्तित्व है, क्योंकि ऋतुएँ तो संवत्सर की घटक हैं तथा यज्ञक्रतु किसी न किसी देश या काल में ही प्रवर्तित होते हैं। अतएव इनके चारों ओर, तीन ऋतुएँ अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रमा के नाम से तथा छह यज्ञक्रतु अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, द्विरात्र, त्रिरात्र एवं चतुरात्र के नाम से नौ ईंटें रखी जाती हैं[२]।

ऋतुवों एवं यज्ञक्रतुओं के चारों ओर इदानीम्, तदानीम्, एतर्हि, क्षिप्र, अजिर, आशु, निमेष, फण, द्रवन्, अतिद्रवन्, त्वरमाण, आशु, आशीयान् और जव नामक क्षुद्र मुहूर्तों को प्रतिरूपायित करने के लिये पन्द्रह ईंटों का उपधान किया जाता है[३]। इन ईंटों के चारों ओर अरुण, अरुणरजा, पुण्डरीक, विश्वजित्, अभिजित्, आर्द्र, पिन्वमान्, अन्नवान्, रसवान्, इरावान्, सर्वोषध, संभर एवं महस्वान् नामक तेरह मासों के रूप में तेरह ईंटें रखी जाती हैं[४]। मास-ईंटों के चतुर्दिक् सहस्वान्, सहीयान्, ओजस्वान्, सहमान्, जयन्, अभिजयन्, सुद्रविण, द्रविणोदा, आर्द्रपवित्र, हरिकेश, मोद तथा प्रमोद नामक संवत्सर के कृष्णपक्षों के रूप में बारह ईंटों का उपधान किया जाता है[५]। इनके चारों ओर संवत्सर के बारह शुक्लपक्ष पवित्र, पविष्यन्, पूत, मेध्य, यश, यशस्वान्, आयु, अमृत, जीव, जीविष्यन्, स्वर्ग एवं लोक ईंटों के रूप में आहित किये जाते हैं[६]।

शुक्लपक्षों के रूप में आहित ईंटों के चारों ओर कृष्णपक्ष की पन्द्रह रातें और उनके पन्द्रह मुहूर्तों का आधान होता है। ध्यातव्य है कि मुहूर्त-ईंटें रात्रि-ईंटों के बीच-बीच में रखी जाती हैं। सुता, सुन्वती, प्रसुता, सूयमाना, अभिषूयमाणा, पीति, प्रपा, संपा, तृप्ति, तर्पयन्ती, कान्ता, काम्या, कामजाता, आयुष्मती तथा कामदुघा रातों के अभिधान हैं[७]। मुहूर्तों के नाम हैं—अभिशास्ता, अनुमन्ता, आनन्द, मोद, प्रमोद, आसादयन्, निषादयन्, संसादन, संसन्न, सन्न, आभू, विभू, प्रभू, शंभू और भुव[८]।

रात्रि-ईंटों तथा मुहूर्त-ईंटों के चारों ओर कृष्णपक्ष के पन्द्रह दिन और उनके पन्द्रह मुहूर्तों को ईंटों के रूप में रखा जाता है। प्रस्तुत, विष्टुत, संस्तुत, कल्याण,

---

[१] ऋ० सं०, १०-९०।

[२] तै० ब्रा०, ३.१०.१.४—अग्निष्टोम उक्थ्योऽतिरात्रो द्विरात्रत्रिरात्रश्चतूरात्रः। अग्निर्ऋतुः सूर्य ऋतुश्चन्द्रमा ऋतुः।

[३] तै० ब्रा०, ३.१०.१.४। [४] तदेव। [५] तदेव, ३.१०.१.३। [६] तदेव।

[७] तै० ब्रा०, ३.१०.१.२। [८] तदेव, ३.१०.१.३।

विश्वरूप, शुक्र, अमृत, तेजस्वी, तेज, समद्धि, अरुण, भानुमत्, मरीचिमत्, अभितपत् और तपस्वत् कृष्णपक्षीय दिनों के नाम हैं[1]। इन दिनों में मुहूर्तों के नाम सविता, प्रसविता, दीप्त, दीपयन्, दीप्यमान, ज्वलन्, ज्वलिता, तपन्, वितपन्, संतपन्, रोचन, रोचमान्, शुम्भू, शुम्भमान और वाम हैं[2]।

कृष्णपक्षीय दिन-ईंटों तथा मुहूर्त-ईंटों के उपधान के अनन्तर शुक्लपक्ष की रातों तथा उनके मुहूर्तों के रूप में तीस ईंटों को रखने का विधान है। इन ईंटों का आधान उपरितन ईंटों के चारों ओर किया जाता है। शुक्लपक्ष की रातों के दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना, आप्यायमाना, प्यायमाना, प्याया, सूनृता, इरा, आपूर्यमाणा, पूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा एवं पौर्णमासी नाम[3] हैं। इनके मुहूर्तों के अभिधान हैं—दाता, प्रदाता, आनन्द, मोद, प्रमोद, आवेशयन्, निवेशयन्, संवेशन, संशान्त, शान्त, आभवन्, प्रभवन्, संभूत एवं भूत[4]।

उपरिर्वणित शुक्लपक्षीय रात्रि-ईंटों एवं मुहूर्त-ईंटों के चतुर्दिक् शुक्लपक्ष के दिनों एवं उनके मुहूर्तों को रूपायित करने वाली तीस ईंटों का उपधान किया जाता है। इन दिनों के अभिधान हैं—संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, जानत्, अभिजानत्, संकल्पमान, प्रकल्पमान, उपकल्पमान, उपक्लृप्त, क्लृप्त, श्रेय, वसीय, आयत्, संभूत एवं भूत[5]। इनके मुहूर्तों के नाम—चित्र, केतु, प्रभान्, आभान्, संभान्, ज्योतिष्मान्, तेजस्वान्, आतपन्, तपन्, अभितपन्, रोचन, रोचमान, शोभन, शोभमान एवं कल्याण हैं[6]।

सावित्र चयन में सभी ईंटें सोने की होती हैं[7]। वैदिक-अवधारणा में हिरण्य का महत्त्व अतिशायी है। ऋग्वेद संहिता में सूर्य की ज्योति को स्वर्ण आभूषण के समान बताया गया है[8]। ऋग्वेद-संहिता में इसे ज्योति एवं अमरता के रूप में चित्रित किया गया है[9]। यहाँ हिरण्य का जन्म त्रिधा कहा गया है[10]। अग्नि, सोम एवं जल इसके

---

[1] श० ब्रा०, ३.१०.१.२। [2] तदेव। [3] तदेव, ३.१०.१.१। [4] तदेव।

[5] तै० ब्रा०, ३.१०.१.१। [6] तदेव।

[7] स० श्रौ०, २३.२.३—चेष्यमाण उपकल्पयते पञ्चाशीतिशतं हिरण्येष्टका यावदुत्तमङ्गुलिपरु, द्र०, सायण, तै० ब्रा०, ३.१०.१.१; सावित्रचयनम्, सरस्वतीभवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, पाण्डुलिपि-संख्या, २७६४; ३६३३; ३६६३; ३४०९; ३४०७; ३७८५; ३८८६।

[8] ऋ० सं०, ६.५.१.१—रु॒क्मो न दि॒व उदि॑ता॒ व्य॑द्यौत; तु०, तदेव, ७.६३.४; ५.१.१२; ५.६१.१२।

[9] अ० सं०, १०.९.६—स तांल्लो॒कान् समा॑प्नोति॒ ये दि॒व्या ये च॒ पार्थि॑वाः। हिर॑ण्यज्योतिषं कृ॒त्वा यो ददा॑ति श॒तौद॑नाम् ॥ तु०, तै० ब्रा०, ३.८.२.२।

[10] अ० सं०, ५ २८.६—त्रे॒धा जा॒तं जन्म॑ने॒दं हिर॑ण्यम॒ग्नेरेकं॑ प्रि॒यत॑मं बभूव॒ सोम॒स्यैकं॑ हिंसि॒तस्य॒ परा॑पतत्। अ॒पामेकं॑ वे॒घसां॒ रेत॑ आहु॒स्तत् ते॒ हिर॑ण्यम्।

जनयिता हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि अग्नि एवं आप् के मिथुनीभाव से हिरण्य का जन्म हुआ था[1]। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुसार जब सोम का अभिषवण हो रहा था, तब सुवर्ण की उत्पत्ति हुई[2]। अन्यत्र वरुण के अभिषेक के समय उसके वीर्य से ही हिरण्य अस्तित्व में आया[3]। हिरण्य परमज्योति, जीवन एवं अमरता का प्रतीक है[4]। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकत्र हिरण्य को अमृत, आयु, ज्योति, तेज, यश, प्राण एवं सत्य कहा गया है[5]। शतपथब्राह्मण का कथन है कि हिरण्य देवों का रूप है[6]। इसी दृष्टि से अग्निचयन में प्रयुक्त रुक्म एवं हिरण्मय पुरुष सुवर्ण का होता है[7]। सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष हिरणमय[8] है। इसी को दृष्टि में रखकर तैत्तिरीय-ब्राह्मण में अत्यंह आरुणि ने जब प्लक्ष दय्यापाति से उसके रहस्य को जानने की इच्छा से सावित्र-अग्नि के स्थान के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब प्लक्ष दय्यापाति ने

---

[1] श० ब्रा०, २.१.१.५—अग्निर्ह वा अपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति, ताः सम्ब्रभूव, तासु रेतः प्रासिचत् तदधिरण्यमभवत्। तु०, तै० ब्रा०, १.१.३.८; श० ब्रा०, २.२.३. २८; १४.१ ३ २९।

[2] तै० ब्रा०, १.४.७.४-५—सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुदक्रामत् तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्।

[3] तदेव—८.१ ९.१—वरुणस्य वा अभिषिच्यमानस्याप इन्द्रियं वीर्यं निरघ्नन्, तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्।

[4] आनन्दकुमार स्वामी, दि इण्टेलेक्चुअल् आपरेशन् इन् इण्डियन आर्ट, से० पे० १, पृ० १३३; पा० टि० ९; खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० २०७-२०८, २३१, २६२ आदि।

[5] श० ब्रा०, ३.८.२.२७; ४.५ २.१०; ४.६.१.६; ५.२.१.२०; ५.३.५ १५; ५.४ १.१४; १२.८.१.२२—अमृतमायुर्हिरण्यम्; तु०, तै० ब्रा०, १.७.६,३; १.७.८.१; ता० ब्रा०, ९.९.४; श० ब्रा०, ४.३ १.२१—ज्योतिर्हिरण्यम्; तु०, तदेव; ६.७.१.२; ७.४.१.१५; तां० ब्रा०, ६.६.१०; १८.७.८; तै० ब्रा०, १.४.४.१; गो० उ०, ५.८; तै० ब्रा०, १.८.९.१—तेजो वै हिरण्यम्; तु०, श० ब्रा०, ३.२.४.९; तै० ब्रा०, ३.१२.५.१२; ऐ० ब्रा०, ७.१२—यशो वै हिरण्यम्; श० ब्रा०, ७.५.२.८—प्राणो वै हिरण्यम्; गो० उ०, ३.१७—सत्यं वै हिरण्यम्।

[6] श० ब्रा०, १२.८.१.१५—देवनां वा एतद् रूपं यद्धिरण्यम्। ज्योति की अवधारणा के लिये द्र०, खोंदा, दि विज़न आफ् वैदिक् पोएट्स्, हेग, १९६३, अध्याय ११।

[7] श० ब्रा०, ७.४.१.१०—रुक्ममुपदधाति, हिरणमयो भवति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.१.१०.३; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१; क० सं० ब्रा०, ३१.१, श०ब्रा०, ७.४.१.१५—पुरुषमुपदधाति, स हिरण्मयो भवति; तु०, तै०सं० ब्रा०, ५.२.७; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; क० सं० ब्रा०, ३१.७।

[8] श० ब्रा०, १०.५.२ ६—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषोऽयमेव सऽयोऽयं हिरण्मयः पुरुषः; तु०, तदेव, १०.५.२.७; सुवर्ण के सौर चरित्र के लिये द्र०, मर्सिया इलियाड, राइट्स् ऐण्ड् सिम्बल्स आफ इनीशियेशन : दि मिस्ट्रीज़ आफ् अर्थ ऐण्ड् रिबर्थ, न्यूयार्क, १९६१, पृ० ५३, १२३-१२४।

उत्तर दिया कि सावित्र-अग्नि 'परोरजा' लोक में प्रतिष्ठित है[१]। अत्यंह-आरुणि ने पुनः जिज्ञासा की कि 'परोरजा' क्या है? प्लक्ष दय्यापाति ने उत्तर दिया कि द्युलोक में जो सूर्यमण्डल प्रदीप्त हो रहा है, वही 'परोरजा' है[२]। अत्यंह-आरुणि ने पुनः पूछा कि यह सूर्यमण्डल किसमें स्थित है? दय्यापाति ने उत्तर दिया कि वह सत्य में प्रतिष्ठित है[३]। पुनः आरुणि ने प्रश्न किया कि सत्य कहाँ स्थित है? प्लक्ष ने उत्तर दिया कि वह तप में वर्तमान है[४]। आरुणि ने पुनः प्रश्न किया कि तप कहाँ स्थित है? प्लक्ष ने समाधान किया कि तप बल में प्रतिष्ठित है और बल प्राण में[५]। अन्त में प्लक्ष ने कहा कि अब प्राण के सम्बन्ध में अतिप्रश्न मत करो। प्राणतत्त्व अनुभवनीय है, उसके सम्बन्ध में विवाद नहीं किया जा सकता[६]। इस संवाद से यह प्रमाणित होता है कि सावित्र-अग्नि प्राणरूप है। अतएव उसका चयन हिरण्यमयी ईंटों से किया जाता है। सावित्र-अग्नि का चयन करने वाला इसीलिये मृत्युग्रह ग्रहण करने के पश्चात् अपने-आपमें 'मन्द्राभिभूति' अनुवाक के द्वारा वाक्, प्राण, अपान, चक्षु, मन आदि को प्रतिष्ठित करता है[७]।

सावित्र-अग्नि संवत्सर का रूप है। अतएव संवत्सर एवं तद्घटकों ऋतुवों आदि को इस अग्निचयन में ईंटों के रूप में आहित किया जाता है। यजमान इस अग्नि के उपस्थान में इसे संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर एवं वत्सर के नाम से सम्बोधित करता है[८]। सुपर्णचिति के सुपर्ण के समान संवत्सर-सावित्र को पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है। सावित्र-अग्नि का शिर वसन्त है[९]। ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु इस पक्षी के दक्षिण तथा उत्तर पक्ष[१०] हैं। वर्षा ऋतु इसकी पूँछ है[११]। इसी अग्नि का मध्यभाग हेमन्त ऋतु है[१२]। जितनी चितियाँ हैं,

---

[१] तै० ब्रा०, ३.१०.९.३—अत्यंहो आरुणिः, प्लक्षं दय्यांपातिं पृच्छ, स कस्मिन् प्रतिष्ठितः; परोरजसि।

[२] तदेव, ३.१०.९.४—कस्तद् यत् परोरजा इति, एष वाव स परोरजा इति होवाच, य एष तपति।

[३] तदेव—स कस्मिन् त्वेष इति, सत्य इति।

[४] तदेव—किं तत् सत्यमिति, तप इति।

[५] तदेव, ३.१०.९.५—कस्मिन्नु तप इति, बल इति, किं तद्बलमिति, प्राण इति।

[६] तदेव—मा स्म प्राणमतिपृच्छ, सावित्रे न संवदेत।

[७] तदेव, ३.१०.८.१-९।

[८] तदेव, ३.१०.३.१—संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि, इदुवत्सरोऽसि, इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि।

[९] तै० ब्रा०, ३.१०.३.१—तस्य वसन्तः शिरः।

[१०] तदेव—ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः, शरदुत्तरः पक्षः।

[११] तदेव – वर्षाः पुच्छम्।

[१२] तै० ब्रा०, ३.१०.४.१—हैमन्तो मध्यम्।

वे संवत्सर की शुक्लपक्ष और पुरीषसंवत्सर को कृष्णपक्ष हैं[१]। सावित्र में प्रयुक्त सभी ईंटें संवत्सर की अहोरात्र हैं[२]।

सावित्र-अग्नि में सभी लोक स्थित हैं। द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी सावित्र ही है[३]। इसमें रखी जाने वाली चार स्वयमातृण्णा ईंटें क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं दिशाओं को प्रतीकायित करती हैं[४]। जो इस सावित्र-अग्नि को जानते हैं, उन्होंने सभी लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है[५]। इसी प्रकार जो संवत्सर के घटक अहोरात्रों, मुहूर्तों, पखवारों, मासों, यज्ञक्रतुओं तथा ऋतुओं के नामों को जानते हैं, उनका तादात्म्यीकरण इनके साथ हो जाता है[६]। इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति संवत्सर में स्थित आर्ति का अपनोदन कर अमृतत्व की उपलब्धि करता है[७]।

सावित्र-अग्नि सभी देवताओं की भी अभिव्यक्ति करता है। चारों स्वयमातृण्णाएँ क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य एवं चन्द्रमा को प्रतिरूपायित करती हैं[८]। यह विद्युत् एवं वृष्टि भी है। प्रजापति ने जब देवों की सृष्टि की, तब वे पापयुक्त थे। उसने देवों के उस सहज पाप का विनोदन किया; अतएव उनका अभिधान विद्युत् पड़ा[९]। प्रजापति ने देवों के पाप का उच्छेद किया (अवृश्चत्), अतएव उन्हें वृष्टि कहा गया[१०]। विद्युत् एवं वृष्टि के रूप में सभी देवता सावित्र-अग्नि का चयन करने वाले व्यक्ति के पापों का समूल उन्मूलन कर उसे अमृतज्योति में प्रतिष्ठापित करते हैं[११]। चयन में आहित ईंटों के सभी नाम अग्नि, वायु, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति एवं ब्रह्म के नाम हैं[१२]। इन नामों को जो जानता है, उसका ब्रह्माण्ड, सभी देवों तथा परमसत्ता के साथ स्थानिक (सालोक्य) एवं सजात्य (सायुज्य) तादात्म्यीकरण हो जाता है[१३]। फलस्वरूप वह अमृत होकर स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है।

---

१. तदेव—पूर्वपक्षाश्चितयः, अपरपक्षाः पुरीषम्।

२. तदेव—अहोरात्राणीष्टकाः।

३. तदेव—३.१०.४.३—दिवं मे यच्छ, अन्तरिक्षं मे यच्छ, पृथिवीं मे यच्छ; तु०, श०ब्रा०, १३.१.४.२; तै० ब्रा०, ३.९ १३.२—इयं वै सविता।

४. तै० ब्रा०, ३.१०.२.१।

५. तदेव, ३.१०.९.१३—ये के च सावित्रं विदुः, सर्वे ते जितलोकाः।

६. तदेव, ३.१०.१०.२-४।

७. तदेव—नार्तिमार्च्छंति, य एवं वेद।

८. तै० ब्रा०, ३.१०.२.१।

९. तदेव, ३..०.९.१—प्रजापतिर्देवानसृजत, ते पाप्मना संदिता अजायन्त, तान् व्यद्यत्, यद् व्यद्यत् तस्माद् विद्युत्।

१०. तदेव — तमवृश्चत्, यद्दृश्चत्, तस्माद् वृष्टिः।

११. तदेव—तस्माद् यत्रैते दैवते अभिप्राप्नुतः, वि च हैवास्य तत्र पाप्मानं द्यतः, वृश्चतश्च।

१२. तदेव, ३.१०.११.६-७।

१३. तदेव—सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य एवं वेद।

यह सावित्र अग्नि पक्ष एवं पुच्छ से रहित वायु है[१]। इसका मुख अग्नि है और आदित्य शिर है[२]। इन दोनों के मध्य में जो कुछ है, उस सब को यह सीकर एक करता है। अतएव इसका नाम सावित्र है[३]।

वैदेह जनक का समागम अहोरात्रों के साथ हुआ[४]। अहोरात्रों ने जनक से कहा कि जो हमको जानता है, वह सभी वैश्विक कलुषों, कल्मषों से रहित हो जाता है[५]। उसे सम्पूर्ण आयु की उपलब्धि होती है और वह स्वर्गलोक पर जय प्राप्त करता है[६]। स्वर्ग में उसका उपभोग अक्षय्य रहता है[७]। इससे यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति सावित्र-अग्नि का चयन कर संवत्सर को वशंवद बना लेता है, वह सर्वजेता हो जाता है[८]। इसी दृष्टि से आदित्य ने शूष-वार्ष्णेय को बताया था कि इस सावित्र-अग्नि का ज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि यह अग्नि स्वर्ग है[९]। यह अमृत से उत्पन्न होकर सबको सकल दुःखौध के पार उतारने वाला है। यह सावित्र-अग्नि वही है, जो द्युलोक में प्रदीप्त हो रहा है।

सावित्र अग्नि मधु है। यह पृथ्वी सरधा (मधुमक्खी)[१०] है। मधुमक्खियों से संघटित अग्नि इसका मधु है[११]। संवत्सर के शुक्ल एवं कृष्णपक्ष की रातें मधु-निर्मात्री मक्षिकाएँ हैं[१२]। इन पक्षों के दिन मधुवृषे (नर मक्खियाँ) हैं[१३]। जिन लोगों को मधु-निर्मात्री मक्षिकाओं तथा नरमधुमक्खियों का ज्ञान है, उनके लिए यह अग्नि मधु का कार्य करता है[१४]। ये मधुमक्खियाँ सावित्रचित् के इष्टापूर्त के रस का पान नहीं करतीं[१५];

---

१. तदेव, ३.१०.११.७ - स वा एष अग्निरपक्षपुच्छो वायुरेव।

२. तदेव—तस्याग्निर्मुखम्, असावादित्यः शिरः।

३. तदेव—स यदेते देवते अन्तरेण तत् सर्वं सीव्यति तस्मात् सावित्रः।

४. तै० ब्रा०, ३.१०.९ ९—जनको ह वैदेहः, अहोरात्रैः समाजगाम।

५. तदेव—तं होचुः, योऽस्मान् वेद, विजहत् पाप्मानमेति।

६. तै० ब्रा०, ३.१०.९ १०—सर्वमायुरेति, अभि स्वर्गं लोकं जयति।

७. तदेव—नास्यामुष्मिल्लोकेऽन्नं क्षीयते।

८. तदेव, ३.१०.९.१५—शूषो ह वै वार्ष्णेयः, आदित्येन समाजगाम, तं होवाच, एहि सावित्रं विद्धि, अयं वै स्वर्ग्योऽग्निः।

९. तदेव—पारयिष्णुरमृतात् संभूत इति। एष वाव स सावित्रः, य एष तपति।

१०. तदेव, ३.१०.१०.१—इयं वाव सरघा।

११. तदेव—तस्या अग्निरेव सारघं मधु।

१२. तदेव—या एताः पूर्वपक्षापरपक्षयो रात्रयः, ता मधुकृतः।

१३. तदेव—यान्यहानि ते मधुवृषाः।

१४. तदेव—स यो ह वा एता मधुकृतश्च मधुवृषांश्च वेद, कुर्वन्ति हास्यैता अग्नौ मधु।

१५. तदेव—नास्येष्टापूर्तं धयन्ति; इष्टापूर्त के लिये द्र०, शब्दकल्पद्रुम, १, पृ० २१५, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६७— अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

परन्तु जो सावित्र-अग्नि से अनभिज्ञ है, उसके अग्नि को तो ये मधु बनाती ही नहीं, अपितु उसके इष्टापूर्त से उद्भूत मधु का पान कर जाती हैं[१]।

सावित्र-अग्नि सकल विद्याओं का प्रतिरूप है। भरद्वाज ऋषि ने अपनी आयु के तीन भागों को वेदों के अध्ययन में लगा दिया, परन्तु वे वेदों के रहस्य का अवगम न कर सके[२]। इन्द्र जराजीर्ण स्थविर भरद्वाज के पास आया[३]। उसने भरद्वाज से कहा कि यदि तुम्हें चौथी आयु भी दे दूँ, तो तुम क्या करोगे[४] ? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि वेदों का अध्ययन ही करूँगा[५]। इन्द्र ने उसे तीन गिरिरूपों में वेदों को दिखाया और उनसे एक-एक मुट्ठी धूल लेकर कहा कि भरद्वाज ये वेद हैं और ये अनन्त हैं[६]। अतएव तुम इन्हें कभी न जान सकोगे। आओ, सावित्र-अग्नि का ज्ञान प्राप्त करो, यही सकल विद्याओं का आकर है[७]। इस प्रकार भरद्वाज सर्वविद्य हुआ और उसने स्वर्गलोक की प्राप्ति कर आदित्य के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया[८]। यह सावित्र-अग्नि त्रयीविद्या को प्रतीकायित करता है[९]। देवभाग श्रौतर्ष सावित्र को जानता था[१०]। अदृश्य वाक् ने उससे कहा कि तुम सावित्र का साक्षात्कार कर चुके हो, अतएव तुम सर्वविद् हो[११]। देवभाग ने जिज्ञासा की कि तुम कौन हो? वाक् ने उत्तर दिया कि मैं ही सावित्र-अग्नि हूँ।[१२] वागूरूप सावित्र के

---

[१] तदेव, ३.१०.१०.२—यो न वेद, न हास्येता अग्नौ मधु कुर्वन्ति, धयन्त्येष्टापूर्तम्; मधुविद्या के लिए द्र०, पी० सी० सेनगुप्त, मधुविद्या आर दि साइन्स आफ स्प्रिंग, जर्नल् आफ दि एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (लेटर्स), ४, १९३८; एस० चित्रा व, मधु-विद्या-पुरुषार्थ (मराठी), १६, दिसम्बर, १९३९; एफ० बी० जे० क्यूइपे, इण्टर्प्रेटेशन् आफ छान्दोग्योपनिषद्, ३.१.२, ब्रह्मविद्या, २०-२१, १९६०-१९६१, १९६३, पृ० ३६-३९; खोंदा, सवयज्ञज्, पृ० १४६।

[२] तै० ब्रा०, ३.१०.११.३—भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास।

[३] तदेव—तं ह जीर्णि स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच।

[४] तदेव—भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्, किमेनेन कुर्या इति।

[५] तदेव—ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच।

[६] तदेव—तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयांचकार, तेषां हैकैकस्मान् मुष्टिमाददे, स होवाच, भरद्वाजेत्यामन्त्र्य, वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः।

[७] तदेव—एहीमं विद्धि, अयं वै सर्वविद्येति, तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच।

[८] तै० ब्रा०, ३.१०.११.५—तं स विदित्वा, अमृतो भूत्वा, स्वर्गं लोकमियाय, आदित्यस्य सायुज्यम्।

[९] तदेव, ३.१०.११.६—एषो एव त्रयी विद्या।

[१०] तदेव, ३.१०.९ ११—देवभागो ह श्रौतर्षः, सावित्रं विदांचकार।

[११] तदेव, ३.१०.९.१२—तं ह वागदृश्यमानाभ्युवाच, सर्वं बत गौतमो वेद, यः सावित्रं वेदेति।

[१२] तदेव—कैषा वागसीति, अयमहं सावित्रः।

आठ अक्षर हैं—घृणि, सूर्य एवं आदित्य[1]। सावित्र का यह आठ अक्षरों वाला पद श्री से अभिषिक्त है[2]। इसका जिसे सम्यग् ज्ञान है, वह व्यक्ति श्री से अभिषिक्त होता है[3]। ऋचाओं-वेदों के सकल अक्षर परमव्योम में हैं, जिनमें सारे देव स्थित हैं और सकल अस्तित्व वर्तमान हैं[4]। ऊपर द्युलोक में यह त्रयीविद्या एवं वाक् का देवचक्र (सूर्यमण्डल) घूम रहा है[5]। इसी देवचक्र में आदित्यवर्ण पुरुष प्रतिष्ठित है, जिसे जानकर लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं[6]। यही उपनिषद् की वाणी में आदित्य-ज्योति कहा गया है[7]। इस दृष्टि से सावित्र-अग्नि का चयन मनुष्य को तम के पार स्थित परमसत्ता के साथ तादात्म्यीकृत बनाता है। अहीना आश्वत्थ्य सावित्र-अग्नि को जानने के पश्चात् हिरण्मय हंस होकर आदित्य के साथ तादात्म्यीकृत हो गया[8]।

नाचिकेत-अग्नि : प्रतीक-संरचना—

नाचिकेत-अग्नि का मनुष्यों में सर्वप्रथम चयन करने वाला नचिकेता था। अतएव इसका नाम नाचिकेत है[9]। यम ने इस अग्नि का ज्ञान नचिकेता को दिया था। अग्नि के चयन की प्रक्रिया को नचिकेता ने सद्यः यम के समक्ष स्पष्टतया यथोचित रीति से कह दिया था। फलस्वरूप यम ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा कि यह अग्नि तुम्हारे नाम से ही संसार में प्रसिद्ध होगा[10]।

---

१. तदेव, ३.१०.९.१३—धृषिरिति द्वे अक्षरे, सूर्यं इति त्रीणि, आदित्य इति त्रीणि।

२. ३.१०.९.१४—एतद् वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तम्।

३. तै० ब्रा०, ३.१०.९.१४—य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते।

४. ऋ० सं०, १.१६४.३९—ऋ॒चो अ॒क्षरे॑ प॒रमे॒ व्यो॑म॒न्, यस्मि॑न् दे॒वा अधि विश्वे॑ निषे॒दुः; अ० सं०, ९.१०.१८; तै० ब्रा०, ३.१०.९.४; जै० उ०, १.१.२२; तै० आ०, २.११.१; श्वेता०, ४.८; नृ० पू० उ०, ४.२; ५.२।

५. तै० ब्रा०, ३.१०.९.१५—यदेतत् परि देवचक्रम्, आर्द्रं पिन्वमान स्वर्गे लोक एति।

६. वा० सं०, ३१.१८—वे॒दाहमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं तम॑सः प॒रस्ता॑त्, तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑म॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय; तु०, तै० आ०, ३.१२.७, १३.१; श्वेता०, ३.८।

७. बृ० उ०, ४.३.२—किं ज्योतिरयं पुरुषः, आदित्यज्योतिरयं सम्राट्।

८. तै० ब्रा०, ३.१०.९.११—अहीना हास्वत्थयः, सावित्रं विदांचकार, स ह हंसो हिरण्मयो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय, आदित्यस्य सायुज्यम्।

९. द्र०, तै० ब्रा०, ३.११.८; क० उ० १।

१०. क० उ०, १.१६—तवैव नाम्ना भवितायमग्निः, १.१९—एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासः।

वाजश्रवस ने विश्वजित् नामक याग में अपना सारा धन दक्षिणा के रूप में ऋत्विजों को दे दिया[१]। जब ऋत्विज् दक्षिणा ले रहे थे, तब उसके पुत्र कुमार नचिकेता के मन में यह विचार आया कि जब इस यज्ञ में सर्वस्व दान करने का विधान है, तब पिता मुझे क्यों नहीं दक्षिणा में दे रहे हैं[२]? नचिकेता ने पिता से कहा—हे तात ! तुम मुझे किसे दे रहे हो ? पिता ने उसे बालक समझकर उसके कथ्य पर ध्यान नहीं दिया। नचिकेता ने उपरिकथित बात को दुबारा एवं तिबारा कहा[३]। इस पर वाजश्रवस ने क्रुद्ध होकर कहा कि मैं तुम्हें मृत्यु को दे रहा हूँ[४]। नचिकेता उठ खड़ा हुआ। एतदनन्तर दैवी वाक् ने उसे समझाया कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें मृत्यु को दे दिया है। तुम वहाँ जाओ और मैं तुम्हें जो कुछ बता रही हूँ, वैसा ही मृत्यु के पास जाकर कहना-सुनना[५]। वाक् द्वारा प्रबोधित होकर नचिकेता मृत्यु के घर पहुँचा। उस समय यम अपने निवास-स्थान पर नहीं था[६]। नचिकेता तीन दिन-रात तक यम के घर में विना खाये-पिये पड़ा रहा[७]। यम अपने घर आया और उसने नचिकेता से प्रश्न किया। तुम यहाँ विना खाये-पिये कैसे पड़े रहे ? पहली रात तुमने क्या खाया ? नचिकेता ने उत्तर दिया कि मैंने पहली रात में तुम्हारी प्रजा का भोजन किया[९]। यम ने कहा कि दूसरी रात में तुमने क्या भोजन किया ? उसने उत्तर दिया कि मैंने दूसरी रात में तुम्हारे पशुओं को खाया[१०]। यम ने पुनः जिज्ञासा की कि तुम्हारा तीसरो रात में क्या भक्ष्य बना ? नचिकेता ने कहा कि तीसरी रात में मैंने तुम्हारे शुभ कर्मों को भक्ष्य बनाया[११]।

यम संकटापन्न हो गया और उसने नचिकेता से निवेदन किया कि तुम मेरे घर विना भोजन किये पड़े रहे, अतएव मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम तीन रातें हमारे घर में विना खाये बिता दिए, अतएव उनके बदले में मुझसे तीन वर माँगो[१२]।

---

१. तै० ब्रा०, ३.११.८.१—उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ; तु०, क० उ०, १ १।

२. तदेव—तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस, तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश; तु०, क० उ०, १.२।

३. तदेव—३.११.८.१—तत् कस्मै मां दास्यसीति, द्वितीयं तृतीयम्; तु०, क० उ०, १.४।

४. तदेव—तं ह परीत उवाच, मृत्यवे त्वा ददामीति; तु०, क० उ०, तदेव।

५. तदेव, ३.११.८.२—तं ह स्मोत्थितं वागभिवदति……।

६. तदेव, ३.११.८.३—तं वै (प्रव) सन्तं जगाम।

७. तदेव—तस्य ह तिस्रो रात्रीरनाश्वान् गृह उवास।

८. तदेव, ३.११.८.३-४—तमागत्य पप्रच्छ,…… किं प्रथमां रात्रिमाश्ना इति।

९. तदेव प्रजा त इति। तु०, क० उ०, १.८।

१०. तदेव—किं द्वितीयामिति, पशूंस्त इति। तु०, क० उ०, तदेव।

११. तदेव—किं तृतीयामिति, साधुकृत्यां त इति। तु०, क० उ०, तदेव।

१२. तै० ब्रा०, ३.११.८.३-४—नमस्ते अस्तु भगव इति होवाच वरं वृणीष्वेति। तु०, क० उ०, १.९।

नचिकेता ने निवेदन किया कि प्रथम वर तो मुझे यह दो कि जीवन-धारण करता हुआ अपने पिता के समीप चला जाऊँ, द्वितीय वर मुझे यह दो कि मेरा इष्टापूर्त अक्षय्य हो और तीसरे वर में मुझे मृत्यु को विनष्ट करने का उपाय बताओ[१]। यम ने इन वरों को दिया। इष्टापूर्त की अक्षिति के निमित्त यम ने नचिकेता को इस अग्नि का चयन बताया, जो विश्व में नाचिकेत-अग्नि के नाम से विख्यात है[२]। तीसरे वर की उपलब्धि के लिये भी नाचिकेत-अग्नि के चयन की विद्या को ही, यम ने साधन बताया। नचिकेता ने इस अग्नि का चयन कर व्यक्तिगत एवं सार्वजनीन अभ्युदय के साथ-साथ पुनर्जन्म के बन्धनों के उच्छेद की प्राप्ति की[३]।

नाचिकेत-अग्नि में इक्कीस सुवर्णमयी ईंटों का प्रयोग होता है[४]। इन ईंटों के द्वारा सभी लोकों को प्रतिरूपायित किया जाता है। प्रथम ईंट के द्वारा पृथ्वीलोक, द्वितीय ईंट के द्वारा अन्तरिक्षलोक तथा तृतीय ईंट के द्वारा द्युलोक को अग्नि में स्थापित कर उन लोकों को अपना वशंवद बनाया जाता है[५]। अवशिष्ट अठारह ईंटों के द्वारा उरु तथा वरीय लोकों को प्रतिरूपायित कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है[६]। आदित्य के अधोवर्ती लोकों का अभिधान 'उरु' है तथा ये अन्तवान् एवं विनाशी हैं[७]। आदित्य के उपरिवर्ती लोकों को 'वरीय' कहा जाता है तथा ये अनन्त, अपार एवं अक्षय्य हैं[८]। नाचिकेत-अग्नि के चयन के द्वारा इन उभयविध लोकों को स्वाधिकृत किया जाता है[९]।

---

[१] तदेव—३.११.८.४-५—पितरमेव जीवन्नयानीति, इष्टापूर्तयोर्मेऽक्षितिं ब्रूहीति, पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि; तु०, क० उ०, १.१०-१३, २०।

[२] तै० ब्रा०, ३.११.८.५—तस्मै हैतमग्निं नाचिकेतमुवाच, ततो वै तस्येष्टापूर्ते नाक्षीयते।

[३] तदेव—३.११.८.५-६—नास्येष्टापूर्तं क्षीयेते, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेव वेद; अप पुनर्मृत्युं जयति, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेव वेद।

[४] स० श्रौ०, २३.३.१—एकविंशतिर्हिरण्येष्टकाः।

[५] तै० ब्रा०, ३.११.१०.१– यां प्रथमामिष्टकामुपदधाति; इमं तया लोकमभिजयति, यां द्वितीयामुपदधाति, अन्तरिक्षलोकं तयाभिजयति; यां तृतीयामुपदधाति, अमुं तया लोकमभिजयति; ईंटों के लिये द्र०, तदेव, ३.११ १.१-३।

[६] तदेव, ३.११.१०.२—या अमूरितरा, य एवामी उरवश्च वरीयांसश्च लोकाः; तानेव ताभिरभिजयति।

[७] तदेव, ३.११.७.४—उरवो ह वै नामैते लोकाः, येऽवरेणादित्यम्।

[८] तै० ब्रा०, ३.११.७.४—एते वरीयांसो लोकाः, ये परेणादित्यम्।

[९] तदेव—अन्तवन्तं ह वा एष क्षय्यं लोकं जयति, योऽवरेणादित्यम्; एषोऽनन्तमपारमक्षय्यं लोकं जयति, यः परेणादित्यम्।

नाचिकेत-अग्नि संवत्सर है[१]। वसन्त-ऋतु इसका सिर है। ग्रीष्म-ऋतु एवं वर्षा-ऋतु इस अग्नि के दक्षिणी तथा उत्तरी पंख है[२]। शरद्-ऋतु इसकी पूँछ है[३]। महीने नाचिकेत-अग्नि में प्रायोजित ऋत्विक् हैं[४]। इस संवत्सर-नाचिकेत के दिन और रातें शतरुद्रिय होम हैं[५]। इसकी वसोर्धारा पर्जन्य हैं। वसोर्धारा प्रजा की सारी कामनाओं की पूर्ति उसी तरह करती है, जैसे पर्जन्य अच्छी वर्षा कर प्रजा की सारी कामनाओं की पूर्ति करती है[६]। अन्य प्रकार से भी नाचिकेत-अग्नि को संवत्सर के रूप में प्रतीकायित किया गया है। इसका सिर वसन्त-ऋतु है और ग्रीष्म-ऋतु दाहिना पंख है[७]। शरद्-ऋतु इसका बाँया पंख है और वर्षा-ऋतु पूँछ है[८]। इसका मध्यभाग हेमन्त है[९]। संवत्सर के शुक्लपक्ष इस अग्नि की चितियाँ हैं और पुरीष कृष्णपक्ष हैं[१०]। नाचिकेत-अग्नि में उपहित सभी ईंटें संवत्सर के अहोरात्रों को रूपायित करती हैं[११]। इसमें आहित अग्नि नित-नूतन अग्निमय अग्नि है[१२]। ध्यातव्य है कि सुवर्णचिति एवं सावित्रचिति के समान नाचिकेत-अग्नि को भी संवत्सर-पक्षी के रूप में प्रतिरूपायित किया गया है। नाचिकेत-अग्नि वायु के रूप में भी पक्षी बताया गया है। पूर्वाभिमुख प्रवाहित वायु नाचिकेत-अग्नि का शिर है[१३]। दक्षिणी वायु इसका दाहिना पंख तथा उत्तरी वायु बाँया पंख है[१४]। पश्चिमी वायु इस अग्नि की पूँछ है[१५]। एकत्र होकर जो वायु प्रवाहित होता है, वह इस अग्निशकुन के पंखों का संकोचन एवं प्रसारण है[१६]। नाचिकेत के इस वायुपक्षी को

---

१. तदेव, ३.११.१०.२—संवत्सरो वाग्निर्नाचिकेतः।

२. तदेव, ३.११ १०.३ -- ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः, वर्षा उत्तरः।

३. तदेव - शरत् पुच्छम्।

४. तदेव—मासाः कर्मकराः।

५. तदेव—अहोरात्रे शतरुद्रीयम्।

६. तदेव—पर्जन्यो वसोर्धारा, यथा वै पर्जन्यः सुवृष्टं वृष्ट्वा प्रजाभ्यः सर्वान् कामान् संपूरयति, एवमेव स तस्य सर्वान् कामान् संपूरयति।

७. तदेव, ३.११.१०.४—तस्य वसन्तः शिरः ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः।

८. तदेव—वर्षाः पुच्छम्, शरदुत्तरः पक्षः।

९. तदेव—हेमन्तो मध्यम्।

१०. तदेव—पूर्वपक्षाश्चितयः, अपरपक्षाः पुरीषम्।

११. तदेव—अहोरात्राणीष्टकाः।

१२. तदेव—एष वाव सोऽग्निरग्निमयः पुनर्णवः।

१३. तै० ब्रा०, ३.११.७.१—अयं वाव यः पवते, सोऽग्निर्नाचिकेतः स यत् प्राङ् पवते, तदस्य शिरः।

१४. तदेव—यद् दक्षिणा, स दक्षिणः पक्षः, यदुदङ् स उत्तरः पक्षः।

१५. तदेव—यत् प्रत्यक्, तत् पुच्छम्।

१६. तदेव—३.११.७.२—यत् संवाति, तदस्य समंचनं प्रसारणं च।

प्रतीकायित करने से सकल-कामनाओं की सिद्धि होती है[१]।

हिरण्य के प्रतीक-अर्थ का विवेचन सावित्र-अग्नि के सन्दर्भ में किया जा चुका है। नाचिकेत-अग्नि का आयतन एवं प्रतिष्ठा हिरण्य ही है। इस तथ्य को जो जानता है, वह आयतनवान् होता है तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है[२]। नाचिकेत-अग्नि का शरीर हिरण्य है। अग्नि के इस हिरण्मय वपु का ज्ञाता अपनी देह से स्वर्ग की प्राप्ति करता है। प्रदीप्त रुक्म के समान नाचिकेत-चित् तेज एवं यश से इस लोक में एवं उस लोक में भास्वर होकर प्रतिष्ठित होता है[३]।

नाचिकेत-अग्नि प्रजा का वितन्वन करता है। ऋषियों ने इस अग्नि का चयन सत्र की उत्तरवेदि पर किया था, फलस्वरूप उन्हें प्रजा की उपलब्धि हुई थी[४]। यह नाचिकेत समृद्धि का कारक है। ऋद्धिकाम वायु ने इसका चयन पशुबन्ध एवं सोमयाग की उत्तरवेदि पर किया था। इस चयन से वायु की समृद्धि प्राप्त हुई[५]। इसके चयन से पशुओं की समृद्धि होती है। ध्यातव्य है कि पशुकामना में इसका चयन पंक्तिरूप में किया जाता है। गोबल वार्ष्ण ने इस पद्धति से चयन कर सहस्रों पशुओं की उपलब्धि की[६]। ज्येष्ठता, यश एवं प्रजनन की कामना में नाचिकेत का चयन त्रिवृत्‌रूप में किया जाता है। प्रजापति इस अग्नि का त्रिवृत् चयन कर ज्येष्ठ, यशस्वी एवं सृष्टिकर्ता बना[७]। ज्येष्ठता त्रिवृत् होती है—माता, पिता एवं पुत्र[८]। प्रजनन भी त्रिवृत् होता है—पुरुषजननेन्द्रिय, स्त्रीयोनि एवं गर्भाधान का स्थान[९]।

---

[१] तै० ब्रा०—सं ह वा अस्मै स कामः पद्यते, यत्कामो यजते।

[२] तदेव, ३.११.७.२.३—यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्यायतनं प्रतिष्ठां वेद, आयतनवान् भवति, गच्छति प्रतिष्ठाम्, हिरण्यं वाग्नेर्नाचिकेतस्यायतनं प्रतिष्ठा।

[३] तदेव, ३.११.७.३—यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरं वेद, सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति, हिरण्यं वाग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरम्; यथा रुक्म उत्तप्तो भाय्यात्, एवमेव स तेजसा, यशसा, अस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च भाति।

[४] तदेव, ३.११.९.२—एनं पुरर्षयः, उत्तरवेद्यामेव सत्रियमचिन्वत ततो वै तेऽविन्दन्त प्रजाम्।

[५] तै० ब्रा०, ३.११.९.३—एनं वायुर्ऋद्धिकामः यथान्युप्तमेवोपदधे, ततो वै स एतामृद्धिमार्ध्नोत्, यमिदं वायुर्ऋद्धः, एतामृद्धिमृध्नोति।

[६] तदेव, ३.११.९.३-४—एनं गोबलो वार्ष्णः पशुकामः प्रोक्तमेव चिक्ये, ततो वै स सहस्रं पशून् प्राप्नोत, प्र सहस्रं पशूनाप्नोति, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते। नाचिकेत की प्रोक्त चिति के लिये द्रष्टव्य—इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय।

[७] तदेव, ३.११.९.४—एनं प्रजापतिर्ज्यैष्ठ्यकामो यशस्कामः प्रजननकामः त्रिवृतमेव चिक्ये, ततो वै स प्रयशो ज्येष्ठ्यमाप्नोत्. एतां प्रजातिं प्राजायत।

[८] तदेव, ३.११.९.५—त्रिवृद् वै ज्येष्ठ्यम्, माता पिता पुत्रः।

[९] तदेव, ३.११.९.६—त्रिवृत् प्रजननम्, उपस्थो योनिर्मध्यमा।

अतएव त्रिवृत्-चयन ही ज्येष्ठता एवं प्रजनन-क्षमता के लिये उपकारक है[१]। इन्द्र नाचिकेत अग्नि का ऊर्ध्वमुखी चयन कर ज्येष्ठ बना। अतः ज्येष्ठताकामी को ऊर्ध्वमुखी चयन करना चाहिए[२]। आदित्य ने इसका प्राङ्मुखी चयन कर स्वर्ग को प्राप्त किया। अतएव स्वर्ग की कामना में इसका प्राङ्मुखी चयन करना हो श्रेयोविधायक है[३]।

चातुर्होम-अग्नि : प्रतीक-संरचना

चतुर्होता, दशहोता, पंचहोता, षड्ढोता एवं सप्तहोता मन्त्रों के द्वारा मन्त्रों में वर्णित विषय को लक्षित करते हुए ईंटों को उपहित करने के कारण इस अग्नि का नाम चातुर्होत्र है। चतुर्होता आदि के मन्त्रों में सृष्टि से सम्बन्धित रहस्य का विवरण है[४]। ध्यातव्य है कि तैत्तिरीय-ब्राह्मण में चतुर्होता आदि के द्वारा यज्ञों की सृष्टि का वर्णन है[५]।

दशहोता-मन्त्र में वर्णित है कि प्रजापति ने सृष्टि के लिये जब इच्छा की तब उसने दशहोता को देखा[६]। दशहोता में स्रुक्-चित्ति और आज्य-चित्त था। वेदि के रूप में वाक् थी एवं कुशों के स्थान पर समस्त अध्ययन का प्रयोग किया गया था। उस याग में गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नि के स्थान पर केत तथा विज्ञात थे। होता वाक्पति था एवं मैत्रावरुण ऋत्विक् मन था। हवि के स्थान पर प्राण था एवं अध्वर्यु साम था[७]। यहाँ वर्णित यज्ञ के उपकारक चित्ति आदि के रूप में दस ईंटों का उपधान किया जाता है।

सुवर्णरूप, प्रदीपक इन्द्र की आत्मा दश प्रकारों में समुद्र के भीतर जल में विचर रही थी। ब्रह्मा ने उसे दशहोता के रूप में देखा[८]। यह दशहोता शास्ता

---

[१] तै० ब्रा०, ३.११.९.६—प्र यशो ज्येष्ठ्यमाप्नोति, एतां प्रजातिं प्रजायते, यामिदं प्रजाः प्रजायन्ते, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते; त्रिवृत् चिति के लिये द्रष्टव्य—इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय।

[२] तदेव—एनमिन्द्रो ज्येष्ठ्यकाम ऊर्ध्वा एवोपदधे, ततो वै स ज्यैष्ठ्यमगच्छत्। ऊर्ध्वमुखी चिति के लिये द्र०, तदेव।

[३] तदेव—एनमसावादित्यः स्वर्गकामः प्राचीरेवोपदधे, ततो वै सोऽभि स्वर्गं लोकमजयत्। प्राङ्मुखी चिति के लिये द्र० तदेव।

[४] तै० आ०, ३.१-६।

[५] तै० ब्रा०, २.२-३।

[६] तदेव, २.२.४.१—प्रजापतिरकामयत प्रजायेति, स एतं दशहोतारमपश्यत्।

[७] तै० आ०, ३.१.१; द्र०, सायण, तदेव।

[८] तदेव, ३.११.१—सुवर्णं॑ घ॒र्मं परिवेद वे॒नम्, इन्द्रस्या॒त्मानं॑ दश॒धा चर॑न्तम्। अ॒न्तः स॑मु॒द्रे मन॑सा॒ चर॑न्तम्, ब्रह्मान्व॑विन्दद् दशहोतार॒मर्णे।

बनकर सभी व्यक्तियों के भीतर एकाकी होते हुए भी अनेक रूपों में संचरण कर रहा था[१]। यहीं सभी शुक्र, सभी वेद, सभी होता, सभी की आत्मा एकीभूत थी[२]। यह मर्वात्मा[३] है। सभी प्रजाओं के एकीभवन का यही केन्द्र है[४]। यह दशहोता का हृदय है[५]। इसे प्रतीकायित करने के लिए हृदय नामक ईंट का आधान किया जाता है[६]। यजुषों के साथ अग्नि को, स्तोमों के साथ सविता को, शस्त्रों के साथ इन्द्र को तथा आशीर्वादों के साथ मित्रावरुण को प्रतिरूपायित करने के लिए चार यजुरिष्टकाओं को रखा जाता है[७]। इसी तरह ग्रह तथा प्रतिग्रह के प्रतीक के रूप में ईंटों को रखने का विधान है[८]। इन्द्र की पत्नी सेना तथा बृहस्पति की पत्नी धेना को रूपायित करने के लिये दो पत्नी नामक ईंटों को आहित किया जाता है[९]।

चतुर्होता-मन्त्र के अनुसार यज्ञ में होता पृथिवी थी और रुद्र अग्नीध्र नामक ऋत्विक् था। बृहस्पति मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् के रूप में था। इसे प्रतीकायित करने के लिये चार चातुर्होत्री नामक ईंटों को आहित किया जाता है[१०]। चतुर्होता के हृदय का वर्णन करने वाले मन्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्मा ने इन्द्र-जगत् के प्रतिष्ठापक अग्नि, द्युलोक की आत्मा सविता, बृहस्पति तथा सभी दिक्काल को चतुर्होता में प्रस्यूत देखा और उस वाग्वीर्य को तप से प्राप्त किया[११]। कवियों ने इसे सकल भूतों के अन्तर में प्रविष्ट कर्ता, सकल रूपों के निर्माता त्वष्टा के रूप में जाना। यह

---

१. तै आ०—अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः।

२ तदेव—शतꣳशुक्राणि यत्रैकं भवन्ति, सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति, सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति, स मानसीन आत्मा जनानाम्।

३. तदेव, ३.११.२—अन्तःप्रविष्टः शास्ता सर्वंजनानाꣳसर्वात्मा।

४. तदेव—सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्ति।

५. सायण, तदेव—चित्तिः स्रुगित्यादीनां होतृमन्त्राणां हृदयं रहस्यं तत्त्वं परमात्मस्वरूपम्, अयमनुवाको हृदयमुच्यते; तदेव, तै० ब्रा०, ३.१२.५; महादेवशास्त्री, प्रयोगचन्द्रिका, आ० ग्र० ५३, भाग १, पृ० ८२२।

६. तै० ब्रा०, ३.१२.५।

७. तै० आ०, ३.८.१—अग्निर्यजुर्भिः, सविता स्तोमैः, इन्द्रं उक्थामदैः, मित्रावरुणावाशिषा।

८. तै० आ०, ३.१.१; ३.१०.१-२।

९. तदेव, ३ ९.१—सेनेन्द्रस्य, धेना बृहस्पतेः। द्र०, तै० ब्रा०, तदेव।

१०. तदेव, ३.२.१—पृथिवी होता, द्यौरध्वर्युः, रुद्रोऽग्नीत्, बृहस्पतिरुपवक्ता; द्र०, तै० ब्रा०, तदेव।

११. तदेव, ३.११.२—ब्रह्मेन्द्रमग्निं जगतः प्रतिष्ठाम, दिव आत्मानꣳसवितारं बृहस्पतिम्, चतुर्होतारं प्रदिशोऽनुक्लृप्तम्, वाचो वीर्यं तपसान्वविन्दत्।

यज्ञ है और है प्राण अमृत का[१]। यह देवताओं को बाँधने वाला है। इसका ज्ञान दुष्कर है, क्योंकि यह गुहानिहित है। चतुर्होता की यही आत्मा है[२]। इस विचार को रूपायित करने के लिए चतुर्होता-हृदय नामक एक ईंट चातुर्होत्र-अग्नि में उपहित की जाती है। इसमें उपहित धिष्ण्यों के साथ अङ्गिरसों को, सदस् एवं हविर्धान के साथ मरुतों को, प्रोक्षणी जल की जलराशि को, तथा कुश के साथ औषधियों के प्रतीक के रूप में चार यजुरिष्टकाओं का आधान होता है[३]। पूषा की पत्नी पथ्या एवं वायु की पत्नी वाक् के रूपायन के लिए पत्नी नामक दो ईंटों को रखने की विधि है[४]। इसी प्रकार ग्रह एवं प्रतिग्रह को प्रतीकायित करने के लिए भी ईंटें आहित की जाती हैं[५]।

पंचहोता-मन्त्र के यज्ञवर्णन में होता महाहवि, अध्वर्यु अश्विनद्वय, आग्नीध्र त्वष्टा तथा मैत्रावरुण मित्र है[६]। इसे प्रतिरूपायित करने के लिए पंचहोत्री ईंट को रखा जाता है। पंचहोता-हृदय मन्त्र में कहा गया है कि यह सबके द्वारा वरणीय पंचहोता के रूप में स्थापित इन्द्र की आत्मा सबको जानता है। यह देवों को अमृत तथा प्रजाओं को आयु देता है[७]। कवियों ने इसे राजा इन्द्र, सविता एवं वायु की आत्मा के रूप में देखा। यह सकल रश्मियों में प्रदीप्त सर्वोत्तम रश्मि है। कवि इस पंचहोता को ऋत के पद में स्थित देखते हैं[८]। यह ब्रह्माण्ड में स्थित सकल सृष्टि को धारण करता है। अनिर्भिन्न रूप में अवस्थित यह सकल लोकों को देखता है। इस पंचहोतारूप ब्रह्माण्ड का उल्ब (गर्भ की आवरक भीतरी झिल्ली) प्राणवायु है[९]। इसे रूपायित करने के लिए पंचहोता-हृदय ईंट रखी जाती है। वेदि के साथ अदिति को, दीक्षा के साथ सोम को, इध्म के साथ त्वष्टा को तथा यज्ञ के साथ विष्णु को

---

[१] तै०ब्रा०, ३.११.२-३ —अ॒न्तः प्रवि॑ष्टं क॒र्तारमेतम्, त्वष्टा॑रꣳ रू॒पाणि॑ विकु॒र्वन्तं॒ विप॒श्चित्, अ॒मृतस्य प्रा॒णं य॒ज्ञमे॒तम्, चतुर्हो॑तॄ॒णामात्मानं॑ क॒वयो॒ नि चि॑क्युः ।

[२] तदेव, ३.११.३—दे॒वाना॒ं बन्धुं॑ निहि॑तं॒ गुहा॑सु, अ॒मृतेन॑ क्लृ॒सं य॒ज्ञमे॒तम् ।

[३] तै० आ०, ३.८.१—अङ्गि॒रसो॒ धिष्णि॑यैर॒ग्निभि॑ः, म॒रुत॑ः सदोहविर्धा॒नाभ्या॑म्, आप॒ः प्रोक्ष॑णीभिः, ओष॑धयो ब॒र्हिषा॑ ।

[४] तदेव, ३.९.१—प॒थ्या॑ पू॒ष्णः, वाग्वा॒योः ।

[५] तदेव, ३.२.१; ३.१०.२-३ ।

[६] तदेव, ३ ३.१—अ॒ग्निर्होता॑, अ॒श्विना॑ध्व॒र्यू, त्वष्टा॒ग्नीत्, मि॒त्र उपव॒क्ता । तु०, तै० ब्रा०, ३.१२.५; द्र०, सायण, तदेव ।

[७] तै० आ०, ३.११.४ ।

[८] तै० आ०, ३.११.४— इन्द्र॒ꣳ राजान॒ꣳ सवि॒तारमे॒तम्, वा॒योरा॒त्मानं॑ क॒वयो॒ निचि॑क्युः, रश्मिꣳ र॒श्मीनां मध्ये॒ तपन्तम्, ऋ॒तस्य॑ प॒दे क॒वयो॒ निपा॑न्ति ।

[९] तदेव—य आ॑ण्डको॒शे भुव॑नं बि॒भर्ति॑, अनि॑र्भिण्ण॒ः सन्न॑थ लो॒कान् वि॒चष्टे॑, यस्या॑ण्डको॒शꣳ शुष्म॑मा॒हुः प्राणमुल्बम् ।

प्रतीकरूप में स्थापित करने के लिये चार यजुरिष्टकाएँ उपहित की जाती हैं[१]। अग्नि की पत्नी पृथिवी एवं वसुओं की पत्नी गायत्री को दो पत्नी-नामक ईंटों के द्वारा प्रतीकायित किया जाता है[२]। इसी प्रकार ग्रह, प्रतिग्रह को रूपायित करने के लिये ईंटें उपहित की जाती हैं[३]।

षड्ढोता-मन्त्र में वर्णित यज्ञ का होता वाक्, दीक्षा पत्नी, वात अध्वर्यु, आप् प्रस्तोता-नामक ऋत्विक्, मन हवि एवं तप अग्नि है। इस अवधारणा को प्रतिरूपायित करने के लिये षड्ढोत्री ईंट आहित की जाती है[४]। षड्ढोता ब्रह्माण्डकोश में चन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है। यह शोभनवर्ण एवं अमृत से आवृत है। इसी को सभी लोक देवों के वसु को धारण करने वाली अमृत की पूर्णकला का आकार कहते हैं[५]। कवि इसे ऋतुओं के परिकल्पक के रूप में ऋत के पद में प्रतिष्ठित मानते हैं[६]। यह सभी भूतों के अन्तर में प्रविष्ट सकल सृष्टि का कर्ता है। चन्द्रमा के मन के भीतर संचरिष्णु इन्द्र की आत्मा को देव भी नहीं जान पाते[७]। इस अवधारणा को अभिव्यंजित करने के लिये षड्ढोता-हृदय नामक ईंट रखी जाती है। आज्य के साथ वसुवों को, दक्षिणाओं के साथ आदित्यों को, ऊर्जा के साथ विश्वेदेवों को तथा शंयुवाक के साथ पूषा को प्रतीकायित करने के लिये चार यजुष् ईंटें रखी जाती हैं[८]। रुद्रों की पत्नी त्रिष्टुक् तथा आदित्यों की पत्नी जगती के प्रतीक रूप में दो पत्नी नामक ईंटें रखी जाती हैं[९]। इसी प्रकार ग्रह तथा प्रतिग्रह को रूपायित करने के लिये भी ईंटों का उपधान किया जाता है[१०]।

---

[१] तै० आ०, ३.८.१—अदि॑ति॒र्वेद्या॑, सोमो॑ दी॒क्षया॑, त्वष्टे॒ध्मेन॑, विष्णु॑र्य॒ज्ञेन॑।

[२] तै० आ०, ३.९.१—पृ॒थि॒व्य॑ग्नेः, वसूनां गाय॒त्री।

[३] तदेव, ३.३.१; ३.१०.४; द्र०, सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.५।

[४] तदेव, ३.६.१—वाग्घोता॑, दी॒क्षा पत्नी॑, वातो॑ऽध्व॒र्युः, आपो॑ऽभिग॒रः, मनो॑ ह॒विः, तप॑सि जुहोमि।

[५] तदेव, ३.११.४-५—सु॒वर्णं॒ कोश॒ꣳरज॑सा॒ परी॑वृतम्, देवानां॑ वसु॒धानी॑ वि॒राज॑म्, अ॒मृत॑स्य॒ पूर्णां॒ तामु॑ क॒लां विच॑क्षते॑।

[६] तदेव, ३.११.५।

[७] तदेव।

[८] तै० आ०, ३.८.२—वस॒व आज्ये॑न, आ॒दि॒त्या दक्षि॑णाभिः, विश्वे॑ दे॒वा ऊ॒र्जा, पू॒षा स्व॑गाका॒रेण॑, द्र०, सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.५; शंयुवाक के लिये द्रष्टव्य, श० ब्रा०, १.९.१.२४; कौ० ब्रा०, ३.८; एग्लिंग, से० बु० ई०, १२, पृ० २५४, पा० टि० १।

[९] तै० आ०, ३.९.१—रु॒द्राणां॑ त्रि॒ष्टुक्, आ॒दि॒त्या॒नां॒ जग॑ती। द्र०, सायण, तदेव।

[१०] तदेव, ३.६.१; ३.१०.४; द्र०, सायण, तदेव।

सप्तहोता के मन्त्र में वर्णित यज्ञ में महाहवि होता, सत्यहवि अध्वर्यु, अच्युतपाजा आग्नोध्र, अच्युतमना मैत्रावरुण, अनाधृत्य तथा अप्रतिधृत्य प्रस्तोता एवं प्रतिहर्ता तथा अयास्य उद्गाता है। इसे प्रतीकायित करने के लिये सप्तहोत्री नामक इष्टका का आधान किया जाता है[1]। सप्तहोता के हृदय का वर्णन चौबीस ऋचाओं में किया गया है[2]। सप्तहोता जगत् का प्रभु इन्द्र है। ब्रह्मा ने उसे यज्ञ के अनन्तर वर्षा करते हुए तथा आदित्य के मानस अन्तर में विचरिष्णु देवों के हृदय के रूप में देखा[3]। सप्तहोता के रूप में स्थित आदित्य में स्थित सात रश्मियाँ लोकपालक बनकर अश्व एवं पशुओं से आपूरित अतिशायिनी श्री की वर्षा करती हैं[4]। यह सप्तहोता पापों का हर्ता, वसु को प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ अविनश्वर श्री का दाता है[5]। इसका हिरण्यज्योति पाँच अरों वाला विशाल चक्र सलिल के मध्य में निरन्तर गतिशील है। इसकी अजस्र-ज्योति द्युलोक में निरन्तर वितन्वित हो रही है[6]। इसके रथ को सात अश्व खींचते हैं। वस्तुतः अश्व तो एक ही है, परन्तु उसके नाम सात हैं। इस सर्वातिशायी रथ में एक ही पहिया लगी हुई है, उसमें तीन नाभिया हैं। यह रथ का चक्का अजर तथा अविनाशी है। इस चक्र में सारी सृष्टि संनिहित है[7]। कवियों ने इसे उपभोग्य शुक्ल-रश्मि को धारण करने वाले, जल का वहन करने वाले, सृष्टि के रक्षक तथा परम व्योम में स्थित इन्द्र के रूप में देखा[8]। मनीषियों ने अपने मन एवं हृदय के द्वारा महान् प्राण की माया से अभिव्यक्त इस आदित्य का दर्शन किया[9]। कवि इसे समुद्र के आन्तर-प्रदेश में स्थित बताते हैं और विधाता मरीचियों

---

१. तै० आ०, ३.५.१—म॒हाह॑वि॒र्होता॑, स॒त्यह॑विरध्व॒र्युः, अच्यु॑तपाजा अ॒ग्नीत् अच्यु॑तमना उपव॒क्ता, अ॒ना॒धृ॒ष्यश्चा॑प्रतिधृ॒ष्यश्च॑ य॒ज्ञस्या॑भिग॒रो॑, अ॒यास्य उद्गा॒ता ।

२. तदेव, ३.११.६-१२ ।

३. तदेव, ३.११.६—इन्द्रो॒ राजा॒ जग॑तो य ईशे॑, परे॑ण॒ तन्तुं॑ परिषि॒च्यमा॑नम्, अ॒न्तरा॑दित्ये मनसा चर॑न्तम्, देवानाꣳहृद॑यं॒ ब्रह्मान्व॑विन्दत् ।

४. तदेव—आ यस्मि॑न् सप्त पे॑रवः, मेह॑न्ति बहु॒लाꣳश्रिय॑म्, ज॒ह्वश्वामिन्द्र॒गोम॑तीम् ।

५. तदेव, ३.११.७—अच्यु॑तां बहु॒लाꣳश्रिय॑म्, स हरि॑वं॒ सुवित्त॑माः, पे॒रुरिन्द्रा॑य पिन्वते ।

६. तदेव, ३.११.८—पंचारं चक्रं परिवर्तते पृथु, हिरण्यज्योतिः सरिरस्य मध्ये, अजस्रं ज्योतिर्नभसा सर्पे॑त्; तु०, ऋ० सं०, १.१६४.१३; अ० सं०, ९.९.११ ।

७. तदेव, ३.११.९—स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒नेक॑चक्रम्, एको॒ अश्वो॑ वहति सप्तना॒मा, त्रि॒नाभि॑चक्रम॒जर॒मन॑र्वम्, येने॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि तस्थुः; तु०, ऋ० सं०, १.१६४.३; अ० सं०, ९.९ २; १३.३.१८ ।

८. तदेव—श्वे॒तꣳर॒श्मि बोभुज्यमा॑नम्, अ॒पां ने॒तारं॒ भुव॑नस्य गो॒पाम्, इन्द्रं॒ निचि॑क्युः परमे व्यो॑मन् ।

९. तदेव, ३.११.१०-११—पत॒ंगम॒क्तमसु॑रस्य भा॒यया॑ हृदा प॑श्यन्ति॒ मन॑सा मनी॒षिणः॑, तु०, ऋ० सं०, १०.१७७.१ ।

के इस परमपद को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं[१]। यह आदित्य वाक् को अपने मन में धारण करता है। शरीर के मध्य में प्रतिष्ठित गन्धर्व इस वाणी का उच्चारण करता है। यह वाणी भास्वर एवं प्रद्योतित है और मन की स्वामिनी है। कवि इसका दर्शन ऋत के परमपद में करते हैं[२]। इस प्रकार सप्तहोत्री नामक ईंट परमसत्ता को अभिव्यक्त करने के लिये चातुर्होत्र अग्नि में आहित की जाती है। पुरोधा के साथ बृहस्पति को, उद्गीथ के साथ प्रजापति को, पवित्र के साथ अन्तरिक्ष को, पात्रों के साथ वायु को तथा श्रद्धा के साथ अहंता को प्रतिरूपायित करने के लिये चार यजुष् नामक ईंटें रखी जाती हैं[३]। वरुण की पत्नी विराट्, यज्ञ की पत्नी पंक्ति आदि को रूपायित करने के लिये दो पत्नी नामक ईंटों को उपहित किया जाता है[४]। इसी प्रकार ग्रह तथा प्रतिग्रह के प्रतीक के रूप में ईंटों का आधान होता है[५]।

चातुर्होत्र अग्नि की उपरितन व्याख्या से स्पष्ट है कि यह सकल सृष्टि एवं उसकी विधात्री परम सत्ता को प्रतिरूपायित करती है। अतएव इसे 'ब्रह्मचिति' अभिधान मिला है[६]। वस्तुतः इसमें उपनिषदों के समान दार्शनिक अवधारणा से ओत-प्रोत विचारों की अभिव्यक्ति दी गयी है। जो व्यक्ति चतुर्होता आदि मंत्रों के रहस्य को जानता है, वह सकल दिक्-काल पर अपनी संप्रभुता स्थापित कर लेता है[७]। यह सर्वविद्या का प्रतिमान एवं भेषज है[८]। चातुर्होत्र स्वर्ग का आशुमार्ग है[९]। इस विद्या का अध्येता अपने आपको, प्रजा को और पितरों को प्रसन्न बनाता है[१०]। अरुण औपवेशि ने इस विद्या को प्राप्त कर वाद-विजय प्राप्त की। उसने अपने सकल पापों से भी मुक्ति पा ली और स्वर्ग की प्राप्ति[११] की। चातुर्होत्र का चयन

---

[१] तै० आ०, ३.११.९—त्रि॒नाभि॑ च॒क्रम॒जर॒मन॑र्वम्, येनै॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि तस्थुः।

[२] तदेव, ३.११.११—प॒तङ्गो वाचं॒ मन॑सा बिभर्ति, तां ग॑न्धर्वो॒ऽवद॒द् गर्भं॑ अ॒न्तः, तां द्यो॑तमानाꣳ स्वर्यं मनी॒षाम्, ऋतस्य प॒दे क॒वयो॒ निपा॑न्ति।

[३] तदेव, ३.८.२—बृह॒स्पति॑ः पु॒रो॒धया॑ प्र॒जाप॑तिरुद्ग॒ीथेन॑ अ॒न्तरि॑क्षं प॒वित्रे॑ण, वा॒युः पात्रै॑ः, अ॒हꣳ श्र॒द्धया॑; तु०, सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.५।

[४] तदेव, ३.९.२।

[५] तदेव, ३.५.१; ३.१०.५।

[६] तै० ब्रा०, ३.१२.५.१—ब्रह्म वै चतुर्होतारः; तै० ब्रा०, ३.१२.५—ब्रह्मचितस्य प्रसिद्धं क्षेत्रकरणम्।

[७] तै० ब्रा०, ३.१२.१-२—यो ह वै चतुर्होतॄणां चतुर्होतृत्वं वेद……सर्वाहास्मै दिशः कल्पन्ते……।

[८] तदेव, ३.१२.२—एषा वै सर्वविद्या, एतद् भेषजम्।

[९] तदेव—स्वर्गस्य लोकस्यांजसायनिः।

[१०] तै० ब्रा०, ३.१२.३—एतान् योऽध्येति, स्पृणोत्यात्मानं, प्रजां, पितॄन्।

[११] तदेव, ३.१२.३-४—एतान् वा अरुण औपवेशिविदांचकार, एतैरधिवादमपाजयत्, विश्वं पाप्मानम् स्वर्ययौ।

करने वाला व्यक्ति सकल ब्रह्माण्ड एवं परमसत्ता के साथ अपना तादात्म्यीकरण स्थापित करता है।

दिवःश्येनी : प्रतीक अर्थ—

चातुर्होत्र अग्नि द्विधा होता है—व्यस्त और समस्त[१]। व्यस्त-चातुर्होत्र में केवल चातुर्होत्र अग्नि का चयन किया जाता है। समस्त चातुर्होत्र अग्नि में सावित्र, नाचिकेत अग्नि के साथ चातुर्होत्र का चयन किया जाता है[२]। समस्त चातुर्होत्र में दिवःश्येनी तथा अपाद्या इष्टियों का चयन करना आवश्यक है[३]।

दिवःश्येनी शब्द का अर्थ है—गतिशील अथवा श्येन पक्षी के समान स्वर्ग की ओर उड़कर जाने वाली[४]। इन इष्टियों का दूसरा नाम अनुवित्त है, क्योंकि अन्वेषण के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति हुई। इन इष्टियों ने स्वर्गप्राप्ति के अन्वेषण में सहायता दी थी[५]। देवों के सामने स्वर्गलोक तिरोहित हो गया था। उन्होंने प्रजापति से स्वर्ग-अन्वेषण के लिये प्रार्थना की[६]। फलस्वरूप प्रजापति यज्ञक्रतुओं के द्वारा स्वर्ग-अन्वेषण में तत्पर हो गया, परन्तु स्वर्ग की उपलब्धि नहीं हुई[७]। अन्ततोगत्वा प्रजापति ने इष्टियों के द्वारा प्रजापति को खोजना प्रारम्भ किया और उसे उसने पा लिया। अतएव इन इष्टियों का परोक्ष-नाम 'एष्टि' है। इन 'एष्टियों' को ही लोक में इष्टि नाम से अभिहित किया जाता है[८]।

स्वर्ग के सात द्वार हैं[९]। प्रत्येक द्वार की रक्षा में एक-एक देवता स्थित है। इन सातों द्वारों के रक्षक देवताओं के क्रमशः नाम हैं—आशा, काम, ब्रह्म, यज्ञ, आप्,

---

[१] सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.१—तच्च द्विविधं-व्यस्तं समस्तं च; द्र०, इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय; महादेवशास्त्री, प्रयोचन्द्रिका, आ० ग्र०, ५३, भाग ९, पृ० ८२१।

[२] सायण, तदेव, अनुवाकमात्रप्रतिपादितं व्यस्तम्, सावित्रादिभिः संयुक्तं समस्तम्। द्र०, इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय; महादेवशास्त्री, तदेव।

[३] सायण, तदेव—तत्र समस्ते वैश्वसृजचयनेऽङ्गभूता दिवःश्येन्याख्या अपाद्याख्याश्चेष्टयः; द्र०, इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय; महादेवशास्त्री, पृ० ८२१-८२२।

[४] सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.२.९—यथा लोके श्येन उत्पत्याकाशे स्वेच्छया संचरत्येवमेता अपि यजमानस्य द्युलोके स्वेच्छया संचारं प्राप्नुवन्ति।

[५] सायण, तै० ब्रा०, ३.१२.२.९—अन्वेषणपूर्वकलाभसाधनत्वादनुवित्तय इत्युच्यन्ते।

[६] तै० ब्रा०, ३.१२.२.१—देवेभ्यो वै स्वर्गो वै लोकस्तिरोभवत्, ते प्रजापतिमब्रुवन्—प्रजापते स्वर्गो वै नो लोकस्तिरोऽभूत्, तमन्विच्छ।

[७] तदेव—तं यज्ञक्रतुभिरन्वैच्छत्, नान्वविन्दत्।

[८] तदेव—नमिष्टिभिरन्वैच्छत्। तमन्वविन्दत्, तदिष्टीनामिष्टित्वम्, एष्टयो ह वै नाम ता इष्टय इत्याचक्षते परोक्षेण। 'तु०, तदेव, ३.१२.४.१।

[९] तै० ब्रा०, ३.१२.२.९—सप्त स्वर्गस्य लोकस्य द्वारः।

बलिमान् अग्नि तथा अनुवित्ति[1]। अतएव दिवःश्येनी नामक सातों इष्टियों के यजनीय देवता ये ही हैं। इन सभी इष्टियों के प्रधान-देवता के साथ काम, अग्नि तथा अनुमति देवता का भी यजन किया जाता है[2]।

आशादेवी प्रजापति के समक्ष प्रकट हुई और उससे कहा कि तुम आशा के कारण श्रान्त हो[3]। अत एव मेरा यजन करो। इससे तुम्हारी आशा पूरी होगी और तुम स्वर्ग को पा जाओगे[4]। प्रजापति ने आशा इष्टि में आशा के लिये चरु, काम, अग्नि के लिये अष्टाकपालक पुरोडाश तथा अनुमति देवता के लिये चरु का विधान किया[5]। फलस्वरूप प्रजापति को स्वर्गलोक की प्राप्ति हुई। इस अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) इतिहास (मिथ्) को यजमान भी स्वर्ग की उपलब्धि के लिये आवर्तित करता है।

प्रजापति के समक्ष काम-देवता आविर्भूत हुआ और उससे कहा कि तुम कामना से श्रान्त हो गये हो, मेरा यजन करो, तुम्हारा काम सत्य होगा तथा तुम स्वर्ग को पा जाओगे[6]। प्रजापति ने इष्टि में काम के लिये चरु का विधान किया और इसके साथ ही काम अग्नि के लिये एवं अनुमति देवता के लिये पूर्ववत् हवि समर्पित की[7]। इस कामेष्टि से प्रजापति की कामना पूरी हुई और उसे स्वर्गलोक मिल गया[8]। इस अग्रप्रतिमानीय इतिहास (मिथ्) का अनुकरण कर यजमान भी कामेष्टि के द्वारा यजन कर स्व-कामनाओं की पूर्ति करने के साथ-साथ स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है।

ब्रह्म (मन्त्र) देवता प्रजापति के सम्मुख प्रकट हुआ और कहा कि मन्त्र के कारण परिश्रान्त हो, मेरा यजन करो, तुम्हारा यज्ञ फलदायी मन्त्रों से युक्त होगा और एतदनन्तर तुम स्वर्ग की प्राप्ति करोगे[9]। प्रजापति ने ब्रह्म इष्टि में ब्रह्म के लिये चरु समर्पित किया और इसके साथ पूर्ववर्णित देवताओं का भी यजन किया। फलस्वरूप प्रजापति का यज्ञ फलदाता मन्त्रों से संपन्न हुआ और उसे स्वर्ग प्राप्त हुआ[10]। इसी अग्रप्रतिमानीय इतिहास (मिथ्) का अनुकरण कर यजमान भी ब्रह्मेष्टि का विधान कर पूर्ववर्णित फलों का अधिकारी बनता है।

---

[1] तै० ब्रा०।

[2] तदेव, ३.१२.२.२-८।

[3] तदेव, ३.१२.२.२—तमाशाब्रवीत्, प्रजापत आशया वै श्राम्यसि।

[4] तदेव—माँ नु यजस्व, ते सत्याशा भविष्यति, अनु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि।

[5] तै० ब्रा०, ३.१२.२.२—स एतमग्नये कामाय पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्, आशायै चरुम्, अनुमत्यै चरुम्।

[6] तदेव, ३.१२.२.३—तं कामोऽब्रवीत्-प्रजापते कामेन वै श्राम्यसि, अहम् वै कामोऽस्मि, मां नु यजस्व, ते सत्यः कामो भविष्यति, अनु स्वर्गलोकं वेत्स्यसि।

[7] तदेव। [8] तदेव। [9] तदेव, ३.१२.२.४। [10] तदेव।

प्रजापति के सामने यज्ञ-देवता आया और उससे कहा कि तुम यज्ञ करने से श्रान्त हो गये हो, मेरा यजन करो, तुम्हारा यज्ञ फलदायक होगा और तुम स्वर्ग को प्राप्त कर लोगे[१]। प्रजापति ने यज्ञेष्टि में यज्ञ के लिए चरु हवि दी और पूर्ववर्णित देवों का भी यजन किया। प्रजापति का यज्ञ सफल हुआ और उसे स्वर्ग मिला[२]। यजमान भी प्रजापति का अनुकरण कर पूर्वकथित फलों की प्राप्ति के लिये यज्ञेष्टि का विधान करता है।

आपोदेवियाँ प्रजापति के समक्ष आयीं और उन्होंने कहा कि प्रजापति सारी कामनाएँ जल में प्रतिष्ठित हैं, तुम हमारा यजन करो, सभी काम तुझमें प्रतिष्ठित होंगे और तुम स्वर्गलोक की प्राप्ति करोगे[३]। प्रजापति ने आपःइष्टि का विधान कर आपोदेवियों के लिये चरु का विधान किया और इसके साथ ही पूर्ववर्णित देवताओं को भी हवि सर्मपित किया[४]। फलस्वरूप सभी काम प्रजापति में संनिहित हो गये और उसे स्वर्ग भी मिल गया[५]। अतएव तदनुकारी यजमान की आपःदृष्टि का विधान कर सफल होता है।

प्रजापति के सामने बलिमान् अग्नि आया और उसने कहा कि सारी प्रजाएँ बलिमान् अग्नि बलि (कर, पूजा) प्रदान करती हैं, तुम मेरा यजन करो, सभी प्रजाएँ तुम्हें बलि प्रदान करेंगी और तुम स्वर्ग भी पाओगे[६]। प्रजापति ने बलिमान् अग्नि-इष्टि का विधान कर बलिमान् अग्नि के लिये चरु सर्मपित किया और उसके साथ पूर्ववर्णित देवों का भी यजन किया[७]। प्रजापति के लिये सारी प्रजाओं ने बलि दी और उसने स्वर्गलोक की उपलब्धि की। इसी दृष्टि से यजमान भी इस इष्टि के द्वारा यजन करता है।

अनुवित्ति-देवी प्रजापति के सामने आविर्भूत हुई और कहा कि तुम स्वर्गलोक को पाने की इच्छा करते हो, तुम मेरा यजन करो, तुम्हारी अनुवित्ति सत्य होगी और तुम स्वर्गलोक को पाओगे[८]। प्रजापति ने अनुवित्ति इष्टि का विधान कर उसमें चरु

---

[१] तै० ब्रा०, ३.१२.२.५।

[२] तदेव।

[३] तै० ब्रा०, ३.१२.२.६—तमापोऽब्रुवन्, प्रजापतेऽप्सु वै सर्वे कामाः श्रिताः, अस्मान् नु यजस्व……।

[४] तदेव।

[५] तदेव।

[६] तदेव, ३.१२.२.७—तमग्निर्बलिमानब्रवीत्, प्रजापतेऽग्नये वै बलिमते सर्वाणि भूतानि बलिं हरन्ति……।

[७] तै० ब्रा०, ३.१२.२.७।

[८] तदेव, ३.१२.२.८—तमनुवित्तिरब्रवीत्, प्रजापते स्वर्गं वै लोकमनुविवित्ससि मां नु यजस्व, ते सत्यानुवित्तिर्भविष्यति……।

के द्वारा अनुवित्ति देवी का यजन किया[१]। इसके साथ ही पूर्ववर्णित देवों को भी हवि प्रदान की[२]। प्रजापति की अनुवित्ति सफल हुई और उसे स्वर्गलोक मिल गया। यजमान भी इसी के अनुकरण में अनुवित्ति इष्टि का विधान करता है[३]।

अपाद्या : प्रतीक-संरचना

इन इष्टियों के द्वारा स्वर्ग के प्रतिबन्धक तत्त्वों को दूर किया जाता है, अतएव इनका नाम अपाद्या है[४]। अपाद्या इष्टियों का दूसरा नाम अनुवित्ति है[५]। इस इष्टिसमूह में पाँच इष्टियाँ हैं। स्वर्ग के पाँच द्वार हैं, जिनका रक्षण क्रमशः तप, श्रद्धा, सत्य, मन एवं चरण (अनुष्ठान) देवता करते हैं[६]। इन पाँचों इष्टियों में इन देवताओं के साथ-साथ अग्नि-देवता के लिये अष्टाकपालक पुरोडाश तथा अनुमति-देवता के लिये चरु का भी विधान किया जाता है।

प्रजापति से तपदेवता ने कहा कि तुम तप के कारण श्रान्त होते हो, मेरा यजन करो, तुम्हारा तप सत्य बनेगा और तुम स्वर्गलोक की प्राप्ति करोगे[७]। प्रजापति ने तप इष्टि में तप देवता के लिये चरु का विधान किया। फलस्वरूप उसका तप फला और उसने स्वर्गलोक पा लिया[८]। प्रजापति का अनुकर्ता यजमान भी इसी दृष्टि से तप इष्टि के द्वारा यजन करता है[९]।

प्रजापति के समक्ष श्रद्धा-देवी आविर्भूत हुई और उसने कहा कि तुम श्रद्धा से परिश्रान्त हो जाते हो, मेरा यजन करो, तुम्हारी श्रद्धा सफल होगी और तुम स्वर्ग को प्राप्त करोगे[०]। प्रजापति ने श्रद्धा इष्टि में श्रद्धा का यजन चरु से किया। फलस्वरूप प्रजापति की श्रद्धा फलवती हुई और उसे स्वर्ग मिल गया[११]। इसी प्रकार यजमान

---

१. तै० ब्रा० ।   २. तदेव ।   ३. तदेव ।

४. सायण, तै० ब्रा०—३.१२.४.७—अपहन्यन्ते स्वर्गप्रतिबन्धाः सर्वेऽपि याभिरिष्टिभिस्ता अपाद्याः ।

५. तै० ब्रा०, तदेव—अपाद्या अनुवित्तयो नाम ।

६. तदेव, ता वा एताः पंच स्वर्गस्य लोकस्य द्वारः, तपः प्रथमां रक्षति, श्रद्धा द्वितीयाम्, सत्यं तृतीयाम्, मनश्चतुर्थीम्, चरणं पञ्चमीम् ।

७. तै० ब्रा०, ३.१२.४.२—तं तपोऽब्रवीत्, प्रजापते तपसा वै श्राम्यसि, मां नु यजस्व, ते सत्यं तपो भविष्यति, अनु स्वर्गलोकं वेत्स्यसि ।

८. तदेव– ततो वै तस्य सत्यं तपोऽभवत्, अनु स्वर्गलोकमविन्दत् ।

९. तदेव—सत्यं ह वा अस्य तपो भवति, अनु स्वर्गं लोकं विन्दति, य एतेन हविषा यजते ।

१०. तदेव, ३.१२.४.३—तं श्रद्धाब्रवीत्, प्रजापते श्रद्धया वै श्राम्यसि, मां नु यजस्व, ते सत्या श्रद्धा भविष्यति, अनु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि ।

११. तदेव—ततो वै तस्य सत्या श्रद्धाभवत्, अनु स्वर्गलोकमविन्दत् ।

भी अपनी श्रद्धा को सफल बनाने के लिये एवं स्वर्गलोक को पाने के लिये श्रद्धा इष्टि का विधान करता है[१]।

सत्यदेवता प्रजापति के सामने प्रकट हुआ और कहा कि तुम सत्य के कारण श्रान्त हो गये हो, मेरा यजन करो, तुम्हारा सत्य फलवान् बनेगा और तुम स्वर्गलोक को प्राप्त करोगे[२]। प्रजापति ने सत्य इष्टि में चरु के द्वारा सत्य का यजन किया और सत्य की सफलता के साथ उसे स्वर्गलोक भी मिला[३]। यजमान भी प्रजापति का अनुकरण कर सत्य इष्टि के द्वारा यजन करता है[४]।

प्रजापति से मन ने कहा कि तुम मन से परिश्रान्त हो, तुम मन का यजन करो, तुम्हारा मन सत्यशील होगा और तुम स्वर्गलोक पर जय प्राप्त करोगे[५]। प्रजापति ने मन इष्टि का विधान कर उसमें चरु के द्वारा मन का यजन किया। फलस्वरूप उसका मन सत्य बना और उसे स्वर्ग मिला[६]। इसी दृष्टि से यजमान भी मन इष्टि का विधान कर मन का चरु-द्वारा यजन करता है[७]।

प्रजापति के सम्मुख चरणदेवता आविर्भूत हुआ। उसने प्रजापति से कहा कि तुम अनुष्ठान से श्रान्त हो गये हो, तुम मेरा यजन करो, तुम्हारा अनुष्ठान सफल होगा और तुम स्वर्गलोक की प्राप्ति करोगे[८]। प्रजापति ने चरण इष्टि का विधान कर उसमें चरु के द्वारा चरणदेवता का यजन किया और स्वर्ग को प्राप्त कर लिया[९]। इसी प्रकार यजमान भी इस दृष्टि में उपरिवर्णित इतिहास (मिथ्) को प्रतीकायित कर सकल अनुष्ठानों को सफल बनाता है और स्वर्ग को अपना वशंवद बनाता है[१०]।

उपरितन वर्णित दिवःश्येनी तथा अपाद्या इष्टियों में काम अग्नि, बलिमान् तथा अग्निदेवता से सम्बन्धित प्रतीक अर्थ का विवेचन तो इस प्रबन्ध का मुख्य विवेच्य है।

---

[१] तै०ब्रा०—सत्या ह वा अस्य श्रद्धा भवति, अनु स्वर्गंलोकं विन्दति, य एतेन हविषा यजति।

[२] तदेव, ३.१२.४.४—तं सत्यमब्रवीत्-मां नु यजस्व, ते सत्यं सत्यं भविष्यति, अनु स्वर्गंलोकं वेत्स्यसि।

[३] तै० ब्रा०, ३.१२.४.४—ततो वै तस्य सत्यं सत्यमभवत्, अनु स्वर्गंलोकमविन्दत्।

[४] तदेव—सत्यं ह वा अस्य सत्यं भवति, अनु स्वर्गंलोकं विन्दति, य एतेन हविषा यजते।

[५] तदेव, ३.१२.४.५—तं मनोऽब्रवीत्, प्रजापते मनसा वै श्राम्यसि, मां नु यजस्व, ते सत्यं मनो भविष्यति, अनु स्वर्गंलोकं वेत्स्यसि।

[६] तै० ब्रा०, ३.१२.४.५—ततो वै तस्य सत्यं मनोऽभवत्, अनु स्वर्गलोकमविन्दत्।

[७] तदेव—सत्यं ह वा अस्य मनो भवति, अनु स्वर्गंलोकं विन्दति, य एतेन हविषा यजते।

[८] तदेव, ३.१२.४.६—तं चरणमब्रवीत्, प्रजापते चरणेन श्राम्यसि, मां नु यजस्व, ते सत्यं चरणं भविष्यति, अनु स्वर्गंलोकं वेत्स्यसि।

[९] तदेव—ततो वै तस्य सत्यं चरणमभवत्, अनु स्वर्गलोकमविन्दत्।

[१०] तदेव—सत्यं ह वा अस्य चरणं भवति, अनु स्वर्गंलोकं विन्दति, य एतेन हविषा यजते; चरण के लिये द्रष्टव्य इस प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

अतएव यहाँ उसकी व्याख्या अनावश्यक है। परन्तु अनुमति-देवता के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायेगा। वैदिक अवधारणा में अनुमति एक शुभविधायिका देवी के रूप में वर्णित है[1]। अथर्वसंहिता में अनुमति को मानवों की रक्षिका एवं दीर्घ-जीवन की प्रदात्री कहा गया है[2]। प्रजापति तथा सिनीवाली देवता के साथ अनुमति को भी गर्भ में पुत्र को आकार देने वाली के रूप में चित्रित किया गया है[3]। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेकत्र अनुमति को पृथ्वी के साथ समीकृत किया गया है[4]। ऐतरेय-ब्राह्मण में अनुमति गायत्री के साथ समीकृत[5] है। अदिति के साथ भी अनुमति का समीकरण मिलता है[6]। वस्तुतः अनुमति पूर्णता को प्रतीकायित करने वाली पौर्णमासी का पूर्वरूप है और सकल कार्यों को मान्यता देने वाली है[7]। इसी दृष्टि से यहाँ उपरिवर्णित इष्टियों में प्रत्येक देवता के साथ अनुमति का यजन किया जाता है। उसके यजन के द्वारा इन इष्टियों में विहित यजन तथा तत्फल प्राप्ति को अनुमति-द्वारा अनुमन्य बनाया जाता है।

वैश्वसृज अग्नि : प्रतीक-संरचना—

इस अग्नि के द्वारा विश्वसृष्टि के विधायक देवों ने ब्रह्माण्ड में स्थित सकल अस्तित्वों का सृजन किया, अतएव इसे विश्वसृज अभिधान प्राप्त हुआ है[8]। वैश्वसृज अग्नि में सकल सृष्टि को हिरण्मयी ईंटों के रूप में आहित किया जाता है।

इस विश्व में जो अमर्त्य अथवा मर्त्य है तथा जो भी चर एवं अचर है, उसे ईंट के रूप में आहित किया जाता है[9]। विश्व की सकल नारियों, पुरुषों एवं नपुंसकों को ईंट के द्वारा प्रतिरूपायित किया गया है[10]। ग्राम्य पशु, आरण्यक पशु, दो पैर वाले

---

[1] मैकदोनेल, वै० मा०, पृ० ११९; खोंदा, आस्पेक्ट्स् आफ् अर्ली विष्णुइज्म्, पृ० २२६।

[2] अ० सं०, २.२६.१०।

[3] तदेव, ६.११.३—तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवोत्, प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।

[4] श० ब्रा०, ५.२.३.४; तै० ब्रा०, १.६.१.१, ४-५।

[5] ऐ० ब्रा०, ३.४७-४८—यानुमतिः सा गायत्री।

[6] जे० सी० हीस्टरमान, दि एन्शिएण्ट् इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन्, पृ० १८।

[7] ऐ० ब्रा०, ७.११; श० ब्रा०, ४.६; गो० उ०, १.१०—या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः। श० ब्रा०, ५.२.३.४—इयं वा अनुमतिः स यस्तत् कर्म शक्नोति कर्तुं, यच्चिकीर्षतीयं हास्मै तदनुमन्यते; तु०, तै० ब्रा०, १.६.१.४-५; द्र०, खोंदा, दि सवयज्ञज्, पृ० ३१८।

[8] तै० ब्रा०, ३.१२.९.८—एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त, यद् विश्वमसृजन्त, तस्माद् विश्वसृजः।

[9] तदेव, ३.१२.६.१—यच्चामृतं यच्च मर्त्यं, यच्च प्राणिति यच्च न, सर्वास्ता इष्टकाः कृत्वा........।

[10] तदेव—सर्वाः स्त्रियः, सर्वान् पुंसः, सर्वं न स्त्रीपुमं च यत्।

तथा चौपाये पशु, विना पैर वाले पशु तथा पेट के बल सरकने वाले सभी प्राणियों को ईंट के रूप में रखने का विधान है[१]।

पृथ्वी की सारी धूल, खारी मिट्टी, जल में तथा स्थल पर स्थित सारी सिकता-राशि, पृथ्वी पर स्थित सकल कंकड़ एवं सभी पत्थरों को रूपायित करने वाली ईंटें भी वैश्वसृज अग्नि में स्थापित की जाती हैं[२]।

पृथ्वी पर स्थित सम्पूर्ण वनस्पति-जगत् को भी ईंटों के रूप में रखने का विधान है। पृथ्वी पर विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित सकल वीरुधों, सारी औषधियों, सारी वतस्पतियों को प्रतीकायित करने के लिये ईंटों को उपहित किया जाता है[३]।

दैवी तथा मानुष अंजन को ईंट के रूप में रखा जाता है[४]। सभी धातुएँ भी ईंटों के रूप में आहित की जाती हैं। दैवी एवं मानुषी लोहा, दैवी एवं मानुषी ताम्र, दैवी एवं मानुषी त्रपु, दैवी एवं मानुषी सारा हिरण्य तथा रजत ईंटों के रूप में वैश्वसृज अग्नि में उपधेय होता है[५]।

सभी दिशाएँ तथा उनमें स्थित सभी भूतों को ईंट के रूप में आहित किया जाता है। अन्तरिक्ष एवं उसमें स्थित सभी पदार्थ तथा अन्तरिक्ष की प्रजाएँ गन्धर्वों एवं अप्सराओं को प्रतीकायित करने वाली ईंटों को उपहित किया जाता है। अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित विशाल जलराशि भी ईंटों के रूप में रखी जाती है[६]।

स्थावर एवं प्रवहित विशाल जलराशि को रूपायित करने के लिए ईंट आहित की जाती है। सभी आकाशगंगाओं, सभी ध्वंसों (वायु आदि के द्वारा सुखाये गये जल) एवं सभी हिमों के रूप में ईंटों का आधान होता है[७]। चतुर्दिक् प्रसरित

---

१. तदेव, ३.१२.६.४—यावन्तो ग्राम्याः पशवः सर्वे, आरण्याश्च ये, ये द्विपादश्चतुष्पादः, अपाद उदरसर्पिणः।

२. तदेव, ३.१२.६.१-३—यावन्तः पांसवो भूमेः, यावन्त ऊषाः, यावतीः सिकताः सर्वाः, अप्स्वन्तश्च याः श्रिताः, यावतीः शर्कराः, यावन्तोऽश्मानोऽस्यां पृथिव्याम्।

३. तदेव, ३.१२.६.३-४—यावतीर्वीरुधः सर्वाः, विष्ठिताः पृथिवीमनु, यावतीरौषधिः सर्वाः, यावन्तो वनस्पतयः, अस्यां पृथिव्यामधि।

४. तै० ब्रा०, ३.१२.६.३-४, यावदांजनमुच्यते, देवत्रा यच्च मानुषम्।

५. तदेव, ३.१२.५-६—यावत् कृष्णायसं सर्वम्, देवत्रा यच्च मानुषम्, यावल्लोहायसं सर्वम्, देवत्रा यच्च मानुषम्, सर्वं सीसं सर्वं त्रपु देवत्रा यच्च मानुषम्, सर्वं हिरण्यं रजतम्, देवत्रा यच्च मानुषम्, सर्वं सुवर्णं हरितम्, देवत्रा यच्च मानुषम्।

६. तै० ब्रा०, ३.१२.७.१—अन्तरिक्षं च केवलम्, यच्चास्मिन्नन्तराहितम्, आन्तरिक्ष्यश्च याः प्रजाः, गन्धर्वाप्सरश्च ये, सर्वानुदारान् सलिलान्, अन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्।

७. तदेव, ३.१२.७.२—सर्वानुदारान् सलिलान्, स्थावराः प्रोष्याश्च ये, सर्वाँ धुनि सर्कंन् ध्वंसान्, हिमो यच्च शीयंते।

मरीचियों, नीहारों, सभी विद्युतों, सभी गर्जनशील मेघ तथा कड़कने वाली बिजलियों को भी रूपायित करने वाली ईंटों को उपहित किया जाता है[१]। सभी बहती हुई नदियों, जलों में विचरने वाले सभी प्राणियों, कूपों के जल, नदियों के जल, समुद्रों के जल तथा एक स्थान पर अवस्थित जल को प्रतीकायित करने वाली ईंटों का आधान किया जाता है[२]। ईंटों के रूप में घिरने वाले तथा बरसने वाले बादलों को भी वैश्वसृज अग्नि में आहित कर प्रतीकायित किया गया है[३]।

तप, तेज, आकाश, आकाश में स्थित सभी पदार्थ, वायु, सभी पक्षी, अन्तरिक्ष में भ्रमणशील अन्य जीवों, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, मित्र, वरुण तथा भग को भी ईंटों के रूप में रखने का विधान है[४]। सत्य, श्रद्धा, तप, दम तथा सभी भूतों के नाम-रूपों को भी उपहित किया जाता है[५]।

द्युलोक, द्युलोकस्थ सभी देव, तथा वहाँ द्युलोक में स्थित अन्य भूत, सभी तारे भी ईंटों के रूप में प्रतीकायित कर उपहित किये जाते हैं[६]। ऋचाएँ, यजुष्, साम, आथर्वण एवं आङ्गिरस मन्त्र, इतिहास, पुराण, सर्प, देवजन, सभी लोक, सभी अलोक, लोकों-अलोकों में स्थित सभी भूतों, सभी अपौरुषेय शास्त्रों एवं सभी पौरुषेय शास्त्रों को, ईंटों को रखकर रूपायित किया जाता है[७]।

सभी अहोरात्रों, पखवारों, मासों, ऋतुओं, संवत्सर, भूत तथा भविष्य काल को वैश्वसृज अग्नि में ईंटों के द्वारा रचा जाता है[८]। इस प्रकार वैश्वसृज अग्नि में यजमान अपने-आप को सारी सृष्टि के साथ संरचित कर परम सत्ता के साथ अपना तादात्म्यीकरण स्थापित करता है।

---

१. तै० ब्रा०, ३.१२.७.३—सर्वान् मरीचीन् विततान्, नीहारो यच्च शीयते, सर्वा विद्युतः, सर्वान् स्तनयित्नून्, ह्लादुनीर्यच्च शीयते।

२. तदेव, ३.१२.७.३-४—सर्वाः स्रवन्तीः सरितः सर्वमप्सचरं च यत्, याश्च कूप्यायाश्चानाद्याः समुद्रियाः, याश्च वैशन्तीरुत प्रासचीर्याः।

३. तै० ब्रा०, ३.१२.७.३-४—ये चोत्तिष्ठन्ति जीमूताः, याश्च वर्षन्ति वृष्टयः।

४. तदेव, ३.१२.७.४-५—तपस्तेज आकाशम्, यच्चाकाशे प्रतिष्ठितम्, वायुं वयांसि सर्वाणि, अन्तरिक्षचरं च यत्, अग्निं, सूर्यं, चन्द्रं, मित्रं, वरुणं, भगम्।

५. तदेव, ३.१२.७.५—सत्यं श्रद्धा तपो दमम्, नाम रूपं च भूतानाम्।

६. तदेव, ३.१२.८.१—सर्वान् दिवं सर्वान् देवान् दिवि, यच्चान्तर्भूतं प्रतिष्ठितम्, यावतीस्तारकाः सर्वाः, वितता रोचने दिवि।

७. तदेव, ३.१२.८.२—ऋचो यजूंषि सामानि, अथर्वांगिरसश्च ये, इतिहासपुराणं च, सर्वदेवजनाश्च ये, ये च लोका ये चालोकाः, अन्तर्भूतं प्रतिष्ठितम्, यच्च ब्रह्म यच्चाब्रह्म, अन्तर्ब्रह्मन् प्रतिष्ठितम्।

८. तदेव, ३.१२.८.३— अहोरात्राणि सर्वाणि, अर्धमासांश्च केवलान्, सर्वान् ऋतून् सर्वान् मासान्, संवत्सरं च केवलम्, सर्वं भूतं सर्वं भव्यम्।

आरुणकेतुक अग्नि : प्रतीक-संरचना—

सर्वप्रथम इस अग्नि का चयन अरुण एवं केतु ऋषियों ने किया था, अतएव इसका नाम आरुणकेतुक है[१]। अरुण एवं केतु ऋषियों की उत्पत्ति प्रजापति से हुई थी। इससे सम्बन्धित इतिहास (मिथ्) तैत्तिरीय-आरण्यक में इस प्रकार है। सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र केवल जल ही स्थित था[२]। उस समय उस जल में उत्पन्न पुष्करपर्ण पर प्रजापति आविर्भूत हुआ[३]। प्रजापति के मन में काम उत्पन्न हुआ कि मैं सृष्टि का विधान करूँ[४]। अतएव किसी व्यक्ति के मन में जो संकल्प होता है, उसे ही वह वाणी के द्वारा प्रकट करता है और उसे ही वह कर्म में रूपायित करता है[५]। ऋक्-संहिता में कहा गया है कि उनके (प्राण एवं स्वधा के) भीतर काम का आविर्भाव हुआ, जो मन का प्रथम रेत (वीर्य अथवा कार्य) था। मनीषी कवियों ने हृदय में विचार कर सत् (व्यक्त-विश्व) के बन्धक को असत् (अव्यक्त-विश्व) में जान लिया[६]।

---

१. तै० आ०, १.२४.४—तं वा ए॒तम॑रु॒णाः के॒त॒वो॒ वात॑रश॒ना ऋषयोऽचिन्वन्, तस्मा॑दारुणके॒तु॒क॑ः। के॒त॒वो॒ अरु॑णासश्च ऋ॒ष॒यो वातरश॒नाः प्र॒ति॒ष्ठाꣳ॒ श॒तधा॑ हि स॒माहि॑तासो सहस्र॒धायस॒म्; द्र० सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ० २३, १०८।

२. तै० आ·, १.२३.१—आपो॒ वा इ॒दमासन् सलि॒लमे॒व; तु०, ऋ० सं०, १०.१२९.३—अप्र॒केतं सलि॒लं सर्व॑मा इ॒दम; तै०ब्रा०, ८.९.४; तु०, ऋ०सं०, ७.४७.१; १०.१०९.१; अ० सं० ५.१७.१; श० ब्रा०, ६.१.१.९; ११.१.६.१; तै० सं० ब्रा०, ५.६.४.२; का० सं० ब्रा०, २२.९, क० सं० ब्रा०, ३५.३; तै० ब्रा०, १.१.३.५; तै० आ०, १०.२२.१; महाना, ३.१४.१; द्र०, रेनेगेनो सिम्बोलिज्म दे ला क्रोइ अध्याय २४; आनन्दकुमारस्वामी, ट्रान्सफार्मेशन् आफ् नेचर इन् आर्ट, पा० टि० ९६।

३. तै० आ०, तदेव, स प्र॒जाप॑तिरेक॑ः पुष्करप॒र्णे सम॑भवत्; तु० ऋ० सं०, ६.१६.१३—त्वाम॑ग्ने॒ पुष्क॑रा॒दध्य अथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत; वा० सं०, ११.३२; तै० सं०, ३.५.११.३; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, २७.३; श० ब्रा०, ६.४.२.२; तै० सं० ब्रा०, तदेव; का० सं० ब्रा, तदेव; क० सं० ब्रा०, तदेव; द्र०, एफ्० डी० के० बाश, गोल्डेन जर्म, १९६०, पृ० ५४; सनतोना (सान्त्वना) बसु दि लोटस् इन् दि कास्मॉगोनी आफ् दि वेदज् विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल् जर्नल्, जिल्द ४, खण्ड १, मार्च १९६६, पृ० ३९-४३।

४. तै० आ०, तदेव—तस्यान्त॒र्मन॑सि काम॒ः सम॑वर्तत, इ॒दꣳ॒ सृजेय॒मिति।

५. तदेव—तस्मा॒द् यत् पु॑रु॒षो मन॑साभि॒गच्छति, तद् वा॒चा वद॑ति, तत् कर्म॑णा करोति; तु०, श० ब्रा०, ६.३.१.१४; १४.४.३.८; ता० ब्रा०, ११.१.३।

६. ऋ० सं०, १०.१२९.४—कामस्तदग्रे॒ सम॑वर्त॒ताधि॒ मन॑सो॒ रेत॑ः प्रथ॒मं यदासी॑त्, स॒तो बन्धु॒मस॑ति॒ निर॑विन्दन्, हृ॒दि प्र॒तीष्या॑ क॒वयो मनी॒षा; तु०, अ० सं०, १९.५२.१; तै० ब्रा०, २.४.१.१०; तै० आ०, १.२३.१-२; नृसिंहपू० उ०, १.१।

उस समय प्रजापति तप में प्रवृत्त हुआ। तप करने के अनन्तर प्रजापति ने अपने शरीर को प्रकम्पित किया। फलस्वरूप सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हो गया। उसके मांस से अरुण, केतु एवं वातरशना ऋषि प्रादुर्भूत हुए[१]। प्रजापति के नख से वैखानस ऋषि हुए और उसके बालों से बालखिल्य ऋषियों का आविर्भाव हुआ[२]। प्रजापति के क्षरित रस से कूर्म उत्पन्न हुआ। वह कूर्म जल के भीतर सरक रहा था। प्रजापति ने कहा कि तुम मेरी त्वचा एवं मेरे मांस से उत्पन्न हुए[३]। उस कूर्म-पुरुष ने कहा कि मैं तुम्हारी त्वचा एवं तुम्हारे मांस से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मैं तो यहाँ पहले ही था। पुरुष की वही पुरुषता (पूर्व + √अस्) है[४]। वही सहस्रशीर्षा पुरुष है, जो हजारों नेत्रों वाला और हजारों पैरों वाला होकर उठ खड़ा हुआ[५]। प्रजापति ने कहा ठीक है, तुम मुझसे पहले हुए हो, अतएव अब तुम्हीं सृष्टि का विधान करो[६]।

एतदनन्तर उस पुरुष ने अंजलि में जल भरकर पूर्वदिशा में 'गतिशील आदित्य, गंतव्य तुम्हीं हो' कहकर डाल दिया। उस स्थान से आदित्य उद्भूत हुआ। वह पूर्वदिशा बन गयी[७]। अरुणकेतु ने अंजलि में जल भरकर दक्षिण दिशा में, 'गतिशील अग्नि, गंतव्य तुम्हीं हो' कहकर आहित किया। उस स्थान से अग्नि प्रादुर्भूत हुआ। वह दक्षिणदिशा बन गयी[८]। तदनन्तर अरुणकेतु ने पुनः अंजलि में जल भरकर पश्चिम दिशा में, 'गतिशील वायु, गंतव्य तुम्हीं हो' कहकर डाल दिया। वहाँ से वायु उद्भूत हुआ। वह पश्चिमदिशा बन गयी[९]। पुनः अरुणकेतु ने उत्तरदिशा में अंजलि में जल भरकर, 'गतिशील इन्द्र, गंतव्य तुम्हीं हो'

---

१. तै॰ आ॰, १.२३.२—स तपो॑ऽतपयत्, स तप॑स्त॒प्त्वा शरी॑रमधूनुत, त॒स्य यन्मा॒ꣳस-मासी॑त् ततो॑ऽरु॒णाः के॒त॒वो॒ वात॑रश॒ना ऋष॑य॒ उद॑तिष्ठन् ।

२. तदेव—ये नख॑ास्ते वै खानसाः, ये बाल॑ास्ते ब॑ालखि॒ल्याः ।

३. तदेव—१.२३.२-३—यो रस॑ः सो॑ऽपाम॒न्त॒रतः क॒र्म॑भूतं सर्प॑न्तम्, तम॑ब्रवीत्, मम॒ वै त्वङ्मा॒ꣳसा सम॑भूत् । तु॰, श॰ ब्रा॰, ७.५.१.५; ७.५.१.१ ।

४. तदेव, १.२३.४—नेत्य॑ब्रवीत्, पू॑र्वमे॒वाहमि॒हास॒मिति॑, तत्पुरु॑षस्य पुरुष॒त्वम् । तु॰, श॰ ब्रा॰, १३.६.२.१; १४.५.५.१८; १४.४.२.२; गो॰ पू॰ १.३९ ।

५. तदेव—स स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्रपा॑त्, भूत्वोद॑तिष्ठत; तु॰, ऋ॰ सं॰, १०.९०.१; वा॰ सं॰, ३१.१; श॰ ब्रा॰, १३.६.२.१२; तै॰ आ॰, ३.१२.१ ।

६. तदेव—त्वं वै पू॑र्वꣳसम॑भूः, त्वमिदं पू॑र्वः कुरुष्व ।

७. तै॰ आ॰, १.२३.४-५—स इ॒त आ॒दायाप॑ः, अं॒ज॒लिना॑ पु॒रस्ता॑दुपाद॑धात्, एवा ह्ये॒वेति, तत आदित्य उद॑तिष्ठत्, सा प्राची दिक् ।

८. तै॰ आ॰, १.२३.५—अरु॒णः के॒तुर्द॑क्षिण॒त उ॒पाद॑धात्, ए॒वा ह्यग्ने॒ इति॑, ततो॒ वा अ॒ग्निरुद॑तिष्ठत् ।

९. तदेव, १.२३.५-६—अरु॒णः केतुः प॒श्चादुपाद॑धात्, ए॒वाहि वायो॒ इति॑, ततो वा॒युरुद-तिष्ठत्, सा प्र॒तीची॒ दिक् ।

कहकर डाल दिया। वहाँ से इन्द्र प्रादुर्भूत हुआ। वह उत्तरदिशा बन गयी[१]। अरुणकेतु ने पुनः अंजलि में जल भर कर मध्य में, 'गतिशील पूषा, गन्तव्य तुम्हीं हो' कहकर डाल दिया। वहाँ से पूषा प्रादुर्भूत हुआ। वह अधोदिक् बन गयी[२]। अरुणकेतु ने पुनः अंजलि में जल भरकर ऊपर की ओर, 'गतिशील देवों, गन्तव्य तुम्हीं हो' कहकर डाल दिया। वहाँ से देवों, मनुष्यों, पितरों, गन्धर्वों एवं अप्सराओं का प्रादुर्भाव हुआ। वह ऊर्ध्वदिशा बन गयी[३]। जल का आधान करते समय जो जलबिन्दु गिरे, उनसे असुर, राक्षस एवं पिशाच उत्पन्न हुए। जल की बूंदों से उत्पन्न होने के कारण वे पराभूत हुए[४]।

इस प्रकार सारी सृष्टि जल से हुई। जल से ही कूर्म के रूप में स्वयंभु प्रजापति हुआ। अतएव इस सकल ब्रह्माण्ड को स्वयंभु कहा जाता है[५]। जल से सृष्ट होने के कारण यह सारा विश्व शिथिल एवं अध्रुव था। यह ब्रह्माण्ड प्रजापति का स्वरूप ही है, अतएव स्वयं स्वयं का विधान कर वह उसमें प्रविष्ट हो गया[६]। यह तथ्य इस कथन से स्पष्ट है। ऋत से प्रादुर्भूत प्रजापति सकल लोकों को रचकर, सभी भूतों की सृष्टि कर एवं सभी दिशाओं को बनाकर स्वयं प्रविष्ट हो गया[७]।

सृष्टि की गाथा के इस इतिहास (मिथ्) को आरुणकेतुक अग्नि में रूपायित किया गया है। यह इतिहास (मिथ्) सकल सृष्टि के मूल में जल की स्थिति मानता है और यह तथ्य अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है[८]। इसी दृष्टि से आरुणकेतुक अग्नि में ईंटों के स्थान पर जल का ही प्रयोग होता है। जल चार

---

[१] तै०आ, १.२३.६—अरु॒णः के॒तुरु॑त्तर॒त उ॒पाद॑धात्, ए॒वा हीन्द्रेति॑, ततो॒ वा इन्द्र उद॑तिष्ठत्, सोदी॑ची॒ दिक्।

[२] तदेव—अरु॒णः के॒तुर्मध्य॑ उ॒पाद॑धात्, ए॒वा हि पूष॒न्निति॑, ततो॒ वै पू॒षोद॑तिष्ठत्, सेयं दिक्।

[३] तदेव, १.२३.७—अरु॒ण के॒तुरु॒परि॑ष्टादु॒पाद॑धात्, ए॒वा हि देवा॒ इति॑, ततो॑ दे॑व-मनु॒ष्याः पि॒तर॑ः, ग॒न्ध॒र्वा॒प्सरस॒श्चोद॑तिष्ठन्, सोर्ध्वा दिक्।

[४] तदेव—या वि॒प्रुषो॑ वि॒ परा॑पतन्, ताभ्योऽसु॑रा रक्षांसि पिशा॒चाश्चोद॑तिष्ठन्, तस्मा॒त् ते पराभवन्, वि॒प्रुड्भ्यो॒ हि ते सम॑भवन्।

[५] तदेव, १.२३.८—आपो॑ ह॒ यद् बृह॒तीर्गर्भं॒ मायन दक्षं॒ दधान ज॒नय॑न्तीः स्वयं॒भुम्, तत॑ इ॒मेऽध्यसृ॑जन्त सर्गाः, अ॒द्भ्यो॒ वा इ॒दꣳ॒ समभूत्, तस्मा॑दि॒दꣳ॒ सर्वं ब्रह्म॑ स्वयं॒म्भ्विति।

[६] तै० आ०, १.२३.८—इ॒दं सर्वं॒ꣳ॒ शिथि॑लमि॒वाध्रुव॑मिवाभवत्, प्रजा॒प॑तिर्वाव तत्, आ॒त्मना॒त्मानं॑ वि॒धाय॑, तदे॒वानु॒प्रावि॑शत्; तु०, बृ० उ०, २.१५.१८—पुरः पुरुषं आविशत्।

[७] तदेव, १.२३.९—वि॒धाय॑ लो॒कान् वि॒धाय भू॒तानि॑, वि॒धाय॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिशं॑च, प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑, आ॒त्मना॒त्मान॑मभिसंविवे॒श।

[८] तै० आ०, १.२३.१; ऋ० सं०, १०.१२९.३; अ० सं०, ५.१७.११; श० ब्रा०, ११.१.६.१; तै० सं० ब्रा०, ५.६.४.२; का० सं० ब्रा०, २२.९ आदि।

प्रकार से उपलब्ध होता है—मेघ, विद्युत्, स्तनयित्नु एवं वृष्टि से[१]। इन्हीं जलों में से छह प्रकार के जलों का ईंटों के रूप में विनियोजन किया जाता है। वर्षा से धूप में एकत्र किया गया जल, कूपजल, नदियों का स्थावर जल (यह वहाँ से लिया जाता है, जहाँ नदी का जल स्थिर रहता है, बहता नहीं), प्रवहणशील जल, घट आदि में एकत्र किया गया जल तथा तडाग का जल ईंटों के रूप में प्रयुक्त करने का विधान है[२]।

सुपर्ण चिति के समान आरुणकेतुक अग्नि में रुक्म, हिरण्मय पुरुष और कूर्म प्रत्यक्षतः आहित किये जाते हैं[३]। इसी प्रकार सुवर्णखण्डों का भी प्रयोग होता है। इन पदार्थों के स्थान पर जल का प्रयोग नहीं किया जाता। जल से सम्बन्धित होने के कारण पुष्करपर्णों का भी प्रयोग प्रत्यक्षरूप में करने का विधान है[४]। पुरीष के स्थान पर पुष्करपर्ण एवं कमलनालों को आहित किया जाता है। इन पदार्थों के प्रतीक अर्थ का विवेचन पहले किया जा चुका है[५]। अतएव इनकी प्रतीकीय अर्थवत्ता का पुनर्विवेचन पिष्टपेषण मात्र होगा। ध्यातव्य है कि आरुणकेतुक अग्नि की भी पाँच चितियाँ होती हैं[६]। जल द्वारा अग्नि की पाँच चितियों की संरचना कर प्रजापति पुरुष की संघटना की जाती है। प्रत्येक चिति की संरचना के अनन्तर जल के रूप पुष्करपर्ण एवं कमलनालों से उसे उसी प्रकार आच्छादित किया जाता है, जैसे सुपर्णचिति की प्रत्येक चिति पुरीष से आच्छादित की जाती है। वस्तुतः हिरण्य का जल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है[७]। कूर्म की तो उत्पत्ति ही रस से हुई तथा मौलिक विश्व में भी जल के विना उसकी स्थिति असंभव है। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि आरुणकेतुक अग्नि की संरचना जल से ही होती है, जो सृष्टि का विधायक मूल-तत्त्व है।

यहाँ आरुणकेतुक अग्नि में जल के रूप में आहित ईंटों की प्रतीकी अर्थवत्ता को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा। सर्वप्रथम जल की महिमा को अभिव्यक्त करने वाली पाँच महानाम्नो नामक ईंटों का आधान किया जाता है। इन ईंटों के विनियोग-मन्त्रों में से एक में जल को 'महानाम्नो' (जिस जल का नाम

---

[१] तै० आ०, १.२४.१—चतु॑ष्टय्य॒ आपो॑ गृह्णाति, च॒त्वारि॒ वा अ॒पाꣳ॒ रू॒पाणि॑, मेघो॑ वि॒द्युत् स्त॒न॒यि॒त्नुवृ॒ष्टिः।

[२] तदेव, १.२४.१-२—आ॒तप॑ति॒ वर्ष्या॑ गृह्णाति, कूप्या गृह्णाति, स्थाव॒रा गृह्णाति, वह॑न्तीगृ॑ह्णाति, स॒भा॒र्या गृह्णाति, प॒ल्व॒ल्या गृह्णाति।

[३] तदेव, १.२५.१—रु॒क्मं पुरु॑ष॒मित्युप॑दधाति।

[४] तै० आ०, १.२.५.१—पु॒ष्क॒र॒प॒र्णम्।

[५] द्र०, इस ग्रन्थ का पांचवाँ अध्याय।

[६] तदेव, १.२५.३—पंच॒ चित॑य॒ उप॑दधाति, पाङ्क्तोऽग्निः।

[७] द्रष्टव्य, इसी अध्याय में सावित्र अग्नि का प्रतीक अर्थ।

महान् है) कहा गया है, अतएव इन ईंटों का नाम महानाम्नी है[१]। जिस जल का आधान किया जाता है, उसे यजमान ने पुनः-पुनः प्राप्त किया है। यजमान ने समृद्धि हेतु अग्नि, वायु और वायु के साथ उस जल का संस्कार[२] किया है। इस जल को वायु अश्व बनकर वहन करता है, आदित्य की रश्मियाँ इसकी रक्षा करती हैं। इनकी आत्मा मरीचियाँ हैं, यह किसी से द्रोह नहीं करता, यह देदीप्यमान तथा सृष्टि का उत्पादक है[३]। इस जल का नाम महान् है, इसका मान महान् है। यह महस्वियों में स्वयं को महस्वी बनाता है, यह द्योतित है और पर्जन्य से उत्पन्न है[४]। यह जल भोक्ता को जलाने वालों, राक्षसों तथा वृत्तिरहित जीवन को दूर भगा देता है[५]। यह द्योतमान देवों का जनक तथा वज्र को उठाकर रक्षा करने वाला है[६]। इस प्रकार महानाम्नी ईंटों के द्वारा महिमामय जल को प्रतीकायित किया गया है। महानाम्नी ईंटों के आधान में आतप-जल (उष्णोदक्) का प्रयोग किया जाता है।

जल में सारी औषधियों को डालकर अध्वर्यु "शिवा" नामक ईंट कल्याण, मंगल तथा आरोग्य को प्रतीकायित करने के लिए उपहित करता है[७]। एतदनन्तर "भूमिवती" नामक ईंट भूमि तथा सरस्वती को रूपायित करने के लिये रखी जाती है[८]। "स्मृतिगणा" नामक आठ ईंटों से स्मृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य तथा अनुमान नामक प्रमाणों तथा उन प्रमाणों से प्रमाणित आदित्यमण्डल को स्थापित किया जाता है[९]। विनियोग-मन्त्रों से ज्ञात होता है कि स्मृतगण ईंटों के द्वारा आदित्यमण्डल को आहित कर संवत्सर को प्रतीकायित किया गया है। मन्त्रों का कथन है कि जगत्-सृष्टि के आरम्भ में सूर्य सकल सृष्टि हेतु अद्वितीय मरीचिका ग्रहण करता है। उसी के विशेष पाक से काल अस्तित्व में आता है[१०]। जिस प्रकार नदी अपने उद्भव स्थल से

---

[१] तै० आ०, १.१.२—महानाम्नीः; सायण, तदेव—महदधिकं नाम यासामपां ता महानाम्न्यः।

[२] तदेव, १.१.१-२ आप॑मापाम॒पः सर्वाः॑ अ॒स्माद॒स्मादि॒तोऽमुतः॑, अ॒ग्निर्वा॒युश्च॒ सूर्य॑श्च, स॒ह सं॑चस्क॒रर्द्धिया॑।

[३] तै० आ०, १.१.२—वा॒य्वश्वा॑ रश्मि॒पत॑यः, मरी॑च्यात्मानो॒ अदु॑हः, दे॒वीर्भुवन॒सूव॑रीः।

[४] तदेव—महानाम्नीर्म॑हाम॒नाः, म॒ह॒सो म॑हस॒ः स्व॑ः, दे॒वीः पर्जन्य॒सूव॑रीः।

[५] तदेव, १.१.३—अ॒पाश्न्यु॑ष्णिम॒पा रक्षः॑, अ॒पाश्न्यु॑ष्णिम॒पां रघ॑म्, अपा॑ध्रा॒मप॑ चा॒वर्तिम्, अप॑ दे॒वीरि॒तो हि॑त।

[६] तदेव।

[७] तदेव—शि॒वा न॒ः शत॑मा भवन्तु, दि॒व्या आप॒ ओष॑धयः।

[८] तदेव—सु॒मृ॒डीका सर॑स्वति।

[९] तदेव, १.२.१—स्मृतिः॑ प्र॒त्यक्ष॑मैति॒ह्यम्, अनु॑मानश्चतु॒ष्टयम्, ए॒तैरादि॑त्यमण्डलम्, सर्वै॑रे॒व विधा॑स्यते।

[१०] तदेव—सूर्यो॒ मरी॑चि॒मादत्ते॑, सर्व॑स्माद् भुव॑नाद॒धि, तस्याः पाकवि॑शेषे॒ण, स्मृतं का॑लवि॒शेष॑णम्; द्र०, सायण, तदेव।

लघुरूप में निकलकर प्रवहित होते-होते विशाल रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार काल के लघुतम एवं महत्तम घटक होते हैं और वे सभी संवत्सर में ही समाश्रित हैं[१]। यह संवत्सर सतत गतिशील, अभेद्य एवं अखण्डनीय[२] है। यह प्रत्यक्षरूप में दृश्यमान है, परन्तु इस संवत्सर की अवस्थिति कहाँ है; कोई नहीं जानता, क्योंकि यह दुर्दर्श है[३]। वस्तुतः अकाल काल का मूल है। पटसदृश पलकों से युक्त, विविध क्लेदनों से आपूरित और पिंगवर्णी दृष्टि से चैतन्य-काल का दर्शन संभव नहीं है[४]। संवत्सर व्यवहार्य-काल का शिर है। यह एकाकी होता हुआ भी उत्तरायण एवं दक्षिणायन के कारण द्विमुख है। सात ऋतुओं के कारण ही उत्तरायण एवं दक्षिणायन का विभाजन होता है, अतएव ये ऋतुएँ संवत्सर की सात इन्द्रियाँ हैं[५]। वस्तुतः परमसत्ता संवत्सर एक होते हुए भी व्यवहार्य विश्व में विभक्त दृष्टिगत होती है। संवत्सर में स्थित सभी शुक्ल एवं कृष्णपक्ष उसके पार्श्वभाग हैं[६]। इस तथ्य को ऋक्-संहिता में स्पष्ट भी किया गया है[७]। सकल भूत, पूषा, पशु, आदित्य एवं संवत्सर आदि प्रत्यक्ष होने के कारण ही सामान्य जन को अतिप्रिय हैं, क्योंकि अ-संवत्सर के ये ही रूप हैं[८]। अतएव संवत्सर के इन रूपों को आरुणकेतुक अग्नि में प्रतीकायित किया जाता है।

शुक्रा ईंट के द्वारा पूषा देवता को प्रतीकायित कर[९] साकंजानी नामक ग्यारह ईंटों का आधान किया जाता है[१०]। इनमें विनियोज्य मन्त्रों से ज्ञात होता है कि

---

[१] तै० आ०, १.२.१-२—नदीव प्रभवात् काचित् अक्षय्या स्यन्दते यथा, तां नद्योऽभिसमायन्ति, सोरुः सती न निवर्तते, एवं नानासमुत्थानाः कालाः संवत्सरꣳ श्रिताः, अणुशश्च महशश्च सर्वे समवयन्त्रि तम् ।

[२] तदेव, १.२.२—एतैः सर्वैः समाविष्टः, उरुः सन्न निवर्तते, अधिसंवत्सरम् ।

[३] तदेव, १.२.३—अणुभिश्च महद्भिश्च, समारूढः प्रदृश्यते, संवत्सरः प्रत्यक्षेण, नाधिसत्त्वः प्रदृश्यते ।

[४] तदेव—पटरो विक्लिधः पिंगः, एतद् वरुणलक्षणम्, यत्रैतदुपदृश्यते । द्र०, सायण, तदेव ।

[५] तदेव, १.२.३-४—एकꣳ हि शिरो नानामुखे, कृत्स्नं तदृतुलक्षणम्, उभयतः सप्तेन्द्रियाणि ।

[६] तदेव, १.२.४—शुक्लकृष्णे संवत्सरस्य, दक्षिणवामयोः पार्श्वयोः ।

[७] तदेव—शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यत्, विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि, विश्वा हि माया अवसि स्वधावः, भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु; तु०, ऋ० सं०, ६.५८.१; तै० सं०, ४.१.११.२; का० सं०, ४.१५; मै० सं०, ४.१० ३; तै० ब्रा०, २.८.५.३ ।

[८] तै० आ०, १.२.४—नात्र भुवनम्, न पूषा, न पशवः, नादित्यः संवत्सर एव प्रत्यक्षेण प्रियतमं विद्यात्, एतद् वै संवत्सरस्य प्रियतमं रूपम्; द्र०, सायण, तदेव ।

[९] तै० आ०, १.२.४ ।

[१०] तदेव, १.३.१ ।

आदित्य ने जिस प्रथम रश्मि से सृष्टि का विधान किया था, उसे तथा उसकी सहचारिणी सूर्य की अन्य छह रश्मियाँ एवं वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु को प्रतीकायित किया गया है[1]। सात ऋतुमती ईंटों के रूप में शरद, हेमन्त तथा शिशिर ऋतु को उपहित किया जाता है[2]। ध्यातव्य है कि वसन्त ऋतु के साथ वसु, ग्रीष्म के साथ रुद्र, वर्षा के साथ आदित्य, शरद् के साथ तथा हेमन्त एवं शिशिर के साथ मरुत् भी चर्चित हैं। अतएव उनके वस्त्र आदि को प्रतीकायित करने के लिए अतिताम्रा नामक चार ईंटों का आधान किया जाता है[3]।

ऋतुओं के मण्डलों को प्रतिरूपायित करने के लिये तीन ऋतुमण्डला नामक ईंटों को रखा जाता है[4]। इस प्रकार ऋतुओं के सेनानी तथा ऋतुमण्डलों का आधान कर यजमान उन पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है। ब्राह्मणों में वह अग्रपुरुष बनता है[5], जो इस बात का ज्ञान रखता है। वह संवत्सर में ऋतु-सेनापतियों के साथ कर्म के विधाता यजमान को सकल कामों से परिपूर्ण बना देता है। आरुणकेतुक अग्नि का यही द्रप्स (जल की बूँद) है[6]। इस द्रप्स को रूपायित करने के लिये द्रप्सवती नामक एक ईंट रखी जाती है। इसके विनियोग-मन्त्र में कहा गया है कि दस हज़ार आदित्य-रश्मियों के साथ विचरिष्णु द्रप्स (जल की बूँद) सोम के अंशुओं से भरी हुई पृथ्वी पर स्थित होती है और इस अधोद्रावी द्रप्स को इन्द्र अपनी शक्ति से उपस्तुत करता है[7]। इन्द्र इस सलावृकी (पृथिवी) के साथ मेघों को छिन्न-भिन्न करता है। इस प्रकार यह संवत्सर ही पृथिवी तथा द्युलोक में अग्नि अथवा आदित्य के रूप में स्थित होकर वर्षा की सृष्टि करता है[8]। इस अवधारणा को अभिव्यक्त करने वाली द्रप्सवती ईंट का आधान किया जाता है।

आरोग, भ्राज, पटर, पतंग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान्, विमास तथा कश्यप नामक आठ सूर्यों को रूपायित करने वाली आरोगा आदि आठ ईंटों का उपधान किया जाता

---

[1] तै० आ०, १.३.१-४। [2] तदेव, १.४.१-४। [3] तदेव, १.५.१-२।

[4] तदेव, १.६.१—अ॒त्यू॒र्ध्वा॒क्षः''''अ॒न्योऽन्य॒म्'''', त्वं करोषि॑ न्यंजलिकाम्'''' ।

[5] तदेव, १.६.२—तस्मै सर्वं ऋतवो॑ नम॒न्ते, मर्यादाकरत्वात् प्र॑ पु॒रोधाम्, ब्राह्मण आप्नो॒ति।

[6] तदेव—य ए॑वं वे॒द, स खलु संवत्सर एतैः सेनानी॑भिः स॒ह, इन्द्राय सर्वान् कामा॑नभिव॒हति, स द्र॒प्सः।

[7] तै० आ०, १.६.३—अत्र॑ द्र॒प्सो अं॑ꣳशु॒मती॑मतिष्ठत्, इ॒य॒नः कृ॒ष्णो दशभि॑ः स॒हस्रैः।

[8] तदेव—एतयैवेन्द्रः सलावृ॑क्या स॒ह, असुरान् प॑रिवृश्चति, पृ॒थिव्यꣳशुम॑ती, ताम॒न्ववस्थितः संवत्स॒रो दि॒वं च।

है[1]। पंचकर्ण वात्स्यायन तथा सप्तकर्ण प्लक्षि का मत है कि कश्यप नामक सूर्य के विषय में केवल सुना जाता है, हमने उसे प्रत्यक्ष नहीं किया है[2]। गार्ग्य प्राणत्रात के अनुसार कश्यप नामक सूर्य के अतिरिक्त अन्य सूर्य सूर्य-मण्डल के साथ-साथ महामेरु के समीप चले जाते हैं[3]। अन्य आचार्यों के अनुसार यज्ञ में नियोजित सात ऋत्विक् ही सात सूर्य हैं[4]। ऋतुवों आदि की विभिन्नता के कारण सूर्य अनेक हैं, अतएव वैशम्पायन का कथन है कि इस प्रकार हजारों सूर्य हैं[5]। वस्तुतः ऋषियों ने कार्य-व्यापृत आठ सूर्यों को ही देखा है, अतएव आठ ही सूर्य हैं। इस प्रकार ऊपर सूर्य-मण्डलों की संख्या आठ हो जाती है। परन्तु यह केवल अनुमानमात्र है। सूर्यमण्डल तो एक ही है और इसकी प्रतिपादिका ऋचा भी है, जिसमें एक सूर्यमण्डल का वर्णन है[6]। सूर्य को अभिव्यंजित करने वाली चार अन्य सौरी ईंटों को भी उपहित किया जाता है[7]। इन सूर्यों के रूप में यजमान स्वयं को आहित कर उनके भास्वर तेज से आप्लुत होकर ज्योतिष्मान् बनता है। इन सूर्या ईंटों के उपस्थान-मन्त्रों से यह अत्यन्त स्पष्ट है। उपस्थान मन्त्रों में यजमान उपरितन वर्णित सूर्यों के तेज से भास्वर होने की कामना करता है[8]।

अभ्रों को प्रतीकायित करने के लिए अभ्रिणी नामक ईंट, आरुण-केतुक अग्नि में रखी जाती है[9]। अन्य तीन ईंटों में एक अर्धमासा तथा दो काला नामक होती हैं। अर्धमासा ईंट के द्वारा अर्धमासों, मुहूर्तों, निमेषों, लवों को रूपायित किया जाता

---

१. तदेव, १.७.१—आरोगो भ्राजः पटरः पतंगः, स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः, ते अस्मै सर्वे····, कश्यपोऽष्टमः।

२. तदेव, १.७.२-३—अपश्यमहमेतान् सप्त सूर्यानिति पञ्चकर्णो वात्स्यायनः, सप्तकर्णश्च प्लक्षिः, आनुश्रविक एव नौ कश्यप इति।

३. तदेव—अपश्यमहमेतत् सूर्यमण्डलं परिवर्तमानं, गार्ग्यः प्राणत्रातः, गच्छन्तं महामेरुम्, एकं चाजहतम्।

४. तदेव, १.७.४-५—सप्तर्त्विजः सूर्या इत्याचार्याः सप्तदिशो नानासूर्याः, सप्त होतार ऋत्विजः, देवा आदित्या ये सप्त।

५. तै० आ०, १.७.५—एतयैवावृता सहस्रसूर्यताया इति वैशम्पायनः। यद्द्याव इन्द्र ते शतꣳ शतं भूमीः, उत स्युः, न त्वा वज्रिन् सहस्रꣳ सूर्याः, अनु न जातमष्ट रोदसी। १.७.६—नानालिंगत्वाद् ऋतूनां नाना सूर्यत्वम्।

६. तदेव, १.७.६—अष्टौ तु व्यवसिता इति, सूर्यमण्डलान्यष्टात ऊर्ध्वम्, चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः, आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

७. तदेव, १.७.४-६—सप्त सूर्या दिवमनुप्रविष्टाः·······, सप्त दिशो नाना सूर्याः·······, यद्द्याव इन्द्र·······, चित्रं देवानाम्·······।

८. तै० आ०, १.१६.१—आरोगस्य स्थाने स्वतेजसा भानि·······।

९. तै० आ०, १.८.१—स्वेदमभ्रं निविशते·······।

हैं[१]। पाँच वैष्णवी ईंटों के द्वारा इस अग्नि में सूर्य के एक रूप विष्णु को प्रतीकायित करने का विधान है[२]।

यजमान चार मृत्युमती ईंटों का आरुणकेतुक अग्नि में आधान कर मृत्युञ्जय बनने की प्रक्रिया को अपनाता है[३]। तैत्तिरीय-आरण्यक का कथन है कि जिसे मृत्युमती ईंटों का परिज्ञान है, वह अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार का ज्ञानी दीर्घश्रुत जनों में श्रेष्ठ बनता है। वह कश्यप सूर्य का अतिथि बनता है[४]। नरकगमन से त्राण पाने के लिए चार निरयवती नामक ईंटों का उपधान किया जाता है[५]। कश्पप सूर्य को पुनः प्रतीकायित करने के लिए एक काश्यपी ईंट को रखने का विधान है[६]। इस प्रकार वह कश्यप बनकर मृत्यु, पाप तथा नरक से त्राण पाता है[७]। एक आग्नेयी ईंट भी इसी प्रतीकीय अर्थ के परिप्रेक्ष्य में आहित की जाती है[८]।

अग्नि, जातवेदा, सहोजा, अजिराप्रभु, वैश्वानर, नर्यापा, पंक्तिराधा, तथा विसर्पी नामक आठ अग्नियों को रूपायित करने के लिये आठ आग्नेयी ईंटों का उपधान किया जाता है[९]। ग्यारह रुद्रों तथा ग्यारह रुद्राणियों को प्रतिरूपायित करने के लिए क्रमशः ग्यारह रौद्री तथा ग्यारह रुद्राणी ईंटों को रखकर आरुणकेतुक अग्नि में रुद्रों तथा रुद्राणियों का प्रतिरूपण होता है[१०]। स्वान, भ्राट्, अङ्घारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशानु, विश्वावसु, मूर्धन्वान्, सूर्यवर्चा तथा कृति नामक गन्धर्वों के ग्यारह समूहों को रूपायित करने के लिये ग्यारह गन्धर्वा नामक ईंटों को रखने का विधान है[११]। सरस्वती को रूपायित करने के लिये गौरी नामक एक ईंट को उपधेय

---

[१] तै॰ आ॰—अर्धमासा मुहूर्ताः, निमेषास्त्रुटिभिः सह।

[२] तदेव, १.८.२-३।

[३] तै॰ आ॰, १.८ ४—पृच्छामि त्वा परमृत्युम् ···, अमुमाहुः परं मृत्युम् ····, अनाभोगाः परं मृत्युम् ····ततो मध्यममायन्ति ····।

[४] तदेव, १.८.७—अपैतं मृत्युं जयति, य एवं वेद, स खल्वेवंविद् ब्राह्मणः, दीर्घश्रुत्तम भवति, कश्यपस्यातिथिः, सिद्धगमनः सिद्धागमनः।

[५] तदेव, १.८.५-७ - पृच्छामि त्वा पापकृतः····, कश्यपादुदिताः सूर्याः····, ते शरीराः प्रपद्यन्ते····, मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्ते।

[६] तदेव, १.८.५.७—या यस्मिन् सप्त वासवाः····।

[७] तदेव, १ ८.८—कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्।

[८] तदेव, अग्ने नय सुपथा राये····।

[९] तदेव, १.९.१—अग्निश्च जातवेदाश्च, सहोजा अजिराप्रभुः, वैश्वानरो निर्यापाश्च, पंक्तिराधाश्च सप्तमः, विसर्पेवाष्टमोऽग्नोनाम्, एतेऽष्टौ वसवः क्षिताः।

[१०] तदेव, १.९.१-२—वायोरेकादशपुरुषस्यैकादशस्त्रीकस्य, प्रभ्रजमानाव्यवदाताः····।

[११] तै॰ आ॰, १.९.३—स्वानभ्राट्, अङ्घारिर्बम्भारिः, हस्तः, सुहस्तः, कृशानुर्विश्वावसुः, मूर्धन्वान्, सूर्यवचाः, कृतिरित्येकादश गन्धर्व गणाः।

कहा गया है[१]।

वराह, स्वतपा, विद्युत्, महस् , धूपि, श्वापि एवं गृहमेधा नामक सात पर्जन्यों को रूपायित करने वाली सात वाता नामक ईंटों को उपहित किया जाता है[२]। अक्षर ब्रह्म का प्रतिरूपण करने वाली लोका ईंट है[३]। आप्यायिता ईंट जमदग्नि ऋषि को रूपायित करती है[४]। बृहस्पति के पुत्र शंयु का प्रतिरूपण करने के लिये शंयु नामक ईंट रखी जाती है[५]। इसी प्रकार आठ संयानी ईंटें रखी जाती हैं[६]। सुपर्णचिति के सन्दर्भ में संयानी ईंटों के प्रतीक अर्थ की व्याख्या की गयी है[७]। यहाँ केवल यही कथ्य है कि संयानी ईंटें सकल लोकों के पार ले जाकर परमसत्ता के साथ तादात्म्यीकरण स्थापित कराती है। वृष्टि को रूपायित करने के लिए वृष्टिमती नामक एक ईंट रखी जाती है[८]।

आदित्य के प्रतीक के रूप में दो ईंटें रखी जाती हैं[९]। पवित्रता की अभिव्यंजक चार आंगिरसी ईंटों को आहित किया जाता है[१०]। नक्षत्रों को रूपायित करने के लिये सात ऋक्षादि नामक ईंटों को रखने का विधान है[११]। विश्वेदेवों को अभिव्यक्त करने वाली पाँच वैश्वदेवी ईंटों को रखा जाता है[१२]। इसके विनियोज्य मन्त्र में उस प्रतीप अश्वत्थ का वर्णन है, जिसकी जड़ ऊपर है तथा शाखाएँ नीचे हैं[१३]। इस तरु की प्रतीकीय अर्थवत्ता की व्याख्या पहले की जा चुकी है[१४]। अग्नि को रूपायित करने के लिये तीन आग्नेयी ईंटों को रखा जाता है[१५]।

---

[१] तै०आ०, १.९.४—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी, अष्टापदी नवपदी बभूवुषी, सहस्राक्षरा परमे व्योमन्; ऋ०सं०, १.१६४.४१; अ०सं०, ९.१०.२१; तै० ब्रा०, २.४.६.११; ऐ० आ०, १.५.३.८।

[२] तै० आ०, १.९.४-५—वराहवः स्वतपसः, विद्युन्महसो धूपयः, श्वापयो गृहमेधाश्च।

[३] तदेव, १.९.६—यदक्षरे भूतकृतम्.... ।

[४] तदेव, १.९.६-७—जमदग्निराप्यायते.... ।

[५] तदेव, १.९ ७—तच्छंयोरावृणीमहे.... ।

[६] तदेव, १.१०.१-४—सहस्रवृदियं भूमिः.... ।

[७] इस प्रबन्ध का पांचवाँ अध्याय द्रष्टव्य।

[८] तै० आ०, १.९.५-६—समानमेतदुदकम्.... ।

[९] तदेव, १.१०.४—स संग्रामः.... ।

[१०] तदेव, १.११.१-२—पवित्रवन्तः.... ।

[११] तदेव, १.११.२-५—अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा.... ।

[१२] तदेव, १.११.५-७—अन्धो मणिमविन्दत.... ।

[१३] तदेव, १.११.५—ऊर्ध्वमूलमवाक्छाखं वृक्षं यो वेद संप्रति.... ।

[१४] इस प्रबन्ध का पांचवाँ अध्याय द्रष्टव्य।

[१५] तदेव, १.११.७।

चार ईंटों को रखकर इन्द्र को प्रतिरूपायित किया जाता है[१]। एक ईंट यजमान इन्द्र के लिये रखता है[२]। इन ईंटों का अभिधान ऐन्द्री है। अध्वर्यु पुनः आणवी नामक दो ईंटों को इन्द्र के रूप में आहित करता है[३]। सुब्रह्मण्य के रूप में सुब्रह्मण्या ईंट रखने का विधान है[४]। वसुओं, रुद्रों, बृहस्पति तथा सविता को प्रतीकायित करने के लिए चार रेवती अथवा मेघवती ईंटों का उपधान होता है[५]। हिरण्यगर्भ प्रजापति के प्रतीकरूप में चार ब्रह्मसदना ईंटें आहित की गयी हैं[६]। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अदिति, आदित्य को दिश्या नामक आठ ईंटों के द्वारा रूपायित किया जाता है[७]। मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, इन्द्र तथा विवस्वान् नामक आठ आदित्यों को अलग-अलग रूपायित करने के लिये आठ अन्य दिश्या नामक ईंटों को उपहित किया जाता है[८]। हिरण्यगर्भ, हंस, शुचिषद् तथा ब्रह्मजज्ञान नामों से चार दूरोहणा नामक ईंटें रखी जाती हैं[९]। आदित्यों आदि के तेज के रूप में पुनः आठ आदित्या ईंटों को उपहित किया जाता है[१०]। इसी प्रकार पूर्ववत् रुद्रों तथा रुद्राणियों को प्रतीकायित करने के लिये क्रमशः ग्यारह-ग्यारह ईंटों को रखने का विधान है[११]। अग्नि को रूपायित करने के लिये भी आठ दिश्या ईंटों को रखा जाता है[१२]। विसर्पी, अविसर्पी, विषादी तथा अविषादी नरकों से त्राण पाने के लिये चार नरकवती ईंटें रखी जाती हैं[१३]। दो ऐन्द्री ईंटों को रखकर इन्द्र के लिये छह, आदित्य के लिये पाँच तथा अग्नि के लिये छह दिश्या ईंटों को आहित किया जाता है[१४]।

---

[१] तै० आ०, १.१२.१-२—आर्त॑नुष्व॒····, इतः सि॒क्तम्····, अ॒सं॒ख्या॒ता स॑हस्रा॒णि····, आम॒न्द्रैरि॑न्द्र॒····।

[२] तदेव, १.१२.२—मा म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिः····।

[३] तदेव, १.१२.२-३—अणुभिश्च म॑हद्भि॒श्च···।

[४] तदेव, १.१२.३—सुब्रह्मण्योम्····।

[५] तदेव, १.१२.४-५—अ॒रु॒णाश्वा॑ इ॒हाग॑ताः, वस॑वः पृथिवि॒क्षित॑ः····।

[६] तदेव, १.१२.५—ब्रह्म॑ण उद्॒रणमसि ब्रह्म॑ण उदी॒रणमसि, ब्रह्मण आ॒स्तर॑णमसि, ब्रह्म॑ण उप॒स्तरणमसि।

[७] तै० आ०, १.१३.१-३—अ॒ष्टयो॑निमष्टपु॑त्राम् ···, अ॒ष्टयो न्य॒ष्टपु॑त्रम्····, अदिति॒र्द्यौर॑दितिर॒न्तरिक्षम्····, अ॒ष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑तेः····, स॒प्तभिः पु॒त्रैरदि॑तिः···।

[८] तदेव, १.१३.३—मि॒त्रश्च॒ वरु॑णश्च, धा॒ता चा॑र्य॒मा च॑, अꣳ॒शश्च॒ भग॑श्च, इन्द्रश्च विव॑स्वाꣳ॒श्च।

[९] तदेव—हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भो ह॒ꣳ॒सः शु॑चि॒षत्, ब्रह्म॑जज्ञा॒नं तदित्प॒दम्।

[१०] तदेव, १.१५.१—वसूनामादित्यानाम्····।

[११] तदेव, १.१७.१-२।

[१२] तदेव, १.१८.१—अग्नेः पूर्व॑दिश्यस्य स्थाने स्वतेज॑सा भा॒नि····।

[१३] तदेव, १.१९.१—दक्षिणपूर्व॑स्यां दिशि विस॑र्पी न॒रकः····, दक्षिणापरस्यां दिश्यविस॑र्पी न॒रकः····, उत्तरपूर्व॑स्यां दिशि विषा॑दो न॒रकः···, उत्तरापरस्यां दिश्यविषो॑दी न॒रकः····।

[१४] तदेव, १.१९.१, १.२०.१।

जल के प्रतीक रूप में दस अपस्या ईंटों को उपहित करने की विधि है[1]। काम को रूपायित करने के लिये एक सङ्कल्पवती, प्रजापति के प्रतिरूपण के निमित्त एक आप्वती तथा एक स्तम्भनवती ईंट रखी जाती है[2]। अरुण तथा केतु ऋषियों के प्रतीक रूप में एक केतुमती नामक ईंट को आहित किया जाता है[3]। तीन अन्य ईंटें इन्द्र आदि को प्रतीकायित करने के लिये उपहित होती हैं[4]।

सत्रह क्षपणी नामक ईंटों का आधान, पुनर्जन्म के विनाश के लिए तथा परमसत्ता के साथ तादात्म्यीकरण के निमित्त किया जाता है[5]। इन ईंटों के विनियोग-मन्त्रों में वर्णित है कि यजमान इस ब्रह्माण्ड में पुनः जन्म न प्राप्त करे[6]। सूर्यमण्डल में स्थित तथा शरीरों की संरचना करने वाली मरीचियाँ यजमान की लोकोत्तर देह का निर्माण करें[7]। यजमान त्वचा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवं ओज के आठ चक्रों से युक्त तथा नौ द्वारों वाली देवताओं की अयोध्या नगरी का ज्ञान प्राप्त कर ले, क्योंकि उसी में हिरण्मय कोश है, जो ज्योति से आवृत स्वर्गलोक है[8]। प्रजापति परम प्रकाश से आपूरित, यश से आवृत, सुनहली एवं अपराजिता पुरी में प्रविष्ट है[9]। इसे जान लेने पर यजमान परमसत्ता के साथ रमण करता है। निर्ऋति के अपनयन के लिये विशीर्ष्णी नामक दो ईंटों को आहित किया जाता है[10]। पर्जन्य की अभिव्यंजक तीन ईंटें रखी जाती हैं[11]। अमृतत्व की उपलब्धि के लिये तीन अमृता ईंटों का आधान विहित है[12]।

---

१. तै० आ०, १.२१.१-३।

२. तदेव, १.२३.१-२; १.२३ ८; १.२३.९।

३. तदेव, १.२४.४—केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशनाः…।

४. तदेव, १.२७.१—इमा नुकं भुवनम…, यज्ञं च नस्तन्वम्…, आदित्यैरिन्द्रः…।

५. तदेव, १.२७.१-६—आप्लवस्व प्रप्लवस्व… …आपो देवीरिहाहिताः।

६. तदेव, १.२७ १—आप्लवस्व प्रप्लवस्व आण्डी भव ज मा मुहुः। सुखादीन् दुःखनिधनाम् प्रतिमुंचस्व स्वां पुरम्।

७. तदेव, १.२७.२—मरीचयः स्वायंभुवाः, ये शरीराण्यकल्पयन्, ते ते देहं कल्पयन्तु।

८. तदेव, १.२७.२-३—अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तस्याꣳ हिरण्मयकोशः। स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः; तु० अ०सं०, १०.२.३१।

९. तदेव, १.२७ ३-४—विभ्राजमानाꣳ हरिणीम्, यशसा संपरीवृताम्, पुरꣳ हिरण्मयीं ब्रह्मा, विवेशापराजिताम्; तु० अ० सं०, १०.२.३३।

१०. तदेव, १.२८.१—विशीर्ष्णी गृध्रशीर्ष्णी……अग्ने नाशय संदृशः।

११. तदेव, १.२९.१—पर्जन्याय प्रगायत……पर्जन्यः पुरुषीणाम्।

१२. तदेव, १.३०.१—पुनर्मामैत्विन्द्रियम्……सुप्रजसं कुरु।

इस प्रकार आरुणकेतुक अग्नि में निखिल सृष्टि को जल द्वारा उपहित कर यजमान सकल सृष्टि तथा उसके मूल सलिल के साथ अपना तादात्म्यीकरण स्थापित करता है और स्वयं को अभिसंस्कृत बनाता है। इससे जहाँ यजमान सकल सृष्टि के साथ समरस होता है, वहीं जल के रहस्य को जानकर भौतिक रूप में भी अभ्युदय को प्राप्त करता है। चन्द्र को जलकुसुम के रूप में एवं अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पर्जन्य को जल-आयतन के रूप में जानता है, वह इस लोक में आयतनवान् होकर परम-प्रतिष्ठा की उपलब्धि करता है[1]। कोई भी अस्तित्व दिक्-काल निरपेक्ष नहीं होता, अतएव सबकी स्थिति संवत्सर में ही होती है और संवत्सर जल का आयतन है[2]। इस प्रकार यजमान सकल दिक्-काल को अपना वशंवद बनाता है और इस सृष्टि को प्राप्त कर, उसमें प्रवेश कर ज्योतिर्मय हो जाता है[3]।

---

[1] तै० आ०, १.२२. १-७—योऽपां पुष्पं वेद………य एवं वेद………।

[2] तदेव, १.२२.७—यः संवत्सरस्यायतनं वेद, आयतनवान् भवति, आपो वै संवत्सरस्यायतनम्।

[3] तदेव, १.२३.९—सर्वंमे वेदमाप्त्वा, सर्वंमवरुध्यं, तदेवानु प्रविशति, य एवं वेद; द्र०, मर्सिया इलियाड, कास्मास् एण्ड् हिस्ट्री, न्यूयार्क, १९५९, अध्याय २।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अग्निचयन—

विश्व को ऐश्वर्यपूर्ण ज्योति से आपूरित करने वाले इन्द्र तथा उस ज्योति को तमसाछन्न बनाने वाले वृत्र और ऋत एवं निर्ऋतितत्त्व के खोजी वैदिक ऋषियों ने अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि के सहारे उस महान् सत्य को प्राप्त कर लिया था, जो किसी भी संस्कृति तथा समाज की प्राणदायी शक्ति है। व्यवस्था, नियमबद्धता, संरचनात्मकता एवं विश्वव्यापकता के द्वारा ही कोई समाज मानवजीवन के श्रेय एवं प्रेय का विधान करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत अव्यवस्था, नियमहीनता एवं वैयक्तिकता के इर्द-गिर्द घूमने वाली संकुचित दृष्टि मनुष्य के अभ्युदय की संभावनाओं को अवरुद्ध करने के साथ-साथ उसके विश्व-तादात्म्य के आमुष्मिक मार्ग को भी तिरोहित कर देती है। ऋषियों ने तर्कमूलक प्रज्ञा के द्वारा अनेकीभवन तथा एकीभवन के रहस्य को समझ लिया था। किसी भी समाज का अनैक्य उसकी जीवन्तता को क्षीण करता है और ऐक्य उसमें अग्रगति को उत्पन्न करने वाली प्राणवन्तता का विधान करता है। इस संदर्भ में ऋषियों ने 'एकं सत्' का दर्शन किया। उसी परमसत्ता से सारा ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया। प्रज्ञावान् उसी 'सत्' को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि तथा सुन्दर पंखों से अलंकृत दिव्य सुपर्ण का अभिधान देते हैं[1]। इसी सिद्धान्त ने भारतीय संस्कृति एवं समाज को एक विशिष्ट तथा नियत आयाम प्रदान किया, जिसके परिसर में उनमें आज भी जीवनी-शक्ति बनी हुई है।

यज्ञ मनुष्य एवं देवों तथा स्वर्ग एवं धरती का मिलन-स्थल है। यज्ञ-संस्था वैदिक-संस्कृति का मूल उत्स बनी। ब्रह्माण्ड के सकल अस्तित्व जिसमें निहित हैं, उस परमसत्ता की यज्ञ के रूप में अवधारणा ऋग्वेद में ही विद्यमान है। यज्ञ सकल सृष्टि का मूल है, ब्रह्माण्ड का आधार है। ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ इस सृष्टि की, उत्पन्न होने वाले जगत् की नाभि है[2]। देव तथा ऋषि यज्ञ से उत्पन्न हुए, यज्ञ से ही ग्राम्य एवं वन्य पशुओं की सृष्टि हुई। यज्ञ हो देवों का प्रथम धर्म था[3]। जीवन

---

१. ऋ० सं०; १.१६४.४६—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः; तु०, अ० सं०, ९.१०.२८; ऋग्विधान, १.२५.७; निरुक्त, ७ १८, १४.१; बृ० दे०, ४.४२।

२. ऋ० सं०, १.१६४.३५; तु०, अ० सं०, ९.१०.१४; वा० सं०, २३.६२—अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

३. ऋ० सं०, १०.९०.१६—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्; तु०, अ० सं०, ७.५.१; वा० सं०, ३१.१६; तै० सं०, ३.५.११.५; का० सं०, १५.१२; मै० सं०, ४.१०.३।

के लिए सभी महत्त्वपूर्ण कार्य यज्ञ में अनुस्यूत हैं। वामदेव का कथन है कि—हे अग्नि ! इस यज्ञ को भंग करना कदापि संभव नहीं है। यह यज्ञ गाय, बैल, भेड़, घोड़े, नेता, मित्र, अन्न, संतान, सभा और वित्त से युक्त है। हे असुर ! दीर्घ तथा विस्तृत अभिप्राय की यह विशाल रयि (आर्थिक शक्ति) है[१]। अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीयों की समाज-व्यवस्था का, उनके राज्य-शासन और विधि-विधान का तथा पुराणों और कलाओं का विकास भी यज्ञ-संस्था के द्वारा संपन्न हुआ। उपनिषदों जैसा उच्च कोटि का दर्शन भी याज्ञिकों के मनन से निर्मित हुआ[२]। वास्तव में भारतीय संस्कृति की एक भी शाखा, एक भी अंग ऐसा नहीं है जो इतिहास की दृष्टि से वेद तथा यज्ञ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप में संबद्ध न होने का दावा कर पाये[३]।

वैदिक अवधारणा में धार्मिक या तात्त्विक दृष्टि से तीन प्रमुख हैं—पुरुष, ब्रह्म तथा आत्मा। परमसत्ता अथवा परम आत्मा की अभिव्यक्ति करने वाले पुरुष का वर्णन ऋग्वेद में है[४]। इसी पुरुष को वाजसनेयि-संहिता तथा तैत्तिरीय-आरण्यक में आदित्यवर्ण पुरुष कहा गया है[५], इसी को जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण परमपुरुष तथा अतिपुरुष नाम देता है[६], इसी को शतपथ-ब्राह्मण, एवं बृहदारण्यक उपनिषद् आदित्यज्योति कहता है[७] और इसी को छान्दोग्य उपनिषद् में उत्तम पुरुष बताया गया है[८]। वाजसनेयि-संहिता के अनुसार श्री और लक्ष्मी उस पुरुष की पत्नियाँ हैं। दिन तथा रात उसकी दो कक्षा हैं, अश्विनद्वय उसके अनावृत्त रूप हैं[९]। अग्नि, वायु, चन्द्रमा, तेज, ब्रह्म, जल तथा प्रजापति सबका अन्तर्भाव उसी में होता है[१०]।

---

[१] ऋ० सं०, ४.२.५—गोमाँ॑ अ॒ग्नेऽवि॑माँ अ॒श्वी य॒ज्ञो नृ॒वत्स॑खा॒ सद॒मिद॑प्रमृ॒ष्यः, इळा॑वाँ ए॒षो अ॑सुरः प्र॒जावा॑न् दी॒र्घो र॒यिः पृ॑थुबु॒ध्नः स॒भावा॑न्; तु०, तै० सं०, १.६.६.४; का० सं०, ५.६; मै० सं०, १.४.३।

[२] तु०—बी० के० चट्टोपाध्याय, दि उपनिषद्स् ऐण्ड् वेदिक रिचुअल्स्, कलकत्ता रिव्यू; १५४ (३), मार्च १९६०, पृ० २१२-१६, कलकत्ता यूनिवर्सिटी।

[३] लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० ४२।

[४] ऋ० सं०, १०.९०।

[५] वा० सं०, ३१.१८; तै० आ०, ३.१२.७; ३.१३.१; तु०, श्वेता० उ०, ३.८।

[६] जै० उ० ब्रा०, १.८.३।

[७] श० ब्रा०, १४.७.१.२; बृ० उ०, ४.३.२।

[८] छा० उ०, ८.१२.३।

[९] वा० सं०, ३१.२२—श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्।

[१०] तदेव, ३२.१—तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तद॑ चन्द्रमाः॑, तदेव शु॒क्रं तद् ब्रह्म ता आपः॒ स प्र॒जापतिः।

ऋक्संहिता में हिरण्यगर्भ प्रजापति के रूप में वही पुरुष वर्णित है[1]। अग्निचयन में इसी परमपुरुष अथवा ब्रह्माण्ड-पुरुष की संरचना होती है। अग्निचयन में पुष्करपर्ण, पुष्करपर्ण के ऊपर रुक्म तथा रुक्म पर एक सोने की बनी हुई पुरुष की प्रतिमा स्थापित की जाती है[2]। यह सुनहली पुरुष-प्रतिमा ही हिरण्मय पुरुष है। भारत में मूर्तिपूजा का प्रारम्भ इसी हिरण्मय पुरुष से हुआ। यह हिरण्मय पुरुष ही ब्रह्म तथा आत्मा है, क्योंकि यह प्रजापति का अमर्त्य रूप है[3]।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार अस्तित्व में आने वाला प्रथम देवता अग्नि ही है[4]। यह अग्नि ही परम-सत्ता है एवं परम-पुरुष है[5]। ऋक्संहिता में अग्नि में सभी देवों का अधिष्ठान बताया गया है। गृत्समद का कथन है कि अग्नि महावीर इन्द्र, वन्द्य विष्णु, रयिवेत्ता ब्रह्मणस्पति, धृतव्रत वरुण, अंश त्वष्टा और असुर रुद्र है[6]। वैश्वानर अग्नि विश्वव्यापी चैतन्य है[7]। तीन सहस्र तीन सौ उनतालीस देवता अग्नि की अर्चना में रत रहते हैं[8]। वसिष्ठ के अनुसार सभी जनों का पालक अग्नि ही है[9]। अतएव भगवान् एवं भक्त के बीच जो सम्बन्ध रहता है, वही सम्बन्ध अग्नि के चयनकर्ता और अग्नि के बीच है। लोकजीवन, तप एवं ऊर्जा के अभाव में चल ही नहीं सकता। विना उष्णता के धरती पर एक भी अङ्कुर अंकुआने में असमर्थ होता है और प्राणियों का शरीर शव हो जाता है। अतएव मनुष्य ने अग्नि को सर्वातिशायी बनाया एवं माना। इसीलिए यज्ञ-संस्था में अग्निचयन को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-संस्था अपने विचारों के

---

१. ऋ० सं०, १०.१२१.१—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्; तु०, अ० सं०, ४.२.७; वा० सं०, १३.४; २३.१; २५.१०; तै० सं०, ४.१.८.३; ४.२.८.२; ५.५.१.२; का० सं०, १६.१५; मै० सं०, २.७.१५; २.१३.२३।

२. श० ब्रा०, ७.४.१.७; ७.४.१.११; ७.४.१.१५; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६-७; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६।

३. श० ब्रा०, ७.४.२.१७।

४. श० ब्रा०, २.२.४.२; ६.१.१.११, तु०, ऋ० सं०, १०.१२१.७—आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्; वा०सं०, २७.२५; ३२.७; तै०सं०, ४.१.८.५; का० सं०, ४०.१; मै० सं०, २.१३.२३; तै० आ०, १.२३.८।

५. श० ब्रा०, ६.१.१.५—स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्, स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव सोऽग्निश्चीयते; द्रष्टव्य, खोंदा दि सवयज्ञज्, पृ० १९०।

६. ऋ० सं०, २.१.३-६; तु०, श० ब्रा०, १.६.२.८; ३.१.३.१; ऐ० ब्रा०, १.१; तां० ब्रा०, ९.४.५; १८.१.८; श० ब्रा०, ३.७; गो० उ०, १.१२,१६।

७. ऋ० सं०, १.५९,९८,२.१; तु०, श० ब्रा०, ९.३.१.३।

८. ऋ० सं०, ३.९.९—त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।

९. ऋ० सं०, ७.६.६—यस्य शर्मन्नुप विश्वे जनासः।

उत्कर्ष में परम बिन्दु पर स्थित हो गयी थी[1]। भारतीय साहित्य, कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में अग्निचयन की महत्त्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती है।

अग्निचयन औपनिषद् अवधारणा का उत्स—

अग्निचयन एवं उपनिषदों के दार्शनिक विचारों में अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव शंकर ने अग्निविद्या को उपनिषद् कहा है[2]। उपनिषदों में अनेकत्र वर्णित तथा विवृत हिरण्मय पुरुष[3] अग्निचयन में आहित हिरण्मय पुरुष ही है। यह हिरण्मय पुरुष सुपर्ण पक्षी के रूप में संरचित होता है[4]। शतपथब्राह्मण तथा ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार अग्निचयन के साथ-साथ महाव्रत एवं महदुक्थ का विधान आवश्यक है[5]। अग्नि के समान महाव्रत एवं महदुक्थ भी पक्षी के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं[6]। ऐतरेय-आरण्यक इनकी उपासना के गीत गाता है[7]। यही सुपर्ण ब्राह्मणग्रन्थों में सोम को स्वर्गलोक से लाता है[8]। यह इतिहास (मिथ्) अनुवर्ती-साहित्य में भी प्रमुख स्थान रखता है। महाभारत में यही सुपर्ण अमृत का आहरण करता है[9]। याजुष-संहिताओं में सुपर्ण के जिस सारस्वत रूप का वर्णन है, वह अनुवर्ती सुपर्ण में भी दृष्टिगत होता है[10]। सुपर्ण की अवधारणा विष्णु के वाहन वैनतेय गरुड[11],

---

[1] लक्ष्मणशास्त्री जोशी—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० ४२—का यह कथन—"ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का जो रूप मिलता है, वह इस संस्था की एक प्रकार की अवनति का परिचायक है" मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि आचार्य जोशी की इस मान्यता का आधार ब्राह्मणग्रन्थों में जादुई तत्त्व की प्राप्ति है। इस प्रबन्ध के अध्याय ४ में यह प्रतिपादित किया गया है कि जादू भी अन्ततः परमसत्ता के साथ तादात्म्यीकरण का ही उपाय है। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों में कहीं किसी को जादुई तत्त्व मिलते भी हैं, तो उस कारण से यज्ञ-संस्था का अपकर्ष नहीं स्वीकारा जा सकता।

[2] शंकर, क० उ०, १.१—अग्निविद्याप्युपनिषद्। तु०, श० ब्रा०, १०.४.३.९—एषा हैव सा विद्या यदग्निरेतदु हैव तत् कर्म यदग्निः।

[3] छा०उ०, १.६.६; ८.५.३; बृ०उ०, ४.३.११; श्वेता०उ०, ३.४; ४.१२; मै०उ०, ६.३।

[4] द्र०, इस प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय।

[5] श० ब्रा०, १०.१.२-५; ऐ० आ०, १-३।

[6] श० ब्रा०, १०.१.२.१; ऐ० आ०, ५.३.३.१।

[7] ऐ० आ०, १-३।

[8] श० ब्रा०, १.८.२.१०; ३.४.१.१२; तै० ब्रा०, १.१.३.१०, ३.२.१.१; तु०, ऋ० सं०, २६.४-७, ४.२७.३।

[9] म० भा०, गीताप्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत्, २०१३, १.३२-३३।

[10] वा० सं०, १२.४; तै० सं०, ४.१.१०.५; का० सं०, १६.८; मै० सं०, २.७.८; म० भा०, १.२९.३५-३६, आलवन्दारस्तोत्र, ४४।

[11] म० भा०, १.३३.१६-१७; खोंदा, आस्पेक्ट्स् आफ् अर्ली विष्णुइज़्म, पृ० ३५, ७६, १०१, १४६, १५४, २२०, २४७, २५१।

मार्कण्डेयपुराण के धर्मपक्षी, विन्ध्याचलवासी, पिंगाक्ष, विवोध, सुपुत्र और सुमुख[1], वाल्मीकिरामायण के जटायु एवं सम्पाति,[2] नैषध के हंस[3], कादम्बरी के वैशम्पायन शुक[4] तथा रामचरितमानस के काकभुशुण्डि[5] तक अनवच्छिन रूप में वर्तमान हैं। सुपर्ण प्राणशक्ति एवं अग्नितत्त्व का निदर्शक[6] होने के कारण ही सकल भारतीय लोक-जीवन में परिव्याप्त है, अन्यथा "प्राणपखेरू के उड़ने" की उक्ति का प्रचलन ही नहीं होता।

अग्निचयन के इस सुपर्ण के तथा तैत्तिरीय-आरण्यक में वर्णित आरुणकेतुक के बोध के विना तैत्तिरीय-उपनिषद् में वर्णित अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय आत्मा का यथार्थबोध दुष्कर है[7]। इनके वर्णन से ज्ञात होता है कि इन पाँचों आत्माओं का स्वरूप पक्षि-पुरुष की आकृति का है। अन्नमय पुरुष मनुष्य को अभिव्यक्त करता है। मनुष्य के न पंख ही होते हैं और न पूँछ ही होती है। अतएव इस पक्षि-पुरुष को समझने के लिए अग्निचयन का समझना आवश्यक है। इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद्[8] में प्रतिपादित वैश्वानर-विद्या तथा शाण्डिल्य-विद्या का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अग्निचयन की व्याख्या में वर्णित वैश्वानर विद्या एवं शाण्डिल्य-विद्या से है। ध्यातव्य है कि ये दोनों विद्याएँ सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण के अग्नि-रहस्य काण्ड में उल्लिखित हुई हैं। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र का भी मूल उत्स शाण्डिल्य-विद्या में ही निहित है। इस संदर्भ में यह भी कथ्य है कि अग्निचयन के द्रष्टा शाण्डिल्य ऋषि हैं। शाण्डिल्य-विद्या के अभाव में औषनिषद् आत्माविद्या अस्तित्व में ही नहीं आती। कठोपनिषद् की श्रेयोविद्या एवं प्रेयोविद्या[9] तथा ईशावास्योपनिषद् की विद्या एवं अविद्या[10] से सम्बन्धित विचारों का आधार भी अग्निचयन ही है। तैत्तिरीयब्राह्मण में विहित नाचिकेत-अग्नि के चयन का हो कठोपनिषद् में अग्नि-

---

[1] मार्कण्डेयपुराण, १.२१-२२.—पिंगाक्षश्च विबाधश्च सुपुत्रः सुमुखस्तथा, द्रोणपुत्राः खग-श्रेष्ठास्तत्त्वज्ञाः शास्त्रचिन्तकाः। वेदशास्त्रार्थविज्ञाने येषामव्याहता मतिः, विन्ध्यकन्दरमध्य-स्थास्तानुपास्य च पृच्छ च। द्र०, वासुदेवशरण अग्रवाल, मार्कण्डेयपुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९६१, पृ० २१।

[2] वा० रा०, ३.१४; ४.५६।

[3] नैषधीयचरितम्, १.११७।

[4] कादम्बरी, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, पृ० २५।

[5] रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा, ११२।

[6] श० ब्रा०, ५.१.२.३६।

[7] तै० उ०, २.१-६।

[8] छा० उ०, ५.११ आदि; ३.१४; श० ब्रा०, १०.६.१, १०.६.३।

[9] क० उ०, २.२ आदि।

[10] ई० उ०, ९ आदि; तु०, वा० सं०; ४०.९।

विद्या के रूप में वर्णन किया गया है[१]। मैत्रायणीय-आरण्यक तथा मैत्रायणीय उपनिषद् अग्निचयन की विचारसरणि से अनुप्राणित हैं। इन दोनों ग्रन्थों में पंचेष्टक अग्नि एवं उसकी पुरुषविधता का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध है[२]। इस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट है कि उपनिषदों की अध्यात्म-विद्या का भवन अग्निचयन की नींव पर खड़ा है[३]।

शैवधर्म का मूल अग्निचयन—

अग्निचयन ही शैवधर्म का मूल आधार है। ऋग्वेद में अग्नि को रुद्र कहा गया है[४]। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो अनेकत्र पशुपति एवं रुद्र को अग्नि का ही रूप बताया गया है[५]। शिव की अष्टमूर्ति की अवधारणा सर्वप्रथम अग्निचयन के अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) इतिहास (मिथ्) में ही मिलती है[६]। प्रजापति से उत्पन्न कुमार-अग्नि के आठ नाम—रुद्र, शर्व अथवा सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव तथा ईशान हैं[७]। कुमार अग्नि की ऋग्वेद में स्थिति एवं कुमार कार्तिकेय से उसके सम्बन्ध का संकेत पहले किया गया है[८]। आज जिसे रुद्री अथवा रुद्राष्टाध्यायी का अभिधान दिया गया है और जिस मन्त्र-समुदाय के द्वारा रुद्र का अभिषेक किया जाता है, वह मन्त्र-समूह अग्निचयन के शतरुद्रिय होम में ही सर्वप्रथम विनियोजित किया गया है[९]। चयन के अनन्तर अग्नि रौद्र-भाव में आ जाता है, उसी के शमन के लिए अर्कपर्ण द्वारा शतरुद्रिय होम का विधान है[१०]। पुराणों में शिव की अष्टमूर्ति का

---

१. तै० ब्रा०, ३.११.१-१०; क० उ०, १.१३-१९।

२. मैत्रायणीय-आरण्यक, ६.३३। मैत्रायणीय-उपनिषद्, ६.३३।

३. लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक-संस्कृति का विकास, पृ० ५६ आदि; द्र० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, दि उपनिषद्स् ऐण्ड वैदिक सेक्रीफाइसज़्, जर्नल आफ् एसियाटिक् सोसाइटी (बंगाल), जिल्द १७ (३) १९५१।

४. ऋ० सं०, २.१.६—त्वमग्ने रुद्रो असुरः।

५. श० ब्रा०, १.७.३.८; ५.२.४.१३; ६.१.३.१०; तै० ब्रा०, १.१.५.८-९; १.१.६.६; १.१.८.४; १.४.३.६; तां० ब्रा०, १२.४.२४।

६. श० ब्रा० ६.१.३.७-१९।

७. श० ब्रा०, ६ १.३.९-१७; तु०, कौ० ब्रा०, ६.१-९।

८. इस ग्रन्थ का पाचवाँ अध्याय द्रष्टव्य।

९. वा० सं०, अध्याय १६; तै० सं०, ४.५; का० सं० १७.११.१६; मै० सं०, २.९; क० सं०, २७.३-६; श० ब्रा०, ९.१.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.३; का० सं० ब्रा०, २१.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; क० सं० ब्रा०, ३१.२१। तु०, वेणीराम शर्मा गौड, शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी, व्यास-प्रकाशन, वाराणसी, सं० २०४२।

१०. श० ब्रा०, ९.१.१,१.५; तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.३; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव, क० सं० ब्रा०, तदेव।

वर्णन मिलता है[१]। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दीश्लोक में इसी अष्टमूर्ति का स्तवन किया है[२]। अग्निचयन में शतरुद्रिय होम के अनन्तर वसोर्धारा एवं वाजप्रसवीय होम से उसका अभिषेक किया जाता है[३], यही अभिषेक प्रचलित रुद्राभिषेक का मूल आधार है। रुद्र-अग्नि के शमन के लिये अग्नि-परिषेक का विधान है[४]। इसी पर आधृत होकर ग्रीष्म ऋतु में सर्वत्र रुद्र के ऊपर मिट्टी के घट में छेद कर एवं उसे जलपूरित कर इस प्रकार स्थापित किया जाता है, जिससे शिवमूर्ति पर निरन्तर जल स्रवित होता रहे। वर्षा न होने पर रुद्र का अभिषेक तन्निमित्त किया जाता है अथवा रुद्रमूर्ति अथवा उसकी लिंगमूर्ति को कूप, सरोवर अथवा अन्य किसी जलाशय में जल के भीतर रख दिया जाता है। ऐसा जन-विश्वास है कि इस प्रक्रिया से वर्षा अवश्य होगी। ध्यातव्य है कि शतरुद्रिय में प्रयुक्त मंदार के पत्ते के ही कारण आज भी शिव की अर्चना में मंदार-कुसुमों का प्रयोग किया जाता है[५]। तैत्तिरीय-शाखा में अग्नि की चितियों में ऋषभ नामक एक ईंट रखी जाती है[६]। इसी के कारण शिव का बृषभ से नित्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अग्निचयन की प्रथम चिति में, तैत्तिरीय-शाखा के अनुसार सर्प का शिर रखा जाता है[७]। वाजसनेयि-सम्प्रदाय में हिरण्मय पुरुष का सर्पनामों से उपस्थान किया जाता है[८]। अनुवर्ती युग में इसी के कारण शिव के साथ सर्प जुड़ गये तथा आभूषण बन गये। ध्यातव्य है कि शतरुद्राध्याय में अग्नि के दो शरीर

---

[१] विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०२४, १.८.१-७; ह्विलिबाल्ट किफेल, पुराणपञ्चलक्षणम्; देवनागरी संस्करण, सम्पादक—सूर्यकान्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७९, पृ० ३९-४०, १२१।

[२] अभिज्ञानशाकुन्तल, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, १९५८, १.१; अष्टमूर्ति के लिए द्र०, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत (हिन्दी अनुवाद), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७, पृ० ११९-१२०।

[३] श०ब्रा०, ९.३.२.१; ९.३.४.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.८-९; का०सं०ब्रा०, २१.११-१२; मै० सं० ब्रा०, ३.४.१-३।

[४] श० ब्रा०, ९.१.२.१; तै० सं० ब्रा०, ५.४.४.१; का० सं० ब्रा०, २१.७; मै० सं० ब्रा०, ३.३.५।

[५] श० ब्रा०, ९.१.१.९—अर्कपर्णेन जुहोति; तु०, तै० सं० ब्रा०, ५.४.३.३; का० सं० ब्रा०, २१.६; मै० सं० ब्रा०, ३.३.४; क० सं० ब्रा०, ३१.२१।

[६] तै० सं० ब्रा०, ५.७.२.१; तु०, का० सं०, ४०.२।

[७] तै० सं० ब्रा०, ५.२.९.५—सर्पशीर्षमुपदधाति।

[८] श० ब्रा०, ७.४.१.२५—सर्पनामैरुपतिष्ठते; द्र०, लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक-संस्कृति का विकास, पृ० १५०।

कहे गये हैं—अवोर अथवा शिव तथा घोर अथवा रुद्र[१]। याज्ञवल्क्य का कथन है कि पशुपति रुद्र अग्नि ही है। इस देव को पूर्वी-लोग शर्व कहते हैं, वाहीक लोग इसे भव के नाम से पुकारते हैं, अन्य लोग पशुपति और रुद्र का अभिधान देते हैं[२]। इसके अन्य नाम अशान्त हैं, केवल अग्नि नाम ही सर्वाधिक शान्त है[३]। रुद्राध्याय के मन्त्रों में शिव के गिरीश, नीलग्रीव, कपर्दी, पशुपति, भव, रुद्र, शर्व, शितिकण्ठ, उग्र, शंभु, शंकर, कृत्तिवासा तथा भूताधिपति नाम सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं। यहाँ उनके धनुष पिनाक का भी उल्लेख मिलता है[४]। कात्यायनसंहिता एवं मैत्रेयसंहिता में महादेव-गायत्री मन्त्र भी सर्वप्रथम चर्चित हुआ है[५]। मैत्रेयसंहिता के रुद्र-मन्त्रों में स्पष्टतया शिव की पत्नी गौरी और उनके दो पुत्रों कुमार-कार्तिकेय स्कन्द तथा हस्तिमुख दन्ती (गणेश) का भी वर्णन है[६]। यहाँ रुद्र से अपने बैल, अपने गणों तथा पार्षदों के साथ यज्ञ से जाने के लिये प्रार्थना मिलती है[७]। शिव की लिंग-पूजा का मूल नाचिकेत अग्नि के ऊर्ध्वमुखी चयन में निहित है। इस चिति में सोने की इक्कीस ईंटें एक के ऊपर एक रखी जाती हैं और चिति पूर्ण हो जाने पर इसका आकार लिंग के समान दृष्टिगत होता है[८]। ध्यातव्य है कि वैश्वानर अग्नि का सम्बन्ध शिव-लिंग से है[९]। गुड़िमल्लम् के शिवलिंग के ऊर्ध्वभाग में स्पष्टतया

---

१. वा० सं०, १६.२; तै० सं०, ४.५.१.१; का० सं०, १७.११; मै० सं०, २.९; क० सं०, २७.३; द्र०, तै० सं० ब्रा०, ५.७.३.३—रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते तनुवौ घीरान्या शिवान्या।

२. श० ब्रा०, १.७.३.९—अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा वाहीकाः, पशूनाम्पती रुद्रः।

३. श० ब्रा०, १.७.३.९—तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमम्।

४. वा० सं०, १६.४,७,८,१७, २८-२९, ४०-४१, ४७-४९, ५१, ५६-५९; तै० सं०, ४.५.१-११; का० सं०, १७.११-१६; मै० सं०, २.९; क० सं०, २७.३-६।

५. का० सं०, १७.११; मै० सं०, २.९—तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नः प्रचोदयात्।

६. मै० सं०, तदेव—तद् गांगौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि तन्नो गौरी प्रचोदयात्, तत् कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्, तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।

७. तदेव-गच्छ त्वं भगवान्—सहवृषाय सहगणाय सहपार्षदाय……।

८. तै० ब्रा०, ३.११.६।

९. आनन्दकुमारस्वामी, यक्षज्, १, मुंशीराम मनोहरलाल, न्यू देहली, १९७१, पृ० ८। लिंगपुराण, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला १६, १९६०, कलकत्ता, १७.३३-३५—एतस्मिन्नन्तरे लिंगमभवच्चावयोः पुरः, विवादशमनार्थे हि प्रबोधार्थं च भास्वरम्। ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोपमम्, क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम्। अनौपम्यमनिर्देश्यमव्यक्तं विश्वसम्भवम्, तस्य ज्वालासहस्रेण मोहितो भगवान् हरिः।

अग्निज्वाला प्रभासित है[1]। भारत के बारह स्थानों में स्थापित शिव के बारह लिंगों का अभिधान ज्योतिर्लिंग श्रीशिव की अग्निमूलकता को सिद्ध करता है[2]। अर्द्धनारीश्वर शिव की कल्पना अग्नि प्रजापति और उसकी अपनी महिमा वाक् के साथ अभिन्न सम्बन्ध की अवधारणा से जुड़ी हुई है।

पाञ्चरात्र भागवत तथा वैष्णवधर्म का मूल अग्निचयन—

पाञ्चरात्र भागवत धर्म, जिसमें भगवान् नारायण को प्रमुख स्थान प्राप्त है, वेदों से ही उद्‌भूत हुआ है[3]। यह तथ्य असंदिग्ध है। यहाँ केवल इतना ही कथ्य है कि नारायण विष्णु का औदयिक सम्बन्ध अग्निचयन में निहित हिरण्मय पुरुष से है। पुरुष-सूक्त में आगे चलकर जिन मन्त्रों का वार्ष्णेय-संहिता में समावेश हुआ, वे नारायण-मन्त्र के अभिधान से प्रसिद्ध हैं और उनका द्रष्टा ऋषि भी नारायण है[4]। इसी नारायण को उन मन्त्रों में 'आदित्यवर्ण महान् पुरुष' के रूप में वर्णित किया गया है[5]। वस्तुतः आदित्यवर्ण पुरुष तथा रुक्मवर्ण पुरुष एक ही अवधारणा के अभिव्यञ्जक हैं। ध्यातव्य है कि अग्नि की संरचना में रुक्म के ऊपर हिरण्मय पुरुष का आधान किया जाता है[6]। रुक्म सोने का गोलाकार आभूषण है। रुक्म के किनारे पर बाहर की ओर इक्कीस निर्बाध (सनई नामक पौधे की कली के समान लटकन) होते हैं[7]। याज्ञवल्क्य के अनुसार रुक्म आदित्य का रूप है[8]। वस्तुतः रुक्म सूर्यमण्डल है[9]। इस मण्डल में स्थित पुरुष हिरण्मय पुरुष ही है[10]। यह रुक्म पुष्करपर्ण के ऊपर अग्निचयन में आहित किया जाता है[11]। पुष्करपर्ण उत्तरवेदि की नाभि में रखा

---

[1] तदेव, फलक, १७.१।

[2] शिवमहापुराण, पण्डित-पुस्तकालय, वाराणसी, शतरुद्रसंहिता, ४२.१-५।

[3] लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक-संस्कृति का विकास, पृ० १५१।

[4] वा० सं०, ३१.१७-२२।

[5] तदेव, ३१.१८।

[6] श० ब्रा०, ७ ४.१.१०; ७.४.१.१५; तै० सं० ब्रा०, ५.२.७; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६।
लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तदेव, पृ० १४८, का यह कथन है कि रुक्म सोने की थाली है, भ्रान्तिपूर्ण है।

[7] श०ब्रा०, ७.४.१.१०—हिरण्यमयो भवति परिमण्डल एकविंशतिनिर्बाधः; तु०, तै०सं०ब्रा०, ५ १०.३; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१।

[8] श० ब्रा०, ७.४.१.१०—असौ वा आदित्य एष रुक्मः।

[9] तदेव, १०.५.२.६—यदेतन् मण्डलं तपत्यं स रुक्मः।

[10] तदेव—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषोऽयमेव स योऽयं हिरण्मयः पुरुषः।

[11] तदेव, ७.४.१.११—तं पुष्करपर्णं उपदधाति; तु०, तै०सं०ब्रा०, ५.२.६-७; का०सं०ब्रा०, २०.५; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६।

जाता है[१]। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के विष्णु के ध्यान-मन्त्र में कहा गया है कि कमल के आसन पर स्थित, सूर्यमण्डल में वर्तमान, केयूर, मुकुट, कुण्डल तथा किरीट को धारण करने वाले सौवर्णशरीर शंखचक्रधारी नारायण का सदा ध्यान करना चाहिए[२]। इस ध्यानमन्त्र में पुष्करपर्ण, उसके ऊपर रुक्म और उसके ऊपर आहित हिरण्यपुरुष से संरचित परिदृश्य स्पष्टतः आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। उत्तरवेदि पर रखा गया पुष्कर-पर्ण ही विष्णु की नाभि से उद्भूत कमल की अवधारणा का आधार है और इसी से पद्मनाभि उत्तरवेदि के समान विष्णु का एक नाम पद्मनाभ है[३]। उनके हाथ में सदैव स्थित पद्म एवं सुदर्शन-चक्र अग्निचयन में आहित पुष्करपर्ण एवं रुक्म का स्मरण कराते हैं। रुक्म में इक्कीस लटकनें होती हैं[४]। इक्कीस संख्या आदित्य, प्रजापति, स्वर्ग एवं पुरुष से संबन्धित है[५]। ये लटकनें सूर्य की रश्मियों को प्रतीकायित करती हैं[६]। मूर्तियों के प्रभामण्डल का उद्भव रुक्म से ही हुआ है[७]। अग्नि का सुपर्णरूप ही आगे चलकर विष्णु का वाहन बना। छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार पुरुषोत्तम यज्ञ ही है। घोर आंगिरस ने इस रहस्य से देवकीपुत्र कृष्ण को अवगत कराया है[८]। इस प्रकार अग्निचयन का हिरण्मय पुरुष ही विभिन्न वैष्णवधर्मों में मुख्य आराध्य बना। अग्निचयन में आहित कूर्म विष्णु के एक अवतार के रूप में प्रथित है[९]। ध्यातव्य है कि यह कूर्म हिरण्मय पुरुष

---

१. श० ब्रा०, ७.४.१.७—आदि; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६; का० सं० ब्रा०, तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

२. कृत्यसंग्रह, पृ० १२—ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः, केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः।

३. विष्णोर्नामसहस्रम्, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, शकाब्द १८१५, श्लोक २१, द्र०, तदेव, भगवद्गुणदर्पणभाष्य—कदाचिदस्य सुप्तस्य नाभ्यां कामादजायत, दिव्यमष्टदलं भूरि पंकजं पार्थिवं महत्, यस्य हेममयी दिव्या कर्णिका मेरुरुच्यते; खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ् अर्ली विष्णुइज्म, पृ० २३३।

४. श० ब्रा०, ७.४.१.१०; तै० सं० ब्रा०, ५.१०.३; का० सं० ब्रा०, १९.११; मै० सं० ब्रा०, ३.२.१।

५. श० ब्रा०, ६.७.१.२; तै० ब्रा०, १.५.१०.६; तां० ब्रा०, ६.२.२; कौ० ब्रा०, २५.१; श० ब्रा०, १०.५.४.३; तै० ब्रा०, ३.१२.५.७; ऐ० ब्रा०, १.३०।

६. श० ब्रा०, ७.४.१.१०—रश्मयो वा एतस्य निर्बाधाः।

७. आनन्दकुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ् इण्डियन् ऐण्ड् इण्डोनेशियन् आर्ट, डोवर पब्लिकेशन्स्, न्यूयार्क, १९६५, पृ० ४१।

८. छा० उ०, ८.१२.३; ३.१६.१; द्र०, लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक-संस्कृति का विकास, पृ० १४८।

९. श० ब्रा०, ७.५.१.१; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८.५; का० सं० ब्रा०, २०.७; मै० सं० ब्रा०, ३.२.७; क० सं० ब्रा० ३१.९; तै० आ०, १.२५.२।

प्रजापति का रूप है। सृष्टि-संरचना करने के कारण ही इसका अभिधान कूर्म हुआ[1]। इसका अपर नाम कश्यप भी है[2]। तैत्तिरीय-आरण्यक में कश्यप को सूर्य कहा गया है, क्योंकि वह सर्वद्रष्टा (पश्यक) है[3]। इस प्रकार कूर्म विष्णु का अवतार बना। अग्निचयन में अग्रप्रतिमानीय (आर्कीटाइपल्) इतिहास (मिथ्) में श्री को प्राणशक्ति कहा गया है[4]। सृष्टि के आरम्भ में जो सात ऋषि अथवा सात प्राण अथवा सात पुरुष स्थित थे, उनका रस ही श्री है। उसके उद्गहन से उस पुरुष का शिर बना[5]। इस प्रकार पुरुष-प्रजापति एवं चितनिधेय अग्नि का शिर श्री है। वैष्णवधर्म की श्री इस अवधारणा से संपृक्त है।

शाक्तधर्म का मूल अग्निचयन—

अग्निचयन की उखा परमसत्ता के प्रतिरूप अग्नि-पुरुष की जननी है। यह उखा ऋग्वेद की वाक् तथा स्वधा के साथ समीकृत हो जाती है। इसकी विवेचना पहले की गयी है[6]। यह उखा शाक्तसंप्रदाय की शक्ति है। शक्ति की अवधारणा अग्नि के चयन में आहित सात कृत्तिका नामक ईंटों के साथ भी सम्बन्धित है[7]। सात कृत्तिकाओं के नाम हैं—अम्बा, दुला, नितत्नि, अभ्रयन्ती, मेधयन्ती, वर्षयन्ती चुपुणीका[8]। इन्हें वाग् नाम से अभिहित किया गया है[9]। इसी प्रकार अषाढा नामक ईंट को भी वाक् के प्रतीकरूप में प्रस्तुत किया है[10]। ध्यातव्य है कि उखा की संरचना अष्टका के दिन की जाती है[11]। उखा के आठ अंग भी हैं और वह स्वयं

---

१. श० ब्रा०, ७.५.१.५, एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तद्, यदकरोत् तस्मात् कूर्म॑ꣳ (तु०, तै० आ० १.२३.३-४) सो॑ऽपाम॒न्त॒रतः कूर्मं भूतꣳ॑ संप॑न्तं तम॑ब्रवीत्, मम॒ वै त्वङ्मासा सम॑भूत्, नैत्य॑ब्रवीत्, पूर्व॑मे॒वाहमि॒हास॒मिति॑, तत् पुरु॑षस्य पुरु॒षत्वम्, स स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः—उद॑तिष्ठत्।

२. श० ब्रा०, तदेव—कश्यपो वै कूर्मः।

३. तै०आ०, १.८.८—कश्यपः पश्य॑को भवति, यत् सर्वं परिपश्यती॑ति सौ॒क्ष्म्यात्; तु०, श० ब्रा०, ७.५.१.६—स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः।

४. श० ब्रा०, ६.१.१.४—प्राणाः श्रियः।

५. श० ब्रा०, ६.१.१.४—यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवद्, यच्छ्रियं समुदोहंस्तस्माच्छिरः।

६. द्र०, इस प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय।

७. तै० सं० ब्रा०, ५.३.९.१।

८. तै० सं०, ४.४.५.१; का० सं०, ४०.४; मै० सं०, २.१३; तै० ब्रा०, ३.१.४.१।

९. मा० श्रौ०, ६.२.२.१०—वाच उपदधात्यम्बा च बुला चेति सप्त पूर्वार्धे।

१०. श० ब्रा०, ६.५.३.४; ७.४.२.३४; ७.५.१.७; ८.५.४.१।

११. तदेव, ६.२.२.२३—अष्टकायामुखां संभरति; तु०, तदेव, ६.२.२.२४-२५।

नवमी है[1]। शाक्त-संप्रदाय में नौ दुर्गाओं की परिकल्पना तथा नवरात्र में अष्टमी का महत्त्व उखा की अवधारणा से संपृक्त है[2]। नौ संख्या सम्पूर्णता का प्रतीक है। नवीं दुर्गा को इसी दृष्टि से सिद्धिदात्री अभिधान मिला है[3]। उखा की नौ संख्या से सम्बद्धता तथा अग्नि के कुमार आदि नौ नामों के साथ अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है[4]। इस संदर्भ में कुमार-कार्त्तिकेय का कृत्तिकाओं के द्वारा लालन-पालन भी ध्यातव्य है[5]। कुमार का पालन करने के कारण ही कृत्तिकाओं को नभोमण्डल में नक्षत्र के रूप में स्थापित किया गया[6]। कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि के आधान को प्राथम्य

---

[1] श॰ ब्रा॰, ६.२.२.२५—अष्टका वा उखा निधिर्द्वा उद्धी तिरश्चीरास्नातच्चतुः, चतस्र ऊर्ध्वास्तदष्टावष्टकायामष्टकां करोति।

[2] दुर्गा सप्तशती, देवीकवच, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि॰ सं॰ २०३४, श्लोक ३-५; मार्कंण्डेय-पुराण, ९२.३—अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्याञ्चैकचेतसः, श्रोष्यन्ति चैव ये भक्त्या मम माहात्म्यमुत्तमम्। दुर्गासप्तशती, तदेव, कीलक श्लोक ७-८—कृष्णायां वा चतुर्दश्यामष्टम्यां वा समाहितः, ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति। इस सन्दर्भ में द्र॰, विद्वद् उपाध्याय, तारिणीपारिजात, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, ९०, वाराणसेय-संस्कृत-विश्व-विद्यालय, १९६१, पृ॰ २७ में आठ ताराओं का वर्णन। आठ योगिनियों के लिये द्र॰, कालिकापुराण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७२, ५४.४३-४४।

[3] दुर्गासप्तशती, तदेव, श्लोक ५—नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः; ध्यातव्य है कि चक्रों तथा चक्रेश्वरो देवियों की संख्या भी नौ हैं—नित्याषोडशिकार्णव, आ॰ ग्र॰, ५६, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०८, १.१६४-१६६; ६.८०-८५; योगिनीहृदय, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, ७, वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसी, १९६३, १.७९-८५; २.९-१२।

[4] अग्नि के नौ नामों के लिये द्र॰, श॰ ब्रा॰, ६.१.३.११-१९; कौ॰ ब्रा॰, ६.१-९।

[5] वाल्मीकिरामायण, १.३७.२३; महाभारत, अनुशासनपर्व, ८६.५-१४; पौराणिक सन्दर्भों के लिये द्र॰, हिवलिबाल किफेल, पुराणपञ्चलक्षणम्, देवनागरी संस्करण, सम्पादक—सूर्यकान्तशास्त्रो, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७९, पृ॰ १६२, २१३।

[6] महाभारत, वनपर्व, २३३.११—एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः, नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तदवह्निदैवतम्। ध्यातव्य है कि वा॰ रा॰, १.३७.२७ में कृत्तिकाओं की संख्या छः बतायी गयी है—प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम्, षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः। महाभारत, अनुशासनपर्व, ८६.८, में भी कृत्तिकाओं की संख्या छः है—तास्तु षट् कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः। खोंदा दि सवज्ञज, पृ॰ ३२५ में कृत्तिका नक्षत्र में छः तारों की स्थिति बताते हैं। परन्तु उपरितन वैदिक सन्दर्भ तथा महाभारत का सन्दर्भ कृत्तिका में सात ताराओं की स्थिति बताता है। तै॰ ब्रा॰, ३.१.४.१ का भाष्य करते हुए सायण का कथन है—कृत्तिकेति सप्तानां नक्षत्रमूर्तीनां साधारणं नाम, अम्बादुलादीनि विशेषनामानि। द्र॰, क॰ सं॰ ब्रा॰, ६-६—सप्त वै कृत्तिकाः।

प्राप्त है[१]। इसी अवधारणा पर आधृत होकर शुभ कार्यों में मातृकापूजन, घृतमातृकाओं आदि के रूप में आवश्यक माना गया है। उखा से ही अग्निपुरुष एवं सकल ब्रह्माण्ड का उद्भव होता है। वह सब की योनि है[२]। मार्कण्डेयपुराण में दुर्गा का कथन है कि इस जगत् में मैं ही अकेली व्याप्त हूँ, अन्य सारी शक्तियाँ मेरी ही विभूति हैं[३]। देवो तामसी है. उखा भी नैर्ऋती है[४]। शक्ति का एक नाम नैर्ऋति भी है[५]। शक्ति को कूर्मी भी बताया गया है[६]। निश्चय ही इस अभिधान में परमसत्ता के प्रतिरूप कूर्म की प्रतिच्छाया विद्यमान है[७]। ध्यातव्य है कि तोडलतन्त्र में कहा गया है कि बगलादेवी की मूर्ति कूर्मरूपा होती है[८]। मार्कण्डेयपुराण इसी दृष्टि से देवी को चिति कहता है, जो सकल ब्रह्माण्ड में व्यापक बनकर स्थित है[९]। निश्चय ही चितिरूपा देवी का मूल अग्निचिति में ही व्याप्त है। शाक्तधर्म के संदर्भ में अग्निचयन की प्रथम, तृतीय एवं पंचम चिति में रखी जाने वाली स्वयमातृण्णा (प्रकृतिनिर्मित

---

१. श० ब्रा०, २.१.२.१—कृत्तिकास्वग्नी आदधीत, एता वा अग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः; तु०, का० सं० ब्रा०, ८.'; मै० सं० ब्रा०, १.६.९; क० सं० ब्रा०, तदेव; तै० ब्रा०, १.१.२।

२. श० ब्रा०, ७.५.१.२६; ७.५.२.२, १०.४.१.२।

३. मार्कण्डेयपुराण, ९०.३—एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा, पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः। तदेव, ८५.३३—व्याप्तिदेव्यै नमो नमः।

४. मार्कण्डेयपुराण, ८१.६८—एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा; तु०, देवीभागवत, १.७.४८, तै० सं० ब्रा०, ५.६.६.२—नैर्ऋत्युखा।

५. मार्कण्डेयपुराण, ८५.९—नैर्ऋत्यै…।

६. तदेव।

७, श० ब्रा०, ७.५.१.६; तै० आ०, १.२३.३-४।

८. तोडलतन्त्र, १०.९—बगला कूर्ममूर्तिका, उद्धृत, जिओर्जिओ बोनाज्जोली, ए देवी इन् फार्म आफ् लिंग-पुराण, जिल्द २२ अंक २, जुलाई, १९८०, पृ० २२४; देवीभागवत, ५.१९.५; तन्त्रसंग्रह, भाग ३, गन्धर्वतन्त्र, योगतन्त्र-ग्रन्थमाला, ६, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७९, १२.५७-५८—आधारशक्ति तत्रैव मूलां प्रकृतिरूपिणीम्, ब्रह्मशिलासमारूढां कूर्माकारां शशिप्रभाम्। पद्मद्वयधरां देवीं कूर्मं च मूर्ध्नि धारिणीम्, नीलाभं चिन्तयेत् कूर्ममनन्तं कुन्दसन्निभम्।

९. मार्कण्डेयपुराण, ८५.३४—चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्; तु०, देवीभागवत, ५.१९, २८; त्रिपुरारहस्य (ज्ञानकाण्ड), सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला, १५, वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, १९६५, ७.९१—चितिरेव महासत्ता; १५.५—चितिः परमाशक्तिः; ११.४५—त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी, सा चितिः सर्वतः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात्; १५.२० चिच्छक्तिरेषा त्रिपुरा सर्वसंश्रया; द्र०, तदेव, १६.४३; १८.८१; १८.९१।

छिद्र से युक्त विशाल कंकड़ अथवा पाषाण) तथा विश्वज्योति नामक तीन ईंटों के अभिप्राय पर भी विचार करना चाहिए[१]। स्वयमातृण्णा शब्द का अर्थ ही इस तथ्य को द्योतित करता है कि यह ईंट स्वयंभू है। इसके उद्भव का कोई अन्य कारण नहीं है। शक्ति भी नित्या, परमा तथा परमेश्वरी है, साथ ही वह स्वधा तथा अनुच्चार्या भी है[२]। स्वयमातृण्णा पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौस् का रूप है और विश्वज्योति ईंटें तत्तत् लोकों में स्थित शक्तिमान् अग्नि, वायु एवं सूर्य हैं। इस संदर्भ में यदि सप्तशती के तीनों चरित्रों के विनियोग पर ध्यान दिया जाय, तो स्वयमातृण्णा के साथ शक्ति का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इन चरित्रों के तत्त्व क्रमशः अग्नि, वायु तथा सूर्य बताये गये हैं[३]। भूः, भुवः, स्वः महाव्याहृतियों का सम्बन्ध क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से है[४]। ध्यातव्य है कि प्रथम चिति में स्वयमातृण्णा को रखते समय 'भूः', तृतीय चिति में स्वयमातृण्णा को रखते समय 'भुवः' तथा पंचम चिति में स्वयमातृण्णा को रखते समय 'स्वः' महाव्याहृति का प्रयोग करने का विधान है[५]। देवी के चरित्रत्रय के स्वरूप के विषय भी क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद हैं[६]। इस प्रकार अग्निचयन में शाक्तधर्म एवं तदाराध्या शक्ति के अनेक बीज सुरक्षित हैं। यहाँ कतिपय स्थूल संकेत दिये गये हैं। इनके सम्बन्ध में पूर्णतया विचार आवश्यक है।

भारतीय कला के परिप्रेक्ष्य में अग्निचयन—

एफ्० डी० के० बाश के अनुसार सकल भारतीय तथा दक्षिण-पूर्व एसियाई कला में केवल परमसत्ता हिरण्मय पुरुष अथवा हिरण्यगर्भ प्रजापति का अंकन हुआ है[७]। अनेक मूर्तिशिल्पों तथा वास्तुशिल्पों में उरेहा गया यह हिरण्यगर्भ अग्निचयन में संरचित अग्नि-पुरुष से भिन्न नहीं है। कुमारी स्टेला क्रेमरिश का मत है कि सभी

---

[१] श० ब्रा०, ७.४.२.१; ८.३.१.७; ८.७.३.१४; तै० सं० ब्रा०, ५.२.८; ५.३.२; ५.३.७; का० सं० ब्रा०, २०.६ ११; २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२.६; ३.२.९; ३.३.१; श० ब्रा०, ७.४.२.२५; ८.३.२.१; ८.७.१.१५; तै० सं० ब्रा०, ५.३.९; का० सं० ब्रा०, २१.३; मै० सं० ब्रा०, ३.२,७; स्वयमातृण्णा के लिये द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, स्वयमातृण्णा, से० पे० १, पृ० ४६५ आदि; विश्वज्योति के लिए द्र०, तदेव, वैदिक इक्ज़म्पलरिज्म, से० पे० २, पृ० १८६।

[२] मार्कण्डेयपुराण, ८१.५४-५५, ६२।

[३] दुर्गासप्तशती, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, २०३४, पृ० ६०, ७६, १०८।

[४] जै० उ०, १.१.१; तु०, तै० ब्रा०, २.२.४.२-३; श० ब्रा०, १.५।

[५] का० सं० ब्रा०, २२.८।

[६] दुर्गासप्तशती, तदेव, पृ० ६०, ७६, १०८।

[७] एफ० डी० के० बाश, गोल्डेन जर्म, १९६०, स-ग्रेवेनहेग।

हिन्दू-मन्दिरों के वास्तु में अग्निचयन को ही पुनरावर्तित किया गया है[1]। अग्निचयन में पुरुष-प्रजापति एवं यजमान, दोनों संरचित तथा अभिसंस्कृत होते हैं। मन्दिर का निर्माता भी मन्दिर की नींव में वास्तुपुरुष की स्थापना कर इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करता है। यज्ञ करने के पूर्व जिस प्रकार वेदि-संरचना हेतु भूमि का चयन कर उसे यज्ञार्ह बनाया जाता है[2], उसी प्रकार मन्दिरनिर्माण के पूर्व भी भूमि-चयन किया जाता है। अग्निचयन में उत्तरवेदि की संरचना के पूर्व अग्निक्षेत्र को जोतकर उसमें विभिन्न ग्राम्य तथा वन्य औषधियों को बोया जाता है। इस अनुष्ठान को मन्दिर-निर्माण के पूर्व करने का विधान है[3]।

ऋग्वेद में ही पृथ्वी को चतुष्कोण (चतुर्भृष्टि) बताया गया है[4]। वेदि पृथ्वी को प्रतीकायित करती है, अतएव वह भी चतुष्कोण होती है[5]। गार्हपत्य आदि अग्नि-स्थलों का आकार या तो चतुष्कोण होता है अथवा वृत्त के आकार का[6]। चतुष्कोण तथा मण्डल अथवा वृत्त का अभिप्राय परस्पर अनुषक्त है। इस दृष्टि से जहाँ से उखा आदि की संरचना के लिये मिट्टी खोदी जाती है, उस गड्ढे की आकृति चतुःस्रक्ति होती है[7]। उखा तथा ईंटों का स्वरूप भी चतुष्कोणात्मक होता है[8]। इस संदर्भ में पुरुष के चतुष्कोण मान का भी महत्त्व विचार्य है। अग्नि की संरचना में पुरुष का ही मान स्वीकृत है, क्योंकि उसमें यजमान के रूप की भी रचना होती है[9]। मन्दिरों की भी संरचना चतुष्कोणात्मक होती है[10]। इस प्रकार की संरचना का मूल अग्निचयन में ही निहित है। वास्तुपुरुष-मण्डल का भी यही आधार है।

वैदिक साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि वास्तु अवशिष्ट भाग को कहते हैं। जो भी अवशिष्ट रह जाता है, वह भाग रुद्र के लिये होता है[11]। इष्टियों में यह

---

१. स्टेलाक्रेमरिश, हिन्दू टैम्पल, भाग २, यूनिवर्सिटी आफ् कलकत्ता, १९४६।

२. तदेव, हिन्दू टैम्पल, १,१ अध्याय।

३. तदेव, पृ० १४-१७।

४. ऋ० सं०, १०.५८.३—यत्ते॒ भूमि॒ चतु॑र्मृष्टि॒म्।

५. श० ब्रा०, १.२.५.७—यावती वेदिस्तावती पृथिवी; तु०, तदेव, ३.७.२.१; ७.३.१५; ७.५,२.३१; ऐ० ब्रा०, ५.२८; तै० ब्रा०, ३.२.९.१२; ३.३.६.२.८; जै० उ०, १.५.५; द्र० स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० २९।

६. इस प्रबन्ध का अध्याय २; स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० २२-२८।

७. श० ब्रा०, ६.३.३.२६—चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति।

८. इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय; द्र०, स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० २७, २५।

९. स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० ७१।

१०. तदेव, पृ० ४६-४८, ४२-४३।

११. तदेव, पृ० ४१; श० ब्रा०, १.७.३.१८-१९; तै० सं० ब्रा०, ३.४.१०.३; मै० सं० ब्रा०, १.५.१३।

रुद्र ही अग्नि स्विष्टकृत् है तथा इसे सकल यजनीय हवियाँ में भाग मिलता है[१]। यही अथर्वसंहिता में 'उच्छिष्ट' के रूप में वर्णित है[२]। ध्यातव्य है कि चतुष्पात् पुरुष के एक पाद से इस सृष्टि की संरचना की गयी थी। उसके अवशिष्ट तीन पाद ऊर्ध्वभाग में स्थित हो गये थे[३]। इस अवशिष्ट त्रिपाद में ही परमसत्ता प्रतिष्ठित है। इसी को अनुवर्ती साहित्य में शेष कहा गया, जो अनन्त है। परमसत्ता विष्णु-शेष-शय्या पर ही शयन करती है[४]। इस प्रकार वास्तु में ही किसी देवता का निवास हो सकता है। उस वास्तु का आधार भी वास्तुपुरुष होगा। अतएव वास्तु एवं वास्तुपुरुष अभिन्न हैं। वास्तु का देवता वास्तुपुरुष वास्तोष्पति है और वह अग्नि-प्रजापति से भिन्न नहीं है[५]।

देव-मन्दिर की संघटना में वेदि एवं चिति स्पष्ट रूप में वर्तमान हैं। संरचना की शैली एवं देव-मन्दिर के विभिन्न नामों में उनकी अवधारणा स्थित है[६]। मन्दिर के देवसदन, देवसद्म, विमान एवं प्रासाद नामों में वैदिक विचार देखे जा सकते हैं[७]। बड़े-बड़े यज्ञों में दीक्षित के निवास के स्थान को प्राचीनवंश, प्राग्वंश अथवा विमित कहा जाता है[८]। विमित तथा विमान शब्द का मूल एक ही है[९]। इसी प्रकार सदन, सद्म एवं प्रासाद का मूल अग्निचयन की ईंटों की सादनप्रक्रिया में देखा जा सकता है[१०]। गर्भगृह की दीवालों की मोटाई एवं उसकी ऊर्ध्वसंरचना (सुपरस्ट्रक्चर) चिति का स्मरण कराती है।

स्टेला क्रेमरिश के अनुसार गर्भगृह की वास्तु-संरचना वैदिक प्राचीनवंश अथवा दीक्षित विमित तथा सदस् की अनुकृति है[११]। यजमान दीक्षित होने के पश्चात्

---

१. श० ब्रा०, १.७.३।

२. अ० सं०, ११.९।

३. ऋ० सं०, १०.९०.४; वा० सं०, ३१.४; तै० आ०, ३.'२.२; तु०, अ० सं०, १९.६.२।

४. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, २०२४, १.२.६४—नागपर्यंकशयने शेते च परमेश्वरः; ६.४.४– एकार्णवे ततस्तस्मिश्च शेषशय्यागतः प्रभुः, ब्रह्मरूपधरः शेते भगवानादिकृद्धरिः। शेष के अभिप्राय के लिये द्र०, आनन्दकुमारस्वामी, से० पे० २, आत्मयज्ञ, परिशिष्ट २, शेष, अनन्त, अनन्तरम्, पृ० १३९-१४२।

५. स्टेला क्रेमरिश, हिन्दू टेम्पल, १, पृ० ८२-८३।

६. तदेव, पृ० १४७।

७. तदेव, पृ० १३१ आदि।

८. श० ब्रा०, ३.१.१.६—शालां वा विमितं वा प्राचीनवंशं मिन्वन्ति; तु०, ऐ० ब्रा०, १.३, तै० सं० ब्रा०, ६.१.१.१; का० सं० ब्रा०, २३.२; मै० सं० ब्रा०, ३.६.७।

९. वि √मा माने, द्र० मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ९८०।

१०. श० ब्रा०, ७.१.१.२६; इस सम्बन्ध में सदस् शब्द भी ध्यातव्य है।

११. स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० १५६-१६०।

दीक्षित-विमित में निवास करता है[१]। दीक्षा की प्रक्रिया गर्भाधान की प्रक्रिया है। यजमान का यज्ञ में जन्म इसी दीक्षा से ही होता है। यज्ञ में यजमान के प्रत्येक अंग की संरचना होती है और यज्ञ के संस्थित हो जाने पर वह देव-जन्म ग्रहण करता है। इसी जन्म को याज्ञवल्क्य मनुष्य का द्वितीय जन्म कहते हैं[२]। यज्ञ की अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करते समय इसकी विस्तृत व्याख्या की जा चुकी है[३]। दीक्षा गर्भ की प्रक्रिया है, अतएव दीक्षित-विमित गर्भगृह है। ध्यातव्य है कि दीक्षित-विमित या प्राचीनवंश एक ऐसी शाला है, जिसमें किसी भी बड़े यज्ञ में प्रारम्भिक अनुष्ठान किये जाते हैं। इस विमित में गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिण नामक अग्नि स्थापित रहते हैं। इस प्राचीनवंश के पूर्व तीन प्रक्रम की दूरी पर महावेदि की संरचना की जाती है[४]। इस महावेदि की पूर्वी सीमा-रेखा के मध्य-बिन्दु पर आहवनीय अग्नि की स्थापना उत्तरवेदि पर की जाती है और इसी अग्नि में मुख्य याग का विधान किया जाता है। जिस समय इस आहवनीय की संरचना हो जाती है, उस समय प्राचीनवंश में स्थापित पहले का आहवनीय गार्हपत्य अग्नि हो जाता है, जिसे शालाद्वार्य भी कहा जाता है[५]। अग्निचयन में भी उत्तरवेदि पर अग्निचिति की रचना के पश्चात् आहवनीय अग्नि को स्थापित किया जाता है। इस अग्नि को शालाद्वार्य अथवा पूर्व आहवनीय, जो अब गार्हपत्य बन गया है, से लाया जाता है[६]। यहीं मुख्य यजनीय देवता से सम्बन्धित सभी अनुष्ठानों को करने का विधान है। वस्तुतः गर्भगृह का मूल उत्तरवेदि ही है; क्योंकि उत्तरवेदि एवं उस पर संरचित चिति ही द्युलोक है[७]। इसी लोक से सकल ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आता है। अतएव इस लोक में सारे लोकों तथा तत्तत् लोकों में स्थित अस्तित्वों की संरचना की जाती है। इसी में पुष्करपर्ण, उस पर रुक्म तथा उस पर परमसत्ता के प्रतिरूप पुरुष की सौवर्णमूर्ति (हिरण्मय पुरुष) आहित की जाती है[८]। इन सबका आधान उत्तरवेदि की नाभि में होता है। गर्भगृह में ही—गर्भगृह के मध्य में—जिस देवता का मन्दिर बनाया जाता है, उसकी मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है। मन्दिर की वास्तु-

---

१. श० ब्रा०, ३.१.२.२१—शालां प्रपादयन्ति; तु, तै० सं० ब्रा०, ६.१.२.१; का० सं०ब्रा० तदेव; मै० सं० ब्रा०, तदेव।

२. श० ब्रा०, ११.२.१.१—त्रिर्हं वै पुरुषो जायते''''यं यज्ञ उपनमति स यद् यजते तद् द्वितीयं जायते।

३. द्रष्टव्य—इस प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

४. श० ब्रा०, ५.१.१.१।

५. श्रौ० प० नि०, १३३.८६; श० ब्रा०, १०.२.३.४।

६ द्रष्टव्य—इस प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय; स्टेला क्रेमरिश, तदेव, पृ० २२-२५।

७. श० ब्रा०, ७.३.१.२७; द्र०, इस प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय।

८. श० ब्रा०, ७.४.१.११; तै० सं० ब्रा०, ५.२.६.७; का० सं० ब्रा०, २०.५; मै० सं०ब्रा०, ३.२.६; श० ब्रा०, १०.५.२.६; द्रष्टव्य—इस प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय।

कला के सभी अंगों का मूल प्रायः अग्निचयन में उपलब्ध है। स्टेला क्रेमरिश के 'हिन्दू टेम्पल' नामक ग्रन्थ में इसे देखा जा सकता है[१]।

अग्निचयन में आहित पुष्करपर्ण का भारतीय कलाओं में अनेकविध चित्रण मिलता है। कहीं वह पुष्प के रूप में उकेरा गया है, कहीं केवल उसके पर्ण उत्कीर्ण हैं और कहीं-कहीं केवल उसके मृणाल का ही चित्रण हुआ है[२]। भारत के अतिरिक्त पुष्करपर्ण का अंकन श्रीलंका[३] तथा दक्षिणपूर्व एसियाई देशों में[४] भी प्रभूत मात्रा में मिलता है। उन सब का वर्णन यहाँ असंभव है। अग्निचयन के वसोर्धारा नामक अनुष्ठान का अंकन जग्गयपेट के चक्रवर्ती शिल्प की संघटना में हुआ है[५]।

फलश्रुति—

वेदों का तथा अग्निचयन का जो प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा है, इस प्रबन्ध में यत्र-तत्र उसका अवधारणाओं के स्तर पर संकेत किया गया है। उनका यहाँ विचार करना दुष्कर है। उसके लिये अलग से अनुसंधान एवं अध्ययन की आवश्यकता है। भारतीय साहित्य, समाज एवं लोकजीवन में वैदिक अवधारणाएँ ओत-प्रोत हैं। अकेला सुपर्ण ही विश्व की प्राचीन सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में अपने अनेक रूपों में विद्यमान है। प्राचीन सुमेरी, बाबुली, असीरी[६] एवं मिस्री[७] संस्कृतियों में भी सुपर्ण चित्रित हुआ है और उनके धर्म तथा धार्मिक इतिहास (मिथ्) में उसने एक अतिशायी स्थान बनाया है।

अग्निचयन में जिस परमसत्ता पुरुष की संरचना की जाती है, बह्वृच उसी की महदुक्थ में, अध्वर्यु उसी की अग्नि में और छन्दोगा उसी की महाव्रत में मीमांसा करते हैं। महिदास ऐतरेय का अभिमत है कि यही पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आकाश,

---

[१] स्टेला क्रेमरिश, हिन्दू टेम्पल, भाग १-२, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४६।

[२] आनन्दकुमारस्वामी, यक्षज २, फलक ११.१-३; १२.३; १३.१-२; २८.१-२; २९.१-५; ३०.१-३; ३१.१-४; ३२.२-५; ३३.१-५; ३४.१-२; ३५.१-२ आदि।

[३] तदेव, फलक ७.२; १४.२।

[४] एफ० डी० के० बाश, गोल्डेन जर्म; स्-ग्रेवेनहेग, १९६०।

[५] जेम्स् बर्गीज़, बुद्धिस्ट स्तूपज् आफ अमरावती ऐण्ड जग्गयपेट, लन्दन, १८८७, फलक ५५.३ आदि, उद्धृत, आनन्दकुमारस्वामी, से० पे० २, पृ० १०७, पा० टि० ३।

[६] डोनाल्ड ए० मेकेन्ज़ी, मिथस् आफ बेबीलोनिया ऐण्ड असीरिया, पृ० ७४-७५, १६५-१६६, १६८, १६९, ३३०, ३४६, ३४७, फलक, पृ० १२०; ३४३, ३५१, ३५२, फलक पृ० ३४०, ३४४।

[७] तदेव, इजिपशियन् मिथ् ऐण्ड लीजेण्ड, पृ० २६०; जे० एच० ब्रेस्टेड, डेवलपमेण्ट् आफ रिलीजन् ऐण्ड थाट् इन् एनशिऐण्ट इजिप्ट्, हार्पर टार्चबुक्स्, न्यूयार्क, १९५९, पृ० ९, १०९, १३३, २७४, ३२०।

जल, औषधियों, वनस्पतियों, चन्द्रमा, नक्षत्रों तथा सकल भूतों में स्थित है और इसी को लोग ब्रह्म का अभिधान देते हैं[1]। याज्ञवल्क्य का कथन है कि अध्वर्यु इसकी उपासना अग्नि के रूप में करते हैं। यही यजुष् है, क्योंकि यह सबका नियोजन करता है। छन्दोगा इसे साम कहते हैं, क्योंकि इसमें सब समान है। बह्वृच इसी को उक्थ कहते हैं, क्योंकि यह सबका उत्थापन करता है। जादूगर जादू के रूप में; सर्प विष के रूप में; देव ऊर्जा के रूप में; मनुष्य रयि के रूप में; असुर माया के रूप में; पितर स्वधा के रूप में; देवजनों के वेत्ता देवजन के रूप में; गन्धर्व रूप के रूप में तथा अप्सराएँ गन्ध के रूप में इसी की महनीयता की स्तुति करते हैं। जो व्यक्ति परमसत्ता को जिस रूप में देखता है, वह वही हो जाता है और परमसत्ता वही बनकर उसका रक्षण करती है। इस तथ्य का जिसे ज्ञान है, वह इन सब रूपों में परमसत्ता को देखता है, इस प्रकार उसका सबके साथ तादात्म्यीकरण हो जाता है और वह परमसत्ता सर्वात्मक बनकर एवंविद् मनुष्य की एवंविध रक्षा करता है[2]। जिस समाज में इस प्रकार के तादात्म्य का अनुभव करने वाले मानवों का समूह विद्यमान होगा, वह समाज सहस्रशीर्षा बनकर श्रेय एवं प्रेय का विधान करेगा। इस प्रकार के समाज में ही वैष्णवी शक्ति एवं संस्कृति के सतत उत्थानमय, जागरणमय एवं बोधमय जीवन का समुद्भव होगा, जो वैश्विक जय-यात्रा का संविधानक समुपस्थित करेगा। इस ग्रन्थ की संस्थिति में केवल वक्ष्यमाण कथ्य है—

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॑रुत्मा॑न्
पृष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द ।
भा॒सान्तरि॑क्ष॒मापृ॑ण॒,
ज्योति॑षा दिव॑मुत्त॑भान॒
तेज॑सा॒ दिश॒ उद्दृं॑ह[3] ॥

तथा

शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य त्रयीमण्डलम् ।
भाव्यद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्वियद्
विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे[4] ॥

॥ शमस्तु ॥

●

---

[1] ऐ० आ०—३.९.३ ।

[2] श० ब्रा०, १०.५.२.२० ।

[3] वा० सं०, १७.७२; तै० सं०, ४.६.५.३; का० सं०, १८.४; मै० सं०, २.१०.६; क० सं०, २८.४ ।

[4] तन्त्रसंग्रह, भाग १, साम्बपञ्चाशिका, श्लोक १, योगतन्त्रग्रन्थमाला ३, वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, (अब सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय) वाराणसी, १९७० ।

ग्रन्थ में उद्धृत पुस्तकें, पाण्डुलिपियाँ एवं अनुसन्धान-पत्रिकाएँ

संहिता

१.	अथर्ववेदसंहिता १-५ भाग	सं० विश्वबन्धु	(अ) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर, १३-१७, १९६०-६४
			(आ) परोपकारिणी सभा, अजमेर, वि० सं० २०१४
२.	ऋग्वेद-संहिता १-५ भाग		(अ) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १-५ भाग, १९३३-१९५१
		सं० विश्वबन्धु	(आ) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर, १९-२६, १९६३-१९६५
३.	कपिष्ठलकठसंहिता	सं० रघुवीर	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६८
४.	काठक्संहिता	सं० लियोपोल्ड फान थोडर	(अ) वीसवेडेन, १९७०-१९७१
			(आ) लाइपेर्त्सिग, १९००
५.	काठकम् डीसंहिता डेर	तदेव	
	कठशाखा	सं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा, १९४३
६.	तैत्तिरीयसंहिता		(अ) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, ४२, १९५९, १९६१, १९६६
		सं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर	(आ) पारडी, सूरत, १९५९

विस्तारभय से अधीत ग्रन्थों की सूची नहीं प्रस्तुत की जा रही है।

७.	मैत्रायणीसंहिता	सं० लियोपोल्ड फान थोडर	(अ) वीसवेडेन, १९७०-१९७१
		सं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर	(आ) स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा, १९४२
		सं० नारायण श्रीपाद सोनटक्के त्रिविक्रमनारायण धर्माधिकारी	(इ) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १-२ भाग, १९७०-१९७२

८.	वाजसनेयिसंहिता (शुक्लयजुर्वेद-संहिता)	सं० रामसकल मिश्र	(अ)	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस (वाराणसी), १-४ भाग, १९१२-१९१३-१९१५
		सं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर	(आ)	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९६३
		सं० जगदीशलाल शास्त्री	(इ)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०

ब्राह्मण-ग्रन्थ

९.	ऐतरेयब्राह्मण	सं० हरिनारायण आप्टे		आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रंथावली, पूना १९३०-१९३१
१०.	कौषीतकिब्राह्मण	सं० ई० आर्० श्रीकृष्णशर्मा		वीसबेडेन्, १९६८
११.	गोपथब्राह्मण	सं० वी० डी० गास्ट्रा	(अ)	लाइडेन्, १९१९
		सं० राजेन्द्रलाल मित्र	(आ)	बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८७२
१२.	जैमिनीयब्राह्मण	रघुवीर, लोकेशचन्द्र		सरस्वती विहार सीरीज, ३१, नागपुर, १९५४
१३.	जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण	बैल्लिकोथ रामचन्द्र शर्मा		केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७
१४.	ताण्ड्यमहाब्राह्मण १-२ भाग	चिन्नस्वामी शास्त्री		काशी संस्कृत सीरीज़, १०५, १-२ भाग, बनारस (वाराणसी), १९३५-३६
१५.	तैत्तिरीयब्राह्मण १-३ भाग	नारायणशास्त्री गौडबोले		आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, ३७, पूना, १-३ भाग, १९७९
१६.	दैवतब्राह्मण	बैल्लिकोथ रामचन्द्र शर्मा		केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५
१७.	शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिन)		(अ)	लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १-५ भाग, १९४०
		डब्ल्यू कैलेण्ड्	(आ)	मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, लाहौर, १९२६
		चन्द्रधर शर्मा	(इ)	अच्युत ग्रन्थमाला काशी, वि० सं० १९९४
		अल्बैर्त वेबर	(ई)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४
१८.	शांखायनब्राह्मण	सं० हरिनारायण भट्टाचार्य		गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९७०

१९.	षड्विंशब्राह्मण	बैल्लिकोथ रामचन्द्र शर्मा	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७

आरण्यक-ग्रन्थ

२०.	ऐतरेय-आरण्यक	नरहरशास्त्री तडेकर	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ३८, पूना, १९५९
२१.	तैत्तिरीय-आरण्यक १-२ भाग	काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर, ग० अं० जोशी	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ३६, १९६७
२२.	शांखायन-आरण्यक	श्रीधर पाठक शास्त्री	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ९०, पूना, १९२२

उपनिषद्-ग्रन्थ

२३.	ईशादिदशोपनिषद्		शंकराचार्य ग्रंथावली, १ भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४
२४.	उपनिषत्संग्रह	जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०
२५.	बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्यं	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १६, पूना, १९३७
२६.	श्रीमद्भगवद्गीता	म० म० हरिहरकृपालु द्विवेदी	कलकत्ता

सूत्र-ग्रन्थ

२७.	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	चिन्नस्वामी शास्त्री	(अ) ओरिएण्टल ईस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५५
		नरसिंहाचार्य	(आ) ओरिएण्टल लाइब्रेरी, मैसूर यूनिवर्सिटी, १९४४
		आर० गार्बे	(इ) एसियाटिक् सोसाइटी, कलकत्ता, १९०२
२८.	आश्वलायनश्रौतसूत्र	हरिनारायण आप्टे	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ८१, पूना, १९१७
२९.	कात्यायनश्रौतसूत्र	विद्याधर शर्मा	(अ) अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, वि० सं० १९९७
		विद्याधर शर्मा	(आ) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस (वाराणसी), १९३३
		अल्बेर्त वेबर	(इ) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२

३०. कौशिकसूत्र	मोरिस ब्लूमफील्ड	जर्नल् आफ् अमेरिकन ओरिएण्टल् सोसाइटी, १४, न्यू हेवेन्, १८९०
३१. बौधायनश्रौतसूत्र	डब्ल्यू० कैलेण्ड्	बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९१३
३२. भारद्वाजश्रौतसूत्र	रघुवीर	(अ) जर्नल् फार् वैदिक स्टडीज़्, लाहौर, १९३५
	चिन्तामणि गणेश काशीकर	(आ) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९६४
३३. मानवश्रौतसूत्र	जेनेटी एम्० फोन गेल्डर्	(अ) इन्टर्नेशनल् एकेडेमी आफ् इण्डियन् कल्चर, नयी दिल्ली, १९६१
मानवश्रौतसूत्र इंगलिश अनुवाद	फ्रेडरिख् वनेर्	(आ) सेण्टपीटर्सबर्ग, १९००
३४. वाराहश्रौतसूत्र	डब्ल्यू० कैलेण्ड् तथा रघुवीर	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९७१
३५. वैखानसश्रौतसूत्र	डब्ल्यू० कैलेण्ड्	रायल एसियाटिक् सोसाइटी, कलकत्ता, १९४१
३६. वैतानश्रौतसूत्र	विश्वबन्धु	वुलनर, भारतभारती ग्रन्थमाला, १३, होशियारपुर, १९६७
३७. सत्याषाढश्रौतसूत्र		आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ५३, पूना, १९३०
३८. शांख्यायनश्रौतसूत्र	ए० हिलबाण्ड्ट्	रायल् एसियाटिक् सोसाइटी, कलकत्ता, १८८५-१८९९
शुल्बसूत्र		
३९. आपस्तम्बशुल्बसूत्र	डी० श्रीनिवासाचारी नरसिंहाचारी	संस्कृत सीरीज, ७३, मैसूर यूनिवर्सिटी
४०. कात्यायन-शुल्बसूत्र	विद्याधर शर्मा	(अ) अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८५
	श्री दा० खाडिलकर	(आ) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९७४
४१. बौधायन-शुल्बसूत्र	जी० थीबो	(अ) दिल्ली, १९६८
	विभूतिभूषण भट्टाचार्य	(आ) सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, १०७, वाराणसी, १९७९

४२.	सत्याषाढ-शुल्बसूत्र (सत्याषाढश्रौतसूत्र के अन्तर्गत)		आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ३०, पूना, १९३०

गृह्यसूत्र

४३.	पारस्करगृह्यसूत्र		गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९१७
४४.	बौधायनगृह्यसूत्र	आर० शामशास्त्री	मैसूर संस्कृत सीरीज, ४०, १९२०

पुराण-ग्रन्थ

४५.	अग्निपुराण		गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, १७, कलकत्ता, १९५७
४६.	कालिकापुराण	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७२
४७.	गरुडपुराण	रामशंकर भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४
४८.	देवीभागवत	रामतेज पाण्डेय	पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी, १९६९
४९.	पद्मपुराण १-५ भाग		गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, १८, कलकत्ता १९५७-१९५९
५०.	ब्रह्माण्डपुराण		श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, १९१३
५१.	भागवतमहापुराण (मूलमात्र)		गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० १९९९
५२.	मत्स्यपुराण		आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९०७
५३.	मार्कण्डेयपुराण	जीवानन्द विद्यासागर	कलकत्ता, १८७९
५४.	लिङ्गपुराण		गुरुमण्डल ग्रन्थमाला १६, कलकत्ता, १९६०
५५.	वायुपुराण		आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ४९, पूना, १९०५
५६.	विष्णुपुराण		(अ) कलकत्ता, १८८२ (आ) ओरिएण्टल् मुद्रणालय, बम्बई, १८८९ (इ) गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०२४
५७.	शिवमहापुराण	रामतेज पाण्डेय	पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी

अन्य संस्कृत-ग्रन्थ

५८. अग्निष्टोमपद्धति	वामनाचार्य, नानाभाई, रघुनाथ द्विवेदी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, ४३३, ४७९, वाराणसी, १९३४
५९. अर्थसंग्रह	वाचस्पति उपाध्याय	चौखम्भा औरियन्टालिया, वाराणसी, १९७७
६०. अभिज्ञानशाकुन्तल	नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५८
६१. अष्टाध्यायी	श्रीशचन्द्र वसु	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२
६२. अहिर्बुध्न्यसंहिता (द्वितीय-संस्करण)	वी० कृष्णमाचार्य	आड्यार लाइब्रेरी ऐण्ड् रिसर्च सेण्टर, मद्रास, १९६६
६३. उणादिसूत्रवृत्ति (उज्ज्वलदत्त)	जीवानन्द विद्यासागर	कलकत्ता, १८७३
६४. ऋग्विधान	जगदीशशास्त्री	वि० सं० १९९७
६५. ऋग्वेदानुक्रमणी	विजयपाल विद्यावारिधि	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७९
६६. कात्यायनीशिक्षा (शिक्षासंग्रह)	युगलकिशोर व्यास	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस (वाराणसी) १८९३
६७. कादम्बरी		निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
६८. कारिकावली (सिद्धान्तमुक्तावली सहित)	महादेव गंगाधरशास्त्री वाक्रे	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५
६९. काशिकावृत्ति १-६ भाग	कालिकाप्रसाद शुक्ल, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६५-१९६७
७०. कुमारसम्भव	प्रद्युम्न पाण्डेय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७०
७१. क्षीरतरङ्गिणी	युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, वि० सं० २०१४
७२. कृत्यसंग्रह	नारायणाचारी	रघुनाथ मन्दिर, कोपा, आरा
७३. चन्द्रालोक	नन्दकिशोर शर्मा	हरिदास संस्कृन सीरीज़, बनारस (वाराणसी), १९५०
७४. तन्त्रवार्तिक		चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस (वाराणसी)

७५.	तन्त्रसंग्रह १, ३ भाग	गोपीनाथ कविराज रामप्रसाद त्रिपाठी	योगतन्त्र ग्रन्थमाला, ३, ६ वाराणसी, १९७०, १९७९
७६.	तारिणीपारिजात	विद्वद् उपाध्याय	सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, ९०, वाराणसी, १९६१
७७.	त्रिपुरारहस्य (ज्ञानकाण्ड)	गोपीनाथ कविराज	सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, १५, वाराणसी, शकाब्द १८८६
७८.	दशपाद्युणादिवृत्ति	युधिष्ठिर मीमांसक	दि प्रिन्सेस् आफ् वेल्स सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स् सीरीज़ बनारस (वाराणसी), १९४३
७९.	दर्शपूर्णमासप्रकाश	वामनशास्त्री किंजवडेकर	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ९३, १९२४
८०	दुर्गासप्तशती	रामनारायणदत्त शास्त्री	गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं०, २०३४
८१.	दैवम्	युधिष्ठिर मीमांसक	भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि० सं० २०१९
८२.	धात्वर्थविज्ञान	भागीरथप्रसाद त्रिपाठी	सरस्वतीभवन अध्ययनमाला, २८, वाराणसी १९८०
८३.	नित्याषोडशिकार्णव	काशीनाथशास्त्री आगाशे	(अ) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ५६, पूना, १९०८
८४.	निरुक्त		गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, १०, कलकत्ता, १९५२-१९५३
८५.	निरुक्त के पाँच अध्याय	शिवनारायण शास्त्री	इण्डोलाजिकल बुक हाउस, दिल्ली-वाराणसी, १९७२
८६.	नीतिमञ्जरी	द्याद्विवेद	हरिहरमण्डल, वाराणसी, वि० सं० १९९०
८७.	पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा	भागीरथप्रसाद त्रिपाठी	सरस्वतीभवन अध्ययनमाला, १४, वाराणसी, शकाब्द १८८७
८८.	प्रातिशाख्यशिक्षा (शिक्षासंग्रह)	युगलकिशोर व्यास	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस (वाराणसी), १८९३
८९.	पूर्वमीमांसासूत्र	जैमिनि	आनन्दाश्रम सीरीज़ पुणे
९०.	बृहद्देवता	ए० ए० मैकदोनेल	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५

९१. मनुस्मृति	गङ्गानाथ झा	कलकत्ता, १९३४
९२. माधवीया धातुवृत्ति	स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	प्राच्यभारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १९६४
९३. महाभारत १-४ भाग		गीताप्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१३-२०१५
९४. महाभाष्य (नवाह्निक)	भार्गवशास्त्री जोशी	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५१
९५. यज्ञतत्त्वप्रकाश	चिन्नस्वामी शास्त्री	मद्रास, १९५३
९६. योगिनीहृदय	गोपीनाथ कविराज	सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, ७, वाराणसी, शकाब्द १८८५
९७. रामायण-वालमीकि १-२ भाग	काशीनाथ पाण्डुरंग परब	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८८
९८. वाक्यपदीय	रघुनाथ शर्मा	सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, ९१, वाराणसी, १९६३, १९७४
९९. विष्णोर्नामसहस्रम्	रंगाचार्य, वेंकटाचार्य	लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, शकाब्द १८१५
१००. श्रौतपदार्थ-निर्वचन	विश्वनाथ शास्त्री प्रभुदत्त अग्निहोत्री	एफ्० जे० लाजरस एण्ड् कम्पनी, बनारस (वाराणसी), १९१९
स्तुतिमणिमाला, भाग–१	सं० करुणापति त्रिपाठी	उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ, १९८५
१०१. सदसद्विद्या	मधुसूदन ओझा	जयपुर, १९२६
१०२. सिद्धान्तकौमुदी	वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९
१०३. शुक्लयजुर्वेद-रुद्राष्टाध्यायी	वेणीरामशर्मा गौड	व्यास प्रकाशन, वाराणसी, वि० सं० २०४२

संस्कृत-कोश

१०४. अमरकोष	नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४४
१०५. तैत्तिरीयसंहिता-वैयाकरणपदसूची	विश्वबन्धु	विश्वेश्वरानन्द वेदिक् रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर, १९६३
१०६. पुराणपञ्चलक्षणम्	ह्विलिबाल्ट किर्फल् देवनागरी संस्करण सूर्यकान्त	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९७९

१०७.	मीमांसाकोष (प्रथमभाग)	सं० केवलानन्द सरस्वती	प्राज्ञपाठशालामण्डल, वाई, १९५२
१०८	शब्दकल्पद्रुम १-५ भाग	राधाकान्त स्यारदेव	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६७
१०९.	वाचस्पत्यम् १-६ भाग	तारानाथ तर्कवाचस्पति	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६९-१९७०

पालि

११०.	पालितिपिटक-सद्दानुक्कमणिका		पालिग्रन्थमाला, ४, सं० सं० वि० वि० वाराणसी, १९७९

संस्कृत-भाषा की पाण्डुलिपियाँ

१११.	आरुणाग्निप्रयोगः	संख्या ३४५०	सरस्वतीभवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
११२.	आरुणकेतुकप्रयोगः	३४४७	तदेव
११३.	आरुणकेतुकाग्निप्रयोगः	३७४७, ३७५०	तदेव
११४.	इष्टकानिर्णयप्रस्तारः	४०६८	तदेव
११५.	इष्टकापूरणम्	३९५८, ४०१६	तदेव
११६.	इष्टकापूरणभाष्यम्	४२५८; ४२७८	तदेव
११७.	इष्टकापूरणविवरणम्	४०७८, ४४४०	तदेव
११८.	इष्टकापूरणविवृतिः	४४४१	तदेव
११९.	इष्टकापूरणव्याख्या	४०८२	तदेव
१२०.	इष्टका-प्रकरणम्	३४९९	तदेव
१२१.	इष्टकाप्रमाणम्	४१२३	तदेव
१२२.	काठकसंज्ञकसावित्रचयनम्	२३२५	तदेव

१२३.	काठकवह्नि-प्रयोगः	२७५२	सरस्वतीभवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
१२४.	चयनकर्मदीपिका-पद्धतिः	२८२९	तदेव
१२५.	चयनपद्धतिः	२६८२, २७२४, २७३३	तदेव
१२६.	चयनप्रयोगः	३५८१	तदेव
१२७.	चातुर्होमप्रयोगः	३८८१	तदेव
१२८.	चातुर्होमाग्नि-प्रयोगः	३६५८	तदेव
१२९.	महाग्निचयन-प्रयोगः	३६५२	तदेव
१३०.	महाग्निसर्वस्व-व्याख्या	१८७१	तदेव
१३१.	सावित्रकाठकचयन-प्रयोगः	३८८६	तदेव
१३२.	सावित्रकाठकप्रयोगः	३७८५	तदेव
१३३.	सावित्राग्निचयन-प्रयोगः	३६३३	तदेव
१३४.	सावित्रचयनम्	२७६४	तदेव
१३५.	सावित्रादिकाठक-प्रयोगः	३४०९	तदेव
१३६.	सावित्रनाचिकेत-चातुर्होत्रवैश्वसृज-प्रयोगाः	३४०७	तदेव

हिन्दी-भाषा के ग्रन्थ

१३७.	कविराज अभिनन्दनग्रन्थ	सं० बाबूराम सक्सेना	अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, १९६७
१३८	मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेवशरण अग्रवाल	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६१
१३९.	रामचरितमानस	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी, १९६२
१४०.	वेदविद्या	वासुदेवशरण अग्रवाल	रामप्रसाद ऐण्ड् सन्स, आगरा, १९५९

१४१.	वेदत्रयीपरिचय	सत्यव्रत सामश्रमी भट्टाचार्य (अनु० ओमप्रकाश पाण्डेय)	हिन्दी समिति, लखनऊ, वि० सं० २०३१
१४२.	वैदिकछन्दोमीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५९
१४३.	वैदिकदर्शन	फतह सिंह	भारती भण्डार, इलाहाबाद, वि० सं० २०१९
१४४.	वैदिकदेवशास्त्र	सूर्यकान्त	मेहरचन्द लछमनदास, देलही, १९६२
१४५.	वैदिक संस्कृति का विकास	लक्ष्मणशास्त्री जोशी	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, (प्राइवेट)लिमिटेड, बम्बई, १९५७
१४६.	वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत	रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (अनुवादक, महेश्वरी प्रसाद)	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७
१४७.	सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक	फतह सिंह	राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान), १९६९
१४८.	संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास	सूर्यकान्त	ओरिएण्ट लांगमैन, नयी दिल्ली, १९७२
१५९.	संस्कृत व्याकरण-दर्शन	रामसुरेश त्रिपाठी	राजकमल, दिल्ली, १९७२

मराठी

१५०.	प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन	रामचन्द्रनारायण दाण्डेकर, चिन्तामणि गणेश काशीकर	वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, पुणे, १९७८

हिन्दी-भाषाकोश

१५१.	वैदिक कोश	सूर्यकान्त	बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, १९६३

विदेशी भाषाओं के ग्रन्थ

१५२.	अदिति ऐण्ड् अदर् डिटीज़ इन् दि वेद	एम्० पी० पण्डित	श्री अरविन्दो स्टडी सर्किल, मद्रास, १९५८

१५३.	आन् हेनोथीज़्म, पालीथीज़्म, मोनोथीज़्म ऐण्ड् एथीज़्म (हिबर्ट लेक्चर ६)	मैक्सम्यूलर	कलेक्टेड् वर्क्स्, ९ लण्डन्, १८९१
१५४.	आब्सेसिव ऐक्ट्स् ऐण्ड् रिलीजस् प्रैक्टिसेज़् (कलेक्टेड पेपर्स, भाग २)	सिगमुण्ड् फ्रायड्	दि होगार्थ प्रेस, लण्डन्, १९५३
१५५.	आर्० के० मुखर्जी कमेमोरेशन् वाल्यूम्		इलाहाबाद, १९४५
१५६.	आर्ट् ऐण्ड् थाट् : ए वाल्यूम ईसूड् इन् हॉनर् आफ़् डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी	सं० के० भरत अय्यर	लुज़ाक् ऐण्ड् कम्पनी, लण्डन्, १९४७
१५७.	आल्ट-इण्डिश्-असुआवेस्टिश् अहु उण्ड ऐहुलिख क्लिन् व्योर्टर	बे० श्लेराथ	क्यूइपे फिलीसिटेशन वाल्यूम, १९६८
१५८.	आल्ट् इण्डिशे ग्रामाटीक्	याट्० वाकेरनागेल	गोय्टिन्गेन, १९५२
१५९.	आल्ट्-इण्डिशेस-लेबेन	हेनरिख् त्सिमर	बर्लिन, १८७९
१६०.	आस्पेक्ट्स् आफ़् अर्ली विष्णुइज़्म	या० खौदा	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९
१६१.	इजिप्शियन् मिथ् ऐण्ड् लोजेण्ड्	डोनाल्ड ए० मेकेजी	दि ग्रेशम् पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड् , लण्डन्
१६२.	इण्टरनेशनल् इन्सायक्लोपीडिया आफ़् यूनाइटेड साइन्स	न्यूरठ् , कार्नप् ऐण्ड् मारिस्	दि यूनिवर्सिटी आफ़् शिकागो प्रेस, १९५५

१६३.	इण्डिशे स्टूडियन्	ए० वेबर	बर्लिन-लाइपर्त्सिग, १८६०-९६
१६४.	इण्डोलॉजिकल् स्टडीज़् हॉनर इन् आफ़् लब्ल्यू० नार्मन् ब्राउन्	सं० ई० बेण्डर्	अमेरिकन् ओरिएण्टल् सोसाइटी, ४७, न्यू हेवेन्, १९६२
१६५.	इन्सायक्लोपीडिया आफ़् रिलीजन् ऐण्ड् इथिक्स् , भाग ८	आर्० आर्० मरेट्	चार्ल्स स्क्राइबनर्स ऐण्ड् सन्स, न्यूयार्क, १९५५
१६६.	इन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका		लण्डन्
१६७.	इन्स्टिन्क्ट्स् ऐण्ड् देयर विसीटच्यूड्स् (कलेक्टेड् पेपर्स, भाग ४)	सिगमुण्ड् फ्रायड्	दि होगार्थ प्रेस, लण्डन्, १९५३
१६८.	इमाइल	ज्याँ जेकस रूसो	पारी, १७६४
१७९.	इमैनुअल काण्ट : ए जर्मन फिलासफर्	कुर्ट रासमान	फेडरल् रिपब्लिक् आफ़् जर्मनी, १९७४
१७०.	इलीमिनेशन आफ़् मेटाफिजिक्स् (फ़िलासफी इन् ट्वण्टियथ् सेन्चुरी, सं० बर्रेट ऐण्ड् ऐकेन)	ए० जे० अयेर	रेण्डाम् हाउस, न्यूयार्क, १९७४
१७१.	इलीमेण्टस् आफ़् बुद्धिस्ट आइक्नाग्राफ़ी	आनन्द केण्टिश कुमारस्वामी	केम्ब्रिज (अमेरिका) १९३५
१७२.	उण्टेरसुखुनगेन जुर वोर्टकुण्डे उण्ड अउस्लेगुन्ग डेस ऋग्वेद	पाउल थीमे	हाले/आ ज़ाल्ले १९४९

१७३.	उबेर इण्टविक्लुन्ग्स्टूफेन मिथेन बिलहुन्ग बर्लिनेर अकाडेमी डेर विसेनशापटेन	ए० कुह्न्	बर्लिन्, १८७३
१७४.	ए क्रिटिकल् स्टडी आफ़् दि कात्यायन श्रौतसूत्र	के० पी० सिंह	बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, संस्कृत सीरीज़, ३, १९६९
१७५.	ए न्यू एप्रोच टू दि वेदज़्	आनन्द केण्टिश कुमारस्वामी	लुज़ाक् एण्ड् कम्पनी, लण्डन्, १९३२
१७६.	ए साइण्टिफ़िक् थियरी आफ़् कल्चर एण्ड् अदर् एसेज़्	ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की	आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९६०
१७७.	एसेज़् आन् दि हिस्ट्री आफ़् रिलीजन्	रैफली पेट्टाज़ोनी अनु०, एच्० जे० रोज़	लाइडेन, इ० जे० ब्रिल्, १९५४
१७८.	ऐन् इक्ज़ामिनेशन् आफ़् लाजिकल् पाज़िटिविज्म	जे० आर० वाइनबर्ग्	लिटिल-फील्ड ऐडम्स् ऐण्ड् कम्पनी, न्यू जरसी, १९६०
१७९.	ऐन् एक्सरसस् आन् भगवद्गीता	डी० जे० होएन्स	क्यूइपे फिलीसिटेशन वाल्यूम, १९६८
१८०.	एनशिएण्ट् इण्डियन् किंगशिप् फ्राम् रिलीजन् प्वाइण्ट् आफ़् व्यू	एम्० खौंदा	नूमेन्, १९५७
१८१.	कम्परेटिव मॉइथॉलॉजी (आक्सफर्ड एसेज़् २)	मैक्सम्यूलर	आक्सफर्ड, १९५७
१८२.	काण्सेप्ट आफ् काउ इन् दि ऋग्वेद	डोरिस श्रीनिवासन्	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७९
१८३.	कास्मास् ऐण्ड् हिस्ट्री : दि मिथ् आफ़् इटर्नल् रिटर्न्	मर्सिया इलियाड	हार्पर् ऐण्ड् ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५९

१८४.	क्रिटिक आफ़् प्रैक्टिकल् रीज़न् ऐण्ड् अदर् वर्क्स आन् दि थियरी आफ़् इथिक्स्	इमैनुअल क़ाण्ट् अनु० ऐबट्	टी० के० लांगमैन ग्रीन् ऐण्ड् कम्पनी, लण्डन्, १९५४
१८५.	क्लासिकल् डिक्शनरी : बायोग्राफी, मॉइथॉलॉली ऐण्ड् जियोग्राफी	विलियम् स्मिथ्	जान् मरे, वाल्टन् ऐण्ड् माबर्ली, लण्डन्, १८५८
१८६.	की टू वैदिक सिम्बालिज़्म्	एम्० पी० पण्डित	दीप्ति पब्लिकेशन्स, अरबिन्दो आश्रम, पाण्डीचेरी १९६७
१८७.	गोल्डेन जर्म- ऐन् इण्ट्रोडक्शन् टू इण्डियन् सिम्बालिज़्म्	एफ़्० डी० के० बाश्	स्-ग्रावेन हागे १९६०
१८८.	चिप्स फ्राम् ए जर्मन् वर्कशाप	मैक्सम्यूलर्	लण्डन्, १८९१
१८९.	चेन्ज ऐण्ड् क़ाण्टीन्यूइटी इन् इण्डियन् रिलीजन्	यॉट्० खोंदा	मूर्तो ऐण्ड् कम्पनी, हैग, १९६५
१९०.	जे० एन्० बनर्जी	फिलीसिटेशन् वाल्यूम	कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कलकत्ता, १९६०
१९१.	टूवर्ड्स ए जनरल थियरी आफ़् ऐक्शन्	टालकाट पार्सन्स् शिल्ज़	दि एकैडेमी लाइब्रेरी, हार्पर् टार्च बुक्स, न्यूयार्क, १९६२
१९२.	ट्रिलोगी आल्टइण्डिशर मैख़्टे उण्ड फेस्टे डेर वेगेटत्सिओन्	यॉट्० यॉट्० मेयर	मैक्स निखउस वेर्लाग, त्स्युरिख, १९३७
१९३.	ट्रैक्टुस-लाजिको-फिलासफिकुस्	लुडविग् वित्तगिंस्ताइन	रटलेज ऐण्ड् कीगन् पाल्, लण्डन्, १९६०
१९४.	ट्रान्सफार्मेशन् आफ़् नेचर इन् आर्ट्	आनन्द केण्टिश कुमारस्वामी	डोवर् पब्लिकेशन्, न्यूयार्क, १९५६

१९५.	डी. रेलीगिओन् डास वेदा	एच० ओल्डेन्बुर्ग	बर्लिन, १८९४
१९६.	डिक्शनरी फिलासफीक्	वाल्टेयर	पारी, १७६४
१९७.	डीकू : आउफ़् डेर वाइडे इण्डोगेर्मानिशे फोर्शुन्गेन	वे० पे० श्मिड्	१९५८
१९८.	डी ग्नौसिस	एच० लीस गैन्ग	बेर्लिन, १९२४
१९९.	डास गेश्लेख्ट डेर गोट् हाइट्	आ० ब्रेथोलेट	ट्यूबिन्गेन, १९३४
२००.	डेवलप्मेण्ट् आफ़् रिलीजन् ऐण्ड् थाट् इन् एन्शिएण्ट् इजिप्ट्	जे० एच्० ब्रेस्टेड्	हार्पर् टार्चबुक्स्, न्यूयार्क, १९५९
२०१.	त्यू दे वेदीक स्यु ले वोकेबुलेर द्यु ऋग्वेद	लुई रनू	पाण्डीचेरी, १९५८
२०२.	थिंकिंग विद् दि यजुर्वेद	गण्डाभाई गिरिजाशंकर देसाई	एसिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६७
२०३.	दि अन्कान्सस् (कलेक्टेड् पेपर्स, भाग ४)	सिगमुण्ड् फ्रायड्	दि होगार्थ प्रेस, लण्डन्, १९५३
२०४.	दि आर्कीटाइप्स् ऐण्ड दि क्लेक्टिव अन्कान्सस् (दि क्लेक्टेड् वर्क्स, भाग १)	कार्ल गुस्ताव युंग	बोलिंगन सीरीज, पैन्थियन् बुक्स, न्यूयार्क, १९५९
२०५.	दि इन्सायक्लोपीडिया आफ़् सोशल साइंसेज; भाग १३, १४		१९४८
२०६.	दि इलोमेण्टरी फार्मस् आफ़् रिलीजस् लाइफ	इमाइल दुर्खीम्	एलेन् ऐण्ड् अन्विन्, लण्डन्, १९५४, कालियर बुक्स, न्यूयार्क, १९६१
२०७.	दि एक्स्कवेशन् ऐट् कौशाम्बी	जी० आर० शर्मा	इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९६०

२०८.	दि एन्शिएण्ट् इण्डियन् रायल् कान्सक्रेशन	जे० सी० हीस्टरमान	मूर्तो ऐण्ड् कम्पनी, हैग, १९५७
२०९.	दि ओरीजिन् ऐण्ड् ग्रोथ् आफ् रिलीज़न् : फैक्ट्स् ऐण्ड् थियरीज्	फादर बिल्हेल्म श्मिड्ट्	डायल प्रेस, मैथूएन् ऐण्ड् कम्पनी लिमिटेड्, न्यूयार्क, १९३१
२१०.	दि कान्सेप्ट् आफ़् माइण्ड्	गिल्बर्ट रिले	पैंगुइन् बुक्स्, १९६३
२११.	दि कान्सेप्ट् आफ़् रिचुअल इन् माडर्न सोशिआलाजिकल थियरी	एस० पी० नगेन्द्र	मेरठ
२१२.	दि गोल्डेन् बाउ (संक्षिप्त संस्करण)	जेम्स जार्ज फ्रेजर	मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी लिमिटेड, लण्डन्, १९६०
२१३.	दि टू सोर्सेस् आफ़् मारेलिटी ऐण्ड् रिलीजन्	हेनरी बर्गसां	डबल डे आन्चर बुक्स्, न्यूयार्क, १९३५
२१४.	दि थाउजेण्ड् सिलाबिल्ड् स्पीच्	वासुदेवशरण अग्रवाल	पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, १९६३
२१५.	दि थियरी आफ़् सोशल ऐण्ड् इकानामिक् आर्गनाइजेशन्	मैक्स वेबर	दि फ्री प्रेस ग्लेनको, इलिनिआस, १९४७
२१६.	दि नेचुरल् हिस्ट्री आफ़् रिलीजन्	डैविड ह्यूम	लण्डन्, १७५७
२१७,	दि प्राब्लम् आफ़् आर्यन् ओरीजिन्स्	के० एस्० सेठना	एस्० ए० एस्० पब्लिशर्स, कलकत्ता, १९८०
२१८.	दि प्राब्लम् आफ़् मीनिंग् इन् इण्डियन् फिलासफी	रामचन्द्र पाण्डेय	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६०
२१९.	दि फण्डानेण्टल यूनिटी आफ़् इण्डिया	राधाकुमुद मुकर्जी	भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५४

२२०.	दि फाउण्डेशन्स् आफ़् दि थियरी आफ़् साइन्स	सी० मारिस	इण्टर्नेशनल् इन्सायक्लोपीडिया आफ़् यूनाइटेड् साइन्स, सं० न्यूरठ्, कार्नप् ऐण्ड् मारिस्, दि यूनिवर्सिटी आफ़् शिकागो प्रेस, १९५५
२२१.	दि फिलासफी आफ़् सिम्बालिक् फार्म, भाग २	अर्नेस्ट कसारिर्	येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन्, १९५५
२२२.	दि फ्यूचर् आफ़् ऐन् इल्यूज़न्	सिगमुण्ड् फ्रायड	दि होगार्थ प्रेस, लण्डन् १९२८
२२३.	दि बर्निंग फाउण्टेन्	फिलिप ह्वीलराइट	दि इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५४
२२४.	दि मॉइथॉलॉजी आफ् यजुर्वेद	एन्० जे० शिन्दे	बम्बई यूनिवर्सिटी, १९५९
२२५.	दि मैकिंग आफ़् रिलीजन्	एण्ड्र्यू लांग	लण्डन्, १८५८
२२६.	दि रिलीजन् आफ़् दि सेमाइट्स्	राबर्टसन् स्मिथ	मेरेडियन् बुक्स्, न्यूयार्क, १९५६
२२७.	दि रिलीजन् ऐण्ड् फिलासफी आफ् दि वेद ऐण्ड् उपनिषद्स्	ए० बी० कीथ	दि हार्वर्ड ओरिएण्टल् सीरीज़, ३१-३२, लण्डन्, १९२५
२२८.	दि रूल्स् आफ़् सोशिओलाजिकल् मेथड्	इमाइल दुर्खीम्	दि फ्री प्रेस ग्लेनको, इलिनिआस, १९५८
२२९.	दि विज़न आफ़् वैदिक् पोएट्स्	या० खौंदा	मूर्तो ऐण्ड् कम्पनी, हेग, १९६३
२३०.	दि वेद आफ़् दि ब्लैक यजुस् स्कूल्	आर्थर बेरीडेल कीथ	हार्वर्ड ओरिएण्टल् सीरीज़, १८-१९, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७
२३१.	दि वेदज्	एफ़्० मैक्सम्यूलर	सुशील गुप्त लिमिटेड, कलकत्ता, १९५६
२३२.	दि सवयज्ञज़्	या० खौंदा	अमस्टर्डाम्, १९६५
२३३.	दि स्ट्रक्चर आफ़् सोशल ऐक्शन्स	टालकाट पार्संन्स	दि फ्री प्रेस ग्लेनको इलिनिआस, १९४९

२३४. दि स्ट्रक्चर ऐण्ड् डायनमिक्स् आफ़् दि सायक (दि कलेक्टेड् वर्क्स, भाग ८)	कार्ल गुस्ताव युंग	रटलेज ऐण्ड् कीगन पाल लिमिटेड्, लण्डन्, १९६०
२३५. दि स्ट्रैंगलिंग् फिग्स् इन् संस्कृत लिट्रेचर	एम्० बी० एमेन्यू	यूनिवर्सिटी आफ़् कैलीफोर्निया पब्लिकेशन्स इन् क्लासिकल् फिलॉलॉजी, बर्कली ऐण्ड् लास् एन्जिल्स्, १९४९
२३६. दि हिन्दू टेम्पल भाग १-२	स्टेला क्रेमरिश	यूनिवर्सिटी आफ़् कलकत्ता, १९४६
२३७. दि हिस्ट्री ऐण्ड् कल्चर आफ़् दी इण्डियन् पीपुल	बी० के० घोष, आर० सी० मजूमदार, ए०डी० पुसाल्कर	लण्डन्, १९५२
२३८. दि हीरो	लार्ड रेगलान	दि थिंकर्स लाइब्रेरी, १९४९
२३९. दि हीरो विद् ए थाउजैण्ड फेसेस्	जे० कैम्पबेल	मेरेडियन् बुक्स्, न्यूयार्क, १९५६
२४०. पैटर्नस् इन् कम्परेटिव रिलीजन्	मर्सिया इलियाड	लण्डन्-न्यूयार्क, १९५८
२४१. प्रतिदानम्—प्रो०पी०के० गोडे कमेमोरेशन् वाल्यूम	स० एच० एल० हरियप्पा एम० एम० पतकर	पूना ओरिएण्टल सीरीज़्, नं० ९३, पुणे १९६०,
२४२. फान डेर गज़ेलशाफ्ट डेर विसेनशाफ्टेन		ट्सु गोस्र्टिंगेन
२४३. फिजिकल् रिलीजन् (कलेक्टेड् वर्क्स्, भाग २)	फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर	लण्डन्, १८९१
२४४. फिलासफी आफ़् मॉइथॉलॉजी	फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर	
२४५. फिलासफी इन् न्यू की	सूसन के० लैंगर	ए मेण्टार बुक्, न्यूयार्क, १९५२

२४६.	फिलासफी ऐण्ड् दि माडर्न वर्ल्ड	ए० डब्ल्यू० लेवी	दि इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९
२४७.	फोर स्टडीज् इन् दि लैंग्वेज आफ़् दि वेद	या० खौंदा	मूर्तो ऐण्ड् कम्पनी, हेग, १९५९
२४८.	बिफोर फिलासफी	फ्रैंकफर्ट ऐण्ड् अदर्स	ए पेलिकन बुक, १९५९
२४९.	बोर्टेरबुख जुम ऋग्वेद	एच० ग्रासमान	लाईप्त्सिग, १८७३, १९३६
२५०.	मानवश्रौतसूत्र, अनु० जेनेटी	एम० फान गेल्डर	इंटरनेशनल् ऐकडेमी आफ़् इंडियन् कल्चर, नयी दिल्ली, १९६३
२५१.	मिथ् ऐण्ड् रिअलिटी	मर्सिया इलियाड	हार्पर टार्चबुक्स्, न्यूयार्क, १९६३
२५२.	मिथ् रिचुअल ऐण्ड् किंगशिप्	एस्० एच्० हुक	आक्सफर्ड, १९५८
२५३.	मिथ्स् आफ़् बैबिलोनिआ ऐण्ड् असीरिया	डी० ए० मेकेन्जी	दि ग्रेशम पब्लिशिंग कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, लण्डन्
२५४.	मिथ्स् ऐण्ड् सिम्बल्स् इन इण्डियन् आर्ट ऐण्ड् सिबिलाइज़ेशन्	हेनरिख त्सिमर	पैन्थियन् बुक्स्, न्यूयार्क, १९५७
२५५.	मीनिंग ऐण्ड् वेरीफिकेशन् (फिलासफी इन् ट्वण्टिअथ् सेन्चुरी, भाग ३, सं० बर्रेट ऐण्ड् ऐकन्)	मार्टिज्, शिलक	फिलासफी इन् ट्वण्टिअथ सेन्चुरी, भाग ३
२५६.	मैजिक्, साइन्स ऐण्ड् रिलीजन् ऐण्ड् अदर एसेज्	ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की	दि फ्री प्रेस ग्लेनको, इलिनिआस, १९४८
२५७.	मोजेज ऐण्ड् मोनोथीज़्म्	सिगमुण्ड् फ्रायड	दि होगार्थ प्रेस, लण्डन्, १९४६
२५८.	यक्षज़	आनन्द केण्टिश कुमारस्वामी	मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली, १९७१
२५९.	राइट्स् ऐण्ड् सिम्बल्स् आफ़् इनीसिएशन् : दि मिस्ट्रीज आफ़् बर्थ् ऐण्ड् रिबर्थ्	मर्सिया इलियाड	हार्पर् टार्च बुक्, न्यूयार्क, १९६५

२६०. रिलीजन् ऐण्ड् मॉइथॉलॉजी आफ़् ब्राह्मणज्	जी० वी० देवस्थली	यूनिवर्सिटी आफ़् पुणे, पुणे, १९६५
२६१. रीडर इन् कम्परेटिव रिलीजन्	विलियम् आर्माण्ड्र लेस्सा तथा इवान् ज़र्तमान केग्त	रो पीटर्सन ऐण्ड् कम्पनी, न्यूयार्क, १९५८
२६२. रूट्स, वर्ब फार्मस् ऐण्ड् प्राइमरी डेरीवेटिव्स्	विलियम् ड्वाइट ह्विटने	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३
२६३. ला ग्रांद देस्से इन्त्रोद्यूक्सों आले ल्यू दे कम्परातिव दे रिलीजिओं	ज्यां प्रिज़िलुस्की	पेयात, पारी, १९५०
२६४. ले कन्सेप किथालाजिक द्यु गन्धर्व	ए कार्नाय् एवम् द्यु सेन्तुयुर	ल म्यूजो, १९३६
२६५. लेजर, दि बेसिस् आफ़् कल्चर	जोसेफ पीपर	फेबर ऐण्ड् फेबर, लण्डन्
२६६. लैंग्वेज, लाजिक ऐण्ड् गाड्	आस्टिन् फेरर	हार्पर् ऐण्ड् ब्रदर्स, न्यूयार्क
२६७. लोथुल ऐण्ड् इण्डस् सिविलाइज़ेशन्	शिकारीपुर रंगनाथ राव	एसिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९७३
२६८. वाक्	वी० एसर्स	ग्रोनिन्गेन, १९५२
२६९. विर्टशाफ्ट्स् गेशिख्टे पारेर्गा व्योर्टर उण्ड सारवेन् कुल्टुअरहिस्टोरिशे त्साइटश्रिफ्ट् फुयर श्प्राख् उण्ड ज़ाख् फोर्शुन्ग	याट् ल्योवेन्थाल	हाइडेल बर्ग, १९२८
२७०. वेडिशे उण्टरज़ूखुन्गेन	एच्० ओल्डेनबुर्ग	नखरिखटेन फान डेर गेज़ेलशाफ्टडेर विसेन शाफ्टेन त्सु गोर्यटिंगेन, १, १९१७
२७१. वेदिक इन्डेक्स आफ़् नेम्स् ऐण्ड् सब्जेक्ट्स्, भाग १-२	मैकडोनेल ऐण्ड् कीथ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७
२७२. वैदिक मॉइथॉलॉजी	ए० ए० मैकडोनेल	इण्डोलॉजिकल् बुक हाउस, वाराणसी, १९६३
२७३. वेदिक मीटर इन् इट्स् हिस्टारिकल् डेवलपमेण्ट	ई० वरनोन आर्नाल्ड	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

२७४.	वेदिक रिलीजन्	एवेल वर्गेन्य	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८
२७५.	सरूपभारती : दि होमेज आफ़् इण्डोलॉजी : लक्ष्मण सरूप कमेमोरेशन् वाल्यूम	सं० जे० अग्रवाल	विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल् सीरीज़ ६, होशियारपुर, १९५४
२७६.	संस्कृत इंगलिश् डिक्शनरी	एम्० मोनियर विलियम्स्	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३
२७७.	सॉयकॉलोजी ऐण्ड् रिलीजन् (दि कलेक्टेट वर्क्स्, भाग–२)	कार्ल गुस्ताव युंग	रटलेज ऐण्ड् कीगन् पाल्, लण्डन्, १९५८
२७८.	सॉयकॉलॉजिकल् टाइप्स्	कार्ल गुस्ताव युंग	कीगन् पाल् ट्रेन्च् ट्रबनर ऐण्ड् कम्पनी लिमिटेड, १९२३
२७९.	सिम्बोलिज्म वेला क्रोइ	रेनो गेनो	पारी
२८०.	सील, सिलिण्डर्स आफ़् वेस्टर्न एसिया	जी० वार्ड	१९१०
२८१.	सुनीतिकुमार चटर्जी जुबिली वाल्यूम		लिंग्विस्टिक् सोसाइटी आफ् इण्डिया, १९५५
२८२.	सेक्रेड बुक्स् आफ़् ईस्ट १२,२६,४१,४३,५४	जूलियस् एग्लिंग्	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३
२८३.	सेलेक्टेड एसेज्	फ्रेडरिख मैक्सम्यूलर	आक्सफर्ड, १८७८
२८४.	सेलेक्टेड् पेपर्स, भाग १ : ट्रेडीशनल् आर्ट ऐण्ड् सिम्बालिज्म्	आनन्द केण्टिश् कुमारस्वामी (सं० रोजर लिप्सी)	प्रिंसेटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूजरसी, १९७७
२८५.	सेलेक्टेड् पेपर्स, भाग २ : मेटाफिजिक्स्	तदेव	तदेव
२८६.	सोशिआलोजी ऐण्ड् फिलासफी	इमाइल दुर्खीम्	कोहैन् ऐण्ड् वेस्ट् लिमिटेड, लण्डन्, १९५३
२८७.	स्टडीज् इन् वैदिक् ऐण्ड् इण्डो-ईरानियन् रिलीजन् ऐण्ड् लिट्रेचर, भाग १	क्षेत्रैशचन्द्र चट्टोपाध्याय (सं० विद्यानिवास मिश्र)	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७६
२८८.	स्टडीज् इन् दि ब्राह्मणज्	अतुलचन्द्र बनर्जी	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३
२८९.	स्ट्रक्चर ऐण्ड् फंक्शन् इन् प्रिमिटिव सोसाइटी	अ० रे० रेडक्लिफ ब्राउन्	कोहैन् ऐण्ड् वेस्ट लिमिटेड्, लण्डन्, १९५२

२९०.	स्प्रिचुअल अथारिटी ऐण्ड् टेम्पोरल् पावर इन दि इण्डियन् थियरी आफ़् गवर्नमेण्ट्	आनन्द केण्टिश् कुमारस्वामी	मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९७५
२९१.	हिन्दुइज़्म् ऐण्ड् बुद्धिज़्म	तदेव	तदेव
२९२.	हिन्दू रिलीजन्, कस्टम्स् ऐण्ड् मैनर्स	पी० थामस	बम्बई, १९४६
२९३.	हिस्ट्री आफ़् इण्डियन् इण्डोनेसियन् आर्ट्	आनन्द केण्टिश् कुमारस्वामी	डोवर् पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९६५
२९४.	हिस्ट्री आफ़् इण्डियन् लिट्रेचर	अलबेर्त वेबर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६१
२९५.	हिस्ट्री आफ़् दि धर्मशास्त्रज़्, भाग २, खण्ड २	पाण्डुरंग वामन काणे	भण्डारकर ओरिएण्टल् रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९४१
२९६.	हिस्ट्री आफ़् संस्कृत लिट्रेचर	ए० ए० मैकदोनेल	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२
२९७.	हिस्ट्री आफ़् संस्कृत लिट्रेचर	चिन्तामणि विनायक वैद्य	पूना, १९३२
२९८.	हाण्डबूख़्, डेर गेर्मान् रेलीगिओन्सगेशिख्टे	याट्० डेयूरीस्	लाइपत्सिग, १९३४

अनुसन्धान-पत्रिकाएँ

१.	आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन	आड्यार, मद्रास
२.	आर्यन् पथ	पाण्डिचेरी
३.	इण्डियन् एण्टीक्यूरी	बम्बई
४.	इण्डियन् कल्चर	कलकत्ता
५.	इण्डियन् जर्नल् आफ़् साइन्स	कलकत्ता
६.	इण्डियन् लिंग्विस्टिक्स	पूना
७.	इण्डियन् हिस्टारिकल् क्वार्टरली	कलकत्ता
८.	इण्डो ईरानियन् जर्नल्	हेग
९.	ईस्ट् ऐण्ड् वेस्ट्	रोमा
१०.	ऋतम्	लखनऊ
११.	एनल्स आफ़् भाण्डारकर ओरिएण्टल् रिसर्च इंस्टीट्यूट	पूना
१२.	क्वार्टरली जर्नल् आफ़् दि मिथिक् सोसाइटी	बंगलौर
१३.	कल्याण	गोरखपुर
१४.	गाण्डीवम्	वाराणसी

१५.	जर्नल् आफ़् अमेरिकन् ओरिएण्टल सोसाइटी	न्यू हेवेन्
१६.	जर्नल् आफ़् अमेरिकन् फॉकलोर	विस्कांसिन
१७.	जर्नल् आफ़् ऑन्थ्रापॉलाजिकल् सोसाइटी	बम्बई
१८.	जर्नल आफ़् इण्डियन् ऐण्ड् बुद्धिस्ट स्टडीज़	टोक्यो, जापान
१९.	जर्नल् आफ़् दि असम रिसर्च सोसाइटी	गुवाहाटी
२०.	जर्नल् आफ़् दि इण्डियन् सोसाइटी आफ़् आर्ट्	कलकत्ता
२१.	जर्नल् आफ़् दि एसियाटिक् सोसाइटी आफ़् बंगाल (लेटर्स)	कलकत्ता
२२.	जर्नल् आफ़् एसियन् स्टडीज़्	न्यूयार्क
२३.	जर्नल आफ़् बिहार रिसर्च सोसाइटी	पटना
२४.	जर्नल् आफ़् यूनिवर्सिटी आफ़् गुवाहाटी	गुवाहाटी
२५.	जर्नल् एसियातीक (फ्रेन्च)	पारी
२६.	जर्नल् आफ़् ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट	बड़ौदा
२७.	ज्ञानेश्वर (मराठी)	पूना
२८.	नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल्	नागपुर
२९.	पुराणम्	वाराणसी
३०.	पुरातत्त्व	दिल्ली
३१.	पुरुषार्थ (मराठी)	पूना
३२.	पूना ओरिएण्टलिस्ट	पूना
३३.	प्रबुद्ध भारत	अल्मोड़ा
३४.	प्राच्यप्रज्ञा	अलीगढ़
३५.	ब्रह्मविद्या	मद्रास
३६.	भवन्स जर्नल्	भारतीय विद्याभवन, बम्बई
३७.	भारतीय विद्या	भारतीय विद्याभवन, बम्बई
३८.	मेडेडलिन्गेन डेर कोनिन्कतियके नीडरलाण्डेस अकाडेमी फान वेटेनशाप्पेन (जर्मन)	अमस्टर्डाम
३९	रेमा (जर्मन)	म्युनिख़
४०.	विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल् जर्नल्	होशियारपुर
४१.	विश्वसंस्कृतम्	होशियारपुर
४२.	वीयड्रागेन टोट-डे-टाल्; लाण्ड एन फोल्केनकुण्डे (जर्मन)	स्-ग्रावेनहागे
४३.	समरी आफ़् पेपर्स आल् इण्डिया ओरिएण्टल् कांग्रेस	पूना
४४.	सीलोन यूनिवर्सिटी रिव्यू	सीलोन (श्रीलङ्का)
४५.	श्री वेंकटेश्वर यूनिवर्सिटी ओरिएण्टल् जर्नल्	तिरुपति

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय